Philosophical and Sociological Foundations of Education

DEDU401

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार

PHILOSOPHICAL AND SOCIOLOGICAL FOUNDATIONS OF EDUCATION

Copyright © 2012 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार
(Philosophical and Sociological Foundations of Education)

उद्देश्य

- शिक्षा के विभिन्न दर्शनशास्त्रीय आधार के महत्त्व को समझना।
- शिक्षा पर सामाजिक सिद्धांतों के प्रभाव को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन व सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रवृत्ति को शिक्षा पर पड़े प्रभाव से जोड़ना।
- सामाजिक पुनर्गठन पर आधुनिक विज्ञान और तकनीकी विकास के अनुप्रयोग को समझना।

Objectives

- To understand the importance of various philosophical bases of education
- To understand the impact of social theories on education.
- To relate the trends of social changes, cultural changes and their impact on education.
- To understand the application of modern science and technological development on social reconstruction.

Sr. No.	Description
1	Education & Philosophy: Meaning, Relationship, Nature and Scope. Significance of studying Philosophy in Education. Aims of Education: Individual and Social Aims of Education. Functions of Education: Individual, Social, Moral and Aesthetic.
2	School of Philosophical Thoughts: Idealism. School of Philosophical Thoughts: Naturalism. School of philosophical thoughts: Pragmatism. School of philosophical thoughts: Humanism.
3	Indian philosophical thoughts: Sankhya. Indian philosophical thoughts: Vedanta. Indian philosophical thoughts: Buddhism. Indian philosophical thoughts: Jainism. Indian philosophical thoughts: Islam
4	Contribution of Indian thinkers to Educational Thoughts: Mahatma Gandhi and Vivekananda. Contribution of Indian thinkers to Educational Thoughts – Aurobindo and Radhakrishnan
5	Sociology and Education: Concept of Educational Sociology and Sociology of Education. Socio-economic factors and their impact on education. Socialisation Process, Implications in Education
6	Social Change: Meaning, Nature and Causes. Constraints of social change (caste, ethnicity, class, language, religion, regionalism). Education as an agent of Social and Economic change, and HRD.
7	Education for social stratification and social mobility. Democracy and Education
8	Social theories: Marxism and Integral Humanism. Theories of functionalist: Emile Durkheim and Talcott Parsons
9	Women Education and Gender Equity. Globalization: Concept and its Relevance in
	Contemporary Situation. Human Rights and Education with Special reference to Rights of Children. Consumer Rights and Right to Education
10	Education for Peace. Values: concept, need, sources. National Integration and International understanding: Meaning, need, role of teacher and Educational Institutions in developing national integrity

विषय-सूची

इकाई (Units) **(CONTENTS)** **पृष्ठ संख्या (Page No.)**

1. शिक्षा और दर्शन में संबंध एवं शिक्षा दर्शन (Relation Between Education and Philosophy and Philosophy of Education) 1
2. शिक्षा में दर्शनशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व (Significance of Studying Philosophy in Education) 29
3. शिक्षा के कार्य (Functions of Education) 52
4. आदर्शवाद और शिक्षा (Idealism and Education) 66
5. प्रकृतिवाद और शिक्षा (Naturalism and Education) 82
6. प्रयोजनवाद और शिक्षा (Pragmatism and Education) 97
7. मानवतावाद और शिक्षा (Humanism and Education) 110
8. सांख्य दर्शन और शिक्षा (Sankhya Philosophy and Education) 121
9. वेदांत दर्शन और शिक्षा (Vedant Philosophy and Education) 134
10. बौद्ध दर्शन और शिक्षा (Budhism and Education) 147
11. जैन दर्शन और शिक्षा (Jainism and Education) 161
12. इस्लाम धर्म–दर्शन एवं परंपराएँ (Philosophy & Traditions of Islamic Religion and Education) 175
13. महात्मा गाँधी का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thought of Mahatma Gandhi) 189
14. स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thought of Swami Vivekanand) 208
15. श्री अरविंद एवं राधाकृष्णन का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thoughts of Shri Aurobindo and Radhakrishnan) 225
16. शिक्षा के सामाजिक आधार (Sociological Basis of Education) 249
17. सामाजिक–आर्थिक कारक और शिक्षा पर उनका प्रभाव (Socio-Economic Factors and Their Impect on Education) 272
18. बालक का समाजीकरण (Socialization of the Child) 282
19. सामाजिक परिवर्तन एवं शिक्षा (Social Change and Education) 291
20. भारत में सामाजिक परिवर्तन व उसके कारक (Social Change in India and its Factors) 304
21. सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षा एवं मानव संसाधन विकास (Education As mode of Social and Economic Change and HRD) 311
22. शिक्षा : सामाजिक संस्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता (Education: Social Stratification and Social Mobility) 329
23. प्रजातंत्र और शिक्षा (Democracy and Education) 337
24. मार्क्सवाद और संपूर्ण मानववाद (Marxism and Integral Humanism) 350
25. दुर्खीम एवं पार्सन्स के सिद्धांत (Theories of Durkheim and Parsons) 363
26. स्त्री शिक्षा (Women Education) 374
27. वैश्वीकरण : अवधारणा एवं समसामयिक परिस्थिति में इसकी प्रासंगिकता (Globalization: Concept and its Relevance in Contemporary Situation) 386
28. मानवाधिकार एवं शिक्षा (Human Rights and Education) 399
29. उपभोक्ता अधिकार और शिक्षा का अधिकार (Consumer Rights and Right to Education) 413
30. शांति शिक्षा (Peace Education) 422
31. मूल्य शिक्षा का अर्थ एवं आवश्यकता (Meaning and Needs of Value Education) 429
32. राष्ट्रीय एकता के लिए शिक्षा (Education for National Integration) 458

नोट

इकाई–1 : शिक्षा और दर्शन में संबंध एवं शिक्षा दर्शन (Relation Between Education and Philosophy and Philosophy of Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Education)

1.2 शिक्षा का व्यापक एवं संकुचित अर्थ (Wider and Narrower Meaning of Education)

1.3 शिक्षा की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Education)

1.4 दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Philosophy)

1.5 भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर (Difference between Indian Philosophies and Western Philosophies)

1.6. दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Philosophy)

1.7 दर्शन का अध्ययन क्षेत्र एवं विषयवस्तु (Scope and Subject-Matter of Philosophy)

1.8 दर्शन और शिक्षा में संबंध (Relation between Philosophy and Education)

1.9 शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Philosophy of Education)

1.10 शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Philosophy of Education)

1.11 शिक्षा दर्शन का विषयक्षेत्र एवं विषयवस्तु (Scope and Subject-Matter of Philosophy of Education)

1.12 शिक्षा दर्शन के कार्य (Functions of Philosophy of Education)

1.13 शिक्षा दर्शन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्त्व (Need, Utility and Importance of Philosophy of Education)

1.14 सारांश (Summary)

1.15 शब्दकोश (Keywords)

1.16 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.17 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शिक्षा का अर्थ जानने हेतु।
- दर्शन का अर्थ जानने हेतु।
- भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन में अंतर समझने हेतु।
- शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं अर्थ जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा की शिक्ष् धातु में अ प्रत्यय लगने से बना है। शिक्ष् का अर्थ है–सीखना और सिखाना, इसलिए शिक्षा का अर्थ हुआ–सीखने-सिखाने की क्रिया। यदि हम शिक्षा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द एजूकेशन (Education) पर विचार करें तो भी उसका यही अर्थ निकलता है। एजूकेशन शब्द लैटिन भाषा के एजूकेटम (Educatum) शब्द से बना है और एजूकेटम शब्द उसी भाषा के ए (E) तथा ड्यूको (Duco) दो शब्दों से मिलकर बना है। ए का अर्थ है–अंदर से और ड्यूको का अर्थ है–आगे बढ़ाना, इसलिए एजूकेशन का अर्थ हुआ–बच्चे की आंतरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करना।

1.1 शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Education)

शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि एवं व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और उस सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। और यह कार्य मनुष्य के जन्म से ही प्रारंभ हो जाता है। बच्चे के जन्म के कुछ दिन बाद ही उसके माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्य उसे सुनना और बोलना सिखाने लगते हैं। जब बच्चा कुछ बड़ा होता है तो उसे उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने तथा सामाजिक आचरण की विधियाँ सिखाई जाने लगती हैं। जब वह तीन-चार वर्ष का होता है तो उसे पढ़ना-लिखना सिखाने लगते हैं। इसी आयु पर उसे विद्यालय भेजना प्रारंभ किया जाता है। विद्यालय में उसकी शिक्षा बड़े सुनियोजित ढंग से चलती है। विद्यालय के साथ-साथ उसे परिवार एवं समुदाय में भी कुछ न कुछ सिखाया जाता रहता है और सीखने-सिखाने का यह क्रम विद्यालय छोड़ने के बाद भी चलता रहता है और जीवन भर चलता है। और विस्तृत रूप में देखें तो किसी समाज में शिक्षा की यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। अपने वास्तविक अर्थ में किसी समाज में सदैव चलने वाली सीखने-सिखाने की यह सप्रयोजन प्रक्रिया ही शिक्षा है।

यदि हम प्रयोग की दृष्टि से देखें तो शिक्षा शब्द का प्रयोग दो रूपों में होता है–एक प्रक्रिया रूप में और दूसरा प्रक्रिया के परिणाम के रूप में। जब हम कहते हैं कि उसकी शिक्षा सुचारु रूप से चल रही है तो यहाँ शिक्षा का प्रयोग प्रक्रिया रूप में है और जब हम यह कहते हैं कि उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की है तो यहाँ शिक्षा शब्द का प्रयोग परिणाम रूप में है। परंतु आधुनिक शिक्षाशास्त्री शिक्षा को प्रक्रिया रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि किसी भी प्रक्रिया में उसका परिणाम तो निहित होता ही है। वर्तमान में शिक्षा प्रक्रिया के परिणाम को ज्ञान, कौशल एव व्यवहार परिवर्तन के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

इस शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप की व्याख्या करने में मूल भूमिका दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने अदा की है और इन सबने शिक्षा को अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखा-परखा और परिभाषित किया है। यहाँ हम इन सब के दृष्टिकोणों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर इनके द्वारा उद्घाटित तथ्यों के आधार पर शिक्षा के स्वरूप को समझने एवं उसे परिभाषित करने का प्रयत्न करेंगे।

शिक्षा का दार्शनिक संप्रत्यय

दार्शनिकों का विचार-केंद्र मनुष्य होता है। ये मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को जानने और उसके जीवन का अंतिम उद्देश्य निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं। मानव जीवन के अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति का साधन-मार्ग निश्चित करने में भी दार्शनिकों की रुचि होती है और इस सब के ज्ञान एवं प्रशिक्षण के लिए ये शिक्षा को आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार दार्शनिकों की दृष्टि से शिक्षा मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति का साधन होती है। और चूँकि मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य के संबंध में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं इसलिए उनके द्वारा निश्चित शिक्षा की परिभाषाओं में भी भिन्नता है।

अध्यात्मवादी दार्शनिक मनुष्य के लौकिक जीवन की अपेक्षा उसके पारलौकिक जीवन को अधिक महत्त्वशाली मानते हैं। वेदांती तो इस लौकिक जीवन से सदा-सदा के लिए छुटकारा चाहते हैं। इसे वे मुक्ति कहते हैं। जगतगुरु

नोट

शंकराचार्य की दृष्टि से–

शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए।

(सः विद्या या विमुक्तये–शंकराचार्य)

नोट्स शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। शिक्षा का अर्थ है–सीखने सिखाने की क्रिया।

भारतीय मनीषी स्वामी **विवेकानंद** मनुष्य को जन्म से पूर्ण मानते थे और शिक्षा के द्वारा उसे अपनी इस पूर्णता की अनुभूति करने योग्य बनाने पर बल देते थे। उनके शब्दों में–

मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।

(Education is manifestation of perfection already present in man.

—Swami Vivekanand)

युगपुरुष **महात्मा गाँधी** ने शरीर, मन और आत्मा, इन तीनों के विकास पर समान बल दिया है। उनके शब्दों में–

शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वांगीण एवं सर्वोत्कृष्ट विकास से है।

(By education I mean an all round drawing out of the best in child and man-body, mind and spirit.**—Mahatma Gandhi)**

यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** भी शरीर और आत्मा, दोनों के महत्त्व को स्वीकार करते थे। उनके विचार से–

शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वे योग्य हैं।

(Education consists in giving to the body and soul all the perfection to which they are susceptible.**—Plato)**

प्लेटो के शिष्य **अरस्तु** मनुष्य के शारीरिक और मानसिक विकास पर बल देते थे। उनका विश्वास था कि उचित शारीरिक एवं मानसिक विकास होने पर ही मनुष्य आत्मा की अनुभूति कर सकता है। उन्होंने शिक्षा को अग्रलिखित रूप से परिभाषित किया है–

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है।

(Education is the creation of a sound mind in a sound body.**—Aristotle)**

भौतिकवादी दार्शनिक मनुष्य के केवल लौकिक जीवन को ही सत्य मानते हैं। इनकी दृष्टि से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य **सुखपूर्वक** जीना है और सुखपूर्वक जीने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य शरीर और मन से स्वस्थ और इंद्रिय भोग के साधनों से संपन्न हो। यह सब कार्य वे शिक्षा द्वारा करना चाहते हैं। **भौतिकवादी चार्वाकों** की दृष्टि से–

शिक्षा वह है जो मनुष्य को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने योग्य बनाती है।

पाश्चात्य जगत के प्रकृतिवादी दार्शनिक भी भौतिक सुखों की प्राप्ति करने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि से यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने अंतः और बाह्य पर्यावरण में समन्वय स्थापित करें। **हरबर्ट स्पेन्सर** के अनुसार–

शिक्षा का अर्थ अंतःशक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।

(Education means establishment of coordination between the inherent powers and the outer life. **—Herber Spencer)**

पाश्चात्य दार्शनिकों में अब ऐसे दार्शनिकों का बाहुल्य है जो मनुष्य के जीवन को उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में वह दिखाई देता है। प्रयोजनवादी मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हैं और यह मानते हैं कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य में वर्तमान समाज में अनुकूलन करने और भविष्य के समाज का निर्माण करने की क्षमता का विकास करना चाहिए। प्रयोजनवादी दार्शनिक **जॉन डीवी** के शब्दों में–

नोट

शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।

(Education is the development of all those capacities in the individual which will enable him to control his environment and fulfil his possibilities. **—John Dewey)**

शिक्षा का समाजशास्त्रीय संप्रत्यय

समाजशास्त्रियों का विचार केंद्र समाज होता है। ये व्यष्टि को उसके समाज के संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में ही देखते-समझते हैं। शिक्षा को ये व्यष्टि और समाज के विकास का साधन मानते हैं। इन्होंने शिक्षा प्रक्रिया की प्रकृति के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर किए हैं–

1. **शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है**–समाजशास्त्रियों ने स्पष्ट किया कि जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच सामाजिक अंत:क्रिया होती है तो वे एक-दूसरे की भाषा, विचार और आचरण से प्रभावित होते हैं; इस प्रभावित होने की प्रक्रिया को सीखना कहते हैं और जब यह कार्य कुछ निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर किया जाता है तो उसे शिक्षा कहते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है, प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण में उसकी इन शक्तियों का विकास होता है और इसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए ध्वनियों को उच्चारित करने का तंत्र मनुष्य को जन्म से प्राप्त होता है, परंतु इस तंत्र से भाषा वह उन्हीं लोगों की सीखता है जिनके संपर्क में आता है और जिनसे विचारों का आदान-प्रदान करता है। मनुष्य की पूरी **सभ्यता एवं संस्कृति का विकास सामाजिक प्रक्रिया का ही परिणाम है।** हाँ, यह बात अवश्य है कि कर्मेंद्रियों एव ज्ञानेंद्रियों के विकास और भाषा ज्ञान होने के बाद मनुष्य स्वतंत्र रूप से भी अवलोकन, परीक्षण, चिंतन और मनन करता है और इस प्रकार भी सीखता है, परंतु इसके लिए आवश्यक कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों का विकास, भाषा ज्ञान एवं विचार शक्ति का विकास सामाजिक पर्यावरण में ही होता है। समाज के अभाव में न तो हम भाषा सीख सकते हैं और न विचार करना सीख सकते हैं। बच्चे अपने चारों ओर की वस्तुओं, भाषा और क्रियाओं का ज्ञान समाज में रहकर ही प्राप्त करते हैं। समाजशास्त्रियों ने यह भी स्पष्ट किया कि शिक्षा समाज के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन होती है। जैसा समाज होता है और जैसी उसकी आकांक्षाएँ होती हैं वैसी ही उसकी शिक्षा होती है। वास्तविकता यह है कि शिक्षा समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों से संबंधित होती है; इसके द्वारा समाज के भूत का ज्ञान, वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति और भविष्य का निर्माण किया जाता है। इस दृष्टि से भी शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया होती है।
2. **शिक्षा अविरत प्रक्रिया है**–शिक्षा के विषय में समाजशास्त्रियों ने दूसरा तथ्य यह उजागर किया कि शिक्षा समाज में सदैव चलती है। मनुष्य के जन्म के कुछ दिन बाद से ही उसकी शिक्षा प्रारंभ हो जाती है और जीवन के अंत तक चलती रहती है। और अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से देखें तो समाज के सदस्य (व्यक्ति) तो समाप्त होते रहते हैं परंतु उसकी शिक्षा प्रक्रिया पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है; वह कभी विश्राम नहीं लेती। इस प्रकार निरंतरता उसका दूसरा लक्षण है।
3. **शिक्षा द्विध्रुवीय प्रक्रिया है**–समाजशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है कि शिक्षा की प्रक्रिया में एक पक्ष प्रभावित करता है और दूसरा पक्ष प्रभावित होता है। अत: स्पष्ट है कि शिक्षा द्विध्रुवीय प्रक्रिया है। उनके अनुसार शिक्षा के दो ध्रुव होते हैं–एक वह जो प्रभावित करता है (शिक्षक) और दूसरा वह जो प्रभावित होता है (शिक्षार्थी)। अमेरिकी शिक्षाशास्त्री **जॉन डीवी** ने भी शिक्षा के दो ध्रुव माने हैं–एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञानिक अंग से उनका तात्पर्य सीखने वाले की रुचि, रुझान और शक्ति से है और सामाजिक अंग से उनका तात्पर्य उसके सामाजिक पर्यावरण से है। परंतु अपना तो यह अनुभव है कि केवल सामाजिक पर्यावरण ही नहीं अपितु प्राकृतिक पर्यावरण भी सीखने-सिखाने की क्रिया को प्रभावित करता है। नियोजित शिक्षा के संदर्भ में शिक्षक, शिक्षण के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियाँ भी प्रभावी तत्व होते हैं। इन सबको अब सीखने-सिखाने की परिस्थितियाँ कहते हैं। तब यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शिक्षा की प्रक्रिया सीखने वाले और सीखने-सिखाने की परिस्थितियों के बीच चलती है।

नोट

4. **शिक्षा विकास की प्रक्रिया है–**मनुष्य का जन्मजात व्यवहार **पशुवत्** होता है। शिक्षा के द्वारा उसके इस व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन किया जाता है। और अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से देखें तो मनुष्य अपने अनुभवों को भाषा के माध्यम से सुरक्षित रखता है और उनको आने वाली पीढ़ी के हाथों सौंप देता है। आने वाली पीढ़ी इस ज्ञान के आधार पर और आगे बढ़ती है और इसमें अपने अनुभव और विचार जोड़ देती है। इस प्रकार किसी समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता है। शिक्षा के अभाव में यह सब संभव नहीं। स्पष्ट है कि शिक्षा विकास की प्रक्रिया है। हमें यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी जाति के प्राणियों के बीच रहकर, अनुकरण द्वारा, उनके अनुसार चलना-फिरना, खाना-पीना और बोलना आदि सीखता है। पशु-पक्षियों के जीवन पर विचार कीजिए। ये जन्म के कुछ दिन पश्चात् ही अपनी जाति के प्राणियों की भाँति खाने-पीने, चलने-फिरने अथवा उड़ने के तरीके सीख जाते हैं, परंतु उनकी सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया केवल परिस्थितियों के साथ समायोजन कर आत्मरक्षा के कार्यों तक सीमित रहती है जबकि मनुष्य की शिक्षा उसे केवल परिस्थितियों के साथ समायोजन करना ही नहीं सिखाती अपितु उसमें अपने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता का विकास भी करती है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के रहन-सहन, खान-पान एवं विचारों और जीवन को सुखमय बनाने के लिए साधन तथा उपसाधनों के निर्माण में सदैव परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का दूसरा नाम विकास है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य की शिक्षा ही विकास की प्रक्रिया है, पशु-पक्षियों एवं अन्य जीवों की नहीं।
5. **शिक्षा गतिशील प्रक्रिया है–**शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति में निरंतर विकास करता है। इस विकास के लिए उसकी एक पीढ़ी अपने ज्ञान एवं कला-कौशल आदि को दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करती है। इन हस्तांतरण के लिए प्रत्येक समाज विद्यालयी शिक्षा का नियोजन करता है। इसीलिए समय विशेष की विद्यालयी शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियाँ सब निश्चित प्रायः होते हैं। परंतु जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होते हैं तैसे-तैसे शिक्षा उन परिवर्तनों को स्वीकार करती हुई आगे बढ़ती है। इस प्रकार उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों आदि में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। यही उसकी गतिशीलता है। यदि शिक्षा गतिशील न होती तो हम विकास पथ पर अग्रसर नहीं रह पाते।

कुछ शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा को उपरोक्त तथ्यों के आधार पर ही परिभाषित किया है। भारतीय विचारक **भैरवनाथ झा** के शब्दों में–

शिक्षा एक प्रक्रिया है और एक सामाजिक कार्य है जो कोई समाज अपने हित के लिए करता है।

(Education is a process, a social function carried on and by the society for its own sake.**—B.N. Jha)**

पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध शिक्षा समाजशास्त्री **ओटावे** ने शिक्षा के स्वरूप और कार्य दोनों को समाहित करते हुए शिक्षा को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है–

शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया व्यष्टियों और सामाजिक समूहों के बीच की अंतःक्रिया है जो व्यष्टियों के विकास के लिए कुछ निश्चित उद्देश्यों से की जाती है।

(The whole process of education is the interaction of individuals and social groups, with certain ends in view for the development of the individuals.

—A.K.C. Ottaway)

शिक्षा समाजशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य शिक्षा के द्वारा अपने समाज में अनुकूलन करता है। **टी. रेमेंट** ने इस तथ्य को सामने रखकर शिक्षा को परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य शैशव काल से प्रौढ़ काल तक विकास करता है और जिसके द्वारा वह धीरे-धीरे अपने को अनेक प्रकार से अपने प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण के अनुकूल बनाता है।

नोट

(Education is the process of development in which consists the passage of human being from infancy to maturity, the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment.**—T.Raymont)**

शिक्षा का राजनैतिक संप्रत्यय

राजनीतिशास्त्रियों का विचार केंद्र राज्य और उसका शासनतंत्र होता है। ये व्यष्टि और समाज, दोनों को राज्य और उसके शासनतंत्र के संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में देखते-समझते हैं। शिक्षा को ये राष्ट्र के निर्माण का साधन मानते हैं। राष्ट्र का निर्माण होता है श्रेष्ठ नागरिकों से और श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण होता है शिक्षा द्वारा। इनकी दृष्टि से–

वास्तविक शिक्षा वह है जो श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करती है।

शिक्षा का अर्थशास्त्रीय सम्प्रत्यय

अर्थशास्त्रियों का विकास केंद्र समाज के आर्थिक स्त्रोत और उसका आर्थिक तंत्र होता है। ये व्यक्ति अथवा समाज की समस्त क्रियाओं को आर्थिक परिप्रेक्ष्य से देखते-समझते हैं। शिक्षा को ये एक उत्पादक क्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि से शिक्षा उपभोग की वस्तु के साथ-साथ उत्पादन का कारक भी होती है। शोधों के परिणाम यह बताते हैं कि शिक्षित मनुष्य की उत्पादन शक्ति और संगठन क्षमता अशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है और इतनी अधिक होती है कि उससे होने वाला अतिरिक्त लाभ उसकी शिक्षा पर किए गए व्यय से अधिक होता है। इसलिए अर्थशास्त्री शिक्षा को आर्थिक निवेश के रूप में स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि से–

शिक्षा वह आर्थिक निवेश है जिसके द्वारा व्यक्ति में उत्पादन एवं संगठन के कौशलों का विकास किया जाता है और इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उत्पादन क्षमता बढ़ाई जाती है और उनका आर्थिक विकास किया जाता है।

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय

भारतीय योग मनोविज्ञान का विचार केंद्र मनुष्य का बाह्य स्वरूप और उसका अंत:करण दोनों होते हैं। बाह्य स्वरूप में वह उसकी कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों का अध्ययन करता है और अंत:करण में चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) का अध्ययन करता है। उसकी दृष्टि से–

शिक्षा का अर्थ है मनुष्य की बाह्य इंद्रियों और अंत:करण का प्रशिक्षण।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का विचार केंद्र मनुष्य का शरीर, मस्तिष्क और व्यवहार होता है, वे अभी उसके अंत:करण के मूल तत्व–मन, बुद्धि और अहंकार की खोज नहीं कर सके हैं। उनकी दृष्टि से मनुष्य एक मनोशारीरिक प्राणी है जो जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है और इन शक्तियों पर ही उसका विकास निर्भर करता है। अत: शिक्षा के द्वारा सर्वप्रथम इन शक्तियों का विकास होना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि इन जन्मजात शक्तियों का विकास किस दिशा में और कितना किया जाए। इस विषय में स्विस् शिक्षाशास्त्री **पैस्टालॉजी** का मत है कि यह विकास स्वाभाविक, समरस और प्रगतिशील होना चाहिए। उन्होंने शिक्षा को इसी दृष्टि से परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, समरस और प्रगतिशील विकास है।

(Education is a natural, harmonious and progressive development of man's innate powers.**—Pestalozzi)**

पैस्टालॉजी के शिष्य **फ्रोबेल** ने शिक्षा को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है–

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक अपनी आंतरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करता है।

(Education is a process by which a child makes its internal external.**—Froebel)**

नोट

शिक्षा का वैज्ञानिक संप्रत्यय

वैज्ञानिकों का विचार केंद्र भौतिक जगत एवं उसकी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ होती हैं। ये किसी भी वस्तु अथवा क्रिया को वस्तुनिष्ठ ढंग से देखते हैं। जहाँ तक मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का प्रश्न है, ये मनोविज्ञान से सहमत हैं, परंतु जहाँ तक मनुष्य के व्यवहार का प्रश्न है, ये समाजशास्त्रीय तथ्यों को स्वीकार करते हैं। शिक्षा को ये मनुष्य की शक्तियों के बाह्य जीवनानुकूल विकास के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। **हरबर्ट स्पेन्सर** के शब्दों में–

शिक्षा का अर्थ अंत:शक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।

(Education means establishment of coordination between the inherent powers and the outer life.**—Herbert Spencer)**

शिक्षा का सही संप्रत्यय

शिक्षा के विषय में दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट होगा कि वे क्षेत्र विशेष तक सीमित हैं। आज हम शिक्षा की व्याख्या करते समय इन सभी के दृष्टिकोण से तथ्यों का चयन करते हैं। शिक्षा जगत में इसे **संकलक प्रवृत्ति** (Eclectic Tendency) कहते हैं। इन सबके दृष्टिकोणों से शिक्षा की प्रकृति के विषय में ये तथ्य उजागर होते हैं कि शिक्षा एक सोद्देश्य, सामाजिक, अविरत, गतिशील और विकास की प्रक्रिया है। और इसके कार्यों के संबंध में यह स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा मनुष्यों की जन्मजात शक्तियों का विकास, उनके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उन्हें सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है।

परंतु अब तक हमने शिक्षा की जो भी परिभाषाएँ देखी हैं उनमें प्राय: दो दोष हैं–एक तो यह कि इनसे शिक्षा प्रक्रिया की प्रकृति का स्पष्ट बोध नहीं होता; और दूसरा यह कि ये शिक्षा के किसी उद्देश्य विशेष पर ही बल देती हैं। यही कारण है कि ये सर्वमान्य परिभाषाएँ नहीं हो सकीं। शिक्षा की उपयुक्ततम परिभाषा तो वह होगी जिससे शिक्षा प्रक्रिया की प्रकृति एवं कार्य, दोनों का स्पष्ट बोध हो। इस दृष्टि से शिक्षा को अग्रलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

शिक्षा किसी समाज में सदैव चलने वाली वह सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। इसके द्वारा व्यष्टि एवं समाज दोनों निरंतर विकास करते हैं।

शिक्षा की यह परिभाषा अपने में पूर्ण है। इससे शिक्षा प्रक्रिया की प्रकृति (कि यह सोद्देश्य, सामाजिक, अविरत, गतिशील एवं विकास की प्रक्रिया है) और इसके कार्यों (कि इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है, दोनों का स्पष्ट बोध होता है! मनुष्य को सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाने में किसी भी समाज की शिक्षा के समस्त उद्देश्य एवं कार्य समाहित हैं। अत: शिक्षा की यह परिभाषा सबको स्वीकार होनी चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शिक्षा वह है जो ..... दिलाए।
2. स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही ..... है।
3. वास्तविक शिक्षा वह है जो ..... का निर्माण करती है।

नोट

1.2 शिक्षा का व्यापक एवं संकुचित अर्थ (Wider and Narrower Meaning of Education)

हम जानते हैं कि किसी समाज में किसी बच्चे की शिक्षा, उसके परिवार, छोटे-बड़े विभिन्न सामाजिक समूहों, सामुदायिक केंद्रों और विभिन्न प्रकार के विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में चलती है, परंतु कुछ लोग केवल विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में चलने वाली शिक्षा को ही शिक्षा कहते हैं। इस प्रकार शिक्षा शब्द का प्रयोग दो रूपों में होता है–एक व्यापक रूप में और दूसरा संकुचित रूप में।

शिक्षा का व्यापक अर्थ

हम जानते हैं कि प्रत्येक प्राणी अपनी जाति में जन्म लेता है और उसके बीच रहकर अपनी जाति के प्राणियों की तरह चलना-फिरना, खाना-पीना, सुनना-बोलना और अनेक प्रकार की अन्य क्रियाएँ करना सीखता है। मनुष्य जब पैदा होता है तो बहुत ही असहाय अवस्था में होता है, परंतु जन्म के कुछ दिन बाद ही वह अपनी जाति के प्राणियों का अनुकरण कर चलना-फिरना, खाना-पीना और सुनना-बोलना सीखने लगता है और धीरे-धीरे अनेक प्रकार की अन्य क्रियाएँ करना सीखता है। वह सबसे पहला पाठ अपनी **माँ की गोद** में पढ़ता है, फिर अपने **घरेलू पर्यावरण** से सीखता है और उसके बाद जिसके भी संपर्क में आता है उसी से कुछ न कुछ सीखता है। सभ्य समाज अपने बच्चों की जन्मजात शक्तियों के उचित विकास करने और उनके व्यवहार में वांछित परिवर्तन करने के लिए विद्यालयों की व्यवस्था करते हैं। परंतु बच्चे विद्यालयों के साथ-साथ अन्य स्थानों पर भी कुछ न कुछ सीखते रहते हैं। और सच बात तो यह है कि विद्यालय छोड़ने के बाद भी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया चलती रहती है और जीवनपर्यंत चलती रहती है। व्यापक अर्थ में जीवनपर्यंत चलने वाली सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया ही शिक्षा है। इस शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियाँ सभी बहुत व्यापक होते हैं, उन्हें सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, परंतु होते सब विकासोन्मुख ही हैं। अनेक विद्वानों ने शिक्षा के इस रूप को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है। उनमें से **जे. एम. मैकेंजी** का प्रयास सराहनीय है। उनके शब्दों में–

व्यापक दृष्टि से शिक्षा जीवनपर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है और जीवन के प्रत्येक अनुभव के द्वारा इसका विकास होता है।

(In wider sense, it is a process that goes on throughout life and that is promoted by almost every experience in life.**—J.S. Mackenzie)**

अधिकतर विद्वान व्यापक अर्थ में शिक्षा की इस परिभाषा से सहमत हैं, परंतु इस परिभाषा से न तो शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान होता है और न उसके परिणाम का। हमारी दृष्टि से व्यापक अर्थ में शिक्षा को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

व्यापक अर्थ में शिक्षा किसी समाज में सदैव चलने वाली वह सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि एवं व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। इसके द्वारा व्यष्टि एवं समाज दोनों निरंतर विकास करते हैं।

शिक्षा का संकुचित अर्थ

सामान्यत: लोग विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में चलने वाली शिक्षा (Schooling) को ही शिक्षा कहते हैं। यह शिक्षा का संकुचित अर्थ है। हम जानते हैं कि प्रत्येक समाज की अपनी जीवन शैली होती है और अपनी आकांक्षाएँ होती हैं और समाज के प्रौढ़ सदस्य अपने आने वाली पीढ़ी को इस जीवन शैली में प्रशिक्षित करने एवं अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। इस शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियाँ, सभी निश्चित होते हैं। यह शिक्षा बच्चे की एक निश्चित आयु पर प्रारंभ होती है और एक निश्चित काल तक चलती है। यह शिक्षा निश्चित स्थानों (विद्यालयों) पर निश्चित व्यक्तियों (शिक्षकों) और निश्चित बच्चों (विद्यार्थियों) के बीच चलती है। आज इस शिक्षा की व्यवस्था समाज अथवा राज्य द्वारा की जाती है। तब यह समाज अथवा राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होना स्वाभाविक है। किसी राष्ट्र की उन्नति

नोट

विशेष रूप से इसी शिक्षा पर निर्भर करती है। इस अर्थ में विद्यालय में प्रवेश लेने से पहले और विद्यालय छोड़ने के बाद शिक्षा की प्रक्रिया नहीं चलती। अनेक विद्वानों ने शिक्षा के इस रूप को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है। इनमें से **जे. एस. मैकेंजी** का प्रयास सराहनीय है। उनके शब्दों में–

संकुचित दृष्टि से शिक्षा का अर्थ अपनी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए किए गए किन्हीं भी चेतनापूर्ण प्रयासों से लिया जा सकता है।

(In narrower sense, it may be taken to mean any consciously directed efforts to develop and cultivate our powers.**—J.S. Mackenzie)**

अधिकतर विद्वान संकुचित अर्थ में शिक्षा की इस परिभाषा से सहमत हैं, परंतु इससे न तो शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान होता है और न उसके परिणाम का। हमारी दृष्टि से संकुचित अर्थ में शिक्षा को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

संकुचित अर्थ में शिक्षा किसी समाज में एक निश्चित समय तथा निश्चित स्थानों (विद्यालयों) में सुनियोजित ढंग से चलने वाली वह सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि एवं व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। इसके द्वारा व्यष्टि एवं समाज दोनों निरंतर विकास करते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. भौतिकवादी दार्शनिक मनुष्य के केवल लौकिक जीवन को ही मानते हैं–
   (अ) सत्य (ब) असत्य (स) अनंत (द) इनमें से कोई नहीं
5. मनुष्य का जन्मजात व्यवहार होता है–
   (अ) विस्तृत (ब) पशुवत् (स) स्पष्ट (द) अस्पष्ट
6. अमेरिकी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने शिक्षा के माने हैं–
   (अ) दो ध्रुव (ब) तीन ध्रुव (स) चार ध्रुव (द) इनमें से कोई नहीं

1.3. शिक्षा की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Education)

शिक्षा की प्रकृति के विषय में मूल रूप से दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने विचार किया है। इन सबके दृष्टिकोणों से शिक्षा की प्रकृति के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं–

1. शिक्षा एक **सामाजिक प्रक्रिया** है। इसके मुख्य रूप से तीन अंग होते हैं–सीखने वाला, सिखानेवाला और सीखने-सिखाने की सामग्री अथवा क्रिया, यह बात दूसरी है कि सिखाने वाला सीखनेवाले के सामने प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित रहता है या पर्दे के पीछे कार्य करता है।
2. व्यापक अर्थ में शिक्षा की प्रक्रिया किसी समाज में निरंतर चलती है, परंतु संकुचित अर्थ में यह केवल विद्यालयों में ही चलती है। हमें शिक्षा को उसके व्यापक रूप में ही लेना चाहिए। इस दृष्टि से यह एक अविरत प्रक्रिया है।
3. शिक्षा सोद्देश्य प्रक्रिया है, इसके उद्देश्य समाज द्वारा निश्चित होते हैं और विकासोन्मुख होते हैं। इस प्रकार शिक्षा विकास की प्रक्रिया है।

नोट

4. व्यापक अर्थ में शिक्षा की विषय-सामग्री अति व्यापक होती है, उसे सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, परंतु संकुचित अर्थ में इसकी विषय-सामग्री निश्चित पाठ्यचर्या तक सीमित होती है। पर दोनों अर्थों में यह व्यष्टि और समाज के विकास में सहायक होती है।
5. व्यापक अर्थ में शिक्षा की विधियाँ अति व्यापक होती हैं, परंतु संकुचित अर्थ में निश्चित प्राय: होती हैं।
6. शिक्षा का स्वरूप समाज के धर्म-दर्शन, उसकी संरचना-संस्कृति, शासनतंत्र, अर्थतंत्र और वैज्ञानिक प्रगति आदि अनेक तत्वों पर निर्भर करता है।
7. उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि किसी समाज के धर्म-दर्शन, संरचना-संस्कृति, शासनतंत्र, अर्थतंत्र और वैज्ञानिक परिवर्तनों के साथ-साथ उसकी शिक्षा के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार शिक्षा की प्रकृति गतिशील होती है।

क्या आप जानते हैं स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है।

1.4. दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Philosophy)

दर्शन मनुष्य के चिंतन की उच्चतम सीमा है। इसमें संपूर्ण ब्रह्मांड एवं मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के **करणीय** तथा **अकरणीय कर्मों** का तार्किक विवेचन किया जाता है। भारत दर्शन की **गुरुस्थली** माना जाता है। भारत के बाद इस क्षेत्र में यूनान (ग्रीस) देश का नाम आता है। आज तो संसार के प्राय: सभी सभ्य देशों में दर्शन का विकास हो रहा है, परंतु दर्शन के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में थोड़ा अंतर है। यहाँ उस सबकी चर्चा करना आवश्यक है; उसके बाद ही हम दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

दर्शन का भारतीय संप्रत्यय

प्राचीन भारत में किसी भी प्रकार के चिंतन को दर्शन कहा जाता था, परंतु जैसे-जैसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ तैसे-तैसे हमने उसे भिन्न-भिन्न अनुशासनों में विभाजित करना प्रारंभ किया; जैसे–मानवशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और चिकित्साशास्त्र आदि। **ज्ञान की उस शाखा को जिसमें इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य (Ultimate Reality) की खोज की जाती है, उसे हमने दर्शनशास्त्र की संज्ञा दी।** उपनिषद् काल में दर्शन को इसी रूप में स्वीकार किया जाता था। तब दर्शन की परिभाषा थी–

जिससे देखा जाए अर्थात् सत्य के दर्शन किए जाएँ वह दर्शन है।

(दृश्यते अनेन इति दर्शनम्-उपनिषद्)

अंतिम सत्य की खोज में हमें ब्रह्मांड के स्वरूप एवं इसके कर्ता तथा उपादान कारण पर बरबस विचार करना पड़ा। दार्शनिकों ने सबसे अधिक विचार किया मनुष्य के स्वयं के वास्तविक स्वरूप पर और उस संदर्भ में आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों पर खूब विचार हुआ। आगे चलकर यही सब **दर्शनशास्त्र की विषय सामग्री** बना। हमारे देश में दर्शन को आज भी अंतिम सत्य की खोज करने वाले शास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में–

दर्शन सत्य के स्वरूप की तार्किक विवेचना है।

(Philosophy is a logical inquiry into the nature of reality.**—Dr. Radhakrishnan)**

दर्शन का पाश्चात्य संप्रत्यय

पाश्चात्य जगत में दर्शन का सर्वप्रथम विकास यूनान (ग्रीस) देश में हुआ। प्रारंभ में तो वहाँ भी दर्शन का क्षेत्र

नोट

बड़ा व्यापक था, परंतु जैसे-जैसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ दर्शन एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में सीमित होता चला गया। दर्शन के लिए अंग्रेजी में फिलॉसफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग होता है जो दो ग्रीक शब्दों–फिलॉस (Philos) तथा सोफिया (Sophia) से मिलकर बना है। फिलॉस का अर्थ है–प्रेम और सोफिया का अर्थ है–ज्ञान, इसलिए फिलॉसफी का अर्थ होता है–ज्ञान से प्रेम। यह दर्शन का विस्तृत अर्थ है। यूनानी (ग्रीक) दार्शनिक **प्लेटो** दर्शन को इसी अर्थ में स्वीकार करते थे। उनके शब्दों में–वह व्यक्ति जो सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है और सदैव उत्सुक रहता है और कभी भी संतोष करके रुकता नहीं है, वास्तव में दार्शनिक है। परंतु सब कुछ जानने से उनका अर्थ सब कुछ के पीछे छिपे मूल तत्व को जानने से था। उनके ही शब्दों में–

पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।

(Philosophy aims at a knowledge of eternal nature of things.**—Plato)**

प्लेटो के शिष्य **अरस्तु** प्रत्यय के साथ-साथ व्यावहारिकता पर भी बल देते थे। उन्होंने प्लेटो द्वारा प्रस्तुत दर्शन की परिभाषा को थोड़े अंतर के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार–

दर्शन एक ऐसा विज्ञान है जो परम तत्व के यथार्थ स्वरूप की जाँच करता है।

(Philosophy is the science which investigates the nature of being as it is in itself. **—Aristotle)**

जर्मन दार्शनिक **कांट** ने दर्शन को केवल ज्ञानशास्त्र के रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन बोध क्रिया का विज्ञान और उसकी आलोचना है।

(Philosophy is the science and criticism of cognition**—Kant)**

फिश्टे ने भी दर्शन को इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन ज्ञान का विज्ञान है।

(Philosophy is the science of knowledge.**—Fischte)**

परंतु आधुनिक युग में पश्चिमी दर्शन में एक भारी मोड़ आया है। अब वह मूल तत्व की खोज के स्थान पर ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की तार्किक विवेचना की ओर प्रवृत्त है। दर्शनशास्त्र की इस व्यापकता ने दर्शन की अनेक शाखाओं को जन्म दिया है; जैसे–सामाजिक दर्शन, राजनैतिक दर्शन, आर्थिक दर्शन, धर्म दर्शन, विज्ञान दर्शन और शिक्षा दर्शन आदि। इसलिए अब वहाँ दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान और आलोचना की आलोचना कहा जाता है। **कॉमटे** के शब्दों में–

दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है।

(Philosophy is the science of sciences.**—Comte)**

और **हरबर्ट स्पेंसर** के शब्दों में–

दर्शन विज्ञानों का समन्वय या विश्वव्यापक विज्ञान है।

(Philosophy is the synthesis of sciences or a universal science.**—Herbert Spencer)**

ब्राइटमैन ने दर्शन को थोड़े विस्तृत रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन की परिभाषा एक ऐसे प्रयास के रूप में दी जा सकती है जिसके द्वारा संपूर्ण मानव अनुभूतियों के विषय में सत्यता से विचार किया जाता है अथवा जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों का वास्तविक सार जानते हैं।

(Philosophy may be defined as the attempt to think truely about human experience as a whole or to make our whole experience intelligible.**—Brightman)**

सैलर्स ने भी दर्शन को उसके व्यापक रूप में स्वीकार किया है। उनके शब्दों में–

नोट

दर्शन एक ऐसा अनवरत प्रयत्न है जिसके द्वारा हम संसार और अपनी प्रकृति के विषय में क्रमबद्ध अनुभवों द्वारा अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हैं।

(Philosophy is a persistent attempt to gain insight into the nature of the world and of ourselves by means of systematic reflection.**—R. W. Sellers.)**

आधुनिक युग के एक महान् अंग्रेज विचारक **बर्ट्रेण्ड रसेल** ने दर्शन को और अधिक व्यापक रूप में देखा है। उनके शब्दों में–

दर्शन में हम अपने सामान्य विचारों की संदिग्धता और भ्रामकता की परख करते हैं, उन सब पर विचार एवं अनुसंधान करते हैं जो हमारे अंतिम प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने में भ्रम पैदा करते हैं और अंत में अपने अंतिम प्रश्नों के आलोचनात्मक उत्तर प्राप्त करते हैं।

(Philosophy is the attempt to answer ultimate questions critically, after investing all that makes such questions puzzling and after realizing the vagueness and confusion that underline our ordinary ideas. **—Bertrand Russell)**

दर्शन का वास्तविक संप्रत्यय

ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है कि दर्शन के बारे में भारतीय दृष्टिकोण और पाश्चात्य दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर है और वह यह कि अधिकतर भारतीय दर्शनों में आज भी सर्वप्रथम सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान एवं मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य और उसे प्राप्त करने के उपायों पर विचार किया जाता है और फिर इस ज्ञान को तर्क का आधार बनाकर मनुष्य के समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं उसकी समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों की तार्किक विवेचना की जाती है जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों में सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत आदि पर विचार करे बिना मनमाने तर्क करने की प्रवृत्ति अधिक है। बड़े खेद की बात है कि कुछ भारतीय विद्वान भी सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण आदि से संबंधित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किए बिना मनमाने तर्क प्रस्तुत कर अपने को दार्शनिक समझने की भूल करने लगे हैं। कुछ विद्वान तो दर्शन को इन प्रश्नों से जोड़ने को कूपमंडूकता मानते हैं। उनका कुतर्क है कि आज जब पाश्चात्य जगत में दार्शनिक सृष्टि-सृष्टा और आत्मा-परमात्मा आदि का विचार किए बिना समस्या विशेष को सीधे मानव उपयोगिता की कसौटी पर कसने लगे हैं और उसी आधर पर उसकी व्याख्या करने लगे हैं, भारतीय विचारक आत्मा-परमात्मा के चक्कर में ही फँसे हैं। हमें तो इन लोगों की बुद्धि पर तरस आता है। मानव जीवन के रहस्य को समझे बिना उसके लिए क्या उपयोगी है, यह कैसे निश्चित किया जा सकता है! हम भारतीयों को पाश्चात्य दार्शनिकों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए। हमारे महर्षियों ने हमें सच्चा तत्व ज्ञान दिया है, उसके आधार पर हम किसी भी वस्तु अथवा क्रिया की सच्ची व्याख्या कर सकते हैं। हमारी दृष्टि से बिना तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के दर्शन का कोई अस्तित्व ही नहीं। अत: दर्शन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

दर्शनशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसमें संपूर्ण ब्रह्मांड के अंतिम सत्य एवं मानव के वास्तविक स्वरूप, सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने की विधियों और मानव जीवन के अंतिम उद्देश्य तथा उसे प्राप्त करने के साधनों की तार्किक विवेचना की जाती है।

दर्शन की यह परिभाषा अपने में पूर्ण है। इस परिभाषा में प्रकृतिवादी, प्रयोजनवादी और आदर्शवादी, सभी दर्शन आ जाते हैं। इस ब्रह्मांड एवं उसमें मानव जीवन के प्रति यदि हमारा यह दृष्टिकोण है कि इनके मूल में प्राकृतिक परिवर्तनों के अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक शक्ति कार्य नहीं करती तो उपरोक्त परिभाषा के अनुसार यह विचारधारा भी दर्शन ही होगी। भारतीय चार्वाक और आजीवक तथा पाश्चात्य प्रकृतिवाद इसी कोटि के दर्शन हैं। और यह दृष्टिाकोण कि यह संपूर्ण ब्रह्मांड किसी असीम शक्ति (ब्रह्म, गौड, अल्लाह, विचार, सत्य आदि) द्वारा निर्मित है तो यह विचारधारा भी दर्शन ही होगी। भारतीय उपनिषद् और षट्दर्शन और पाश्चात्य आदर्शवाद इसी कोटि के दर्शन हैं। **दर्शन के लिए मूल बात यह है कि उसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों पर विचार होना**

नोट

चाहिए, दृष्टिकोण तो भिन्न-भिन्न होंगे ही, जैसी जिसकी अनुभूति होगी वैसे ही उसके तर्क होंगे और उसी के अनुकूल उसका दर्शन होगा।

दार्शनिक चिंतन एवं अन्य चिंतन में अंतर

आज जहाँ कहीं भी चिंतन दिखाई देता है वहाँ हमें दर्शन दिखाई देने लगता है। हम सामाजिक चिंतन, राजनैतिक चिंतन, आर्थिक चिंतन एवं शैक्षिक चिंतन आदि, सभी को दर्शन की कोटि में रखने की भूल करते हैं। इस प्रकार का फैशन पाश्चात्य देशों में प्रारंभ हुआ और हमारे देश में उसकी नकल की जाने लगी। आश्चर्य की बात है कि दर्शन की गुरुस्थली भारत के लोग भी दर्शन के वास्तविक स्वरूप को भूल रहे हैं। सावधान! दार्शनिक चिंतन का शुभारंभ तत्व मीमांसा से होता है, उसके मध्य में ज्ञान एवं तर्क मीमांसा होती है और उसका अंत मूल्य एवं आचार मीमांसा से होता है। अत: जिस चिंतन में तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा हो उसे ही दर्शन कहा जा सकता है। दर्शन का संबंध मानव जीवन से होता है, वह जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे राजनैतिक और चाहे आर्थिक। वह शिक्षा को भी प्रभावित करता है। इस पुस्तक में शिक्षा पर दर्शन के प्रभाव का ही अध्ययन किया गया है।

1.5. भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर (Difference between Indian Philosophies and Western Philosophies)

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में दर्शन एवं फिलॉसफी (Philosophy) के अंतर को स्पष्ट करने पर बल दिया गया है। दर्शन और फिलॉसफी (Philosophy) तो एक ही विषय (अनुशासन, Discipline) के लिए हिंदी और अंग्रेजी भाषा के अलग-अलग शब्द हैं, इनमें तो वहीं अंतर है जो गाय और काऊ (Cow) शब्दों में है। रही भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर की बात, तो इनमें कुछ अंतर अवश्य है।

आचार्य प्रवर पंडित **बलदेव उपाध्याय** ने भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में निम्नलिखित पाँच अंतर बताए हैं–

1. भारतीय दर्शनों का विकास मनुष्य को **दु:खत्रय** (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) से छुटकारा दिलाने हेतु हुआ है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों का विकास आश्चर्यजनक वस्तुओं एवं क्रियाओं को देखने से उत्पन्न **कौतुहल** को **शांत** करने के प्रयत्न द्वारा हुआ है।
2. भारतीय दर्शनों का विकास **स्वतंत्र** रूप से हुआ है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों की सामग्री अन्य **अनुशासनों** (मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र) के आधार पर विकसित की गई है।
3. भारतीय दर्शन **वास्तविक ज्ञान** के स्वरूप की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि पाश्चात्य दर्शन समस्त **ज्ञान-विज्ञान** की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं।
4. भारतीय दर्शन **अनुभूत ज्ञान** पर आधारित हैं और तर्क द्वारा पोषित हैं, जबकि पाश्चात्य दर्शन केवल तर्क पर आधारित हैं।
5. भारतीय दर्शनों का **धर्म से गहरा** संबंध है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों का **धर्म से कोई संबंध नहीं है।**

हमारा अपना मत

इसमें दो मत नहीं कि भारत में आज भी दर्शन को इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य के खोजकर्ता और उसमें मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप के व्याख्याकार के रूप में स्वीकार किया जाता है, परंतु जब हम दर्शन को उसके विश्वव्यापक रूप में देखते-समझते हैं और देश-विदेश के दर्शनों की **विषय-सामग्री के आधार पर** देखते-समझते हैं तो भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। भारतीय दर्शनों को ही लीजिए। यदि वेदमूलक दर्शन मनुष्य को दु:खत्रय से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग की खोज की ओर प्रवृत्त हैं तो चारवाक एवं आजीवक दर्शन मनुष्य को भौतिक सुख प्रदान करने वाले मार्ग की खोज करने की ओर प्रवृत्त

नोट

हैं। रही अनुभूति एवं तर्क की बात, तो सभी भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के प्रतिपादकों की आपनी-अपनी अनुभूतियाँ एवं अनुभव हैं और सभी ने अपने-अपने मतों की पुष्टि तर्क द्वारा की है। सच पूछिए तो भारतीय **दर्शन तो खंडन-मंडन शैली पर ही विकसित हुए हैं।** रही दर्शन एवं धर्म के संबंध की बात, अधिकतर भारतीय दर्शनों ने या तो धर्म को जन्म दिया है या फिर धर्मों के आधार पर **दर्शनों का विकास** हुआ है, परंतु सभी भारतीय दर्शनों के साथ यह बात लागू नहीं होती; भारतीय चारवाक और आजीवक दर्शनों का किसी भी धर्म से कोई संबंध नहीं है। सच बात यह है कि भारत एवं अन्य सभी देशों में भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी, दोनों प्रकार के दर्शनों का विकास हुआ है, हाँ यह बात अवश्य है कि–

1. अधिकतर भारतीय दर्शन **अध्यात्मवादी दर्शन** हैं और मनुष्य को सांसारिक **दु:खों** से छुटकारा दिलाने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन **भौतिकवादी** दर्शन हैं और मनुष्य को सांसारिक सुख प्राप्त कराने की ओर प्रवृत्त है।
2. अधिकतर भारतीय दर्शन **संपूर्ण ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप** एवं उसमें **मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या** करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन केवल **मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या** करने की ओर प्रवृत्त हैं।
3. अधिकतर भारतीय दर्शन वास्तविक ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन समस्त ज्ञान-विज्ञान की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं।
4. अधिकतर भारतीय दर्शनों का विकास **स्वतंत्र** रूप से हुआ है, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों का विकास **अन्य विषयों** (अनुशासनों, disciplines) **के आधार** पर हुआ है।
5. अधिकतर भारतीय दर्शनों का धर्म से गहरा संबंध है, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों का धर्म से कोई संबंध नहीं है।
6. भारत में आज भी दर्शन को सामान्यत: तत्व मीमांसा प्रधान शास्त्र के रूप में देखते हैं, जबकि पाश्चात्य देशें में अब दर्शन को सामान्यत: समस्त ज्ञान-विज्ञान के व्याख्याकार के रूप में देखते हैं।
7. भारत में आज भी किसी भी दर्शन में किसी भी ज्ञान-विज्ञान अथवा क्रिया की व्याख्या सामान्यत: उसकी तत्व मीमांसा के आधार पर की जाती है, जबकि पाश्चात्य देशों में अब किसी भी ज्ञान-विज्ञान अथवा क्रिया की व्याख्या सामान्यत: सीधे मानव जीवन के आधार पर की जाती है।

1.6. दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Philosophy)

दर्शन के संप्रत्यय और देश-विदेश के दर्शनों के स्वरूप का अध्ययन करने से दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताओं के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं–

1. दर्शन अनुभव (Experience), परिकल्पना (Speculation) एवं तर्क (Logic) आधारित शास्त्र हैं, प्रयोगसिद्ध (Empirical) विज्ञान नहीं।
2. दर्शन व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) शास्त्र है, वस्तुनिष्ठ (Objective) शास्त्र नहीं।
3. दर्शन एक निदेशात्मक शास्त्र (Directive Doctrine) हैं, निश्चयात्मक शास्त्र (Positive Doctrine) नहीं।
4. दर्शन एक उदार अनुशासन (Liberal Discipline) है, कठोर अनुशासन (Rigid Discipline) नहीं।
5. दर्शन में इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य (Ultimate Reality) की तार्किक विवेचना की जाती है।
6. दर्शन में ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने के साधन एवं विधियों की तार्किक विवेचना की जाती है।
7. दर्शन में मूल्यों और मनुष्यों के करणीय तथा अकरणीय कर्मों की तार्किक विवेचना की जाती है।

1.7. दर्शन की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र (Scope and Subject-Matter of Philosophy)

नोट

प्राय: लोग किसी विषय (अनुशासन) के अध्ययन क्षेत्र और विषयवस्तु में भेद नहीं करते, परंतु इन दोनों में थोड़ा अंतर होता है। **अध्ययन क्षेत्र का अर्थ** उस सीमा से होता है जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन किया जाना चाहिए अथवा किया जा सकता है, जबकि विषयवस्तु का अर्थ उस सीमा से होता है जिस सीमा तक अध्ययन किया जा चुका होता है।

जहाँ तक दर्शन के क्षेत्र की बात है, वह बड़ा व्यापक है। उसमें संपूर्ण बह्मांड और उसकी समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप की खोज आती है, परंतु इस क्षेत्र में हमने अभी तक जो कुछ सोच-समझ पाया है, वह दर्शन की विषयवस्तु है।

भारतीय चिंतक दर्शन के **अध्ययन क्षेत्र** को मुख्य रूप से **तीन** भागों में विभक्त करते हैं–तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान मीमांसा (Epistemology) और आचार मीमांसा (Ethics)। दूसरी ओर पाश्चात्य चिंतक दर्शन के अध्ययन क्षेत्र को मुख्य रूप से **पाँच भागों** में विभक्त करते हैं–तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान मीमांसा (Epistemology), मूल्य मीमांसा (Axiology), तर्कशास्त्र (Logic) और सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics)।

दर्शन के अध्ययन क्षेत्र के इन भारतीय एवं पाश्चात्य वर्गीकरणों के विषय में यहाँ चार बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पहली यह कि दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने की विधियों के संदर्भ में **तर्क विधियों** की भी चर्चा की जाती है, अत: इसे ज्ञान मीमांसा के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। दूसरी यह कि भारतीय दर्शनों में आचार मीमांसा में मूल्य मीमांसा सम्मिलित होती है और पाश्चात्य दर्शनों में मूल्य मीमांसा में **आचार मीमांसा** सम्मिलित होती है, अत: इन्हें एक साथ लिया जा सकता है। तीसरी यह कि दर्शन में केवल **वास्तविक** सौंदर्य पर विचार किया जाता है और इस वास्तविक सौंदर्य को प्राप्त करने की विधियों पर विचार किया जाता है और ये दोनों विचार क्रमश: तत्व मीमांसा एवं आचार मीमांसा के विषय हैं, अत: सौंदर्यशास्त्र को अलग रखना उचित नहीं है। और चौथी एवं अंतिम यह कि अब हम देश-विदेश के दर्शनों का अध्ययन एक साथ करते हैं, अत: हमें उनकी विषय-सामग्री को कुछ सामान्य वर्गों में ही विभाजित करना चाहिए। हमारी अपनी ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि ये सामान्य वर्ग–तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) ही हो सकते हैं। यहाँ इन तीनों की अध्ययन सामग्री का वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है–

1. **तत्व मीमांसा** (Metaphysics)–दर्शन में तत्व मीमांसा का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। इसमें सृष्टि संबंधी तत्व ज्ञान अर्थात् सृष्टि शास्त्र (cosmogomy), सृष्टि विज्ञान (Cosmology) एवं सत्ता विज्ञान (Ontology) आते हैं और आत्मा संबंधी तत्व ज्ञान (Metaphysics of the Soul) एवं **ईश्वर** संबंधी तत्व ज्ञान (Theology) आते हैं। इसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा एवं जीव-जगत के साथ-साथ मानव जीवन की व्याख्या भी की जाती है। इसमें **वास्तविक सौंदर्य** की विवेचना भी की जाती है। वास्तविक सौंदर्य की विवेचना को अब सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics) कहते हैं। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।
2. **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** (Epistemology and Logic)–ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में मानव बुद्धि, ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, ज्ञान प्राप्त करने के साधन, ज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के संबंध, तर्क की विधियाँ, सत्य-असत्य प्रमाण और भ्रम की व्याख्या आती है। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।
3. **मूल्य एवं आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics)–मूल्य एवं आचार मीमांसा के क्षेत्र में मानव जीवन के आदर्श एवं मूल्यों की विवेचना आती है, मानव जीवन के अंतिम उद्देश्य को प्राप्त करने के साधनों की विवेचना आती है और मानव के करणीय तथा अकरणीय कर्मों की विवेचना आती है। **करणीय तथा अकरणीय कर्मों** की विवेचना को ही नीतिशास्त्र (Ethics) कहते हैं। हम जानते हैं कि

नोट

कोई भी आदर्श मूल्य का रूप तभी धारण करता है जब वह हमारे आचरण में परिलक्षित होता है, हमारे आचरण का अंश बन जाता है। साफ जाहिर है कि मूल्य और आचरण एक-दूसरे से जुड़े हैं, मूल्य हमारे व्यवहार अर्थात् आचार को निर्देशित एवं नियंत्रित करते हैं और हमारा आचार उन मूल्यों को प्रदर्शित करता है। जब तक कोई दर्शन मनुष्य को आचरण की दिशा प्रदान नहीं करता तब तक उसका कोई महत्त्व नहीं होता। इसमें इस सबकी व्याख्या के साथ-साथ जीवन के वास्तविक सौंदर्य को प्राप्त करने की विधियाँ भी आती हैं। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।

1.8. दर्शन और शिक्षा में संबंध (Relation between Philosophy and Education)

दर्शन के मुख्य रूप से तीन अंग होते हैं–तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा। यूँ किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा, उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती हैं, परंतु सुविधा की दृष्टि से हम किसी भी दर्शन का अध्ययन इन तीनों अंगों में अलग-अलग करते हैं। दर्शन के ये अंग शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं।

1. **तत्व मीमांसा और शिक्षा** (Metaphysics and Education)–किसी भी दर्शन की तत्व मीमांसा में इस ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप एवं उसमें मानव जीवन की तात्विक विवेचना की जाती है एवं मनुष्य जीवन के **मूल उद्देश्यों** की व्याख्या की जाती है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के **साधन मार्गों** की विवेचना की जाती है। कोई भी मानव समाज मनुष्यों को इन उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। तब कहना न होगा कि किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य मूल रूप से उसके जीवन दर्शन पर आधारित होते हैं। जहाँ तक शिक्षा की पाठ्यचर्या की बात है, यह तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है, अत: स्पष्ट है कि इसका विकास भी तत्व मीमांसा के आधार पर किया जाता है।

   उदाहरण के लिए प्रकृतिवाद (Naturalism) और आदर्शवाद (Idealism) की तत्व मीमांसा को लीजिए। प्रकृतिवाद के अनुसार यह **संपूर्ण ब्रह्मांड प्रकृतिजन्य** है और प्रकृति द्वारा निर्मित यह भौतिक जगत ही सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक जगत नहीं है। इसके अनुसार मनुष्य भी एक प्रकृतिजन्य रचना है जिसके जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है। परिणामत: यह शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए तैयार करने पर बल देता है और सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास पर बल देता है और उसे किसी उत्पादन कार्य अथवा व्यवसाय में निपुण करने पर बल देता है जिससे वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और सुखपूर्वक जीवन जी सके। इसके विपरीत आदर्शवाद **संपूर्ण ब्रह्मांड** को किसी परोक्ष (आध्यात्मिक) शक्ति द्वार निर्मित मानता है। इसके अनुसार यह भौतिक संसार नश्वर है, एतदर्थ असत्य है और इसके परे को परोक्ष (आध्यात्मिक) संसार अनश्वर है, एतदर्थ सत्य है। मनुष्य को यह आत्माधारी प्राणी मानता है और यह मानता है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा ईश्वर की प्राप्ति करना है। परिणामत: यह शिक्षा द्वारा मनुष्य को आत्मानुभूति करने योग्य बनाने पर बल देता है और इसके लिए उसके चारित्रिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर बल देता है।

2. **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और शिक्षा** (Epistemology and Ethics and Education)–किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा में ज्ञान के वास्तविक स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने के साधनों एवं विधियों की व्याख्या की जाती है और ज्ञान की सत्यता को प्रमाणित करने की तर्क की विधियों की व्याख्या की जाती है। सामान्यत: जिस समाज में जो **दर्शन व्याप्त होता है उसमें शिक्षा** की सामग्री (पाठ्यचर्या) और शिक्षा प्राप्त करने के साधन एवं विधियाँ मूल रूप से उसी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा के आधार पर विकसित की जाती हैं।

नोट

उदाहरण के लिए, प्रकृतिवाद और आदर्शवाद की ही ज्ञान एवं तर्क मीमांसा को लीजिए। प्रकृतिवाद के अनुसार यह **वस्तुजगत ही सत्य** है और इस वस्तुजगत का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है और इस वस्तुजगत का ज्ञान मनुष्य अपनी कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। परिणामत: यह शिक्षा के क्षेत्र में कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों द्वारा सीखने पर बल देता है। इसके विपरीत आदर्शवाद आध्यात्मिक जगत के ज्ञान को सत्य मानता है और इस आध्यात्मिक जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मशक्ति एवं विवेकशक्ति को आवश्यक मानता है। इसके अनुसार किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्म-केंद्रित विधियाँ ही उत्तम विधियाँ होती हैं। यह वस्तु जगत के इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी तर्क एवं विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने पर बल देता है।

3. **मूल्य एवं आचार मीमांसा और शिक्षा** (Axiology and Ethics and Education)–किसी भी दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा मूल रूप से उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती है। इसके अंतर्गत मनुष्य के आदर्शों, मूल्यों तथा करणीय एवं अकरणीय कर्मों की व्याख्या की जाती है। कोई भी समाज मनुष्यों को इन आदर्शों एवं मूल्यों का ज्ञान कराने और उन्हें करणीय कर्मों के संपादन में प्रशिक्षित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। तब कहना न होगा कि किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य, उसकी पाठ्यचर्या, अनुशासन का स्वरूप एवं अनुशासन प्राप्त करने की विधियों, शिक्षक-शिक्षार्थियों के कर्तव्य एवं उनके आपसी संबंध, दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा पर आधारित होते हैं।

उदाहरण के लिए प्रकृतिवाद और आदर्शवाद की ही मूल्य एवं आचार मीमांसा को लीजिए। प्रकृतिवाद किन्हीं शाश्वत मूल्यों में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार मनुष्य की मूल प्रकृति स्वयं में निर्मल एवं शुद्ध होती है, समाज ही उसे विकृत करता है, अत: शिक्षा द्वारा उसके अपने **प्राकृतिक विकास में सहायता** करनी चाहिए। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य की प्रकृति स्वतंत्र रहने की है, अत: शिक्षा के क्षेत्र में बच्चों को किसी भी प्रकार के अनुशासन के बंधन में नहीं रखना चाहिए, उन्हें अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने के स्वतंत्र अवसर देने चाहिए। इसके विपरीत **आदर्शवाद शाश्वत मूल्यों में विश्वास** करता है। इसके अनुसार मनुष्य पाशविक वृत्तियाँ लेकर पैदा होता है, उसे सही मार्ग पर लाने के लिए उस पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। वह शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का हामी है। वह प्रारंभ से ही बच्चों को इंद्रिय निग्रह और मूल्यों के पालन करने की ओर प्रवृत्त करने पर बल देता है। इतना ही नहीं, अपितु वह शिक्षकों से भी इन्द्रिय निग्रह एवं मूल्य पालन की अपेक्षा करता है। इसके अनुसार जब तक शिक्षक इंद्रिय निग्रह और मूल्यों का पालन नहीं करते, शिक्षार्थियों से इनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह दोनों के लिए आचार संहिता निश्चित करता है।

प्रायोगिक दृष्टि से देखें तो भी दर्शन और शिक्षा में **अटूट संबंध** है, ये एक-दूसरे पर आश्रित हैं। दर्शन इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन की व्याख्या करता है। इसमें मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य और उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन मार्गों पर भी विचार किया जाता है। अब ये उद्देश्य कैसे प्राप्त हों, इसमें शिक्षा हमारी सहायता करती है। शिक्षा हमारे आचार-विचार में परिवर्तन करती है और हमें नए ज्ञान की खोज करने के लिए अवलोकन, परीक्षण, चिंतन और मनन शक्तियों का विकास करती है। इस ज्ञान एवं कौशल के आधार पर हम दर्शन का पुनर्निर्माण करते हैं। नया दर्शन नई शिक्षा को जन्म देता है और नई शिक्षा नए दर्शन को जन्म देती है और यह चक्र सदैव चलता रहता है। दर्शन और शिक्षा की इस अन्योन्याश्रिता को समझने के लिए हमें दर्शन के शिक्षा पर प्रभाव और शिक्षा के दर्शन पर प्रभाव को अलग-अलग देखना-समझना होगा।

दर्शन का शिक्षा पर प्रभाव

किसी समाज की शिक्षा मुख्य रूप से उस समाज के स्वरूप, उसके दार्शनिक चिंतन, शासनतंत्र, आर्थिक व्यवस्था और मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित होती है। इनमें दर्शन का प्रभाव बड़ा स्थायी होता है। दर्शन की तत्व मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य एव पाठ्यचर्या; ज्ञान एवं तर्क मीमांसा से पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियाँ और मूल्य एवं आचार मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षक तथा शिक्षार्थियों के कर्तव्य और अनुशासन का स्वरूप निश्चित होता है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

नोट

1. **दर्शन और शिक्षा का संप्रत्यय**–दर्शन शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करता है। इस व्याख्या से हमें शिक्षा के सही संप्रत्यय का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक शिक्षा को प्राकृतिक प्रक्रिया मानते हैं, प्रयोजनवादी दार्शनिक उसे सामाजिक प्रक्रिया मानते हैं और आदर्शवादी दार्शनिक उसे आत्मिक क्रिया मानते हैं।
2. **दर्शन और शिक्षा के उद्देश्य**–दर्शन का सर्वप्रथम भाग **तत्व मीमांसा** होता है। इसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण आदि की व्याख्या होती है और उसके आधार पर मानव जीवन के उद्देश्य निश्चित किए जाते हैं। शिक्षा द्वारा इन उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को उच्च पशु मानते हैं इसलिए वे शिक्षा द्वारा उसमें भौतिक शक्तियों का विकास करने पर बल देते हैं, प्रयोजनवादी दार्शनिक उसे **समाजिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे उसके सामाजिक विकास पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक उसे **आत्माधारी** मानते हैं इसलिए वे उसके आत्मिक विकास पर बल देते हैं।
3. **दर्शन और शिक्षा की पाठ्यचर्या**–दर्शन का दूसरा भाग **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** होता है। इसमें **ज्ञान के स्वरूप** की व्याख्या की जाती है और इसके आधार पर शिक्षा की पाठ्यचर्या में उसी ज्ञान का समावेश किया जाता है जिसे वे मानव के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर, पाठ्यचर्या तो शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है; अत: यदि शिक्षा के उद्देश्य दर्शन से प्रभावित होते हैं तो उसकी पाठ्यचर्या भी उससे प्रभावित होनी चाहिए। ऐतिहासिक तथ्य भी इसका समर्थन करते हैं। जिस समाज में प्रकृतिवादी दर्शन का बोलबाला होता है, उसमें मनुष्य को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार किया जाता है और शिक्षा की पाठ्यचर्या में शारीरिक क्रियाओं, भौतिक विज्ञानों एवं व्यावसायिक विषयों को मुख्य स्थान दिया जाता है, जिस समाज में प्रयोजनवादी दर्शन का प्रभाव होता है, उसकी शिक्षा में सामाजिक विषयों एवं क्रियाओं को मुख्य स्थान दिया जाता है, और जिस समाज में आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव होता है, उसमें आत्मानुभूति के लिए शिक्षा की पाठ्यचर्या में साहित्य, धर्म और दर्शन को मुख्य स्थान दिया जाता है।
4. **दर्शन और शिक्षण विधियाँ**–दर्शन की **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** में मानव बुद्धि, ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने की विधियों की व्याख्या होती है। इसी के आधार पर दार्शनिक शिक्षण विधियों का विधान करते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को केवल **मनोशारीरिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे **इंद्रियों द्वारा सीखने** पर बल देते हैं; प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को **सामाजिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे सामाजिक क्रियाओं द्वारा शिक्षण पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए वे शिक्षा की **आत्मकेंद्रित** विधियों पर बल देते हैं।
5. **दर्शन और अनुशासन**–दर्शन का तीसरा मुख्य भाग होता है–**मूल्य एवं आचार मीमांसा।** इसमें मनुष्य को क्या कर्म करने चाहिए और क्या नहीं, इसकी विशद् व्याख्या होती है। इस ज्ञान के आधार पर ही अनुशासन का संप्रत्यय निश्चित किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को एक प्राकृतिक रचना मानते हैं इसलिए वे उसे प्राकृतिक नियमों का पालन करने की सलाह देते हैं, वे केवल प्राकृतिक नैतिकता के हामी हैं; प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं इसलिए वे सामाजिक नियमों के पालन को अनुशासन कहते हैं; वे सामाजिक नैतिकता के हामी हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए वे दैवीय नियमों के पालन को अनुशासन कहते हैं; वे आध्यात्मिक नैतिकता के हामी हैं।
6. **दर्शन और शिक्षक तथा शिक्षार्थी**–दर्शन की **तत्व मीमांसा** में मनुष्य के स्वरूप और **मूल्य एवं आचार मीमांसा** में उसके करणीय तथा अकरणीय कर्मों की विषद् व्याख्या की जाती है। दर्शन की इस व्याख्या के अनुसार ही शिक्षक और शिक्षार्थी का स्वरूप एवं उनके कर्तव्य निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि **मनुष्य केवल प्राकृतिक** रचना है जो जन्म से कुछ मूल शक्तियाँ लेकर पैदा होता है और इन्हीं के आधार पर उसका विकास होता है इसलिए वे शिक्षार्थियों को आत्मप्रकाशन की छूट देते हैं और शिक्षकों से केवल इतनी ही आशा करते हैं कि वे शिक्षार्थियों के

नोट

स्वाभाविक विकास में सहायता करें; प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हैं इसलिए वे शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को सामाजिक आचरण करने की सलाह देते हैं और इसके लिए उनमें सर्वप्रथम सामाजिक स्व: का विकास करने पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए शिक्षक तथा शिक्षार्थी में भेद हीं नहीं करते, वे दोनों को इंद्रिय निग्रह और आत्मनियंत्रण की सलाह देते हैं।

7. **दर्शन और विद्यालय**–प्राय: सभी दार्शनिक मनुष्य के लिए आचार संहिता तैयार करते हैं और इसके लिए शिक्षा का विधान करते हैं। अब यह शिक्षा कहाँ दी जाए और कैसे दी जाए, इस पर भी वे प्रकाश डालते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक विद्यालयों में शिक्ष्कों द्वारा लादी किसी भी प्रकार की व्यवस्था का विरोध करते हैं। प्रकृतिवादी विद्यालयों में बच्चे कभी भी और कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। प्रयोजनवादी दार्शनिक विद्यालयों में उच्च सामाजिक पर्यावरण बनाने पर बल देते हैं। इनके विद्यालयों में बच्चे सामूहिक रूप से सामूहिक क्रियाओं में भाग लेकर सीखते हैं। आदर्शवादी दार्शनिक विद्यालयों में आध्यात्मिक पर्यावरण बनाने पर बल देते हैं। इनके विद्यालयों में शिक्षक **आत्मज्ञानी** और शिक्षार्थी आज्ञाकारी होते हैं।
8. **दर्शन और शिक्षा की अन्य समस्याएँ**–दर्शन में शिक्षा की अन्य समस्याओं, जैसे–जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप आदि पर भी विचार किया जाता है। इतना ही नहीं अपितु शिक्षा के क्षेत्र में कभी भी किसी भी प्रकार की समस्याओं के सामाधान के लिए भी हम दार्शनिक सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए आज हम जन शिक्षा के प्रचार हेतु सभी को शिक्षा के समान अवसर देना चाहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि ये अवसर दिए जाएँ अथवा नहीं और यदि दिए जाएँ तो कैसे? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न रूप में देते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को केवल प्राकृतिक रचना मानते हैं और यह मानते हैं कि सभी मनुष्य जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होते हैं और उनका विकास इन शक्तियों पर निर्भर करता है, और चूँकि मनुष्यों की इन जन्मजात शक्तियों में भिन्नता होती है इसलिए हम सब मनुष्यों को एक-सा नहीं बना सकते। अत: भिन्न-भिन्न बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इसका अर्थ है कि यदि हम सब बच्चों को शिक्षा के सामन अवसर देना चाहें तो हमें उनके लिए उनकी जन्मजात भिन्नता के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। (प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य के व्यष्टित्व का आदर तो करते हैं परंतु सामाजिक परिप्रेक्ष्य में। वे नि:समाज व्यक्ति की कल्पना नहीं करते। वे शिक्षा को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं, परंतु यह शिक्षा समाज के अनुकूल होगी।) वे जन शिक्षा को व्यष्टि एवं समाज दोनों के हितों के लिए आवश्यक समझते हैं। इसके विपरीत आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को जन्म से पूर्ण मानते हैं और इस पूर्णता की अनुभूति के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते हैं। इनकी दृष्टि से सब व्यक्ति समान हैं और सब शिक्षा के अधिकारी हैं और सबके लिए समान शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

शिक्षा का दर्शन पर प्रभाव

शिक्षा मनुष्य के विकास की आधारशिला है। उचित शिक्षा के अभाव में मनुष्य दर्शन जैसे विषय का विकास ही नहीं कर सकता था। दर्शन के निर्माण एवं विकास, दोनों के लिए उचित शिक्षा आवश्यक है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

1. **शिक्षा दर्शन के निर्माण की आधारशिला है**–यह बात सभी जानते हैं कि दर्शन के निर्माण और विकास के लिए **अवलोकन, चिंतन और मनन** आवश्यक है। जब तक मनुष्य की अंतर्दृष्टि सचेत नहीं होती तब तक वह यह सब कार्य नहीं कर सकता और इस सबका विकास होता है शिक्षा द्वारा। शिक्षा के द्वारा ही हम भाषा सीखते हैं और उसी के द्वारा हम विचार करना सीखते हैं! **अशिक्षित** व्यक्ति से दर्शन जैसे विषय के विकास की आशा नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से शिक्षा दर्शन के विकास की आधारशिला होती है।
2. **शिक्षा दर्शन को जीवित रखती है**–दार्शनिक सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जड़ और जन्म तथा मृत्यु आदि की व्याख्या करते हैं। उनके द्वारा निश्चित सिद्धांतों से दर्शन विषय का विकास होता है। कोई

नोट

भी समाज अपने **पूर्वजों** द्वारा निश्चित इन सिद्धांतों का ज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त करता-कराता है। शिक्षा के अभाव में हम दार्शनिक सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार शिक्षा दर्शन के ज्ञान को सुरक्षित रखती है।

3. **शिक्षा दार्शनिक सिद्धांतों को मूर्त रूप देती है**–दर्शन इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन की व्याख्या करता है, मनुष्य जीवन के उद्देश्य निश्चित करता है और यह स्पष्ट करता है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति कैसे की जा सकती है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम दर्शन द्वारा निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शिक्षा दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप प्रदान करती है। अंग्रेज विद्वान **जॉन एडम** इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा करते थे कि शिक्षा दर्शन का गतिशील पहलू है; यह दार्शनिक विकास का सक्रिय पक्ष है और जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का वास्तविक साधन है (Education is the dynamic side of philosophy. It is the active aspect of philosophical belief, the practical means of realising the ideals of life.—John Adam)। अमेरिकी विद्वान **जॉन डीवी** ने इसी सत्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है। उनमें शब्दों में–दर्शन, अपने सामान्य रूप में शिक्षा का सिद्धांत ही है (..... it (philosophy) is the theory of education in its most general phases. **—John Dewey**)
4. **शिक्षा दर्शन को नई समस्याओं से परिचित कराती है**–मनुष्य एक गतिशील और प्रगतिशील प्राणी है। विकास के इस पथ में उसके सामने नित्य नई समस्याएँ आती हैं। शिक्षा हमें इन समस्याओं से परिचित कराती है और यदि हममें दार्शनिक की तीक्ष्ण बुद्धि होती है तो हम उन समस्याओं पर विचार करने लगते हैं और दर्शन का विकास होता है। भारत सरकार के भूतपूर्व शिक्षामंत्री श्री **कालूराम श्रीमाली** तो शिक्षाशास्त्री से यह आशा करते थे कि वह नई समस्याओं का दार्शनिक हल ढूँढ़ें। उनके अपने शब्दों में, शिक्षाशास्त्री का कार्य देश के दर्शन की पुनर्रचना करना और मूल्यों की पुनर्परिभाषा करना है जिससे कि वे मूल्य हमारे परिवर्तनशील जीवन एव विचार का स्पष्टीकरण कर सकें। (The task of educationist is to reconstruct the country's philosophy and redefine values so that they may interpret our changing life and thought. **—Dr. K. L. Shrimali)**
5. **शिक्षा दर्शन को गतिशील रखती है**–शिक्षा हममें निरीक्षण और चिंतन **शक्ति** का विकास करती है और जीवन की नई-नई समस्याओं के प्रति हमें संवेदनशील बनाती है। दार्शनिक इन नई समस्याओं के दार्शनिक हल ढूँढते हैं। इस समस्या-समाधान की क्रिया में नए-नए दार्शनिक सिद्धांतों का निर्माण होता है। यह सब ज्ञान दर्शन अथवा दर्शनशास्त्र का अंग बनता जाता है। ज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति दर्शन भी उन सिद्धांतों का त्याग करता चलता है जो असत्य सिद्ध हो जाते हैं और उन सिद्धांतों को अपनाता चलता है जिनके आधार पर जीव और जगत की सही व्याख्या की जा सकती है। यही उसकी गतिशीलता है। शिक्षा के अभाव में दर्शन का यह विकास संभव नहीं।

एक भ्रम और उसका निवारण

दर्शन के विषय में संकुचित दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों का विचार है कि दर्शन सूक्ष्म (आत्मा और परमात्मा) से संबंधित होता है और शिक्षा मूर्त (मनुष्य के व्यवहार) से संबंधित होती है, इसलिए इनमें आपस में कोई संबंध नहीं हो सकता। अपनी समझ में यह उनका भ्रम है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारे विचार, चाहे वे सूक्ष्म का विश्लेषण करते हों चाहे पदार्थ का, परंतु वे हमारे दर्शन का अंग होते हैं। जिन विचारों में हमारा विश्वास होता है, उनकी प्राप्ति के लिए हम शिक्षा का सहारा लेते हैं। यदि किसी शिक्षा के पीछे कोई दर्शन नहीं है तो उसके उद्देश्य स्पष्ट नहीं होंगे, उद्देश्यों की अनिश्चितता के कारण पाठ्यचर्या भी निश्चित नहीं होगी और तब उचित शिक्षण विधियों का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बिना दर्शन के शिक्षा चल ही नहीं सकती। **फिश्टे** के शब्दों में–दर्शनशास्त्र की सहायता के बिना शिक्षा पूर्णतया स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकती (The art of education can never attain complete clearness in itself without philosophy. **—Fichte**)।

नोट

जेंटिल भी इस विचार के हैं। उनके शब्दों में–दर्शन की सहायता के अभाव में शिक्षा सही मार्ग पर नहीं चल सकती (The process of education can not go along right lines without the help of philosophy. **—Gentle)**

स्पेंसर के शब्दों में–वास्तविक शिक्षा का विधान सच्चा दार्शनिक ही कर सकता है (The education is practicable only to a true philosopher. **—Herbert Spencer)**।

कुछ विद्वान तो दर्शन और शिक्षा को अभिन्न मानते हैं। **रॉस** के शब्दों में–दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलुओं के समान एक वस्तु के विभिन्न पक्षों का बोध कराते हैं (Philosophy and education like the two sides of same coin, present different views of same things. **—J. S. Ross)**।

कुछ विद्वान शिक्षा पर मनोविज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर यह कहते हैं कि आज दर्शन शिक्षा के केवल उद्देश्यों को प्रभावित करता है, शिक्षा की पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ और अनुशासन आदि तो मनोविज्ञान से प्रभावित होते हैं। इस संदर्भ में हम पहले ही लिख चुके हैं कि किसी समाज की शिक्षा उस समाज के स्वरूप, उसके दार्शनिक चिंतन, शासनतंत्र, आर्थिक व्यवस्था, मनोवैज्ञानिक तथ्य और वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित होती है। अब किसी समाज की शिक्षा पर उसके स्वरूप का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसके दर्शन का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसके शासनतंत्र का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसकी आर्थिक व्यवस्था का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अधिक प्रभाव होता है और किसी समाज की शिक्षा पर वैज्ञानिक प्रगति का अधिक प्रभाव होता है, परंतु मूल रूप में वह दार्शनिक विचारधारा से अलग नहीं हो सकती।

1.9. शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Philosophy of Education)

सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, करणीय तथा अकरणीय कर्मों आदि के संबंध में दार्शनिकों के अपने मत हैं। दर्शनशास्त्र में इन विभिन्न मतों का वर्णन होता है। उसके अध्ययन से हम इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन का क्या महत्त्व है, इससे परिचित होते हैं और उसके आधार पर मनुष्य जीवन के उद्देश्य निश्चित करते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हम शिक्षा के द्वारा करते हैं। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस पर प्रकाश डाला है कि यथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए। यही कारण है कि दर्शन में शिक्षा दर्शन का विकास हुआ। दूसरी तरफ शिक्षाशास्त्री भी जब शिक्षा की समस्याओं का हल ढूँढ़ते हैं तो उन्हें सबसे पहले शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना होता है, और चूँकि शिक्षा के उद्देश्य प्रायः वहीं होते हैं जो दर्शन निश्चित करता है, इसलिए शिक्षाशास्त्रियों को भी सबसे पहले दर्शन पर निर्भर करना पड़ता है। **जब शिक्षाशास्त्री शैक्षिक समस्याओं के प्रति जागरूक होते हैं और उनके समाधान के लिए दर्शन का सहारा लेते हैं तो शिक्षा दर्शन का उदय होता है। इस प्रकार दार्शनिक और शिक्षाशास्त्री, दोनों ही के द्वारा शिक्षा दर्शन का निर्माण होता है।**

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि दर्शन का वह भाग जिसमें शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और उन समस्याओं का हल प्रस्तुत किया जाता है, शिक्षा दर्शन कहलाता है। दर्शन मनुष्य जीवन की व्याख्या कर उसके उद्देश्य और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन मार्ग निश्चित करता है और शिक्षा दर्शन में इन उद्देश्यों एवं साधनों की व्याख्या होती है। इसके साथ-साथ इसमें यथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप पर भी विचार किया जाता है। हम जानते हैं कि इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं और इस भिन्नता के कारण दर्शन के अनेक संप्रदायों का विकास हुआ है। इस विभिन्न संप्रदायों ने शिक्षा की प्रक्रिया को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा है और उसकी भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्या की है। शिक्षा दर्शन में इस सबका आलोचनात्मक विवरण होता है। शिक्षा दर्शन के इस स्वरूप पर एकमत होते हुए भी विद्वानों ने उसे भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है। अधिकतर विद्वान शैक्षिक समस्याओं के दार्शनिक हल को ही शिक्षा दर्शन कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान **हेंडरसन** के शब्दों में–

नोट

शिक्षा दर्शन, शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन में दर्शन का प्रयोग है।

(Philosophy of Education is the application of Philosophy to the study of the problems of Education. **—Henderson)**

परंतु यह परिभाषा अपने में अपूर्ण और अस्पष्ट है। इससे शिक्षा दर्शन के कलेवर का ज्ञान नहीं होता। हमारी दृष्टि से शिक्षा दर्शन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

शिक्षा दर्शन दर्शन की वह शाखा है जिसमें मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर की जाती है और उसकी शिक्षा संबंधी समस्याओं के दार्शनिक हल प्रस्तुत किए जाते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है।
8. सामान्यत: लोग विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में चलने वाली शिक्षा को ही शिक्षा कहते हैं। यह शिक्षा का व्यापक अर्थ है।
9. दर्शन मनुष्य के चिंतन की उच्चतम सीमा है।
10. पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।

1.10. शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Philosophy of Education)

हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट किया है कि भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शनों में थोड़ा अंतर है। भारतीय दर्शन अंतिम सत्य (Ultimate reality) की खोज की ओर प्रवृत्त हैं और इस खोज में वे बरबस सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण पर विचार करते हैं और मनुष्य जीवन पर समग्र रूप से विचार करते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ दार्शनिकों के मत उनके आत्मदर्शन और साक्षात् अनुभूतियों पर आधारित हैं और कुछ के केवल तर्क पर आधारित हैं। परंतु पाश्चात्य दर्शनों में तर्क का बाजार अधिक गर्म है, वे तो तर्कप्रधान हैं और चूँकि शिक्षा दर्शन का विकास पाश्चात्य देशों में हुआ है, इसलिए उसका भी तर्कप्रधान होना स्वाभाविक है।

आज हम शिक्षा दर्शन को भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में भी विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु हमारे मार्ग में दो बाधाएँ हैं–पहली यह कि इनमें कुछ दर्शन तो हमारे ऋषियों के आत्मदर्शन और साक्षात् अनुभूतियों पर आधारित हैं और कुछ केवल तर्क के आधार पर खड़े हैं, और दूसरी यह कि हम अपने ऋषियों द्वारा साक्षात् अनुभूत ज्ञान की अनुभूति करने में असमर्थ हैं। यद्यपि आज हमारे ऋषियों द्वारा अनुभूत ज्ञान के अनेक तत्वों को भौतिक विज्ञानों की कसौटी पर भी खरा पाया गया है, परंतु शेष ज्ञान को तो हम आप्तज्ञान के रूप में ही स्वीकार कर रहे हैं। तब कहना न होगा कि भारतीय दर्शनों के आधार पर शिक्षा दर्शन की जो सामग्री विकसित हो रही है, वह भी तर्कप्रधान अधिक है, प्रयोग प्रधान कम। इस सब विवेचन से शिक्षा दर्शन की प्रकृति के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं–

1. शिक्षा दर्शन, दर्शनशास्त्र और शिक्षाशास्त्र, दो विषयों के संयुक्त चिंतन की उपज है।
2. यह एक अंतरानुशासन (Inter-Discipline) है जो शिक्षा की समस्याओं के दार्शनिक समाधान की खोज की ओर प्रवृत्त है।
3. यह एक तर्कप्रधान (Logical) शास्त्र है, प्रयोगसिद्ध (Empirical) विज्ञान नहीं।
4. तर्कशास्त्रों में भी यह व्यक्तिनिष्ट (Subjective) शास्त्र है, वस्तुनिष्ठ (Objective) शास्त्र नहीं।

नोट

5. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या की जाती है।
6. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर ब्रह्मांड के अंतिम सत्य (Ultimate Reality) की व्याख्या की जाती है और इस सत्य के आधार पर व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का मार्गदर्शन किया जाता है।
7. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर ज्ञान के स्वरूप एवं ज्ञान प्राप्त करने की विधियों की व्याख्या की जाती है।
8. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर मनुष्य जीवन के मूल आदर्शों एवं मूल्यों की व्याख्या की जाती है।
9. शिक्षा दर्शन एक **निदेशात्मक अनुशासन** (Directive Discipline) है। यह विभिन्न दार्शनिक मतों द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करता है, उसे उसके जीवन के उद्देश्यों से परिचित कराता है और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित शिक्षा का विधान करने में उसका **मार्गदर्शन** करता है।
10. शिक्षा दर्शन, एक **उदार अनुशासन** (Liberal Discipline) है। यह विभिन्न दर्शनों की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्यों एवं आचार मीमांसा का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है और व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को अपना मार्ग चुनने और उसे प्राप्त करने के लिए तदनुकूल शिक्षा की **व्यवस्था** करने की स्वतंत्रता देता है।
11. शिक्षा दर्शन अपने में **एक क्रिया** (An Activity) है। यह कभी विश्राम नहीं लेता। यह निरंतर चलने वाली वह क्रिया है जिसमें पुराने दार्शनिक मतों के साथ-साथ नए दार्शनिक मतों की व्याख्या की जाती है और इस प्रकार वास्तविक सत्य की खोज जारी रखी जाती है और तदनुकूल देश एवं काल के अनुसार शिक्षा का स्वरूप निर्धारण करने में व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का निरंतर मार्गदर्शन किया जाता है।

1.11. शिक्षा दर्शन का विषयक्षेत्र एवं विषयवस्तु (Scope and Subject-Matter of Philosophy of Education)

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसका संबंध मनुष्य के पूर्ण जीवन से होता है। दर्शन सदैव इस प्रक्रिया का संचालन केंद्र रहा है। शिक्षा दर्शन के अंतर्गत हम विभिन्न दर्शनों एवं उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के संप्रत्यय, उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों का अध्ययन करते हैं।

सभी दार्शनिक विचारधाराओं ने शिक्षा में अनुशासन का अर्थ अपनी-अपनी दृष्टि से लिया है और उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन किया है। अनुशासन प्राप्त करने के लिए जिन साधनों और उपसाधनों का उन्होंने **प्रतिपादन** और **समर्थन** किया है, उनमें भी बड़ी भिन्नता है, शिक्षा दर्शन में इस सबका अध्ययन भी किया जाता है।

शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी के सापेक्षिक महत्त्व पर भी प्रायः सभी दर्शनों ने विचार किया है। उन्होंने शिक्षक और शिक्षार्थी के अधिकार और कर्तव्यों को निश्चित कर उनके लिए आचार संहिता भी तैयार की है। शिक्षा दर्शन की परिधि में इस सबका अध्ययन भी आता है।

इतना ही नहीं अपितु शिक्षा दर्शन में शिक्षा पर पड़ने वाले सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है और दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री उन प्रभावों को अपनी मान्यताओं के अनुसार दिशा प्रदान करने की विधियों पर भी विचार करते हैं। समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा को क्या दिशा दी जानी चाहिए, इसका उत्तर खोजना भी दार्शनिकों का काम है। इस प्रकार शिक्षा दर्शन का क्षेत्र बड़ा व्यापक है।

यहाँ एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए और वह यह कि किसी समाज की शिक्षा उसके दर्शन के साथ-साथ उसके प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कारकों पर भी निर्भर करती है। शिक्षा पर इन सबके प्रभावों का समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है और यह अध्ययन क्षेत्र अब शिक्षा दर्शन के क्षेत्र से निकलकर शिक्षा

नोट

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आने लगा है। शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में तो मुख्य रूप से विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार शिक्षा के संप्रत्यय, उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ, अनुशासन, शिक्षक और शिक्षार्थी का सापेक्षिक स्थान और विद्यालयों की आवश्यकता एवं उनके स्वरूप की चर्चा ही होती है। शैक्षिक मूल्यों का प्रतिपादन और उनकी व्याख्या इसका मुख्य अंग होता है।

शंका और समाधान

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि दर्शन केवल मनुष्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर उसके अंतिम उद्देश्य को निश्चित करता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए, यह निश्चित करता है। उनके विचार में इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या का गठन और शिक्षण विधियों का निर्माण करना शिक्षा मनोविज्ञान का विषय है। इस दृष्टि से शिक्षा दर्शन का क्षेत्र मनुष्य जीवन की व्याख्या, उसके अंतिम उद्देश्यों का निर्धारण और उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने तक ही सीमित है। हमारी दृष्टि से यह विचार भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

पहली बात तो यह है कि कोई भी दार्शनिक मनुष्य जीवन की व्याख्या कर उसके अंतिम उद्देश्य को निश्चित करके ही शांत नहीं होता अपितु वह यथा उद्देश्य की प्राप्ति के उपायों पर भी विचार करता है। वे उपाय ही शिक्षा की पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों का रूप धारण करते हैं। हाँ, हम यह बात मानते हैं कि आज दर्शन अथवा दार्शनिकों द्वारा निश्चित शिक्षण विधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षाशास्त्री मनोविज्ञान का सहारा अधिक लेते हैं।

इस संबंध में दूसरा निवेदन यह है कि दर्शन और मनोविज्ञान स्वयं आपस में एक-दूसरे से संबंधित हैं। सच पूछिए तो ये एक-दूसरे के पूरक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा दर्शन का क्षेत्र केवल शिक्षा के उद्देश्यों को निश्चित करना ही नहीं है अपितु इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचित पाठ्यचर्या का निर्माण और उचित शिक्षण विधियों का विधान भी उसके क्षेत्र में आता है। हम तो इससे कुछ अधिक कहना चाहते हैं और वह यह कि एक सच्चा दार्शनिक किसी भी समस्या के अधूरे हल से कभी शांत नहीं होता। जब वह शिक्षा और उसकी समस्याओं पर विचार करता है तब भी वह तब तक शांत नहीं होता जब तक उनका पूरा हल प्राप्त नहीं कर लेता। वह शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों के निर्माण के बाद, उससे आगे भी सोचता है। वह शिक्षक और शिक्षार्थियों के लिए आचार संहिता तैयार करता है और उन्हें अपने-अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराता है। उसका विचारक्रम इससे आगे बढ़ता है। वह विद्यालयों के स्वरूप के विषय में भी विचार करता है, यह बात दूसरी है कि उसके विचार की अपनी सीमा होती है। स्पष्ट है कि शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में समस्त शैक्षिक समस्याएँ और उनके दार्शनिक हल आते हैं।

टास्क भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

1.12. शिक्षा दर्शन के कार्य (Functions of Philosophy of Education)

शिक्षा दर्शन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

1. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करना और शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता करना।
2. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करना और समाज एवं राष्ट्र विशेष को अपनी शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में सहायता करना।
3. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा की पाठ्यचर्याओं की व्याख्या करना और समाज एवं राष्ट्र विशेष को अपनी शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण में सहायता करना।

नोट

4. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षण विधियों की व्याख्या करना और **समाज एवं राष्ट्र** विशेष की उपयुक्त शिक्षण विधियों के **चयन** में सहायता करना।
5. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन के स्वरूप की व्याख्या करना, उसके वास्तविक रूप से परिचित कराना और शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन स्थापित करने की उपयुक्तम विधियों से संबंधित लोगों को परिचित कराना।
6. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों के स्वरूप की व्याख्या करना और उन्हें अपने-अपने कर्तव्यों से परिचित कराना।
7. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा की अन्य समस्याओं के हल प्रस्तुत करना और संबंधित लोगों को उपयुक्त हल के चयन करने में सहायता करना।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शिक्षा दर्शन के समस्त कार्यों को तीन वर्गों–परिकल्पनात्मक, मानक और विश्लेषणात्मक में विभाजित किया गया है और इन्हीं वर्गों में उनका अध्ययन करने पर बल दिया गया है, अत: प्रस्तुत है–

1. **शिक्षा दर्शन के परिकल्पनात्मक कार्य** (Speculative Functions of Philosophy of Education)–सभी दर्शन मूलत: तर्कपूर्ण कल्पनाओं (परिकल्पनाओं) के आधार पर विकसित हुए हैं; जैसे–इस ब्रह्मांड में पृथ्वी, सूर्य, तारे आदि पता नहीं कितने ग्रह (Planets) हैं, और इनमें पता नहीं कितने प्रकार की वस्तुएँ हैं और कितने प्रकार की क्रियाएँ हो रही हैं, तब इन सबका कोई निर्माता अवश्य होना चाहिए। और वह निर्माता संपूर्ण ब्रह्मांड में इतने बड़े कार्य कर रहा है, इसलिए वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता, एवं सर्वशक्तिमान होना चाहिए। इसे कुछ ने ब्रह्म, कुछ ने गौड, कुछ ने अहुरमज़दा और कुछ ने अल्लाह का नाम दिया। दूसरी तरफ कुछ दार्शनिकों ने तर्क किया कि यदि इस ब्रह्मांड का कर्ता ब्रह्म, गौड, अहुरमज़दा अथवा अल्लाह है तो उसका भी कोई कर्ता होना चाहिए, इसलिए इनका अस्तित्व इनकी अपनी कसौटी पर ही सिद्ध नहीं होता। इन्होंने इस तर्क के आधार पर परिकल्पना की कि यह अपने आप बन-बिगड़ रहा है। कुछ ने इसे प्राकृतिक प्रक्रिया की संज्ञा दी तो कुछ ने केवल क्रिया भर कहा। शिक्षा दर्शन कुछ कार्य इसी प्रकार की तर्कपूर्ण कल्पनाओं के आधार पर करता है जिन्हें उसके परिकल्पनात्मक कार्यों की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे–शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्मानुभूति बताना और इसकी प्राप्ति के लिए विभिन्न साधन मार्गों की चर्चा करना।
2. **शिक्षा दर्शन के मानक कार्य** (Normative Functions of Philosophy of Education)–संसार में कुछ दर्शन ऐसे भी विकसित हुए हैं जो ब्रह्मांड एवं आत्मा-परमात्मा जैसे अनिर्णित विषयों पर चिंतन ही नहीं करते, वे सीधे मनुष्य के वास्तविक जीवन पर विचार करते हैं, उसके सुख-दु:ख के कारणों पर विचार करते हैं, उसे दु:खों से छुटकारा दिलाने वाले और सुख प्राप्त कराने वाले साधन मार्गों की खोज करते हैं और उनका प्रतिपादन करते हैं। शिक्षा दर्शन में **आध्यात्मिक** एवं **भौतिक** दोनों प्रकार के दर्शनों के आधार पर उपयुक्ततम शिक्षा के **स्वरूप और उसके कार्यों की व्याख्या की जाती है** और अच्छी शिक्षा के मानक (Norms) निश्चित किए जाते हैं। इन्हें शिक्षा दर्शन के मानक कार्यों के अंतर्गत रखा जाता है; जैसे–शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने के आधार प्रस्तुत करना, शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण के सिद्धांत प्रस्तुत करना और शिक्षण सिद्धांत एवं शिक्षणसूत्र निश्चित करना।
3. **शिक्षा दर्शन के विश्लेषणात्मक कार्य** (Analytical Functions of Philosophy of Education)– शिक्षा दर्शन में केवल विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या और उसकी समस्याओं के समाधान ही नहीं खोजे जाते अपितु किसी भी शैक्षिक चिंतन एवं प्रयोग की समालोचना भी की जाती है, उसके गुण-दोषों की विवेचना भी की जाती है और समाज विशेष के लिए शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाता है। शिक्षादर्शन के इस प्रकार के कार्यों को विश्लेषणात्मक कार्यों के वर्ग में रखा जाता है; जैसे–आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी दोनों प्रकार के दर्शनों के आधार पर

नोट

विकसित शिक्षा प्रणालियों के गुण-दोषों की विवेचना कर मनुष्य के तीनों पक्षों–प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक के विकास करने वाली शिक्षा के विकास करने में सहायता करना।

हमारी अपनी सम्मति

हमारी अपनी सम्मति में शिक्षा दर्शन के कार्यों को इन वर्गों में विभाजित करना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि शिक्षा दर्शन में तीनों प्राकर के कार्य एक साथ चलते हैं और एक इकाई के रूप में चलते हैं। उदाहरणार्थ जब शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कर समाज विशेष के लिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए जाते हैं तब उसमें परिकल्पनात्मक, मानक और विश्लेषणात्मक, तीनों प्रकार के कार्य एक साथ चलते हैं और एक इकाई के रूप में चलते हैं।

1.13. शिक्षा दर्शन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्त्व (Need, Utility and Importance of Philosophy of Education)

शिक्षा दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता पर दो मत नहीं हो सकते। इसके अध्ययन से शिक्षक को इस ब्रह्मांड एवं उसमें मानव जीवन के **स्वरूप का ज्ञान होता** है और वह शिक्षा के स्वरूप को समझने तथा शिक्षा की विभिन्न समस्याओं को हल करने की क्षमता प्राप्त करता है। यही इसकी उपयोगिता है और यही इसका महत्त्व है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्व को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान**–दर्शन हमें इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के रहस्य से अवगत कराता है और जो रहस्य शेष रह जाता है उसे समझने के लिए अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। बिना अपने बारे में जाने हम अपना कुछ भला कर सकते हैं, यह सोचना युक्ति-संगत नहीं। अत: दर्शन का दर्शन करना आवश्यक है। शिक्षा दर्शन में विभिन्न दर्शनों के मूल सिद्धांतों की व्याख्या होती है। उसके अध्ययन से हम इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके आधार पर सही जीवन दर्शन का चुनाव करते हैं।
2. **मानव जीवन के विभिन्न उद्देश्यों और उनको प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से मनुष्य जीवन के **स्वरूप** और उसके **उद्देश्यों** का **विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है।** इस ज्ञान और अपने स्वयं के अनुभव एवं तर्क के आधार पर प्रत्येक शिक्षक अपना एक दृष्टिकोण बनाता है और उसके आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से वह मानव जीवन के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के उपायों का भी ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञान के आधार पर अपना मार्ग बनाता है।
3. **शिक्षा के संप्रत्यय और उद्देश्यों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं द्वारा निश्चित शिक्षा के **संप्रत्यय** और उसके **उद्देश्यों** का **वर्णन** होता है। जिस दर्शन का इस ब्रह्मांड उसमें मानव जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होता है उसी के अनुसार वह शिक्षा का स्वरूप और उसके उद्देश्य निश्चित करता है। शिक्षा मानव जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है इसलिए उसके उद्देश्य वही होते हैं जो मानव जीवन के होते हैं, और चूँकि मानव जीवन के उद्देश्य भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न निश्चित किए हैं इसलिए उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों में भी भिन्नता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक इन सब उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त करता है और इस ज्ञान के आधार पर अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपनी शिक्षा के उद्देश्यों को समझने में समर्थ होता है। बिना उद्देश्यों को स्पष्ट ज्ञान के वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। अत: उसे शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
4. **शिक्षा की पाठ्यचर्या संबंधी ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के ज्ञान के साथ-साथ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न दार्शनिकों **द्वारा** निश्चित शिक्षा की पाठ्यचर्याओं का **ज्ञान** भी प्राप्त होता है। इसके अध्ययन द्वारा शिक्षक पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों से भी परिचित होते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में पाठ्यचर्या में आवश्यक परिवर्तन करने योग्य बनते हैं। हम जानते हैं कि उद्देश्यों के ज्ञान के अभाव में पाठ्यचर्या को नहीं समझा जा सकता और पाठ्यचर्या के वास्तविक रूप को

नोट

समझे बिना शिक्षा को सही मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता। इसलिए शिक्षा को सही रूप में आगे बढ़ाने के लिए शिक्षक को इन सबका ज्ञान होना चाहिए और उसे शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

5. **शिक्षण विधियों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को विभिन्न दार्शनिकों द्वारा निर्मित शिक्षण विधियों का ज्ञान होता है और **किसको, कब और किस प्रकार पढ़ाना चाहिए,** इस संबंध में विभिन्न दार्शनिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों के तर्क पढ़ने को मिलते हैं। इस अध्ययन के आधार पर शिक्षक अपने आदर्शों अर्थात् शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचित शिक्षण विधियों का चुनाव करने में सफल होता है, अत: उसे इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
6. **शिक्षा में अनुशासन संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में विभिन्न **दर्शनों** एवं उनके **द्वारा** अनुशासन की समस्या पर व्यक्त विचारों का अध्ययन किया जाता है। इसके अध्ययन से शिक्षक अनुशासन के **वास्तविक स्वरूप** को समझता है और उसकी प्राप्ति के उपायों की विधियों को जानता है। हम जानते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में भी अनुशासन की आवश्यकता है, अत: उसके वास्तविक स्वरूप को समझने एवं उसकी प्राप्ति की विधियों को जानने के लिए शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
7. **शिक्षक और शिक्षार्थियों के महत्त्व और कार्यों का ज्ञान**–नियोजित शिक्षा की प्रक्रिया शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच चलती है। इस प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी का सापेक्षिक स्थान क्या होना चाहिए, इस विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं की भिन्न-भिन्न पहुँच है। शिक्षा दर्शन में इस सबका अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के आधार पर शिक्षक अपने कर्तव्यों को निश्चित करने में सफल होता है।
8. **विद्यालयों के स्वरूप एवं कर्तव्यों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि नियोजित शिक्षा की प्रक्रिया चलाने के लिए विद्यालयों का क्या स्वरूप होना चाहिए और उनके क्या कर्तव्य होने चाहिए। इस संबंध में दार्शनिकों के विचारों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद के पीछे उनके अपने-अपने तर्क हैं। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को इस सब का ज्ञान होता है और वह शिक्षा के निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यालय के स्वरूप और उसके कार्यों को निश्चित करने में सफल होता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन के अभाव में हम विद्यालयों के स्वरूप एवं कर्तव्यों को निश्चित नहीं कर पाते। इस दृष्टि से भी शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
9. **शिक्षा की अन्य समस्याओं का दार्शनिक हल**–दर्शन के अभाव में कोई भी शिक्षक शैक्षिक समस्याओं का वास्तविक **समाधान नहीं ढूँढ़ सकता।** शिक्षा दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात ही शिक्षक शिक्षा संबंधी समस्याओं और विभिन्न विद्वानों के उनके प्रति दृष्टिकोणों को समझने में सफल हो सकता है और विभिन्न दृष्टिकोणों को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर देखने से वास्तविक हल को ढूँढ़ सकता है। जब तक हम शिक्षा के संप्रत्यय, उसके उद्देश्य, उसकी पाठ्यचर्या और उसकी शिक्षण विधियों आदि के क्रमिक विकास और उनके परिणामों से परिचित नहीं होते तब तक अपनी शैक्षिक समस्याओं का हल **ढूँढ़ने** में समर्थ नहीं हो सकते।
10. **कुछ और**–संसार परिवर्तनशील है और आजकल यह परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा है। हमारी सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थिति भी बड़ी तेजी से बदल रही है। विज्ञान के आविष्कारों ने हमारे जीवन को पूर्णतया बदल दिया है। शिक्षा को इसके साथ कदम मिलाकर चलना है अन्यथा हम आने वाले समय में अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सकेंगे। परंतु हमें कितना बदलना है और कितना नहीं और जितना बदलना है, वह क्यों, और जितना नहीं बदलना है, वह क्यों, इन सबका उत्तर तो वही दे सकता है जिसने शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया हो। इसके बाद एक समस्या और उठती है और वह यह कि उस सबकी प्राप्ति के लिए शिक्षा में क्या परिवर्तन करना होगा, इसका उत्तर भी वही शिक्षक दे सकता है जिसने शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया हो। अत: शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। परंतु उसे उसकी सामग्री को अपने अनुभवों की कसौटी पर कसते रहना चाहिए और नए-नए अनुभवों एवं निर्णयों को उसमें जोड़ते रहना चाहिए। ऐसा करने से ही शिक्षा दर्शन का विकास संभव है।

नोट

1.14 सारांश (Summary)

दर्शन के मुख्य रूप से तीन अंग होते हैं–तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा। यूँ किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा, उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती हैं, परंतु सुविधा की दृष्टि से हम किसी भी दर्शन का अध्ययन इन तीनों अंगों में अलग-अलग करते हैं। दर्शन के ये अंग शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं।

1.15 शब्दकोश (Keywords)

1. **संकुचित अर्थ** (Narrower Meaning): अर्थ का लघु स्तर
2. **व्यापक अर्थ** (Wider Meaning): विस्तृत अर्थ

1.16 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. शिक्षा का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. दर्शन की विशेषताएँ बताइए।
3. शिक्षा दर्शन के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. मुक्ति	2. शिक्षा	3. श्रेष्ठ नागरिकों का	4. (अ)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

1.17 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–2 : शिक्षा में दर्शनशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व (Significance of Studying Philosophy in Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
2.1 शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Aims of Education)
2.2 शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारक तत्व (Factors Determining Educational Aims)
2.3 समय एवं स्थान से संबंधित शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Education in Relation to the Time and Place)
2.4 विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by University Education Commission)
2.5 माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by Secondary Education Commission)
2.6 भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by Indian Education Commission)
2.7 शिक्षा के उद्देश्य और राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 (Aims of Education and National Education Policy, 1986)
2.8 भारत की वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education in the Present Conditions of India)
2.9 शिक्षा के सामान्य उद्देश्य (General Aims of Education)
2.10 शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य (Individual Aim of Education)
2.11 शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य (Social Aim of Education)
2.12 शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय (Synthesis between Individual and Social Aims of Education)
2.13 सारांश (Summary)
2.14 शब्दकोश (Keywords)
2.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
2.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता व महत्त्व जानने हेतु।
- शिक्षा के सामान्य उद्देश्य जानने हेतु।
- पूर्ण जीवन के उद्देश्य जानने हेतु।
- जीविकोपार्जन का उद्देश्य जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

उद्देश्यपूर्ण शिक्षा से समय और शक्ति दोनों का सदुपयोग होता है और शिक्षा की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती है। स्पष्ट उद्देश्यों के आधार पर ही पाठ्यक्रम की रचना होती है और शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाता है। उद्देश्यविहीन शिक्षा से न शिक्षण की पाठ्यचर्या तैयार की जा सकती है, न शिक्षण की व्यूह रचनाओं का उचित प्रयोग किया जा सकता है, न शिक्षा के साधनों का चयन किया जा सकता है और न ही बालकों के व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है।

2.1. शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Aims of Education)

जीवन का प्रत्येक कार्य किसी उद्देश्य पर आधारित होता है। उद्देश्य रहित कार्य में किसी का मन नहीं लगता। उद्देश्य रहित शिक्षा भी अर्थहीन है। उद्देश्य रहित शिक्षा से कभी भी वांछित फल की आशा नहीं की जा सकती। उद्देश्य रहित शिक्षा शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को उदासीन बनाती है। **बी. डी. भाटिया** के शब्दों में **''उद्देश्य के ज्ञान के बिना शिक्षक उस नाविक के समान होता है जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता और शिक्षार्थी उस पतवार विहीन नौका के समान होता है जो समुद्र की लहरों के थपेड़े खाती हुई तट की ओर बहती जा रही है।''** उद्देश्यपूर्ण शिक्षा, शिक्षा की प्रक्रिया को जीवंत बनाती है; शिक्षक और शिक्षार्थी को जागरूक बनाती है; उनमें दूरदर्शिता और दीर्घ-दृष्टि उत्पन्न करती है; उनमें उत्साह, प्रेरणा और कार्य करने की अपूर्व शक्ति पैदा करती है। उद्देश्यपूर्ण शिक्षा ही सिखाने वाले की क्रियाओं का मार्ग निर्देशन करती है। इससे सीखने वाले अर्थात् शिक्षार्थी को यह पता रहता है कि उसे क्या सीखना है और सिखाने वाले अर्थात् शिक्षक को यह पता रहता है कि उसे क्या सिखाना है?

शिक्षा के उद्देश्यों की महत्ता इन बिंदुओं से भी स्पष्ट की जा सकती है–

1. शिक्षा एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है और शिक्षा के उद्देश्य इस शिक्षण प्रक्रिया को वांछित दिशा प्रदान करते हैं।
2. शिक्षा के उद्देश्य शिक्षण प्रक्रिया के परिणामों का मूल्यांकन करने में सहायक होते हैं।
3. शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा की प्रक्रिया को महत्त्व एवं निरंतरता प्रदान करते हैं।
4. शिक्षा के उद्देश्य विद्यार्थियों के कार्यों को निश्चित और स्पष्ट दिशा प्रदान करते हैं।
5. शिक्षा के उद्देश्य विद्यालय-प्रशासन की दक्षता के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षकों का चयन, पाठ्यचर्या, नियोजन, पुस्तकालय का संगठन और पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन आदि क्रियाएँ शिक्षा के उद्देश्यों से ही निर्देशित होती हैं।
6. शिक्षा के उद्देश्य विद्यार्थियों के माता-पिता, अभिभावक और जनसामान्य के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।
7. शिक्षा के उद्देश्य बुद्धिमत्ता से कार्य करने में व्यक्ति की सहायता करते हैं। उद्देश्य को सामने रखकर चलने से व्यक्ति को यह पता रहता है कि वह क्या और क्यों कर रहा है? इससे समय और शक्ति की बचत होती है।

नोट्स शिक्षा एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है और शिक्षा के उद्देश्य इस शिक्षण प्रक्रिया को वांछित दिशा प्रदान करते हैं।

2.2 शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारक तत्व (Factors Determining Edcuational Aims)

नोट

1. **जीवन दर्शन** (Philosophy of life)–शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों के आधार पर निश्चित होते हैं और जीवन के उद्देश्यों के निर्धारण में समाज और व्यक्ति के दर्शन का बहुत बड़ा हाथ रहता है। संसार में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य दिखायी पड़ते हैं क्योंकि विभिन्न लोगों के विचारों और दर्शन में अंतर होता है। यही कारण है कि उद्देश्य के संदर्भ में आदर्शवाद आत्मानुभूति पर बल देता है, प्रकृतिवाद आत्माभिव्यक्ति पर बल देता है और प्रयोजनवाद सामाजिकता पर बल देता है।
2. **राजनीतिक तत्व** (Political Factors)–किसी भी देश में शिक्षा के उद्देश्य उसकी राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। प्रजातांत्रिक देशों की शिक्षा के उद्देश्य अधिनायकवादी और साम्यवादी देशों की शिक्षा के उद्देश्य समान नहीं हो सकते। प्रजातांत्रिक देशों की शिक्षा के उद्देश्य लचीले होते हैं और मानव की स्वतंत्रता, समानता व मानव की गरिमा पर बल देते हैं।
3. **सामाजिक तत्व** (Social Factors)–व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज में व्यक्ति का जन्म होता है, समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है, समाज में ही उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है, समाज में रहकर ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और समाज में उसकी उन्नति और विकास होता है, इसलिए समाज की स्थिति, समाज की आवश्यकताओं, समाज के मूल्यों और आदर्शों को आधार बनाकर शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।
4. **आर्थिक तत्व** (Economic Factors)–समाज की आर्थिक दशाएँ भी शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। उत्पादन की मात्रा, वितरण की पद्धति और समाज की स्थिति शिक्षा पर बहुत प्रभाव डालती है। आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र ही शिक्षा के विकास में समर्थ हो सकता है। अत: शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में आर्थिक तत्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
5. **धार्मिक तत्व** (Religious Factors)–धार्मिक विचारधाराएँ शिक्षा के उद्देश्यों को पूरी तरह से प्रभावित करती हैं। जिन देशों का कोई राजधर्म होता है उन देशों के शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में उस राजधर्म का विशेष स्थान होता है। यद्यपि भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का कोई राजधर्म नहीं है। फिर भी विभिन्न धार्मिक विचारधाराएँ शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित करती हैं। विभिन्न धार्मिक संगठनों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थानों में इन धर्मों के विचारों, विश्वासों और सिद्धांतों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।
6. **वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक तत्व** (Scientific and Technological Factors)–आज का युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। दिन-प्रतिदिन ज्ञान के नये-नये विस्फोट हो रहे हैं। क्षेत्र में नयी-नयी तकनीक को प्रवेश हो रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान की है। ऐसे में शिक्षा के उद्देश्य नये ज्ञान और तकनीक से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं।
7. **सांस्कृतिक कारक** (Cultural Factors)–पूर्वजों के हजारों वर्षों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप किसी समाज की संस्कृति बनती है। संस्कृति के अंतर्गत समाज विशेष की परंपरा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, सामान्य सभ्यता, भाषा, साहित्य, आचार-विचार आदि समाहित होता है। जिस समाज की संस्कृति जितनी उत्कृष्ट होती है, उस समाज के सदस्य उतने ही उत्कृष्ट होते हैं। अत: उस समाज के उद्देश्यों के निर्धारण में उसकी संस्कृति किसी-न-किसी रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करती है। हमारे देश में अंग्रेजी शासन में हमारी मूल संस्कृति की उपेक्षा की गयी थी लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस बात की बराबर चेष्टा की जा रही है कि देश के भावी नागरिक, अपनी संस्कृति के उदार तत्वों को हृदयंगम करके उसके अनुसार अपना विकास करें। इसके लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन और संशोधन किये जा रहे हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. जीवन का प्रत्येक कार्य किसी ..... पर आधारित होता है।
2. व्यक्ति एक ..... प्राणी है।
3. ..... संसार की प्रेरणा शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति है।

2.3 समय एवं स्थान से संबंधित शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Education in Relation to the Time and Place)

शिक्षा के उद्देश्य, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। विभिन्न कालों में विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा का उद्देश्य वीर, हृष्ट-पुष्ट, आज्ञाकारी, अनुशासित सिपाही और देशभक्त नागरिक उत्पन्न करना था क्योंकि उनकी विचारधारा थी, ''प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए नहीं वरन् राष्ट्र के लिए पैदा होता है।'' एथेंस की विचारधारा स्पार्टा से भिन्न थी। एथेंसवासी व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को महत्त्व देते थे, इसलिए उनकी शिक्षा का उद्देश्य देशवासियों का राजनैतिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकास करना था। मध्य युग में शिक्षा पर धर्म का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण शिक्षा के उद्देश्य धार्मिक थे। आधुनिक युग में जहाँ प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षा का उद्देश्य मानव की गरिमा को स्थापित करना और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना रहा, वहाँ साम्यवादी देशों में शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना रहा जो साम्यवादी आदर्शों के अनुरूप कार्य कर सकें। भारत में भी काल के संदर्भ में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ है। अलग-अलग समय में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारत में धर्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म की प्रधानता थी। मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य था, इसलिए उस काल में शिक्षा के उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर निर्धारित किये गये थे। वैदिक कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार थे–

1. ईश्वर भक्ति एवं धार्मिक भावना,
2. चरित्र का निर्माण,
3. व्यक्तित्व का विकास,
4. नागरिक और सामाजिक कर्तव्यपालन की भावना का पोषण,
5. सामाजिक कुशलता का विकास,
6. राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार।

ब्राह्मणकालीन शिक्षा के उद्देश्य

ब्राह्मणकालीन शिक्षा वैदिक कालीन शिक्षा की अनुकृति थी। इस काल में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य थे–

1. आध्यात्मिक विकास,
2. शारीरिक और मानसिक विकास,
3. चरित्र का विकास,
4. एकांतवास, कर संयम और इंद्रिय निग्रह,
5. पारिवारिक तथा सामाजिक भावना का पोषण,
6. समानता का पोषण।

नोट

बौद्धकालीन शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध शिक्षा मुख्यत: निर्वाण प्राप्ति और धर्म प्रसार के लिए दी जाती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ब्राह्मण की कामना मोक्ष प्राप्त करने की होती थी, उसी प्रकार इस काल में निर्वाण प्राप्त करना प्रत्येक बौद्ध के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। बिहारों में विद्यार्थियों को भगवान् बुद्ध के उपदेशों से परिचित कराया जाता था और उन्हें धर्म प्रसार के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस काल में शिक्षा के उद्देश्य अग्र प्रकार थे–

1. ज्ञान का विकास,
2. सामाजिक आचरण की शिक्षा,
3. चरित्र निर्माण,
4. मानव संस्कृति का संरक्षण एवं विकास,
5. कला कौशल एवं व्यवसायों की शिक्षा,
6. बौद्ध धर्म की शिक्षा।

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा के उद्देश्य

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा के उद्देश्य निम्न प्रकार थे–

1. ज्ञान का प्रसार,
2. इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार,
3. इस्लाम संस्कृति का प्रसार,
4. चरित्र का निर्माण,
5. सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति,
6. कला कौशलों एवं व्यवसायों की शिक्षा।

ब्रिटिशकालीन शिक्षा के उद्देश्य

हमारा देश लगभग 150 वर्षों तक अंग्रेजों का गुलाम रहा। अपने शासन काल में अंग्रेजों ने अपनी भाषा और संस्कृति को हमारे ऊपर लादने का भरपूर प्रयास किया और शिक्षा के उद्देश्य तथा योजना इस प्रकार निर्धारित की जिससे लंबे समय तक वे इस देश पर शासन कर सकें। उस काल के शिक्षा के उद्देश्यों को हम निम्न प्रकार से क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. ब्रिटिश साम्राज्य को संगठित करना,
2. अंग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रसार करना,
3. पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना,
4. भौतिक उन्नति करना,
5. राज्य सेवा के लिए सुयोग्य कर्मचारी तैयार करना,
6. मानसिक विकास करना और बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाना।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा के उद्देश्य

पंडित नेहरू ने कहा था, ''शिक्षा को संतुलित मानव का विकास करना चाहिए और युवकों को समाज के लिए लाभप्रद कार्यों को करने तथा सामूहिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करना चाहिए, पर जब समाज में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन हो रहे हों तब यह बताना कठिन है कि युवकों को किस प्रकार तैयार किया जाए और

नोट

शिक्षा के क्या उद्देश्य हों।'' स्वतंत्र भारत में राष्ट्र की आवश्यकताओं, परिस्थितियों, परंपराओं, अपेक्षाओं और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य के आलोक में विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों, विचारकों, समाज सुधारकों और राजनीतिज्ञों ने शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या की है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख करने से पूर्व स्वतंत्र भारत में बनाए गये अत्यंत महत्त्वपूर्ण शिक्षा आयोगों और नई शिक्षा नीति द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन करना अत्यंत आवश्यक और प्रासंगिक है।

2.4 विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by University Education Commission)

आयोग ने भारत की बदली हुई परिस्थितियों में विश्वविद्यालयों की अहम भूमिका का उल्लेख करते हुए शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. **नेतृत्व ग्रहण करने की योग्यता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है जो सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में नेतृत्व ग्रहण कर सकें, जिससे देश का चहुँमुखी विकास हो सके।
2. **शारीरिक विकास**–स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है, अत: शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियों का निर्माण करना है। संतुलित शारीरिक विकास से ही अनुशासन, साहस, नेतृत्व और सामूहिक भावना का विकास किया जा सकता है।
3. **बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास**–आज ज्ञान का विस्फोट तीव्र गति से हो रहा है, इसलिए विद्यार्थियों को मानसिक रूप से प्रबुद्ध बनाना होगा, उनके बौद्धिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाना होगा, उनमें शोध की प्रवृत्ति का विकास करना होगा और उनमें चिंतन, मनन, तर्क, निर्णय और कल्पना शक्ति का विकास करना होगा। अत: शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों का निर्माण करना है।
4. **विवेकशील और कुशल नागरिकता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है जो विवेकशील हों, कुशल हों, उत्तरदायी हों, देशभक्त हों, समाजसेवी हों, व्यापक और उदार दृष्टिकोण वाले हों, तभी देश में प्रजातंत्र सफल हो सकता है।
5. **जीवन और ज्ञान के समन्वय की क्षमता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य जीवन और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने की क्षमता का विकास करना है क्योंकि इससे ही विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सकता है।
6. **संस्कृति का संरक्षण और विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नवयुवकों का निर्माण करना है जो पाश्चात्य संस्कृति तथा आधुनिकता के मोह में अपनी सांस्कृतिक विरासत को न भूलें। शिक्षा के माध्यम से वे अपनी संस्कृति का संरक्षण करें और उसके विकास में अपना योगदान दें।
7. **आध्यात्मिक और नैतिक विकास**–शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों का आध्यात्मिक और नैतिक विकास करना है। आध्यात्मिकता का अर्थ है–मनुष्य के उत्तम गुणों का विकास। सबके प्रति समान दृष्टि, मानव की गरिमा में विश्वास, अत्याचार और अनाचार के प्रति आक्रोश, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्याय का संरक्षण, शांति के प्रति अनुराग, दीन-दु:खियों की सहायता तथा उत्तम चरित्र वाला व्यक्ति ही आध्यात्मिक और नैतिक है।
8. **विश्व बंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य भारत के प्राचीन आदर्श वसुधैव कुटुंबकम के अनुसार विद्यार्थियों में विश्व-बंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास करना भी है।

नोट

क्या आप जानते हैं शिक्षा के उद्देश्य, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं।

2.5 माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by Secondary Education Commission)

देश की आवश्यकताओं के अनुरूप इस आयोग ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए–

1. **प्रजातांत्रिक नागरिकता का विकास** (Development of Democratic Citizenship)–भारत में संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न प्रजातंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गई है। इसके अनुसार जनता ही शासन की सर्वोच्च शक्ति है, उसी के हाथ में अपने शासकों को निर्वाचित करने का अधिकार है। अत: प्रजातंत्र की सफलता के लिए योग्य, कुशल और आदर्श नागरिकों की आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है जिनमें सहनशीलता, सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार, नि:स्वार्थ भावना, प्रेम, त्याग, कर्तव्य पालन और राष्ट्र के प्रति अटटू भक्ति की भावना हो।
2. **व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि** (Improvement of Vocational Efficiency)–शिक्षा का दूसरा उद्देश्य विद्यार्थियों में व्यावसायिक कुशलता की वृद्धि करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को इस प्रकार का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाए कि वे अपने जीविकोपार्जन के लिए व्यवसाय चुन सकें और उसमें कुशलता प्राप्त कर सकें इससे विद्यार्थी स्वावलंबी हो सकेंगे और उन्हें नौकरी के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ेगा तथा देश का आर्थिक विकास भी हो सकेगा।
3. **व्यक्तित्व का पूर्ण विकास** (Development of Personality)–शिक्षा को तीसरा उद्देश्य विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से तात्पर्य है, उनका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार का विकास। शिक्षा का कार्य बालक के जन्मजात गुणों को विकसित करना और उनमें उनके प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न करना होनी चाहिए, इसके लिए उनको रचनात्मक कार्यों में भाग लेने के अधिकाधिक अवसर प्रदान करने चाहिए।
4. **नेतृत्व के लिए शिक्षा** (Education for Leadership)–स्वतंत्र भारत के विकास के लिए हर क्षेत्र में सच्चे और प्रभावशाली नेतृत्व की आवश्यकता है। अतएव हमारी शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों में नेतृत्व के गुणों का विकास करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को जीवन के हर क्षेत्र–सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि के लिए प्रशिक्षित करना है, जिससे वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन भली प्रकार से कर सकें और देश को उन्नति तथा विकास की ओर अग्रसर कर सकें।

2.6 भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education as Recommended by Indian Education Commission)

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की समस्याओं तथा जीवन की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की दृष्टि से आयोग ने निम्नलिखित उद्देश्य बताए–

1. **उत्पादन में वृद्धि** (To Increase Production)–आयोग ने कहा कि भारत की धार्मिक स्थिति बड़ी दयनीय है। हमारे यहाँ अनाज की कमी है, खाद्य-पदार्थों की कमी है, तेल, पेट्रोल व डीजल की कमी है, नई-नई मशीनों और कलपुर्जों की कमी है, उर्वरकों और खेती के अन्य वैज्ञानिक उपकरणों की कमी है। इन सब वस्तुओं की कमी देश के लिए गंभीर और विकट समस्या है। जिस गति से हमारे देश में जनसंख्या

नोट

बढ़ रही है, उस गति से उत्पादन नहीं बढ़ रहा है, जिससे देश में बेकारी, गरीबी और भुखमरी फैली हुई है। यदि इस स्थिति से देश को उबारना है और देश की उन्नति करनी है तो हमारे सामने एक ही रास्ता है कि हम प्रत्येक क्षेत्र में अपने उत्पादन को बढ़ाएँ। इसलिए हमारी शिक्षा का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना होना चाहिए। इसके लिए विज्ञान की शिक्षा को पाठ्यक्रम का एक अंग बनाया जाना चाहिए, **कार्यानुभव** को शिक्षा में स्थान दिया जाना चाहिए और कृषि तथा तकनीकी शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए।

2. **सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का विकास** (To Develop Social and National Unity)– आयोग के अनुसार, भारत में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं। भारतवासी स्थानीय, प्रांतीय, क्षेत्रीय, जातीय, सांप्रदायिक, भाषायी, आर्थिक और राजनैतिक दलबंदियों में पड़कर देशहित को भूल रहे हैं जिससे देश की सामाजिक और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ गई है। अत: शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का विकास करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में राष्ट्र के प्रति भक्ति और उसके भविष्य के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करना है तथा छोटी-छोटी बातों पर आधारित संकीर्णता की भावना को समाप्त करके उनमें आदर्श नागरिकता की भावना का विकास करना है।

3. **राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना** (To Modernise the Nation)–आयोग ने कहा कि आज दुनिया तेजी से आगे बढ़ रही है। ज्ञान-विज्ञान का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है। यदि हम दन देशों की बराबरी करना चाहते हैं तो हमें भी ज्ञान-विज्ञान के विकास में उनके साथ चलना होगा। हमें अपनी शिक्षा को इसके अनुरूप बनाना होगा और सामाजिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना होगा, जिससे राष्ट्र को प्रगति की ओर ले जाया जा सके। इस प्रकार आज के युग में हमारी शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना है।

4. **सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास** (To Develop Social Moral and Spirtual Values)–शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों का सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करना है। आयोग के अनुसार, आधुनिकता को अपनी जीवन शक्ति आध्यात्मिकता से ही लेनी है। आज के युग में चूँकि व्यक्ति को ज्ञान के द्वारा बहुत शक्ति प्राप्त हो गई है इसलिए उसमें नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास की भी महती आवश्यकता है। आज अपने देश में हम पुरातन मूल्यों को भुलाते जा रहे हैं और नये मूल्यों की स्थापना नहीं कर पाये हैं जिससे समाज में एक रिक्तता पैदा हो गई है। अत: हमें शिक्षा के द्वारा अपने बालकों का आध्यात्मिक और चारित्रिक विकास करना है जिससे उनमें मानवीय गुण पैदा हो सकें और वे अच्छे बालक बन सकें।

5. **प्रजातंत्र को सुदृढ़ बनाना** (To Consolidate Democracy)–आयोग के अनुसार, देश के प्रजातंत्र को सुदृढ़ बनाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में प्रजातंत्रात्मक भावना का विकास किया जाना चाहिए। उनमें प्रजातांत्रिक मूल्यों और आदर्शों के प्रति विश्वास और आस्था पैदा करनी चाहिए और उनमें राष्ट्रीय चेतना की भावना का पल्लवन किया जाना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. धार्मिक विचारधाराएँ शिक्षा के उद्देश्यों को पूरी तरह से करती हैं–
   (अ) प्रभावित (ब) अप्रभावित (स) कमजोर (द) सुदृढ़
5. जीवन का प्रत्येक कार्य आधारित होता है–
   (अ) धन पर (ब) उद्देश्य पर (स) शिक्षा पर (द) इनमें से कोई नहीं
6. उद्देश्यपूर्ण शिक्षा से समय और शक्ति दोनों का होता है–
   (अ) दुरुपयोग (ब) सदुपयोग (स) प्रयोग (द) इनमें से कोई नहीं

2.7 शिक्षा के उद्देश्य और राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 (Aims of Education and National Education Policy, 1986)

नोट

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) का लक्ष्य संपूर्ण देश में एक राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का विकास करना था। 'शिक्षा की चुनौती' में कहा गया है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक बेहतरी, उसकी क्षमता और सृजनशीलता पर जोर दिया जाना चाहिए, जिसमें निम्नलिखित बातें शामिल हैं–

– व्यक्तित्व का शारीरिक, बौद्धिक और सौंदर्यपरक विकास,

– वैज्ञानिक मनोवृत्ति, लोकतांत्रिक चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों को मन में बिठाना,

– विषम परिस्थितियों का सामना करने और उन्हें बदलने के लिए आत्मविश्वास का विकास;

– शारीरिक, सामाजिक, प्रौद्योगिकीय, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश के प्रति जागरूकता पैदा करना;

– श्रम तथा कठोर परिश्रम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना;

– धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों के प्रति वचनबद्धता;

– देश की एकता, उसके सम्मान और विकास को बनाए रखने के लिए समर्पण की भावना और

– अंतर्राष्ट्रीय समझ को बढ़ावा देना।

ऊपर बताए गये व्यक्तिगत गुणों को विकसित करने के अतिरिक्त शिक्षा का यह दायित्व भी है कि वह विभिन्न विषयों से संबंधित संकल्पनाओं और तथ्यों के विषय में ज्ञान प्रदान करे। भाषा और संचार के क्षेत्रों में कुशलता बढ़ाये तथा खेलों और व्यासंगों में रुचि विकसित करे।

2.8 भारत की वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education in the Present Conditions of India)

विभिन्न आयोगों द्वारा निर्धारित किये गये शिक्षा के उद्देश्यों का विश्लेषण करने पर वर्तमान परिस्थितियों में भारत में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए–

1. **व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास** (Harmonious Development of Personality)–देश और समाज की उन्नति तभी हो सकती है जब उसके नागरिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ, बौद्धिक दृष्टि से बुद्धिमान, संवेगात्मक दृष्टि से स्थिर, आध्यात्मिक दृष्टि से धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से समाजसेवी हों। प्रजातंत्र में तो व्यक्ति की गरिमा को और भी महत्त्व दिया जाता है। अत: वर्तमान परिस्थितियों में हमारी शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए, जिससे भारत के भावी नागरिक आगे चलकर प्रत्येक क्षेत्र में देश का नव-निर्माण कर सकें।
2. **व्यावसायिक कुशलता** (Vocational Efficiency)–वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर जो सबसे बड़ा आक्षेप लगाया जाता है वह यह है कि हमारी शिक्षा प्रणाली बालकों को किसी व्यवसाय के लिए तैयार नहीं करती। आजादी के 58 वर्षों के बाद भी इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, जिससे शिक्षित बेकारों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है और छात्र वर्ग में घोर असंतोष पैदा हो रहा है। अत: हमारी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य हर बालक को उसकी योग्यता, क्षमता और रुचि के अनुसार व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करना होना चाहिए, जिससे वह अपना जीविकोपार्जन कर सके और देश की आर्थिक उन्नति हो सके।
3. **व्यावहारिक शिक्षा** (Practical Education)–हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली सैद्धांतिक और पुस्तकीय है, इसलिए अव्यावहारिक है। उसका बालक के जीवन से कोई संबंध नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि बालक उसमें कोई रुचि नहीं लेता। अत: हमारी शिक्षा का उद्देश्य बालक को ऐसी शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए जो बालक के वर्तमान और भावी जीवन से किसी-न-किसी रूप में संबंधित हो। ऐसी शिक्षा प्राप्त करके ही बालक जीवन में प्रवेश करने के बाद सफलता प्राप्त कर सकेंगे। **डॉ. आत्माराम मिश्र**

नोट

के शब्दों में, **''वर्तमान शिक्षा प्रणाली निरी साहित्यिक बनी हुई है। यदि ज्ञान का उपयोग जीवन की परिस्थितियों में न हो सका, तो उसका क्या लाभ? ज्ञान की मात्र बौद्धिक चेतना से क्या होगा? उसके प्रयोग के लिए तो चाहिए क्रिया करने का कौशल और मूल्यांकन करने की संवेदनशीलता। अतएव कौशलों और संवेगों के प्रशिक्षण पर जोर देना जरूरी होगा। व्यावसायिक शिक्षा में तो ज्ञान की व्यावहारिकता और प्रयोगात्मकता और भी आवश्यक होती है जिससे छात्र जो सीखें उसका उपयोग वास्तविक जीवन की परिस्थितियों में करते रहें।''**

4. **चारित्रिक विकास** (Character Development)–व्यक्ति के चरित्र का सीधा प्रभाव समाज और राष्ट्र पर पड़ता है चरित्रवान व्यक्ति ही किसी समाज और देश की प्रगति के आधार होते हैं। आज हमारे देश में चरित्र का संकट है। देश के शत्रुओं को देश की गुप्त बातों और रहस्यों को बताना, राजनैतिक शक्ति प्राप्त करके अपने को, अपने परिवार को, अपने संबंधियों को और अपने राजनैतिक दल को आर्थिक लाभ पहुँचाना, उच्च पद प्राप्त करके अनैतिक और भ्रष्ट आचरण करना, रिश्वत लेना, तस्करी करना आदि ऐसे कार्य हैं जो देश की प्रगति में बाधा पहुँचा रहे हैं। अत: वर्तमान परिस्थितियों में हमारी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए कि वह नागरिकों को चरित्रवान बनाए।

5. **समाजवादी समाज की स्थापना** (Establishment of Socialistic Society)–भारत का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना है अर्थात् ऐसे समाज की स्थापना करनी है जहाँ सभी जाति, प्रजाति, वर्ण, संप्रदाय के लोगों को सभी क्षेत्रों में समान अवसर प्राप्त होंगे, किसी प्रकार की असमानता नहीं होगी, सभी को शारीरिक और आर्थिक सुरक्षा प्राप्त होगी, सभी को सुखी जीवन व्यतीत करने के समस्त अवसर प्राप्त होंगे और सभी को समस्त नागरिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी। यह कार्य शिक्षण के द्वारा ही हो सकता है। हमारी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों में समाजवाद की भावना को विकसित करके उसे स्थाई बनाना होना चाहिए। **पंडित नेहरू** के शब्दों में, **''मैं समाजवादी राज्य में विश्वास करता हूँ और मैं चाहता हूँ कि शिक्षा का इस उद्देश्य की ओर विकास किया जाए।''**

6. **भावात्मक एकता का विकास** (To Develop Emotional Integrity)–स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में अनेकों समस्याएँ पैदा हुई हैं जिन्होंने भारतीय जीवन को आंदोलित किया है। इन समस्याओं में एक प्रमुख समस्या भावात्मक एकता की है। हमने प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली को अपनाया है। प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देशवासियों में पारस्परिक प्रेम, सहयोग, भ्रातृत्व त्याग और देश पर मर मिटने की भावना हो। दुर्भाग्य से आज देश में इसका अभाव है। आज देश में जातीयता की भावना, सांप्रदायिकता, भाषावाद आदि कुछ ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा है कि उनसे देश की एकता में बाधा पड़ रही है। इन प्रवृत्तियों ने देश की आजादी और प्रजातंत्रीय सफलता को एक जबर्दस्त चुनौती दे रखी है। अत: इन प्रवृत्तियों को नष्ट करके राष्ट्र की रक्षा करनी है। इसके लिए हमें अपनी शिक्षा के द्वारा बालकों में भावात्मक एकता का विकास करना होगा। शिक्षा का उद्देश्य बालकों में ऐसी भावनाओं को रोकना होना चाहिए जो पृथकता और विघटन को प्रोत्साहन दें तथा ऐसे संवेगों का निर्माण करना होना चाहिए जो उनको एकता के सूत्र में आबद्ध करें।

7. **अंतर-सांस्कृतिक भावना का विकास** (To Develop Inter-Cultured Understanding)–हमारा देश बहुत विशाल है। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही जीवन के आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं, परंपराओं, रीतिरिवाजों, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, भाषा आदि में बड़ी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं अर्थात् हमारे यहाँ विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। यदि कुछ लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझने लगें और दूसरी संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखने लगें तो लोगों में आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या पैदा हो जाती है, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का ही बड़ा अहित होता है। अत: हमारी शिक्षा का उद्देश्य बालकों में अंतर-सांस्कृतिक भावना का विकास करना होना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक एक-दूसरे की संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करें और उनके प्रति आदर और श्रद्धा रखें।

8. **अंतर्राष्ट्रीय समझ का विकास** (To Develop International Under-standing)–आज विज्ञान ने दुनिया में भारी परिवर्तन किये हैं। वैज्ञानिक खोजों और ज्ञान ने दुनिया के देशों को बहुत निकट ला दिया

नोट

है। आज यदि दुनिया के एक सिरे पर स्थित किसी देश में कोई घटना होती है तो उसका प्रभाव दुनिया के दूसरे सिरे पर स्थित अन्य देशों पर भी पड़ता है। आज कोई भी देश अपने बल पर न शांति स्थापित कर सकता है और न उन्नति कर सकता है। उसे दूसरे देशों की समस्याओं को समझना होगा, उनमें रुचि लेनी होगी और उनके समाधान में यथासंभव सहायता करनी होगी। इस कार्य के लिए हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालकों में संपूर्ण मानवजाति के प्रति प्रेम की भावना पैदा करे और उनको दूसरे देशों की सभ्यता, संस्कृति, धर्म और ज्ञान की जानकारी दे।

यदि उपरोक्त उद्देश्यों के आधार पर भारतीय शिक्षा की व्यवस्था की जाए तो निश्चय ही व्यक्ति समाज और देश का भला होगा तथा देश वर्तमानकाल समस्याओं को हल करने में सफल होगा।

2.9 शिक्षा के सामान्य उद्देश्य (General Aims of Education)

शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है, इसलिए शिक्षा के उद्देश्य भी समय और परिस्थिति के अनुसर बदलते रहते हैं। **पंडित नेहरू** के शब्दों में, **''शिक्षा को संतुलित मानव का विकास करना चाहिए और युवकों को समाज के लिए लाभप्रद कार्यों को करने तथा सामूहिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करना चाहिए। पर जब समाज में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन हो रहे हों तब बताना कठिन है कि युवकों को किस प्रकार तैयार किया जाए और शिक्षा के क्या उद्देश्य हों''** विभिन्न शिक्षा शास्त्रियों, दार्शनिकों, विचारकों और समाज सुधारकों द्वारा व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य बताए गये हैं, उनमें प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं–

2.9.1 ज्ञानार्जन का उद्देश्य (Knowledge Aims)

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानार्जन करना है। इनका कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के मस्तिष्क को इस योग्य बनाना है कि यह अपनी स्वाभाविक सीमाओं में यथासंभव अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त कर सके। इनके अनुसार ज्ञान की वृद्धि से ही व्यक्ति की उन्नति और विकास होता है और यह अपने जीवन में सुख एवं शांति प्राप्त करता है। यह ज्ञान के लिए ज्ञान (Knowledge for Knowledge Sake) का नारा लगाते हैं और बौद्धिक श्रेष्ठता प्राप्त करना ही पूर्ण और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना मानते हैं। इस उद्देश्य के प्रतिपादकों में **सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, दांते, कमेनियस** और **बेकन** आदि प्रमुख हैं। **सुकरात** (Socrates) के शब्दों में **'ज्ञान शक्ति है'** (Knowledge is power)। **अरस्तु** (Aristotle) के अनुसार **'ज्ञान पवित्रता है'** (Knowledge is Virtue)। **सोफिस्टों** के मत में **'ज्ञान प्रगति है'** (Knowledge is Progress)। इसके समर्थकों के अनुसार ज्ञान प्राप्त करना और प्राप्त किए हुए ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। **कमेनियस** ने कहा है कि आदर्श विद्यालय का प्रमुख कार्य दूसरों को ज्ञान प्रदान करना है। अत: शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालकों को विभिन्न विषयों का अधिक-से-अधिक ज्ञान दें। प्राचीन भारत में भी ज्ञान के संचय पर बहुत अधिक बल दिया जाता था और शिक्षक द्वारा बालकों को श्लोक आदि रटाये जाते थे। आज भी प्राचीन ढंग की ऐसी पाठशालाएँ और मकतब हैं जहाँ रहकर ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया जाता है। लेकिन यह ज्ञानार्जन का संकुचित अर्थ है। व्यापक अर्थ में ज्ञानार्जन का अर्थ मानसिक विकास अर्थात् मस्तिष्क की समस्या शक्तियों–विचार, कल्पना, तर्क तथा स्मरण आदि के विकास से है। ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करके ही व्यक्ति शिक्षा का वास्तविक उपयोग कर सकता है। **सुबोध अदावल** के अनुसार–''ज्ञानार्जन केवल आत्मसंतुष्टि तथा आत्मलाभ के लिए नहीं होना चाहिए। जो ज्ञान निरंतर समाज के संपर्क से अद्‌भूत हो ओर पुन: उसी के लाभ के लिए उसका प्रयोग हो, वही वास्तविक ज्ञान है।''

2.9.2 चरित्र विकास का उद्देश्य (Character Development Aim)

स्माइल ने कहा है कि **''चरित्र संसार की प्रेरणा शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति है।''** चरित्र से दृढ़ इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है, मानवीय गुणों का विकास होता है और शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति होती है। इसलिए अनेक

नोट

विद्वानों और शिक्षाशास्त्रियों ने चरित्र विकास को शिक्षा का उद्देश्य माना है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि **चरित्र विकास या नैतिक विकास ही शिक्षा का सबसे महान उद्देश्य है।** (The Sole aim of education is moral development)। **हरबर्ट** ने शिक्षा में चरित्र विकास या नैतिकता पर अत्यधिक बल दिया है। उसके शब्दों में, **''शिक्षा के संपूर्ण कार्य को एक ही शब्द में प्रकट किया जा सकता है और वह शब्द है नैतिकता।''**

चरित्र विकास या नैतिकता को शिक्षा का उद्देश्य मानने वाले विद्वानों का कहना है कि **शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास करना या ज्ञान अर्जन करना या आध्यात्मिक विकास करना नहीं है अपितु उत्तम चरित्र का निर्माण करना है।** उनका कहना है कि चरित्रवान व्यक्ति सद्गुणों का विकास करता है, अच्छा आचरण करता है और उच्चादर्शों तथा सिद्धांतों के अनुसार कार्य करता है। बिना चरित्र के मानव का विकास नहीं हो सकता। **डॉ. राधाकृष्णन** ने कहा है कि **मानव जीवन के समस्त कारणों और उसके पतन का एकमात्र कारण लोगों की चरित्र-हीनता है।** उनके शब्दों में, **''भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक सीमित रह गई है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का कोई समावेश नहीं है।''** अत: **शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्तियों में सद्विचार पैदा कर सके, नैतिक तथा चारित्रिक गुणों को पैदा कर सके और उनको आचरणशील बना सके। टी. रेमांट** (T. Raymont) ने इस विषय में लिखा है, **''शिक्षक का सर्वश्रेष्ठ कार्य अत्यधिक शारीरिक शक्ति बढ़ाना नहीं, ज्ञान की पूर्णता नहीं, भावना का परिमार्जन नहीं वरन् दृढ़ और पवित्र चरित्र का निर्माण करना है।''**

भारत में प्राचीनकाल से ही शिक्षा में चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जाता रहा है। भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली में गुरु शिष्य को मन, वचन और कर्म से पवित्र रहने की शिक्षा देता था, समय का अनुगमन करने के लिए प्रेरित करता था तथा आदर्शों के प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखने के लिए कहता था। आधुनिक काल में भी **स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर** और **महात्मा गाँधी** आदि शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के नैतिक और चरित्र विकास के उद्देश्य पर बल दिया है। एक बार **गाँधी जी** से यह पूछा गया कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय शिक्षा का क्या उद्देश्य होगा। **गाँधी जी** ने तुरंत उत्तर दिया **'चरित्र निर्माण'** मैं इस बात का प्रयत्न करूँगा कि विद्यार्थियों में सच्चाई, वीरता, साहस, त्याग और अपने आपको भूल जाने की योग्यता के भाव पैदा हो। **गाँधी जी** का विचार था कि ये सब बातें ही चरित्र विकास में सहायक होती हैं। उनका कहना था कि समाज के सदस्यों का चरित्र जितना ऊँचा होगा वह समाज उतना ही श्रेष्ठ और नैतिक रूप से शक्तिशाली होगा। **स्वामी विवेकानंद** ने चरित्र और नैतिकता के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है, **''यदि तुमने अपने सुंदर विचारों का संग्रह करके उन्हें अपने जीवन और चरित्र का आधार बनाया है तो तुम्हारे पास उन सभी लोगों से अधिक शिक्षा है जिन्होंने संपूर्ण पुस्तकालय को ही रटकर आत्मसात कर लिया है।''**

टास्क शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारक तत्वों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

2.9.3 शारीरिक विकास का उद्देश्य (Physical Development Aim)

सुखमय जीवन के लिए स्वस्थ शरीर बहुत आवश्यक है। **हॉल** (Hall) के शब्दों में, **''अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए। उसकी अवहेलना करने का आपको कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि ऐसा करके आप अपने और दूसरों के लिए भार बन जाते हैं।''** स्वस्थ शरीर के महत्त्व को देखते हुए ही बहुत से विद्वानों और शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा में शारीरिक विकास के उद्देश्य को महत्त्व दिया है। शिक्षा के शारीरिक विकास के उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो बालकों को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और बलवान बनाए। शिक्षा इस प्रकार का वातावरण प्रदान करे जिसमें बालकों की नैसर्गिक शक्तियों का विकास हो और उनके

नोट

विभिन्न शारीरिक अंगों को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर मिले। इसके लिए खेलकूद, व्यायाम आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। बालकों को शरीर रक्षा और स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराया जाना चाहिए और विभिन्न रोगों से बचने के उपयों का ज्ञान दिया जाना चाहिए।

भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली में बालकों के शारीरिक विकास पर विशेष बल दिया जाता था। इसके लिए संयम और ब्रह्मचर्य से रहने तथ नियमित जीवन व्यतीत करने के लिए कहा जाता था। स्पार्टा में तो शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शारीरिक विकास ही था। **प्लेटो** (Plato) ने अपनी शिक्षा योजना में शारीरिक शिक्षा को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। **रूसो** (Russoe) का भी कहना था कि बालक के लिए प्रारंभ से ही खेल-कूद और व्यायाम की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास हो सके और पूरी तरह से स्वस्थ हो जाए। आधुनिक युग में **पेस्टालॉजी, फ्रोबेल, हरबर्ट स्पेंसर, मांटेसरी** और **महात्मा गाँधी** आदि दार्शनिकों और शिक्षा शास्त्रियों ने भी बालक के शारीरिक विकास पर बल दिया है। **रैबल** ने तो यहाँ तक कहा है कि **''स्वास्थ्य के बिना जीवन, जीवन नहीं है। यह केवल स्फूर्तिहीनता और वेदना की दशा है, मृत्यु का प्रतिरूप है।''** अतएव प्राचीन काल से आज तक शिक्षा में बालक के शारीरिक विकास को महत्त्व दिया गया है।

2.9.4 आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य (Spiritual Development Aim)

आदर्शवादियों ने आध्यात्मिक विकास को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बतलाया है। उनका कहना है कि व्यक्ति के जीवन में भौतिक या सांसारिक सुख का कोई महत्त्व नहीं है। व्यक्ति का चरम लक्ष्य सांसारिक माया-मोह को छोड़कर परम सत्ता में आत्म-साक्षात्कार करना है। अतएव शिक्षा का कार्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होना चाहिए जिससे वह सांसारिक झंझटों से दूर रहकर आत्मानुभूति या आत्म-साक्षात्कार कर सके। इस उद्देश्य के विषय में **डॉ. राधाकृष्णन** का कहना है, **''शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय कुशलता है और न अंतर्राष्ट्रीय एकता, वरन् व्यक्ति को यह अनुभव करना है कि उसमें बुद्धि से बढ़कर भी कोई चीज है, जिसे यदि आप चाहें तो आत्मा कह सकते हैं।''** भारत में तो प्राचीन काल से ही शिक्षा का यह उद्देश्य रहा है। **प्लेटो** (Plato) और **अरस्तु** (Aristotle) ने भी इसी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना था। आज के भौतिकवादी युग में इसका महत्त्व कम हो गया है लेकिन फिर भी अनेक दार्शनिक और विचारक हैं जो इसे शिक्षा का अंतिम उद्देश्य स्वीकार करते हैं।

2.9.5 सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य (Cultural Development Aim)

अनेक विचारकों और शिक्षाशास्त्रियें ने सांस्कृतिक विकास को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बताया है। सांस्कृतिक उद्देश्य का अर्थ संस्कृति के **संरक्षण और प्रसार** से है। संस्कृति के अंतर्गत वह सब सामाजिक विरासत (Social Heritage) आती है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है। **सदरलैंड** और **वुडवर्थ** के शब्दों में, **''संस्कृति के अंतर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती हैं। किसी जनसमूह का ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, नियम या कानून तथा विचारों के आदान-प्रदान का ढंग ही उसकी संस्कृति है।''** संस्कृति का अर्थ अत्यंत व्यापक है। इसका संबंध मानव जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों से है। **टायलर** ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है, **''संस्कृति वह जटिल समस्या है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, नियम, रीति-रिवाज और इसी प्रकार की अन्य क्षमताएँ और आदतें सम्मिलित रहती हैं जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।''**

इस प्रकार इस उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि शिक्षा का प्रमुख कार्य सामाजिक विरासत के रूप में मिली हुई संस्कृति का संरक्षण और उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करना होना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को सभ्य, शिष्ट और सुसंस्कृत बनाए और उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक गुणों का विकास करे। शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए **ओटावे** (Ottaway) कहते हैं, **''शिक्षा का कार्य समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार प्रतिमानों को अपने युवक और शक्तिशाली सदस्यों**

नोट

को प्रदान करना है।'' गाँधी जी (Gandhi ji) ने भी इस उद्देश्य को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा था कि **''संस्कृति ही मानव जीवन की आधारशिला और मुख्य वस्तु है।''**

2.9.6 पूर्ण जीवन का उद्देश्य (Complete Living Aim)

पूर्ण जीवन के उद्देश्य के प्रतिपादक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री **हरबर्ट स्पेंसर** (Harbert Spencer) हैं। उनके अनुसार शिक्षा के द्वारा जीवन के सभी अंगों का विकास किया जाना चाहिए अर्थात् शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो व्यक्ति के सभी अंगों का समुचित विकास करके उसे पूर्णता की ओर ले जाए। इस प्रकार की शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है और उसे हर परिस्थिति में कार्य करने के लिए तैयार करता है। इस प्रकार की शिक्षा से व्यक्ति अपने भावी जीवन के लिए तैयार होता है और यह जानने में समर्थ होता है कि उनके अपने प्रति, पास पड़ोस के प्रति, समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य हैं। **हरबर्ट स्पेंसर** (Harbert Spencer) के अनुसार, **''शिक्षा को हमें पूर्ण जीवन के नियमों और ढंगों से परिचित कराना चाहिए। शिक्षा का अति महत्त्वपूर्ण कार्य हमें जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करना है कि हम उचित ढंग से व्यवहार कर सकें और शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सदुपयोग कर सकें।''**

स्पेंसर (Spencer) ने कहा है कि हमें केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं वरन् व्यापक रूप में जीवन व्यतीत करना है। इसलिए सामान्य समस्या यह है कि सब परिस्थितियों और सब क्रियाओं में आचरण पर उचित नियंत्रण रखा जाए। स्पेंसर की शिक्षा सभी परिस्थितियों में जीवन की सभी क्रियाओं को सफलतापूर्वक करने के लिए पूरी तरह से तैयार करती है। **स्पेंसर** (Spencer) ने जीवन की सभी क्रियाओं को पाँच भागों में विभाजित किया है और इन्हीं क्रियाओं के अनुरूप पाठ्य-विषयों का निर्धारण किया है। ये क्रियाएँ और पाठ्य-विषय निम्न प्रकार हैं–

क्रियाएँ (Activites)	*पाठ्य-विषय (Subjects of Study)*
1. आत्म-रक्षा की क्रियाएँ–	शरीर विज्ञान (Physiology)
2. जीवन को परोक्ष रूप से सुरक्षित रखने की क्रियाएँ	स्वास्थ्य विज्ञान (Hygiene), भाषा (Language), गणित (Maths)
3. संतान की रक्षा संबंधी क्रियाएँ	बाल मनोविज्ञान (Child Psychology), गृह विज्ञान (Domestic Science), इतिहास (History)
4. समाज रक्षा संबंधी–	राजनीति (Politics), समाजशास्त्र (Sociology) कला (Art), कविता (Poetry), साहित्य (Literature), संगीत (Music)

स्पेंसर (Spencer) ने इन क्रियाओं का जिस क्रम से उल्लेख किया है उसी क्रम से जीवन में उनका महत्त्व भी बतलाया है। अर्थात् व्यक्ति को सबसे पहले आत्मरक्षा की क्रिया में दक्ष होना चाहिए, फिर जीविकोपार्जन में, फिर वंश वृद्धि तथा शिशु रक्षा में, फिर सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों में और फिर अवकाश काल की क्रियाओं में दक्ष होना चाहिए। इस प्रकार **स्पेंसर** ने साहित्य और कला की अपेक्षा **शरीर विज्ञान** और **पदार्थ विज्ञान** पर अधिक बल दिया है।

2.9.7 समविकास का उद्देश्य (Harmonious Development Aim)

समविकास का अर्थ व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, कलात्मक, संवेगात्मक तथा नैतिक शक्तियों का विकास है। **पेस्टालॉजी, रूसो** आदि दार्शनिकों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य समविकास होना चाहिए अर्थात् शिक्षा द्वारा व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, कलात्मक, संवेगात्मक तथा नैतिक शक्तियों का समान रूप से विकास होना

नोट

चाहिए। समविकास का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। इन मूल प्रवृत्तियों का समविकास होना चाहिए तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व का संतुलित विकास हो सकता है। अत: शिक्षा की व्यवस्था इस ढंग से की जानी चाहिए कि व्यक्ति का केवल शारीरिक या मानसिक या क्रियात्मक विकास ही न हो वरन् उसकी सभी जन्मजात शक्तियों का समान रूप से विकास हो। **पेस्टालॉजी** (Pestalozzi) के शब्दों में, **''शिक्षा व्यक्ति की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक सुंतलित और प्रगतिशील विकास है।''**

व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए व्यक्ति का शारीरिक रूप से स्वस्थ होना, मानसिक रूप से बौद्धिक होना, आध्यात्मिक और धार्मिक रूप से नैतिक तथा चरित्रवान होना, भावात्मक रूप से संवेगात्मक, दृष्टि से स्थिर (Emotionaly stable) होना और कलात्मक रूप से अभिरुचि संपन्न होना आवश्यक है। किसी एक शक्ति के अभाव में भी व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ जाएगा और उसका समविकास नहीं हो सकेगा। **गाँधी जी** (Gandhi ji) ने शरीर, वृद्धि और आत्मा तीनों के संतुलित विकास पर बल देते हुए कहा है कि, **''शरीर, बुद्धि और आत्मा तीनों का सामंजस्य सम्मिश्रणपूर्ण विकास व्यक्ति के निर्माण के लिए आवश्यक है और यह शिक्षा की सच्ची शक्ति का आधार है।''**

2.9.8 जीविकोपार्जन का उद्देश्य (Vocational Aim)

'जीविकोपार्जन' शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इसे शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य भी कहा जाता है। इस उद्देश्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह कोई न कोई व्यवसाय अपनाकर अपना जीविकोपार्जन कर सके। इस उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि व्यक्ति के जीवन में आजीविका कमाने की समस्या सबसे अधिक जटिल, सबसे अधिक गंभीर और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उसको हल करने के लिए वह शिक्षा प्राप्त करता है। इसलिए शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़ा कर सके अर्थात् शिक्षा द्वारा किसी व्यवसाय को सीखकर वह अपना और अपने आश्रितों का पालन पोषण कर सके। **डॉ. जाकिर हुसैन** ने जीविकोपार्जन के उद्देश्य पर बल देते हुए कहा है, **''राज्य का सर्वप्रथम उद्देश्य होगा कि वह अपने नागरिकों को जीविकोपार्जन हेतु समाज के किसी निश्चित कार्य के लिए शिक्षित करे।''**

आज के भौतिकवादी युग में आर्थिक उन्नति को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है। हर चीज का मापदंड धन को माना जाता है। इसलिए आज लोगों के सामने अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की समस्या है। यदि शिक्षा इनको पूरा करने में असमर्थ है तो उसका उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। आज लोगों की यह धारणा है कि जो शिक्षा बालकों को किसी व्यवसाय के लिए तैयार नहीं करती, वह व्यर्थ है। **गाँधी जी** ने शिक्षा के इस उद्देश्य के समर्थन करते हुए कहा है, **''सच्ची शिक्षा के द्वारा बालकों को बेरोजगारी से एक प्रकार की सुरक्षा मिलनी चाहिए।'' गाँधी जी** का कहना था कि हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसे प्राप्त कर व्यक्ति किसी-न-किसी कार्य को कर सके, उसमें व्यावसायिक कुशलता आ सके और वह बेरोजगार न रहे। आज सभी माता-पिता अपने बालकों को विद्यालय में इसीलिए भेजते हैं कि शिक्षा प्राप्त करके वे किसी नौकरी में आ जाएँ या किसी व्यवसाय को अपना ले जिससे वे अपना पालन-पोषण कर सकें। इसके महत्त्व के विषय में **हार्टशोर्न** लिखते हैं कि **''व्यावसायिक शिक्षा अथवा जीविकोपार्जन की शिक्षा सबसे अधिक प्रभावशाली शिक्षा है। इसके अभाव में वे लोग जीवन भर कष्ट भोगते हैं जो केवल विद्यालय ही जाते हैं।''**

जीविकोपार्जन के उद्देश्य के पक्ष में तर्क (Arguments for the Vocational Aim)

1. किसी व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त करके व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है और दूसरों के अधीन नहीं रहता। उसके आत्म-निर्भर होने से उसका और समाज का दोनों का लाभ होता है।
2. जीविकोपार्जन का उद्देश्य व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायता करके उसे अनुचित और समाज विरोधी कार्य करने से बचाना है। **ड्यूई** (Dewey) ने कहा है, **''यदि एक व्यक्ति अपनी**

नोट

जीविका नहीं कमा सकता तो यह गंभीर भय है कि वह अपने चरित्र का पतन करे और दूसरों को हानि पहुँचाए।''

3. शिक्षा के इस उद्देश्य से बेरोजगारी की समस्या का समाधान होता है।
4. जीविकोपार्जन का उद्देश्य व्यक्ति को एक व्यवसाय के लिए तैयार करके उसे निराश और लक्ष्यहीन होने से बचाना है।
5. व्यावसायिक उद्देश्य से दी गई शिक्षा द्वारा ही समाज और राष्ट्र के समय, धन और शक्ति का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है।
6. व्यावसायिक शिक्षा बालकों की रुचियों को आकर्षित करके और उनकी योग्यताओं को विकसित करके उन्हें सामाजिक कुशलता के लिए तैयार करती है।
7. शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य समाज और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति एवं समृद्धि में बहुत सहायक होता है।

जीविकोपार्जन के उद्देश्य में विपक्ष में तर्क (Arguments against the Vocational Aim)

1. जीविकोपार्जन के उद्देश्य से व्यक्ति को भौतिक सुख तो मिल सकता है लेकिन वास्तविक सुख और आत्मिक शांति नहीं मिल सकती।
2. शिक्षा का यह उद्देश्य अपूर्ण और संकुचित है क्योंकि यह केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर बल देता है।
3. इस उद्देश्य से व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता क्योंकि इसमें व्यक्ति के बौद्धिक, संवेगात्मक और सामाजिक विकास पर बल नहीं दिया जाता।
4. इस उद्देश्य से व्यक्ति अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य केवल धन प्राप्त करना ही बना लेता है और इसे प्राप्त करने के लिए वह नैतिक और अनैतिक, उचित और अनुचित सभी प्रकार के कार्य करता है। चोरी, बेईमानी, झूठ, कालाबाजारी आदि करने में उसे कोई हिचक नहीं होती।
5. इस उद्देश्य से व्यक्तियों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। **प्लेटो** (Plato) के शब्दों में, **''वह शिक्षा अनुदार है जिसका उद्देश्य बुद्धि और न्याय की ओर ध्यान न देकर केवल धन या शारीरिक बल की प्राप्ति है।''**
6. जीविकोपार्जन के उद्देश्य से व्यक्ति का जीवन नीरस और गतिहीन हो जाता है। संगीत, कला, काव्य और साहित्य में उसकी रुचि नहीं रहती।
7. जीविकोपार्जन को शिक्षा का उद्देश्य मान लेने पर शिक्षा स्वयं साध्य न होकर साधन बन जाती है और शिक्षा को साधन मान लेना शिक्षा के महत्त्व को समाप्त करना है।

जीविकोपार्जन के उद्देश्य के पक्ष और विपक्ष के तर्कों के आधार पर निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि केवल जीविकोपार्जन को ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं माना जा सकता क्योंकि जीविकोपार्जन के अतिरिक्त जीवन के और भी कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य और आदर्श हैं। **बी. डी. भाटिया** के शब्दों में, **''कोरा व्यावसायिक प्रशिक्षण जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को आवश्यक रूप से संकुचित बना देता है। यह उद्देश्य व्यक्ति को एक अच्छा यांत्रिक, अच्छा चिकित्सक, अच्छा एडवोकेट, अच्छा कारीगर, अच्छा बिजली का मैकेनिक बना सकता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह अच्छा आदमी भी बना दे।''**

इस प्रकार जीविकोपार्जन के उद्देश्य को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता। लेकिन आज के युग में शिक्षा में इसके महत्त्व से इंकार भी नहीं किया जा सकता। अत: **स्पेंसर रिपोर्ट** का यह कथन पूर्णतया सत्य प्रतीत होता है कि **''व्यवसाय के लिए तैयार करना हमारी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है।''**

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

नोट

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. व्यक्ति के चरित्र का सीधा प्रभाव समाज और राष्ट्र पर पड़ता है।
8. हमारी शिक्षा का उद्देश्य बालकों में अंतर-सांस्कृतिक भावना का विकास करना होना चाहिए।
9. स्माइल ने कहा है कि, ''चरित्र संसार की प्रेरणा शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति है।''
10. शिक्षा व्यक्ति की जन्मजात शक्तियों का अस्वाभाविक असंतुलित और प्रगतिशील विकास है।

2.10 शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य (Individual Aim of Education)

शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ यह है कि शिक्षा द्वारा व्यक्तिगत शक्तियों, योग्यताओं और क्षमताओं का विकास किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य के अनुसार शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए जिससे व्यक्ति के जन्मजात गुणों का वैयक्तिक विकास हो सके और उसमें इन गुणों के प्रयोग करने की क्षमता पैदा हो सके। यह उद्देश्य मूलत: व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना चाहता है। इसके अनुसार शिक्षा को ऐसा पर्यावरण प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यताओं का स्वतंत्र विकास कर सके और अपने जीवन को अधिक सफल और समुन्नत बना सके। शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्ति की वैयक्तिक भिन्नताओं पर बल देता है। इस उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि व्यक्ति को अपनी योग्यताओं, क्षमताओं, रुचियों, अभिरुचियों और आवश्यकताओं के अनुसार विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। माता-पिता, शिक्षक, समाज और राज्य को उनके स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए वरन् शिक्षा की योजना इस प्रकार से बनानी चाहिए जिससे उसके गुणों का स्वाभाविक विकास हो सके। जिस व्यक्ति की रुचि कला और संगीत में है, उसे ऐसी ही शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे उसकी योग्यताएँ पनप सकें और वह अपने क्षेत्र में निपुण हो जाए। ऐसे व्यक्ति को इंजीनियर बनाना, डॉक्टर बनाना या क्लर्क बनाना उसके प्रति अन्याय करना है। अत: शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना है जिसमें व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी योग्यताओं और शक्तियों का पूर्ण विकास कर सके।

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य कोई नया नहीं है। इस पर प्राचीन काल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप से विचार होता आया है। प्राचीन काल में ग्रीस, भारत और अन्य पाश्चात्य देशों में इस उद्देश्य पर बल दिया गया था और व्यक्तित्व के विकास को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया था। आधुनिक काल में जब से मनोविज्ञान को शिक्षा में प्रमुख स्थान मिला है तब से इस उद्देश्य पर और भी अधिक बल दिया जाने लगा है। वर्तमान युग में **रूसो, पेस्टालॉजी, फ्रोबिल, टी. पी. नन** (T. P. Nunn) आदि दार्शनिकों और शिक्षाशास्त्रियों ने इस उद्देश्य को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इन दार्शनिकों ने व्यक्तित्व के विकास पर विशेष बल दिया है और कहा है कि शिक्षा की व्यवस्था व्यक्ति के अनुरूप होनी चाहिए। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों रूसो का कहना था कि बालक को ऐसी परिस्थिति और वातावरण में रखना चाहिए जिसमें उसके व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास हो सके। **पेस्टालॉजी** (Pestalozzi) ने बालक की समस्त नैसर्गिक शक्तियों के पूर्ण एवं विरोधहीन विकास पर बल दिया। **थॉमसन** (Thomson) ने कहा कि शिक्षा व्यक्ति के लिए होती है और उसका कार्य व्यक्ति को जीवित रहने तथा संपूर्ण जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना है। **बर्ट्रेण्ड रसल** (Bertrand Russel) के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा नागरिक की शिक्षा से कहीं अधिक उत्तम और श्रेष्ठ है। शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का समर्थन करने वाले विद्वानों में **टी. पी. नन** (T. P. Nunn) का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने वैयक्तिक उद्देश्य को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा है, **''शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जानी चाहिए जिनके अंतर्गत वैयक्तिकता का पूर्ण विकास हो सके और व्यक्ति मानव जीवन को अपना मौलिक योगदान दे सके।''**

इस उद्देश्य के समर्थकों का कहना है कि परिवार, विद्यालय, समाज और राष्ट्र आदि सभी व्यक्ति के विकास के साधन हैं। इन सभी संस्थाओं का उद्देश्य व्यक्ति की वैयक्तिकता का विकास करना है। अत: शिक्षा का उद्देश्य

नोट

भी ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना होना चाहिए जिसमें रहकर बालक अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। **रॉस** ने शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, **''शिक्षा में वैयक्तिक उद्देश्य का जो अर्थ हम स्वीकार करते हैं, वह यही है कि मूल्यवान व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक वैयक्तिकता का विकास हो।'' यूक्रेन** ने भी शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का समर्थन किया है, लेकिन उसने वैयक्तिकता को जैवकीय अर्थ न देकर आध्यात्मिक अर्थ दिया है। उसके शब्दों में, **''हमारे जीवन का मुख्य कार्य अपने सच्चे स्वरूप को विकसित करना और व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के परिवर्द्धन में इस स्वरूप को निखारना होता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने सत्यपूर्ण व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के निर्माण का कार्य जीवन भर होता है।'' रॉस** ने यूक्रेन के इस मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जीवन की भाँति शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का उन्नयन है।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि इस मानव समाज में जो कुछ विचार और वस्तुएँ हैं वे सब व्यक्ति की उपज हैं व्यक्ति ने उनका निर्माण किया है, अत: व्यक्ति को शिक्षित किया जाना चाहिए, उसकी योग्यताओं और क्षमताओं को पनपने के भरसक अवसर दिये जाने चाहिए, तभी वह श्रेष्ठ विचार और श्रेष्ठ वस्तु समाज को दे सकेगा। उनका कहना है कि समाज का विकास भी व्यक्ति के विकास पर अवलंबित है। यदि व्यक्ति विकास करता है तो पूरे समाज को लाभ होता है और समाज का भी विकास होता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना होना चाहिए।

वैयक्तिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क (Arguments for Individual Aim)

1. जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजत्व होता है और इसके कारण वह दूसरों से अलग होता है, इसलिए शिक्षा द्वारा उसके निजत्व को बनाए रखना चाहिए।
2. आज के युग में मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विभिन्न बालकों में केवल, रंग, वजन, ऊँचाई आदि में ही भिन्नता नहीं होती वरन् उनकी बुद्धि, संवेगों आदि में भी अंतर पाया जाता है। इसलिए प्रत्येक बालक को उसकी बुद्धि, संवेगों आदि के अनुसार ही शिक्षा मिलनी चाहिए।
3. समाज की उन्नति व्यक्ति की उन्नति पर निर्भर है, अत: शिक्षा द्वारा व्यक्ति की उन्नति अर्थात् उसके व्यक्तित्व का विकास किया जाना चाहिए; तभी समाज की उन्नति और विकास संभव है।
4. इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन किया गया तब-तब व्यक्ति ने विद्रोह किया। इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन नहीं किया जाना चाहिए वरन् उसे अभिव्यक्ति के पूर्ण अवसर दिए जाने चाहिए।
5. व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर ही समाज का सांस्कृतिक उत्थान निर्भर करता है। अत: व्यक्ति का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। **सुबोध अदावल** के शब्दों में, **''सामूहिक शिक्षा के कारण न जाने कितने कवि और कलाकार अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही कुंठित अथवा नष्ट हो जाते हैं। बालक का निजत्व ही उसका जीवन है और यदि वही नष्ट हो गया तो उसका संपूर्ण जीवन केवल यंत्रवत् रह जाएगा। शिक्षा द्वारा बालक के अंतर्निहित गुणों के विकास पर ही समाज का सांस्कृतिक उन्नयन निर्भर करता है।''**
6. प्रजातंत्र में व्यक्ति का महत्त्व होता है और उसे अपना स्वतंत्र विकास करने का अवसर प्राप्त होता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास होना चाहिए।
7. यदि बालक के स्वतंत्र विकास के लिए उसे अवसर नहीं दिए जाते तो उसमें अनेक मानसिक ग्रंथियाँ बन जाती हैं, हीनता की भावना पैदा हो जाती है और उसका व्यवहार असामाजिक बन जाता है। अत: शिक्षा द्वारा बालक को स्वतंत्र विकास के अवसर दिए जाने चाहिए।

इंग्लैंड के शिक्षा बोर्ड ने वैयक्तिक उद्देश्य को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा है कि **''हर प्रकार से विद्यालय उस सीमा तक अपना उचित उद्देश्य पूर्ण करते हैं जिस सीमा तक वे वैयक्तिकता की स्वतंत्र अभिवृद्धि के लिए अवसर प्रदान करते हैं और प्रत्येक बालक व बालिका को सामाजिक जीवन द्वारा अधिक-से-अधिक मात्रा में वैयक्तिक विकास करने में सहायता देते हैं।'' टी. पी. नन** (T. P. Nunn) ने

नोट

वैयक्तिकता को जीवन का आदर्श बतलाते हुए कहा है कि **''वैयक्तिकता जीवन का आदर्श है। शिक्षा की किसी भी योजना का महत्त्व उसी उच्चतम वैयक्तिक श्रेष्ठता का विकास करने की सफलता से आँका जाना चाहिए।''**

वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क (Arguments against Individual Aim)

1. शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा प्रदान करने से व्यक्ति का महत्त्व बढ़ जाएगा और समाज का महत्त्व घट जाएगा। व्यक्ति को समाज से अधिक महत्त्व देना समाज के लिए अहितकर है क्योंकि इससे व्यक्ति में अहंकार की भावना पैदा हो जाती है और उसे समाज विरोधी कार्य करने में कोई संकोच नहीं होता। ऐसी शिक्षा प्राप्त करके वह हिटलर, मुसोलिनी और याहिया खाँ बन सकता है।
2. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह अपनी पाशविक प्रवृत्तियों से ऊँचा उठता और अपना विकास करता है जैसा कि **बेयर्ड** (Baird) ने कहा है कि **''मनुष्य सामाजिक जीवन को अपना समर्पण करके ही अपनी पाशविक प्रवृत्ति से ऊँचा उठता है।''** अत: सामाजिक विकास के बिना केवल वैयक्तिक विकास की बात सोचना व्यर्थ है।
3. वैयक्तिक उद्देश्य के समर्थक पर्यावरण की उपेक्षा करते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण का विशेष महत्त्व है। **लैंडिस और लैंडिस** (Landis and Landis) के अनुसार, **''वंश परंपरा मनुष्य के पशु रूप की व्याख्या करती है और पर्यावरण मनुष्य के मानव रूप की।''** सामाजिक पर्यावरण की उपेक्षा करके बालक के विकास की बात नहीं सोची जा सकती। **रॉस** (Ross) ने ठीक ही कहा है, **''सामाजिक पर्यावरण से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है और व्यक्तित्व अर्थहीन शब्द है, क्योंकि इसी ने इनको विकसित और कुशल बनाया है।''**
4. वैयक्तिक उद्देश्य बालक के विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता देने की बात करता है लेकिन पूर्ण स्वतंत्रता देने पर बालक मानमानी कर सकता है और स्वेच्छाचारी तथा उच्छृंखल बन सकता है तथा समाज विरोधी कार्यों में प्रवृत्त हो सकता है।
5. वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा देने से बालक में सामाजिकता की भावना का लोप हो जाता है। वह स्वार्थी हो जाता है। अपना हित ही उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ओर वह समाज हित की ओर कोई ध्यान नहीं देता।
6. इस उद्देश्य से सत्य, प्रेम, दया, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा आदि नैतिक गुणों की उपेक्षा होती है क्योंकि इसमें व्यक्ति अपने हित के लिए ही और अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए ही कार्यरत रहता है।
7. यह उद्देश्य समाजवाद का शत्रु है, क्योंकि वह व्यक्तिवाद का घोर समर्थक है और व्यक्ति के विकास के लिए सब तरह की स्वतंत्रता देने में विश्वास करता है।
8. शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य अव्याहारिक है। सिद्धांत रूप में उसे भले ही ठीक मान लिया जाए पर उसे वास्तविक जीवन में अपनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। वैयक्तिक विभिन्नताओं के अनुरूप सब बालकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना बड़ा कठिन है। प्रत्येक बालक के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण करना, शिक्षकों की नियुक्ति करना आदि संभव नहीं है।

शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के पक्ष और विपक्ष के तर्कों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति के विकास की दृष्टि से यह उद्देश्य उत्तम उद्देश्य है चूँकि यह उद्देश्य समाज की अवहेलना करता है, इसलिए यह अपूर्ण और एकाकी है। समाज की अवहेलना करके व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता, यह परम सत्य है।

2.11 शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य (Social Aim of Education)

सामाजिक उद्देश्य का अर्थ व्यक्ति में सामाजिकता की भावना उत्पन्न करना है। जिस प्रकार शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास पर बल देना है, उसी प्रकार शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य सामाजिकता अथवा नागरिकता के विकास पर बल देना है। इस उद्देश्य का प्रतिपादन और समर्थन करने वाले दार्शनिकों और विचारकों

नोट

का कहना है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज से परे उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह समाज में ही पैदा होता है, उसी में रहता है, उसी में अपनी योग्यताओं का विकास करता है, और उसी में अपना और अपने परिवार का जीविकोपार्जन करता है। **रेमांट** (Raymont) ने कहा है कि **''निस्समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है** (An isolated individual is bigment of the imagination)। इस प्रकार व्यक्ति का जीवन समाज का दिया हुआ है। समाज की उन्नति उसकी उन्नति है और समाज की क्षति उसकी क्षति है। अत: व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह तन-मन-धन से समाज की उन्नति और विकास के लिए कार्य करे। वह कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे समाज को हानि या क्षति पहुँचने की संभावना हो। इस दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ऐसी योग्यता और क्षमता उत्पन्न करना होना चाहिए जिससे वह समाज की भलाई कर सके, समाज के हितों के लिए अपने हितों को त्याग की अग्नि में जला सके और समाज के दूसरे सदस्यों के साथ प्रेम, सहयोग व बंधुत्व के साथ रह सके। शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए जिससे समाज की आवश्यकताओं और आदर्शों की पूर्ति हो सके और व्यक्ति को समाज का एक आदर्श सामाजिक प्राणी बनाया जा सके। **लिस्टर स्मिथ** (Lister Smith) के शब्दों में, **''विद्यालय को व्यापक कार्य करने चाहिए। उसे निश्चित रूप से सामाजिक दायित्व और समाज के प्रति भक्ति का निर्माण और विकास करना चाहिए।''**

प्रो. बागले (Bagley) और **ड्यूई** (Dewey) ने सामाजिक उद्देश्य का अर्थ सामाजिक कुशलता (Social Efficiency) को बताया है अर्थात् शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक रूप से कुशल बनाया जाना चाहिए। **प्रो. बागले** के अनुसार, **''सामाजिक कुशलता वह आदर्श है जिसके द्वारा शैक्षिक प्रयोगों का परिणाम नापा जाना चाहिए।''** इस प्रकार **प्रो. बागले** के मत में नागरिकों में सामाजिक कुशलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा को ही सार्थक शिक्षा कहा जाएगा। **प्रो. बागले** ने सामाजिक रूप से कुशल व्यक्ति की तीन विशेषताएँ बतायी हैं–

1. **आर्थिक कुशलता** (Economic Efficiency)–आर्थिक कुशलता से तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी योग्यता या क्षमता से है जिसके द्वारा वह अपने और अपने आश्रित व्यक्तियों का जीविकोपार्जन कर सके।
2. **निषेधात्मक नैतिकता** (Negative Morality)–निषेधात्मक नैतिकता से तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति की इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति दूसरे लोगों की आर्थिक कुशलता में बाधा डाले तो वह उन इच्छाओं और आकांक्षाओं का त्याग कर दे।
3. **विधायक नैतिकता** (Positive Morality)–विधायक नैतिकता से तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति से समाज का उत्थान और विकास न कर सके तो उसे उन इच्छाओं और आकांक्षाओं को त्याग देना चाहिए।

ड्यूई (Dewey) ने सामाजिक कुशलता को और भी व्यापक रूप दिया है। उसने व्यक्ति द्वारा सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने की क्षमता को सामाजिक कुशलता बतलाया है। उसके शब्दों में, **''सबसे व्यापक रूप में सामाजिक कुशलता व्यक्ति में सामाजिक कल्याण की भावना का संचार करने और अपने व दूसरों के हितों को अलग-अलग रखने की भावना को नष्ट करने की प्रवृत्ति है।''** इस प्रकार **ड्यूई** (Dewey) के अनुसार विद्यालय को सामाजिक जीवन का अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उसके अनुसार सामाजिक कुशलता में निम्नलिखित 7 उद्देश्य निहित रहते हैं–

1. स्वास्थ्य (Health),
2. मौलिक क्रियाओं को आज्ञा देना (Command to fundamental process),
3. परिवार की योग्य सदस्यता (Worthy home membership),
4. व्यवसाय (Vocation),
5. नागरिकता (Citizenship),
6. अवकाश का उचित उपयोग (Worthy use of leisure time),
7. नैतिक चरित्र (Ethical character)

नोट

सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क (Arguments for Social Aim)

1. व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ संबंध है। यह दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। समाज के हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। व्यक्ति और समाज एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। **रॉस** (Ross) कहते हैं, **''जिस सामाजिक पर्यावरण में व्यक्ति की वैयक्तिकता का विकास होता है उसके प्रथम होने पर इसका कोई मूल्य नहीं रह जाता और उसका व्यक्तित्व निरर्थक हो जाता है।''**
2. व्यक्ति कुछ पाशविक प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। इन प्रवृत्तियों का शोधन और मार्गांतीकरण, समाज में ही होता है। अच्छे सामाजिक पर्यावरण के अभाव में मनुष्य पशु ही बना रहेगा। अत: शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है।
3. समाज का हित और कल्याण तभी संभव है जब उसके सदस्य, प्रेम, सहयोग, सहकारिता, बंधुत्त्व आदि सामाजिक गुणों से पूर्ण हों। इन गुणों के विकास के लिए शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य का स्वीकार किया जाना आवश्यक है।
4. व्यक्ति का संपूर्ण जीवन समाज पर अवलंबित है। वह समाज में ही जन्म लेता है, बड़ा होता है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करके अपने परिवार का पालन-पोषण करता है, विचारों को आदान-प्रदान करता है, योग्ताओं और क्षमताओं का विकास करता है, इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करता है तथा समाज की चतुर्मुखी उन्नति में अपना योगदान देता है। अत: शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अधिक तर्क संगत, न्यायसंगत और उपयुक्त है।
5. किसी भी शासन की सफलता उसके नागरिकों पर निर्भर करती है। अत: नागरिकों का आदर्श नागरिकता के गुणों से और समाज सेवा तथा देश-प्रेम की भावना से परिपूर्ण होना आवश्यक है। इसलिए विद्यालयों में सामाजिक उद्देश्य के आधार पर ही बालकों को शिक्षा दी जानी चाहिए। **रॉस** (Ross) के शब्दों में, **''विद्यालयों को अपने नागरिकों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों पर बल देना चाहिए। उन्हें अपने विद्यार्थियों को आनंदमय, स्वेच्छिक और प्रभावपूर्ण सेवाभाव की शिक्षा देनी चाहिए।''**
6. समाज में ही सभ्यता तथा संस्कृति का जन्म, रक्षण तथा पोषण होता है इसलिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए कि भावी पीढ़ी को इसका पूर्ण ज्ञान हो सके। इस दृष्टि से शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।
7. व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक विकास आवश्यक है। **बाल्डविन** (Boldwin) के शब्दों में, **''व्यक्तित्व को सामाजिक शब्दों के अतिरिक्त और किसी प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता।''** इसलिए सामाजिक उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क (Arguments against the Social Aim)

1. शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य एकपक्षीय और एकांगी है क्योंकि यह व्यक्ति के सामाजिक विकास पर अधिक बल देता है। इससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता।
2. शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं है क्योंकि इसमें बालक की वैयक्तिक विभिन्नताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अनुसार बालकों की योग्यताओं, क्षमताओं, रुचियों, अभिरुचियों आदि पर ध्यान न देकर सबको एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है।
3. सामाजिक उद्देश्य के अनुसार शिक्षा प्रदान करने से व्यक्ति का वैयक्तिक विकास भली प्रकार से नहीं हो पाता। जिससे विज्ञान, साहित्य, संगीत आदि की प्रगति में बाधा पड़ती है।
4. इस उद्देश्य के अंतर्गत व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में स्वतंत्र रूप से चिंतन करने, अभिव्यक्ति करने तथा कार्य करने की योग्यता विकसित नहीं हो पाती और उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है।
5. इस उद्देश्य में व्यक्ति के सामाजिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है, इसलिए उसके मानसिक, चारित्रिक, संवेगात्मक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा होती है।

नोट

6. यह उद्देश्य बालकों में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करता है। इसके अनुसार शिक्षा प्राप्त करके बालक अपने समाज और राष्ट्र को ही सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान मानते हैं और दूसरे समाजों तथा राष्ट्रों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस भावना से अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना पैदा होने में बाधा पड़ती है और महायुद्धों की संभावना बढ़ती है।
7. समाज व्यक्ति के ऊपर, यह धारणा काल्पनिक है। समाज के विकास के लिए व्यक्ति का विकास आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति में सामाजिक कुशलता पैदा करने के लिए उसकी वैयक्तिकता का विकास किया जाना चाहिए इसलिए शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अधूरा है।

सामाजिक उद्देश्य के पक्ष और विपक्ष के तर्कों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक उद्देश्य अपने में अनेक गुण समेटे हुए भी पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। बालक का केवल सामाजिक विकास शिक्षा का उद्देश्य नहीं हो सकता। सामाजिक उद्देश्य के साथ-साथ व्यक्तित्व के विकास को भी महत्त्व देना होगा।

2.12 शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय (Synthesis between Individual and Social Aims of Education)

शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों के विषय में विद्वानों में भारी मतभेद हैं। वैयक्तिक उद्देश्य के समर्थक अपनी शिक्षा योजना में व्यक्ति को प्रमुख स्थान देते हैं और उसके व्यक्तित्व के विकास को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसके विपरीत सामाजिक उद्देश्य के समर्थक अपनी शिक्षा योजना में समाज को प्रमुख स्थान देते हैं और समाज की भलाई के लिए व्यक्ति द्वारा सब कुछ अर्पित करने पर बल देते हैं। इस प्रकार दोनों विचारधाराओं के समर्थक व्यक्ति और समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। वस्तुत: व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं। न समाज-विहीन व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है और न व्यक्तिविहीन समाज की। एक के अभाव में दूसरे के जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों ही अपने विकास और उन्नति के लिए एक-दूसरे पर निर्भर हैं। **मैकाइवर** (Maciver) ने लिखा है कि **''समाजीकरण और वैयक्तीकरण एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं।**

व्यक्ति और समाज एक-दूसरे पर निर्भर हैं। व्यक्ति जो कुछ सीखता है वह समाज में रहकर सीखता है। समाज द्वारा ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, समाज में ही उसकी रुचियों और अभिरुचियों का विकास होता है और समाज ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित वातावरण प्रस्तुत करता है। अत: व्यक्ति कभी भी समाज की अवहेलना नहीं कर सकता। समाज में रहकर ही उसका जीवन सफल और सार्थक होता है। जिस प्रकार व्यक्ति समाज की अवहेलना नहीं कर सकता उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति की अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि समाज तो व्यक्तियों का ही समूह है। व्यक्ति के विकास से ही समाज का विकास होता है। **टी. पी. नन** (T. P. Nunn) ने व्यक्ति के लिए समाज के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है, **''वैयक्तिकता का विकास केवल सामाजिक वातावरण में होता है जहाँ सामान्य रुचियों और सामान्य क्रियाओं से उसे भोजन प्राप्त होता है।''**

व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ संबंध को देखकर सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा के **वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं।** दोनों उद्देश्यों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जहाँ एक सत्य है कि वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों में से किसी को शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता, वहाँ यह भी सत्य है कि दोनों में से किसी को छोड़ा भी नहीं जा सकता। एक की उपेक्षा करने पर दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। अत: वैयक्तिक और सामाजिक दोनों उद्देश्यों के समन्वित रूप को ही शिक्षा का उद्देश्य माना जाना चाहिए। न तो हमें व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता देनी चाहिए जिससे वह अहंकारी, दंभी, स्वार्थी और स्वेच्छाचारी बनकर समाज की अवहेलना करने लगे और न ही हमें समाज को इतना शक्तिशाली बनाना चाहिए कि वह व्यक्ति का शोषण और उसके अधिकारों का हनन करने लगे। वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों का समन्वय इस प्रकार किया जाना चाहिए कि व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई हो सके। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उस

नोट

सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ तक समाज की भलाई हो सके और सामाजिकता का विकास भी उस सीमा तक किया जाना चाहिए, जहाँ तक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिले। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई करना होना चाहिए। **रेमांट** (Raymont) ने ठीक ही कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य, **''व्यक्ति की पूर्णता और समाज का कल्याण''** (The perfection of the individual and the good of the community) होना चाहिए।

2.13 सारांश (Summary)

शिक्षा के उद्देश्य, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। विभिन्न कालों में विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा का उद्देश्य वीर, हृष्ट-पुष्ट, आज्ञाकारी, अनुशासित सिपाही और देशभक्त नागरिक उत्पन्न करना था क्योंकि उनकी विचारधारा थी, ''प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए नहीं वरन् राष्ट्र के लिए पैदा होता है।'' एथेंस की विचारधारा स्पार्टा से भिन्न थी। एथेंसवासी व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को महत्त्व देते थे, इसलिए उनकी शिक्षा का उद्देश्य देशवासियों का राजनैतिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकास करना था। मध्य युग में शिक्षा पर धर्म का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण शिक्षा के उद्देश्य धार्मिक थे। आधुनिक युग में जहाँ प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षा का उद्देश्य मानव की गरिमा को स्थापित करना और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना रहा, वहाँ साम्यवादी देशों में शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना रहा जो साम्यवादी आदर्शों के अनुरूप कार्य कर सकें। भारत में भी काल के संदर्भ में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ है। अलग-अलग समय में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं।

2.14 शब्दकोश (Keywords)

1. **शिक्षा के उद्देश्य** (Aims of Education): शिक्षा के नियम
2. **जीवन का उद्देश्य** (Living Aims): जीवन के नियम
3. **सामाजिक उद्देश्य** (Social Aims): समाज के नियम

2.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य बताइए।
2. शिक्षा के सामान्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
3. जीविकोपार्जन के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
4. भारत की वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के उद्देश्य बताइए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. उद्देश्य	2. समाजिक	3. चरित्र	4. (अ)	5. (ब)
6. (ब)	7. सही	8. सही	9. सही	10. गलत

2.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।

❑❑❑

नोट

इकाई–3 : शिक्षा के कार्य (Functions of Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
3.1 व्यक्तिगत विकास (Individual Development)
3.2 सांस्कृतिक विरासत का संप्रेषण (Transmission of Cultural Heritage)
3.3 कौशलों का अर्जन (Acquisition of Skills)
3.4 मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन (Acquisition and Generation of Human Values)
3.5 सामाजिक संसक्ति (Social Cohesion)
3.6 राष्ट्रीय विकास (National Development)
3.7 सारांश (Summary)
3.8 शब्दकोश (Keywords)
3.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
3.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- व्यक्तिगत विकास जानने हेतु।
- सांस्कृतिक विरासत का संप्रेषण जानने हेतु।
- मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन जानने हेतु।
- सामाजिक संसक्ति का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा मानव जीवन के विकास की वह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो जीवनपर्यंत चलती रहती है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के विकास में योगदान देती है। इसके कार्य बहुमुखी हैं। इसके कार्यों के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विचार निम्न प्रकार हैं–

एम. एल. जैक्स (M.L. Jacks) के अनुसार–''शिक्षा को अनेकों कार्य करने हैं। शिक्षा के द्वारा बालक को इस योग्य बनाना चाहिए कि वह स्वयं विचार कर सके, परिश्रम का सम्मान कर सके, उत्तम मित्र बना सके, अनंत के प्रत्यक्ष का आनंद प्राप्त कर सके और अनुभव कर सके।''

नोट

जॉन ड्यूवी (John Dewey) के शब्दों में–''शिक्षा का कार्य असहाय प्राणी के विकास में सहायता पहुँचाना है, जिससे वह सुखी, नैतिक और कुशल मानव बन सके।''

डेनिएल वेबस्टर (Danial Webester) के मतानुसार–''शिक्षा का कार्य भावनाओं को अनुशासित आवेगों को नियंत्रित, प्रेरणाओं को उत्तेजित, धार्मिक भावनाओं को विकसित और नैतिकता को अभिवृद्धित करना है।''

डॉ. जाकिर हुसैन (Zakir Husain) के मत में–'' शिक्षा का कार्य बालक के मस्तिष्क को शुद्ध, नैतिक और बौद्धिक मूल्यों का अनुभव करने में इस प्रकार सहायता प्रदान करना है कि वह मूल्यों से प्रेरित होकर उनको सर्वोत्तम प्रकार से अपने कार्य और अपने जीवन में प्राप्त करे।''

पं. नेहरू (Pt. Nehru) के अनुसार,''शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह संतुलित मानव का विकास करे, बालकों को समाज के लिए लाभप्रद कार्यों को करने और सामूहिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करे।''

इमरसन (Emerson) के शब्दों में–**''शिक्षा इतनी व्यापक होनी चाहिए जितना कि मानव।** उसमें (मानव में) जो भी शक्तियाँ हैं, शिक्षा को उन्हें पोषित और प्रदर्शित करना चाहिए।''

शिक्षा के अनेक कार्य हैं, जिनमें प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं–

1. व्यक्तिगत विकास (Individual Development)
2. सांस्कृतिक विरासत को सम्प्रेषण (Transmission of Cultural Heritage)
3. कौशलों का अर्जन (Acquisition of Skill)
4. मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन (Acquisition and Generations of Human Values)
5. सामाजिक संसक्ति (Social Cohesion)
6. राष्ट्रीय विकास (National Development)

नोट्स शिक्षा मानव जीवन के विकास की वह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, जो जीवनपर्यंत चलती रहती है।

3.1 व्यक्तिगत विकास (Individual Development)

शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति का विकास करना है। उसके जीवन को सुखमय, संपन्न और समृद्ध बनाना है। इसके लिए शिक्षा व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक, सामाजिक, आध्यात्मिक और नैतिक विकास करती है और उसकी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं, उद्देश्यों और मूल्यों को प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। व्यक्ति के विकास से संबंधित शिक्षा के कार्यों को निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. जन्मजात शक्तियों का विकास
2. आवश्यकताओं की पूर्ति
3. व्यक्तित्व का विकास
4. चरित्र का विकास
5. जीवन के लिए तैयारी
6. पर्यावरण से अनुकूलन
7. कार्य का व्यावहारिक ज्ञान

1. **जन्मजात शक्तियों का विकास** (Development of Innate Powers)–बालक प्रेम, जिज्ञासा, कल्पना, आत्म-सम्मान आदि मूल प्रवृत्तियों को लेकर पैदा होता है। शिक्षा का कार्य इन मूल प्रवृत्तियों का समुचित विकास करना है। शिक्षा के अभाव में ये प्रवृत्तियाँ अविकसित रहती हैं, जिससे बालक के

नोट

व्यक्तित्व का विकास संतुलित रूप में नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ पाशविक होती हैं और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी नहीं होतीं। शिक्षा इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना, उनका मार्गान्तीकरण करना और शोधन करना सिखलाती है, जिससे उसका व्यवहार संतुलित और सामाजिक बनता है। इस प्रकार शिक्षा बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करती है और उनकी भावनाओं तथा आचरण को उत्तम बनाती है। **पेस्टालॉजी** (Pestalozi) ने शिक्षा के इस कार्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि, **''शिक्षा मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों का स्वाभाविक, सर्वांगीण और प्रगतिशील विकास है।''**

2. **आवश्यकताओं की पूर्ति** (Satisfaction of Needs)–व्यक्ति को जीवित रहने और अपना विकास करने के लिए अनेक बातों की आवश्यकता होती है। खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़े और रहने के लिए मकान की आवश्यकता होती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के व्यक्तियों से मधुर संपर्क रखने, समाज की कुरीतियों को दूर करने और समाज में सुधार करने की आवश्यकता होती है। शिक्षा का कार्य व्यक्ति की इन सभी व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। मानव जीवन में शिक्षा के इस कार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए **स्वामी विवेकानंद** (Swami Vivekanand) ने लिखा है, **''शिक्षा का कार्य यह पता लगाना है कि जीवन की समस्याओं को किस प्रकार से हल किया जाए और आधुनिक सभ्य समाज का गहरा ध्यान इसी बात में लगा हुआ है।''**

3. **व्यक्तित्व का विकास** (Development of Personality)–जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विकास परम आवश्यक है। बिना स्वस्थ शरीर के व्यक्ति जीवन में कोई कार्य नहीं कर सकता। अपने ज्ञान को विस्तृत करने और अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाने के लिए मानसिक विकास आवश्यक है। अपने शरीर और मस्तिष्क का उचित प्रयोग करने के लिए नैतिक विकास और समाज में रहने के लिए सामाजिक विकास महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा का कार्य व्यक्तित्व के इन सभी पक्षों का समुचित और संतुलित विकास करना है। सभी शिक्षाशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है। **फ्रेडरिक ट्रेसी** (Frederick Tracy) ने लिखा है कि **''समस्त शिक्षा का सच्चा उद्देश्य व्यक्तित्व के आदर्श की पूर्ण प्राप्ति है। यह आदर्श संतुलित व्यक्तित्व है।''**

4. **चरित्र का विकास** (Development of Character)–उत्तम चरित्र तथा नैतिकता के अभाव में व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का उचित प्रयोग नहीं कर सकता। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति चरित्रवान होने पर ही संभव है। आज के भौतिकवादी युग में तो, जबकि चारों और छल-कपट, घृणा, विद्वेष और स्वार्थ का बोलबाला है, चरित्रवान व्यक्तियों की महती आवश्यकता है। शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति में चारित्रिक गुणों का विकास करना है।

5. **जीवन के लिए तैयारी** (Preparation for Life)–बालक को मनुष्य का पिता (Child is the father of man) कहा गया है। आज के बालक को कल पिता बनना है, समाज का कर्णधार बनना है और राष्ट्र का निर्माता बनना है। आज के बालक को वयस्क होने पर अपनी पारिवारिक, सामाजिक तथा नागरिक समस्याओं को हल करना है। बालक इन समस्याओं को सफलतापूर्वक तभी हल कर सकता है, जब उसे इसका प्रशिक्षण दिया जाए, अतएव शिक्षा का कार्य बालक को भावी जीवन के लिए तैयार करना है। जीवन बड़ा संघर्षमय और जटिल होता है। शिक्षा बालक को इस संघर्षपूर्ण और जटिल जीवन के लिए तैयार करती है। शिक्षा बालक को किसी व्यवसाय के लिए तैयार करती है, कर्तव्य और अधिकारों से परिचित कराती है, कठिन परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता उत्पन्न करती है और अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और नागरिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन की शक्ति पैदा करती है। **स्वामी विवेकानंद** (Swami Vivekanand) का मत है कि वह शिक्षा, शिक्षा कहलाने की अधिकारी नहीं, जो व्यक्ति को जीवन संघर्ष के लिए तैयार नहीं करती। उनके शब्दों में, **''यदि कोई व्यक्ति केवल कुछ परीक्षाएँ पास कर सकता है और अच्छे व्याख्यान दे सकता है, तो आप उसको शिक्षित समझते हैं। क्या वह**

नोट

शिक्षा-शिक्षा कहलाने के योग्य है, जो सामान्य जन-समूह को जीवन के संघर्ष के लिए अपने आप को तैयार करने में सहायता नहीं देती है और उनमें शेर का सा साहस उत्पन्न नहीं करती है।''

6. **पर्यावरण से अनुकूलन** (Adjustment with the Environment)–वही व्यक्ति अपने जीवन में सफल हो सकता है, जो अपने भौतिक और सामाजिक पर्यावरण के साथ भली प्रकार से अनुकूल कर सके। जीवन में व्यक्ति को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि वह इन कठिनाइयों का सामना करने में असमर्थ रहता है और पर्यावरण के साथ अनुकूलन नहीं कर पाता तो वह अपना और समाज का विकास करने में सफल नहीं हो सकता। शिक्षा व्यक्ति में पर्यावरण के साथ अनुकूलन करने की क्षमता उत्पन्न करती है, वह व्यक्ति में ऐसी क्षमता उत्पन्न करती है जिससे वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके अपनी समस्याओं का समाधान करता है और पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है। शिक्षा के इस कार्य के महत्त्व पर बल देते हुए **थॉमसन** (Thomson) ने लिखा है, **'पर्यावरण शिक्षक है और शिक्षा का कार्य है विद्यार्थियों को उस पर्यावरण के अनुकूल बनाना, जिससे वह जीवित रह सकें और अपनी मूल प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिए अधिक-से-अधिक संभव अवसर प्राप्त कर सकें।''**

7. **कार्य का व्यावहारिक ज्ञान** (Practical knowledge of work)–मानव जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य बालक को विभिन्न कार्य क्षेत्रों का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना है। दुनिया के विभिन्न प्रगतिशील देशों में शिक्षा के इस कार्य को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन देशों में प्रत्येक विद्यार्थी के लिए किसी न किसी कारखाने या वर्कशाप में कार्य करना आवश्यक होता है। हमारे देश में इस ओर अभी ध्यान नहीं दिया जा रहा, इसीलिए हमारी शिक्षा व्यवस्था पर सैद्धांतिक होने का आरोप लागया जाता है। आज देश के सभी समझदार व्यक्ति इस बात की माँग कर रहे हैं कि वर्तमान शिक्षा को अधिक व्यावहारिक बनाया जाए। **स्वामी विवेकानंद** (Swami Vivekanand) ने भी इस संबंध में कहा है, **''तुमको कार्य के सभी क्षेत्रों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सिद्धांतों के ढेरों से राष्ट्र का नाश हो रहा है।''**

क्या आप जानते हैं शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति का विकास करना है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शिक्षा इतनी व्यापक होनी चाहिए जितना कि ..... ।
2. समस्त शिक्षा का सच्चा उद्देश्य ..... के आदर्श की पूर्ण प्राप्ति हो।

3.2 सांस्कृतिक विरासत का संप्रेषण (Transmission of Cultural Heritage)

शिक्षा सांस्कृतिक विरासत के संप्रेषण का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। **जाकिर हुसैन** के शब्दों में, ''केवल संस्कृति की सामग्री द्वारा ही शिक्षा की प्रक्रिया को गति दी जा सकती है। केवल इसी सामग्री से मानव मस्तिष्क का विकास हो सकता है।'' शिक्षा के सांस्कृतिक कार्यों को निम्नलिखित बिंदुओं में व्यक्त किया जा सकता है–

1. **शिक्षा संस्कृति का संरक्षण करती है** (To Preserve the Culture)–प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संस्कृति से अत्यधिक लगाव होता है और वह उसे उसी रूप में श्रेष्ठ समझता है, जिस रूप में वह होती है और उसे उसी रूप में सुरक्षित रखना चाहता है। शिक्षा इसमें उसकी सहायता करती है। शिक्षा ही वह

नोट

साधन है, जो मौखिक रूप में या लिखित रूप में या व्यावहारिक रूप में संस्कृति को जीवित रखती है। शिक्षा के द्वारा ही हमको अपनी संस्कृति का ज्ञान होता है। संस्कृति के दो रूप होते हैं–एक भौतिक और दूसरा अभौतिक। भौतिक संस्कृति में समाज के लोगों की वेषभूषा, खान-पान तथा भाषा आदि आते हैं, जबकि अभौतिक संस्कृति का संबंध व्यक्ति के विचारों, विश्वासों तथा मूल्यों आदि से होता है। किस समाज की भौतिक संस्कृति में अनेक परिवर्तन होने के बाद भी उसकी अभौतिक संस्कृति में उतनी तेजी से परिवर्तन नहीं होता, जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों ने भारतीय जीवन में बहुत से परिवर्तन किये हैं, लेकिन हमारे जीवन के मूल्य, विश्वास और मान्यताएँ वहीं हैं, जो प्राचीन काल में थीं। आज भी हम धार्मिक विश्वास और आध्यात्मिकता को छोड़ नहीं सके हैं। यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही हो सका है।

2. **शिक्षा संस्कृति का हस्तांतरण करती है** (To Transmit the Culture)–शिक्षा संस्कृति का केवल संरक्षण ही नहीं करती, अपितु एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण भी करती है। संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान व्यक्ति को शिक्षा के द्वारा ही होता है। शिक्षा व्यक्ति को उसके समाज की भाषा और साहित्य का ज्ञान प्रदान करती है, समाज के खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा आदि से परिचित कराती है और समाज के मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों सिद्धांतों आदि के प्रति आस्था पैदा करती है। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से हम समाज की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित करते हैं।
3. **शिक्षा संस्कृति का विकास करती है** (To Develop the Culture)–यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को उसी रूप में सुरक्षित रखना चाहता है, जिस रूप में वह उसे प्राप्त करता है, लेकिन परिवर्तन सृष्टि का नियम है। परिवर्तन को कोई नहीं रोक सका है, अत: समय, परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुरूप इसमें भी परिवर्तन होता है। शिक्षा इस परिवर्तन को उचित दिशा प्रदान करती है। इसी को संस्कृति का विकास कहते हैं। शिक्षा का यह कार्य है कि सांस्कृतिक मूल्यों व आदर्शों में वांछनीय परिवर्तन लाये जाएँ और उन्हें विकास की ओर उन्मुख किया जाए। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि संस्कृति को विकास तो होता है, लेकिन यह विकास उसके मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए ही होता है।
4. **शिक्षा सांस्कृतिक ठहराव को दूर करती है** (To Remove the Cultural Lag)–भौतिक संस्कृति वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण तीव्र गति से विकसित हो रही है, लेकिन अभौतिक संस्कृति अर्थात् विचार, आदर्श, मूल्य, परंपराएँ, आदर्श आदि उतनी तीव्र गति से विकसित नहीं हो पा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भौतिक और अभौतिक संस्कृति के बीच अंतराल बढ़ रहा है। इस बढ़े हुए अंतराल को शिक्षा के माध्यम से ही दूर किया जा सकता है। अत: शिक्षा का कार्य सांस्कृतिक ठहराव को दूर करना है।
5. **शिक्षा संस्कृति को निरंतरता प्रदान करती है** (To give the continuity to culture)–संस्कृति किसी भी समाज के जीवित रहने का प्रमाण होती है। संस्कृति के संरक्षण के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं। इन शिक्षा संस्थाओं में विभिन्न संस्कृतियों के विद्यार्थी आते हैं और इनका यह दायित्व होता है कि वे इन विभिन्न संस्कृतियों के विद्यार्थियों को अंत:क्रिया के अधिकाधिक अवसर प्रदान करें, जिससे सांस्कृतिक एकता पैदा की जा सके और संस्कृति की निरंतरता बनी रहे।
6. **शिक्षा विभिन्न संस्कृतियों के प्रति उदार दृष्टिकोण का विकास करती है** (To develop the liberal attitude towards different cultures)–प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है और उस समाज के लोग अपनी संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ व सर्वोत्तम मानते हैं और इस प्रकार सांस्कृतिक संकीर्णता के शिकार होते हैं। इसी संकीर्णता और संकुचित दृष्टिकोण के कारण संघर्ष और युद्ध होते हैं। संसार के उन्नतिशील और प्रगतिशील समाज अपने को इस संकीर्णता से दूर रखना चाहते हैं और यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही होता है। शिक्षा विद्यार्थियों को संसार की सभी संस्कृतियों का ज्ञान प्रदान करती है, उनकी विशेषताओं से परिचित कराती है और उनमें अन्य संस्कृतियों के प्रति उदार दृष्टिकोण का विकास करती है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. शिक्षा सांस्कृतिक विरासत के संप्रेषण का साधन है–
   (अ) अत्यधिक महत्त्वपूर्ण (ब) कम महत्त्वपूर्ण (स) व्यर्थ (द) इनमें से कोई नहीं
4. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संस्कृति से होता है–
   (अ) प्रेम (ब) अत्यधिक लगाव (स) अलगाव (द) इनमें से कोई नहीं
5. संस्कृति किसी भी समाज के जीवित रहने का होती है–
   (अ) प्रमाण (ब) साधन (स) प्रसाधन (द) इनमें से कोई नहीं
6. बालक को मनुष्य का कहा गया है–
   (अ) जन्मदाता (ब) पिता (स) शत्रु (द) मित्र

3.3 कौशलों का अर्जन (Acquisition of Skills)

शिक्षा के माध्यम से बालक विभिन्न कुशलताओं का विकास करने में सक्षम होता है। शिक्षा द्वारा विकसित की जाने वाली कतिपय कुशलताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **व्यावसायिक कुशलता** (Vocational Efficiency)–शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अपने जीवनयापन के लिए किसी न किसी व्यवसाय का चयन करता है। यदि वह अपने व्यवसाय में कुशलता प्राप्त कर लेता है तो वह सफल और सुखी रहता है। अत: व्यक्ति को उसकी रुचि और आकांक्षाओं के अनुसार किसी व्यवसाय का प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, जिससे वह किसी व्यवसाय को कर सके या कोई नौकरी प्राप्त कर सके। शिक्षा का कार्य व्यक्ति में व्यावसायिक कुशलता की वृद्धि में सहायता देना है, जिससे वह स्वावलंबी बन सके और अपने तथा अपने परिवार का भरण पोषण कर सके। व्यावसायिक कुशलता की प्राप्ति और उसमें वृद्धि से देश का उत्पादन बढ़ता है, उद्योगों की उन्नति होती है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, और बेरोजगारी की समस्या भी कम होती है। **स्वामी विवेकानंद** (Swami Vivekananda) के शब्दों में, **''केवल पुस्तकीय ज्ञान से कार्य नहीं चलेगा। हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे कोई व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सके।''**
2. **सामाजिक कुशलता** (Social Efficiency)–समाज हित और राष्ट्रहित के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य सामाजिक दृष्टि से कुशल हों। शिक्षा का कार्य व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से कुशल और दक्ष बनाना है, उसमें सामाजिक कुशलता की भावना का विकास करना है। सामाजिक दृष्टि से कुशल या दक्ष व्यक्ति या सामाजिक कुशलता की भावना के विकास का अर्थ यह है कि व्यक्ति स्वावलंबी हो, समाज और राष्ट्र के ऊपर भार न हो, वह दूसरों के हितों की रक्षा करे, उनके कार्यों में बाधा न डाले और समाज व देश की उन्नति और विकास में अपना सहयोग प्रदान करे। शिक्षा को ऐसा वातावरण और परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए, जिसमें बालक में सामाजिकता की भावना का विकास हो सके। **ड्यूई** (Dewey) ने कहा कि **''शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी को इस योग्य बनाना है कि वह आर्थिक दृष्टि से और नागरिकता की दृष्टि से संबल बन सके।'' गोर्डन** (Gordon) कहते हैं कि **''शिक्षक को यह जानने की आवश्यकता है कि वह उन व्यक्तियों को सामाजिक प्रक्रिया की दिशा में चलने को प्रेरित करे, जो उसके लिए अयोग्य हैं।''**
3. **सृजन की कुशलता का विकास** (Creative Efficiency)–सृजन की क्षमता का अर्थ उत्पन्न करना, सृजन करना, बनाना, निर्माण करना, चिंतन को मूर्त रूप देना आदि से है। बालकों में सृजन क्षमता का विकास करना बालक तथा समाज दोनों के हित में है। कुछ बालकों में सृजन की क्षमता बहुत अधिक

नोट

होती है। शिक्षा का कार्य ऐसे बालकों की खोज करना और उनमें सृजन क्षमता का विकास करना है। ऐसे ही बालक भविष्य में उच्च कोटि के वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार और साहित्यकार आदि बनते हैं।

4. **भाषा की कुशलता का विकास** (Language Efficiency)–बालक में भाषा की कुशलता तभी आ सकती है, जब वह सुनने, बोलने, पढ़ने और लिखने में दक्ष हो, कुशल हो, प्रवीण हो। शिक्षा का कार्य बालक में भाषा सीखने के प्रति अभिरुचि जाग्रत करना है, भाषा का प्रयोग करना सीखना है और उसमें भाषा की चारों क्षमताओं–सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना–का विकास करना है। भाषा, ज्ञान गम्य नहीं, अभ्यास गम्य है। भाषा सतत् अभ्यास से सीखी जाती है। बोलने, लिखने, पढ़ने और सुनने का जितना अभ्यास बालक को होगा, उतना ही अधिक भाषा-ज्ञान उसको होगा। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से बालक भाषा पर पूर्ण अधिकार स्थापित करने में सक्षम होता है।

3.4 मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन (Acquisition and Generation of Human Values)

मूल्य वह है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिए जीवित रहते हैं और जिसके लिए बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं। शुभ और श्रेष्ठ, परिणामों या संकल्पों पर निर्भर नहीं हैं वरन् ये तो जीवन के उन आदर्शों से संचालित होते हैं, जो हमारे जीवन का परमार्थ या परमश्रेय है। **सुनंदा कुमारी** के अनुसार मूल्यवाद की परंपरा में मूल्य एक व्यापक शब्द है। वह यद्यपि श्रेय, साध्य का आदर्श या सूचक है तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नहीं है। मूल्य सदैव व्यवस्था में निर्धारित होता है। सुख, जीवन, वैराग्य आदि प्रत्येक में एक मूल्य है, किंतु मूल्य उससे अधिक व्यापक है। मूल्य एक तत्व नहीं है–एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्था में किसी मूल्य का बोध होता है। **प्रो. रामशकल पाण्डेय** कहते हैं कि मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्गुण हैं, जिससे व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन पद्धति का निर्माण करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसमें मनुष्य की धारणाएँ, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था आदि समाहित हैं। ये मानव मूल्य व्यक्ति के अंत:करण द्वारा निस्सृत और परिपोषित होते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य मनुष्य के अंतरतम में जगती हुई वह शक्ति है, जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसके आचरण को शासित करती है। वस्तुत: मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी है, जिसके कारण समाज का अस्तित्व है, क्योंकि उपयोगिता कल्याणकारिता की भावना ही समाज को स्थिर रखती है।

समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन आ रहा है। प्राचीन काल से देखें तो मालूम पड़ता है कि जो मानव मूल्य सतयुग में थे, वे त्रेता में नहीं थे, जो त्रेता में थे, द्वापर में नहीं थे और जो द्वापर में थे, कलयुग में पूर्णत: विलुप्त हो चुके हैं। आज मानव जाति विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। समाज में मूल्यों का ह्रास हो रहा है, सुख, शांति समाप्त होती जा रही है और मानव स्वकेंद्रित होता जा रहा है। शिक्षा का कार्य इन मानव मूल्यों का अर्जन और उत्पादन करना है। आज की शिक्षा प्रणाली का ध्यान केवल व्यक्ति के मानसिक विकास पर केंद्रित है, इसलिए केवल ऐसे गुणों के विकास पर ध्यान दिया जा रहा है, जो किसी विषय की जानकारी या किसी पुस्तक की जानकारी या किसी परीक्षा में सफलता प्राप्त करने से संबंधित है। इसके विपरीत संपूर्ण शिक्षा का अर्थ ऐसे गुणों और मूल्यों के विकास की समाकलित और साथ-साथ चलने वाली ऐसी विकास प्रक्रिया से है, जो शिक्षा, जीवन की शिक्षा, मानसिक शिक्षा, मनो और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए उपयोगी है। शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में सम्मिलित किये जाने वाले मूल्यों का संबंध स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति, आकार, आभा और सुंदरता से होता है। भावनात्मक शिक्षा या जीवन की शिक्षा के क्षेत्र में साध्य मूल्यों का संबंध कीर्ति, वीरता और संगीत से है। तार्किक विकास के क्षेत्र में जो मूल्य ग्रहणीय माने जाते हैं, उनका संबंध निष्पक्षता, सत्य की खोज, शांति, सहिष्णुता और यथासंभव मेल से है। सौंदर्यबोध के विकास से संबंधित मूल्यों में सुंदरतम और गहनतम सौंदर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से जुड़े सृजनात्मक आनंद की कल्पना सम्मिलित होती है। बालक-बालिकाओं को एक उत्तरदायी नागरिक और समाज के उपयोगी सदस्य बनाने के लिए उनमें सहयोग, प्रेम, करुणा, शांति, अहिंसा, साहस, समानता, बंधुत्व, श्रम गरिमा आदि मौलिक गुणों का विकास करने के लिए, उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न

नोट

करने के लिए, देश और समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों के संबंध में जागरूकता उत्पन्न करने और उनमें वांछित सुधार लाने के लिए, स्वयं अपने प्रति, अपने साथियों के प्रति, सभी धर्मों और संस्कृतियों के प्रति, स्वदेश के प्रति, मानवता के प्रति, जीवन और पर्यावरण के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित करने के लिए शिक्षा का कार्य मानव मूल्यों के अर्जन और उत्पादन में सहायता करना है।

मानव मूल्यों के विकास के लिए विद्यालय में मुख्यत: निम्नलिखित दो प्रकार की क्रियाएँ व्यवस्थित और आयोजित की जानी चाहिए–

1. पाठ्यक्रम संबंधी क्रियाएँ
2. पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ

पाठ्यक्रम संबंधी क्रियाएँ (Curricular Activities)

विद्यालयीन विषयों के द्वारा बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

भाषा और साहित्य के शिक्षण द्वारा मूल्यों का विकास–मूल्यों का उचित रूप से विकास करने में भाषा और साहित्य का विशेष स्थान है। किसी भी भाषा का साहित्य उसकी सभ्यता और संस्कृति की वाणी होता है। निबंध, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि विविध विधाओं में संस्कृति विशेष के तत्व व्याप्त होते हैं। अत: साहित्य के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का बोध कराया जा सकता है। बालक संवेदनशील होते हैं। भाषा का शिक्षक पाठ्य-पुस्तकों के किसी भी पाठ को पढ़ाते समय उनमें निहित आदर्शों और सिद्धांतों के प्रति आस्था और प्रेम पैदा कर सकता है।

सामाजिक अध्ययन द्वारा मूल्यों का विकास–सामाजिक अध्ययन के अंतर्गत जिन विषयों का अध्ययन होता है, उनमें इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र प्रमुख हैं। इतिहास में हम केवल राजा-महाराजाओं के उत्थान-पतन की कहानी ही नहीं पढ़ते वरन् जाति, समाज और राष्ट्र विशेष की सभ्यता और संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। इतिहास के द्वारा राम, कृष्ण, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, गुरु नानक जैसे महापुरुषों की जीवन गाथा का अध्ययन कर बालकों में त्याग, सहानुभूति, दया, परोपकार, परमार्थ, करुणा, अहिंसा, शुद्धता, पवित्रता, मानवता आदि गुणों का विकास कर सकते हैं। गीता कर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करती है। रामायण परस्पर मानवीय संबंधों का आदर्श चित्रण करती है। गुरु गोबिंद सिंह, महारानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी, महाराणा प्रताप, शहीद भगतसिंह आदि के जीवन को बताकर बालकों में वीरता, साहस, देशप्रेम और राष्ट्र विकास के मूल्य विकसित किये जा सकते हैं। भूगोल के द्वारा विभिन्न देशों की प्राकृतिक स्थिति, जलवायु आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। इससे बालकों को विभिन्न देशों की अन्योन्याश्रितता का ज्ञान कराया जा सकता है। पर्यावरण की सुरक्षा, संरक्षण, वृक्षारोपण, प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति लगाव आदि के भाव बालकों में भूगोल के द्वारा विकसित किये जा सकते हैं। अर्थशास्त्र में उपभोग, उत्पादन, श्रम, राजस्व, साहस आदि के विषय में जानकारी दी जाती है। अर्थशास्त्र के माध्यम से बालकों में श्रम का महत्त्व, धन का सदुपयोग, मितव्ययिता, साहस, सहयोग, त्याग, न्याय, पूँजीपति का सम्मान और श्रमिक के महत्त्व आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं। नागरिकशास्त्र के द्वारा आदर्श नागरिकों का निर्माण किया जाता है, कर्तव्य और अधिकारों की जानकारी दी जाती है और राष्ट्रीयता व अंतर्राष्ट्रीयता के विषय में बताया जाता है। इसके द्वारा बालकों में राजनैतिक मूल्यों का विकास बड़ी सरलता से किया जा सकता है। देशप्रेम, राष्ट्रचेतना, भ्रातृत्व, बलिदान, त्याग, सहयोग, सहिष्णुता, ईमानदारी, सत्यता आदि मूल्यों का विकास नागरिक शास्त्र के शिक्षण के द्वारा किया जा सकता है। कर्तव्य और अधिकारों की जानकारी देकर कर्तव्यनिष्ठा और उत्तरदायित्व के मूल्य पैदा किये जा सकते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना का विकास किया जा सकता है। समाजशास्त्र के द्वारा सामाजिक परंपराओं, सामाजिक रीति-रिवाजों, समाज और व्यक्ति के संबंधों और संस्कृति आदि की जानकारी प्राप्त होती है। इसके द्वारा बालकों को यह बताया जा सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस कारण उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक मूल्यों के प्रति निष्ठा रखे और उनके अनुकूल आचरण करे।

विज्ञान शिक्षण के द्वारा मूल्यों का विकास–विज्ञान के शिक्षण के द्वारा भी बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है। विज्ञान शिक्षण के दो रूप हैं–एक सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। जहाँ सैद्धांतिक शिक्षण से

नोट

चिंतन, तर्क, निर्णय, विवेक आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है, वहाँ व्यावहारिक शिक्षण या प्रयोगशाला कार्य से सत्य, धैर्य, साहस, अनुशासन, कार्यनिष्ठा, महत्त्वाकांक्षा और आनंद आदि मूल्यों का विकास होता है। जीव विज्ञान में जीव-जंतुओं व पशु-पक्षियों का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति विज्ञान में पेड़-पौधों और प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इनके शिक्षण द्वारा हम बालकों में समायोजन, सहभागिता, परोपकार, प्रकृति प्रेम, सौंदर्य बोध, सामुदायिक स्वच्छता आदि मूल्यों को विकसित कर सकते हैं। परमाणु संरचना का ज्ञान प्रदान करते समय विज्ञान के विध्वंसकारी प्रभाव का वर्णन करते हुए उनमें शांति, प्रेम, दया, अहिंसा, विश्वबंधुत्व आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।

पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ (Co-curricular Activities)

बालकों में मूल्यों का विकास करने में पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन क्रियाओं में बालक स्वयं भाग लेते हैं, रुचि के साथ कार्य करते हैं, मूल्यों का महत्त्व समझते हैं और अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करते हैं। मुख्य पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ इस प्रकार हैं–

1. **प्रार्थना सभा** (Morning Prayers)–प्रत्येक विद्यालय का शुभारंभ प्रार्थना सभा से होता है। ईश्वर की प्रार्थना बालकों में सद्भाव, प्रेम, भक्ति, त्याग, परोपकार आदि मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा देती है। ईश प्रार्थना के पश्चात् शिक्षकों के द्वारा विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों नैतिक नियमों, महापुरुषों के विचारों, उनसे संबंधित प्रेरक प्रसंगों की चर्चा की जाती है, इससे मूल्यों के निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।
2. **महापुरुषों के जन्मोत्सव** (Birthday Celebrations)–विद्यालयों में राम, कृष्ण, ईसा मसीह, मोहम्मद साहब, गुरु नानक आदि महापुरुषों, गाँधी, पटेल, सुभाषचंद्र बोस, पंडित नेहरू, अंबेडकर आदि महान राजनेताओं, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, गुरुदेव रवींद्र नाथ टैगोर, राधाकृष्णन् आदि संतों, महर्षियों और विद्वानों के जन्मोत्सव मनाये जाते हैं, जिनमें इनके योगदान, इनके गुणों और इनके जीवन के प्रेरक प्रसंगों का वर्णन किया जाता है। इससे बालकों में मूल्यों का विकास होता है।
3. **राष्ट्रीय पर्व** (National Festivals)–पंद्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी, दो अक्टूबर आदि राष्ट्रीय पर्वों को मनाये जाने से बालकों में देशप्रेम, राष्ट्र के लिए त्याग और समर्पण, विश्वबंधुत्व, सबके प्रति समान व्यवहार आदि प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है।
4. **खेलकूद** (Games and Sports)–खेलों में बालकों की विशेष रुचि होती है। वे अधिक-से-अधिक खेलना चाहते हैं। खेलकूद के द्वारा जहाँ बालक का शारीरिक विकास होता है वह शारीरिक श्रम के महत्त्व को समझता है, उत्तम स्वास्थ्य के प्रति जागरूक होता है और आसन, व्यायाम आदि करने में रुचि लेता है, वहाँ प्रेम, भ्रातृत्व सहयोग, सहनशीलता, समानता, शालीनता और जय-पराजय में समान भाव आदि मूल्यों को भी सीखता है।
5. **साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम** (Literacy and Cultural Activities)–साहित्यिक कार्यक्रमों में भाषण, निबंध, पत्र-पठन, वाद-विवाद, संगोष्ठी और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में कवि सम्मेलन, कवि दरबार, संगीत सम्मेलन, नाटक, लोकनृत्य, लोक-गीत आदि आते हैं। इन कार्यक्रमों में सभ्यता और संस्कृति का दिग्दर्शन होता है। आवश्यकता इस बात की है कि इन कार्यक्रमों की व्यवस्था और संयोजन इस प्रकार से किया जाए, जिससे मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति हो सके।
6. **समाज सेवा के कार्यक्रम** (Social Service Activities)–विद्यालयों में समाज सेवा के विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करके बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है। समाज सेवा से संबंधित कतिपय कार्यक्रम इस प्रकार हैं–
   (अ) उपेक्षित क्षेत्रों की सफाई करना, श्रमदान से सड़कें बनाना, स्वच्छता अभियान चलाना।
   (ब) बीमारियों के विरुद्ध प्रचार करना और स्वास्थ्य नियमों को बताना।
   (स) प्रौढ़ शिक्षा केंद्रों में निःशुल्क सेवा करना और अशिक्षा के विरुद्ध अभियान चलाना।
   (द) गूँगे, बहरे, अंधे और अपाहिज लोगों को शिक्षित करना और उनकी सहायता करना।

नोट

(य) पर्यावरण का सुधार करने का प्रयत्न करना। भौतिक पर्यावरण को सुधारने के लिए अपने चारों ओर सफाई रखना, पेड़-पौधों की रक्षा करना और सामाजिक पर्यावरण को सुधारने के लिए समाज में व्याप्त अराजकता, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि को दूर करने का प्रयास करना।

(र) एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउटिंग, गाइडिंग आदि संगठनों का सदस्य बनकर राष्ट्र और समाज की सेवा करना।

(ल) प्राकृतिक आपदाओं के समय संकटग्रस्त लोगों की हर संभव सहायता करना।

(व) पत्र मित्र संगठनों के सदस्य बनकर दूसरों के प्रति प्रेम रखना और उनकी हर संभव सहायता करना।

7. **सामाजिक उत्पादक कार्य** (Socially Productive Work)–विद्यालयों में बालकों को समाजिक दृष्टि से उपयोगी व उत्पादक कार्य करने के लिए प्रेरणा दी जानी चाहिए, जिससे उनमें वांछनीय मूल्यों का विकास किया जा सके।

8. **सहकारी संस्थाएँ** (Co-operative Organisations)–विद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में सहकारी संगठन बनाए जाने चाहिए। चाय-नाश्ते की व्यवस्था, भोजन की व्यवस्था, विभिन्न सामानों के विषय की व्यवस्था सहकारी संस्थाओं के द्वारा की जानी चाहिए, जिसका संपूर्ण उत्तरदायित्व छात्र/छात्राओं पर होना चाहिए। इससे उनमें जहाँ सामूहिक और सहकारी भावना पैदा की जा सकती है, वहाँ ईमानदारी, संयम, सहयोग, अपरिग्रह आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

9. **पर्यटन और यात्राएँ** (Tour and Excursion)–पर्यटन और यात्राओं के माध्यम से बालक-बालिकाओं में मानव मूल्यों का विकास किया जा सकता है। ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थानों पर जाकर जहाँ अपने देश और समाज की संस्कृति, धरोहर, संस्थाओं आदि की जानकारी बालकों को दी जाती है, वहाँ उनमें उस क्षेत्र के लोगों से मिलकर पारस्परिक स्नेह, सहयोग, सद्भावना के मूल्य पैदा किये जाते हैं।

10. **स्वशासन** (Self-Government)–विद्यालयों में विभिन्न कार्यों का संपादन करने के लिए विभिन्न समितियों का गठन किया जाता है। इनका संचालन करने का पूर्ण उत्तरदायित्व बालक-बालिकाओं पर होता है। इससे उत्तरदायित्व की भावना, स्वानुशासन, आत्मनियंत्रण और आत्मविश्वास के मूल्य पैदा होते हैं।

टास्क 'राष्ट्रीय विकास' पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

3.5 सामाजिक संसक्ति (Social Cohesion)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें सामूहिकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। वह समाज से अलग रह ही नहीं सकता। वह अपना जीवन यापन, विकास, समृद्धि, समाज में ही करता है। एक ओर वह समाज में अपना समायोजन करता है, दूसरी ओर वह समाज में परिवर्तन करता है और समाज का विकास करता है। इस क्षेत्र में शिक्षा निम्नलिखित तीन कार्य करती है–

1. समाजीकरण (Socialization)
2. सामाजिक नियंत्रण (Social Control)
3. सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में रहकर उसके मूल्यों, आदर्शों और जीवन-शैली को सीखता है और उसे अपने व्यक्तित्व का अंग बनाता है। समाजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया सामाजिक कार्य के अंतर्गत आती है। शिक्षा बालकों के समक्ष उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करके, स्वस्थ मानवीय संबंधों का निर्माण

नोट

करके, विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर भावना का विकास करके, सामूहिक क्रियाओं को प्रोत्साहन देकर और उत्तम सामाजिक वातावरण का निर्माण करके समाजीकरण में सहयोग देती है।

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा एक समुदाय अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इसके द्वारा समाज अपने सदस्यों को समाज द्वारा स्थापित नियमों एवं आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करने को प्रेरित करता है। यदि समाज ऐसा न करे तो समाज विघटित हो जाएगा। समाज के सभी सदस्य समान गुणों वाले नहीं होते। उनमें शारीरिक, बौद्धिक और संवेगात्मक विभिन्नताएँ होती हैं, उनके जीवन दर्शन में भिन्नता होती है। इन विभिन्नताओं पर सामाजिक नियंत्रण द्वारा विजय प्राप्त करके समाज अपने अस्तित्व की रक्षा करता है और उसको दृढ़ता प्रदान करता है।

किसी समाज की व्यवस्था, संगठन, ढाँचे सभ्यता और संस्कृति में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाते हैं। **ड्यूई** (Dewey) के शब्दों में, **''सामाजिक परिवर्तन शब्द का प्रयोग सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों अथवा सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में होने वाले परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होता है।''** शिक्षा का कार्य मनुष्यों में अपनी भाषा, रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार की विधियों और रीति-रिवाजों में अपने अनुभवों के आधार पर आवश्यक परिवर्तन एवं विकास की क्षमता पैदा करना है। शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन है। शिक्षा के द्वारा समाज के लोगों के विचारों में बदलाव लाया जा सकता है और समाज को प्रगति की ओर ले जाया जा सकता है। कोठारी आयोग ने कहा है कि आज के युग में शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से व्यापक सामाजिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं। शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन करने के लिए एक शक्तिशाली साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

शिक्षा का कार्य बालकों में सामाजिक भावना का विकास करना, व्यक्तिगत हितों की तुलना में सार्वजनिक हितों को महत्त्वपूर्ण समझने की भावना विकसित करना, सामाजिक दक्षता का विकास करना, सामाजिक दायित्वों का निष्ठा के साथ निर्वहन करने की क्षमता पैदा करना, सामाजिक अनुशासन का विकास करना और समाज के कल्याण, सुधार व उन्नति के लिए अपने को समर्पित करना है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. सुनंदा कुमारी के अनुसार, मूल्यवाद की परंपरा में मूल्य एक व्यापक शब्द है।
8. मूल्य अपरिवर्तनशील वह धुरी है, जिसके कारण मनुष्य का अस्तित्व है।
9. विज्ञान के शिक्षण के द्वारा भी बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है।
10. पर्यटन और यात्राओं के माध्यम से बालक-बालिकाओं में मानव मूल्यों का विकास नहीं किया जा सकता।

3.6 राष्ट्रीय विकास (National Development)

शिक्षा आयोग (1964-66) के प्रतिवेदन का शीर्षक ही है, **''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास''।** यह शीर्षक इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय विकास हो सकता है। किसी भी राष्ट्र का उत्थान-पतन उसके नागरिकों पर निर्भर करता है। यदि उसके नागरिक कुशल, योग्य और ईमानदार हैं तो वह राष्ट्र उन्नतिशील और समृद्धशाली होगा और यदि उसके नागरिक अकुशल, अयोग्य और भ्रष्ट हैं तो वह राष्ट्र पतन की ओर जाएगा। इसलिए शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाना है, सामाजिक दृष्टि से कुशल बनाना है तथा उसे राष्ट्रीय जीवन के लिए तैयार करना है। राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्य निम्न प्रकार हैं–

1. **आदर्श एवं कुशल नागरिकों का निर्माण** (Creation of Ideal Citizens)–आज के बालक ही कल के नागरिक बनेंगे और उन्हीं के हाथों में शासन का सूत्र होगा। अतः उनका कुशल, योग्य, बुद्धिमान और राष्ट्रप्रेमी होना आवश्यक है। यह कार्य शिक्षा का है। शिक्षा बालकों में आदर्श नागरिकों के गुणों का

नोट

विकास करती है। उनको कर्तव्य और अधिकारों से परिचित कराती है और उनमें देशभक्ति की भावना का विकास करती है। आज के प्रजातांत्रिक युग में तो शिक्षा का यह कार्य और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। शिक्षा ही नागरिकों को जागरूक बनाकर और अपने उत्तरदायित्वों का भली प्रकार से निर्वहन कराकर प्रजातंत्र को सफल बनाती है। शिक्षा के इस कार्य का समर्थन करते हुए न्यूयार्क की वैधानिक समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है– **''सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था का मुख्य कार्य विद्यार्थियों को राज्य में नागरिकता के दायित्वों और कर्तव्यों के निर्वहन के लिए तैयार करना है।''**

2. **नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण** (Training for Leadership)–किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इसके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में योग्य और कुशल नेतृत्व हो। शिक्षा का कार्य बालकों को इस प्रकार से शिक्षित करता है कि वे समाज का पथ प्रदर्शन कर सकें, शासन का संचालन भली प्रकार से कर सकें, धार्मिक सिद्धांतों और आदर्शों का प्रचार और प्रसार कर सकें, सांस्कृतिक उत्थान कर सकें, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार कर सकें और औद्योगिक क्षेत्र में नयी-नयी लाभप्रद योजनाएँ बना सकें, जिससे सभी क्षेत्रों में राष्ट्र की समृद्धि और विकास हो सके। विभिन्न शैक्षिक क्रियाओं में भाग लेने से बालकों में सद्गुणों का विकास होता है, अनुशासन की भावना पैदा होती है और वे नेतृत्व के लिए तैयार होते हैं। इस संबंध में **आर. एस. मणि** (R.S. Mani) ने लिखा है, **''विशेष रूप से इस समय जबकि देश में प्रजातंत्र जीवन का ढंग हो गया है, अच्छे नेतृत्व के लिए सेवा की भावना के साथ-साथ अच्छे प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।''**

3. **संस्कृति एवं सभ्यता की सुरक्षा एवं संरक्षण** (Security and Preservation of Culture and Civilization)–**डॉ. जाकिर हुसैन** का कहना है कि, **''केवल संस्कृति की सामग्री द्वारा ही शिक्षा की प्रक्रिया को गति दी जा सकती है। केवल इसी सामग्री से मानव मस्तिष्क का विकास हो सकता है।'' इस प्रकार** शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्र की संस्कृति और सभ्यता की सुरक्षा एवं संरक्षण करना है। व्यक्ति अपनी सभ्यता और संस्कृति को, जिस पर उसे गर्व होता है, सुरक्षित रखना चाहता है तथा उसे भावी पीढ़ी को हस्तांतरित करना चाहता है, इस कार्य को शिक्षा ही करती है। शिक्षा के अभाव में यह कार्य किसी दूसरे साधन के द्वारा संभव नहीं है। शिक्षा केवल संस्कृति की सुरक्षा और हस्तांतरण ही नहीं करती वरन् उसका विकास और सुधार भी करती है, जिससे संस्कृति जीवंत बनी रहती है। **ओटावे** (Ottaway) का मत है, **''शिक्षा का एक कार्य समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को उसके युवक और कार्यशील सदस्यों को हस्तांतरित करना है।''**

4. **सार्वजनिक हित की प्रमुखता** (Importance of General Welfare)–किसी राष्ट्र की उन्नति और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके नागरिकों में सार्वजनिक हित के लिए अपना तन, मन, धन बलिदान करने की भावना हो। शिक्षा का कार्य इस प्रकार का प्रशिक्षण देना है, जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों को अधिक महत्त्व दें और सार्वजनिक महत्त्व के लिए अपने हितों को बलिदान करना अपना परम धर्म समझें। हमारे देश में आज पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष फैला हुआ है, जिससे देश का बड़ा अहित हो रहा है। अत: शिक्षा का कार्य इन बुराइयों को दूर करके सार्वजनिक हितों को प्रमुखता देना है। शिक्षा के इस कार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए **डॉ. राधाकृष्णन** ने लिखा है, **''भारत में प्रजातंत्र का भविष्य अनुशासन में रहने की इच्छा और व्यक्तिगत बलिदान पर आधारित है। यदि भारत को स्वाधीन, संयुक्त और प्रजातंत्रीय रखना है तो शिक्षा के द्वारा लोगों को एकता के लिए न कि प्रादेशिकता के लिए, प्रजातंत्र के लिए न कि अधिनायकवाद के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।''**

5. **चरित्र एवं नैतिकता का प्रशिक्षण** (Training of Character and Morality)–राष्ट्रीय जीवन में चरित्र एवं नैतिकता का एक विशेष स्थान है। चारित्रिक एवं नैतिक गुणों से युक्त व्यक्ति राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति है। **बीचर** (Beecher) ने कहा है कि, **''प्रत्येक युवक को याद रखना चाहिए कि सभी सफल कार्यों का आधार नैतिकता है।''** अतएव शिक्षा का एक प्रमुख कार्य बालकों को चरित्र एवं

नोट

नैतिकता का प्रशिक्षण देना है, जिससे इन गुणों से युक्त होकर वे राष्ट्र का कल्याण कर सकें। गाँधी जी का भी कहना है कि शिक्षा का प्रमुख कार्य नैतिक शिक्षा प्रदान करना है। शिक्षा के इस कार्य का समर्थन करते हुए **हरबार्ट** (Herbart) ने कहा है, **''अच्छे नैतिक चरित्र का विकास ही शिक्षा है।''**

6. **सामाजिक सुधार और उन्नति** (Social Reformation and Progress)–शिक्षा का कार्य समाजिक सुधार एवं समाज की उन्नति करना है। शिक्षा व्यक्ति को समाज की संगठित परंपराओं से परिचित कराती है और उनको बदलने तथा सुधारने की क्षमता उत्पन्न करती है। शिक्षा व्यक्ति और समाज को उचित दिशा की ओर प्रगति करने के लिए अवसर प्रदान करती है। शिक्षा के इस कार्य के विषय में **ड्यूई** (Dewey) ने लिखा है, **''शिक्षा में निश्चित और अल्पतम साधनों द्वारा सामाजिक और संस्थागत उद्देश्य के साथ-साथ समाज के कल्याण, प्रगति और सुधार में रुचि का विकसित होना पाया जाता है।''**
7. **राष्ट्रीय एकता** (National Integration)–किसी राष्ट्र के सतत् विकास के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना हो। जातीयता, सांप्रदायिकता, प्रांतीयता, भाषावाद, गरीबी-अमीरी आदि अनेक कारणों से लोगों में कटुता, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाएँ पैदा हो जाती हैं, जिससे कभी-कभी बड़े संघर्ष हो जाते हैं और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जाती है। शिक्षा का कार्य कटुता, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि इस प्रकार की संकीर्ण भावनाओं को पनपने से रोकना है और प्रेम, सहयोग, मित्रता, सहकारिता तथा देश प्रेम की भावनाएँ उत्पन्न करना है, जिससे देश की राष्ट्रीय एकात बनी रहे। **एन. पी. सेन** का कहना है कि, **''भाषा संबंधी विभिन्नताओं, सांस्कृतिक कठोरताओं और रीति-रिवाजों तथा व्यवहारों के कारण पृथकताओं को दूर करना बड़ा कठिन है। जब तक शिक्षा द्वारा यह नहीं किया जाएगा तब तक निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन है।''** राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए **नेहरू जी** ने कहा, **''राष्ट्रीय एकता के प्रश्न में जीवन की प्रत्येक वस्तु आ जाती है। शिक्षा का स्थान इन सबसे ऊपर है।''**
8. **राष्ट्रीय अनुशासन** (National Discipline)**–डॉ. राधाकृष्णन्** (Dr. Radhakrishnan) के अनुसार, **''राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय मेल का आधार है–राष्ट्रीय अनुशासन।''** राष्ट्रीय अनुशासन राष्ट्र के विकास की पहली आवश्यकता है। राष्ट्रीय अनुशासन से राष्ट्र महान बनता है। राष्ट्रीय अनुशासन से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय अनुशासन स्थापित करने का उत्तरदायित्व शिक्षा का है। शिक्षा राष्ट्र के नागरिकों में संगठन, सहयोग, त्याग, कर्तव्यपालन, देशभक्ति आदि की भावना विकसित करती है। इन गुणों के विकास से देशवासियों को राष्ट्रीय अनुशासन के लिए प्रशिक्षण मिलता है।

3.7 सारांश (Summary)

शिक्षा आयोग (1964-66) के प्रतिवेदन का शीर्षक ही है, **''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास''।** यह शीर्षक इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय विकास हो सकता है। किसी भी राष्ट्र का उत्थान-पतन उसके नागरिकों पर निर्भर करता है। यदि उसके नागरिक कुशल, योग्य और ईमानदार हैं तो वह राष्ट्र उन्नतिशील और समृद्धशाली होगा और यदि उसके नागरिक अकुशल, अयोग्य और भ्रष्ट हैं तो वह राष्ट्र पतन की ओर जाएगा।

3.8 शब्दकोश (Keywords)

1. **सुधार** (Reformation): सुधार प्रक्रिया
2. **राष्ट्रीय विकास** (National Development): राष्ट्र का विकास

3.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मानव जीवन में शिक्षा की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. शिक्षा के कार्यों की विवेचना कीजिए। आपकी दृष्टि में उनमें कौन-कौन से कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं?

नोट

3. व्यक्तिगत विकास से संबंधित शिक्षा के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. शिक्षा सांस्कृतिक विरासत के संप्रेषण का कार्य किस प्रकार करती है?
5. मानव मूल्यों के विकास के लिए विद्यालय में की जाने वाली क्रियाओं का वर्णन कीजिए।
6. सामाजिक संसक्ति के क्षेत्र में शिक्षा के कार्यों का वर्णन कीजिए।
7. राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. मानव	2. व्यक्तित्व	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. गलत		

3.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–4 : आदर्शवाद और शिक्षा (Idealism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
4.1 आदर्शवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Idealism)
4.2 आदर्शवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Idealism)
4.3 आदर्शवाद और शिक्षा (Idealism and Education)
4.4 आदर्शवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Idealism to Education)
4.5 सारांश (Summary)
4.6 शब्दकोश (Keywords)
4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदर्शवाद का अर्थ व परिभाषा जानने हेतु।
- आदर्शवाद के मूलभूत सिद्धांत जानने हेतु।
- आदर्शवाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए हमें उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: हम सर्वप्रथम आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

4.1 आदर्शवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Idealism)

आदर्शवाद पाश्चात्य दर्शन की प्राचीन विचारधारा है। ज्ञान की किरण भारत के बाद यदि कहीं पहले प्रस्फुटित हुई तो वह यूनान (ग्रीस) देश में। यूनान पाश्चात्य दर्शन की गुरुस्थली है। ईसा की कई शताब्दी पूर्व वहाँ तत्व ज्ञान का विकास होने लगा था। पश्चिमी जगत में यूनानी दार्शनिक **थेल्स** (Thales, 640–550 ई. पू.) सबसे

नोट

पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस ब्रह्मांड की रचना के विषय में अपने तर्क प्रस्तुत किए। उनके बाद इटली के दार्शनिक **ज़ैनोफेनीज** (Zenophanes, 570–480 ई. पू.) ने अद्वैतवादी विचार प्रस्तुत किए। ये पश्चिमी जगत के सर्वप्रथम अद्वैतवादी एवं सर्वेश्वरवादी दार्शनिक थे। **ज़ैनोफेनीज** के बाद पश्चिमी दर्शन के क्षेत्र में यूनान के **सुकरात** (Socrate, 469–309 ई. पू.) का नाम आता है। सुकरात भी आध्यात्मिक विचारधारा के व्यक्ति थे परंतु वे अपने इन विचारों को फुटकर रूप में यत्र-तत्र प्रकट करने तक सीमित रहे। उनके बाद पश्चिमी दर्शन के जगत में उनके ही शिष्य **प्लेटो** (Plato, 427–347 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ। यूँ प्लेटो यूनान के राजघराने के वंशज थे, बड़े ठाट-बाठ से रहते थे, शरीर सौष्ठव और मान-प्रतिष्ठा के प्रति सचेत थे, परंतु उनका दार्शनिक चिंतन सुकरात के आध्यात्मवादी दर्शन से प्रभावित था। वे यूनान के पहले दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन को बड़े व्यवस्थित और तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। प्लेटो **आत्मा-परमात्मा** के अस्तित्व को स्वीकार करते थे और यह मानते थे कि परमात्मा इस सृष्टि का नियामक कारण अर्थात् कर्ता है और विचार इसके उपादान कारण अर्थात् आधार हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह भौतिक जगत विचारों के जगत का प्रकटीकरण मात्र है। उनका तर्क है कि भौतिक जगत **परिणामशील** है इसलिए यह नित्य नहीं हो सकता, सत्य नहीं हो सकता और विचारों का जगत परिणामशील नहीं है इसलिए वह नित्य है, सत्य है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इन विचारों में एक दैवीय और नैतिक व्यवस्था होती है। विचारों की दैवीय एवं नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने और उन्हें शाश्वत मानने के कारण पश्चिमी जगत में उनकी इस विचारधारा को **विचारवाद** (Idea-ism, Idealism) की संज्ञा दी गई। प्लेटो के बाद उनके शिष्य **अरस्तु** (Aristotle, 384–321 ई. पू.) ने उनकी इस विचारधारा को कुछ अपने ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होनें विचारों के जगत के साथ-साथ वस्तुजगत के अस्तित्व को भी स्वीकार किया। आधुनिक काल में फ्रांस के **डेकार्टे** (Decartese, 1596–1650), हालैंड के **स्पिनोजा** (Spinoza, 1632–1677), जर्मनी के **लाइबनीज** (Leibniz, 1646–1716), आयरलैंड के **बर्कले** (Bishop Berkley, 1885–1735), जर्मनी ने **कांट** (Kant, 1724–1804), **फिश्ते** (Fichte, 1762–1814), **हीगल** (Hegel, 1770–1831), **शैलिंग** (Shelling, 1775–1854) और **शॉपेनहावर** (Schopenhaaer, 1788–1860) आदि दार्शनिकों ने इस आध्यात्मिक विचारधारा को थोड़े-बहुत अंतर से आगे बढ़ाया। अरस्तु को छोड़कर अन्य सभी के विचारों में दो मूलभूत तथ्य समान हैं। पहला यह कि ये सब ईश्वर को अंतिम सत्य (Ultimate Reality) मानते हैं और उसे ही इस सृष्टि का कर्ता मानते हैं। दूसरा यह कि ये सभी मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को पहचानना मानते हैं और यह मानते हैं कि यह तभी संभव है जब मनुष्य शाश्वत मूल्यों और नैतिक नियमों का पालन करें। **शाश्वत मूल्यों** और नैतिक नियमों में विश्वास करने के कारण अब इस विचारधारा को **आदर्शवाद** (Ideal-ism, Idealism) कहा जाता है।

आधुनिक युग में इस विचारधारा को आगे बढ़ाने और शिक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग करने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों में स्विटज़रलैंड के **पैस्टालॉजी** (Pestalozze), जर्मनी के **हरबार्ट** (Herbart) और **फ्रोबेल** (Froebel), इंग्लैंड के **नन** (Nunn), इटली के **जेंटिले** (Gentle) और अमेरिका के **हार्न** (Horn) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

नोट्स प्लेटो के अनुसार, विचारों की दैवीय व्यवस्था और आत्मा–परमात्मा के स्वरूप को जानना ही सच्चा ज्ञान है।

आदर्शवाद की तत्व मीमांसा

प्लेटो ने इस ब्रह्मांड को दो भागों में विभाजित किया है–**विचार जगत** और **वस्तु जगत**। विचारों को वे अनादि, अनंत और अपरिवर्तनशील मानते थे। उनकी दृष्टि से इन विचारों में एक दैवीय और नैतिक व्यवस्था होती है जिसकी सहायता से ईश्वर जगत का निर्माण करता है। विचारों को नैतिक व्यवस्था में विश्वास करने के कारण उनकी विचारधारा को **नैतिक आदर्शवाद** (Moralistic Idealism) कहा जाता है। आत्मा को प्लेटो ईश्वर का

नोट

अंश मानते थे। इनके अनुसार आत्मा इस संसार में आने से पहले विचारों के जगत में रहती है इसलिए यहाँ आने के बाद यह विचारों के जगत में ही जाने की इच्छुक रहती है।

लाइबेनीज इस जगत के प्रत्येक पदार्थ में एक स्वतंत्र आध्यात्मिक तत्व-चिद्बिंदुओं (Monads) की सत्ता स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में यह वस्तु जगत अनेक चिद्बिंदुओं का योग है। अनेक चिद्बिंदुओं की सत्ता स्वीकार करने के कारण उनकी विचारधारा को **बहुतत्ववादी आदर्शवाद** (Pluralistic Idealism) कहा जाता है।

बर्कले का मत है कि कोई भी वस्तु गुणों का समूह मात्र होती है और गुणों की प्रतीति हमें आत्मा (मन, Mind) के कारण होती है, वस्तु का अपने में कोई अस्तित्व नहीं होता। उनकी इस विचारधारा को **आत्मनिष्ठ आदर्शवाद** (Subjective Idealism) कहा जाता है।

कांट ने आत्मा (मन, Mind) के स्थान पर तर्कनाबुद्धि (Intellect) को वस्तु के ज्ञान का आधार माना है। उनके अनुसार ज्ञान पदार्थ से मन की ओर प्रकाशित नहीं होता, अपितु मन से पदार्थ की ओर प्रकाशित होता है। जब तक मन पदार्थ की ओर नहीं जाता, उस पदार्थ के प्रति ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं होतीं। ज्ञान प्राप्ति के संबंध में उन्होंने दूसरा तथ्य यह स्पष्ट किया कि इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान विशृंखलित होता है, उसे समन्वित करने का कार्य तर्कनाबुद्धि करती है, आत्मा नहीं। कांट की यह विचारधारा **बुद्धिवाद** (Intellectualism) के नाम से विख्यात है।

इन सबके विपरीत **हीगल** द्वैतवादी हैं; उन्होंने आत्मा (मन, Mind) और वस्तु (पुद्गल, Matter), दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। हीगल के अनुसार आत्मा का चरम रूप परमात्मा है और वही वस्तु जगत का निर्माण करने वाला है। इसलिए उनकी विचारधारा को **निरपेक्ष आदर्शवाद** (Absolute Idealism) की संज्ञा दी जाती है।

आदर्शवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्लेटो के अनुसार विचारों की दैवीय व्यवस्था और आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानना ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञान को उन्होंने तीन रूपों में बाँटा है–**इंद्रियजन्य, सम्मतिजन्य** और **चिंतनजन्य। इंद्रियजन्य** ज्ञान को वे असत्य मानते थे क्योंकि इंद्रियों द्वारा हम जिन वस्तुओं एवं क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं वे सब परिवर्तनशील और एतदर्श असत्य हैं। सम्मतिजन्य ज्ञान को वे आंशिक रूप में सत्य मानते थे क्योंकि वह भी **अनुमानजन्य** होता है और **अनुमान सत्य** भी हो सकता है, असत्य भी। उनके अनुसार चिंतनजन्य ज्ञान ही सत्य होता है क्योंकि वह हमें विचारों के रूप में प्राप्त होता है और विचार अपने में अपरिवर्तनशील और एतदर्श सत्य होते हैं। इस सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने नैतिक जीवन पर बल दिया है और नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए विवेक पर बल दिया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ज्ञान का आधार विवेक होता है। **बर्कले** सत्य ज्ञान की प्राप्ति का आधार आत्मा (मन, Mind) को मानते थे। **कांट** ने आत्मा के स्थान पर तर्कनाबुद्धि को ज्ञान का आधार माना है। उनका तर्क है कि प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यवस्थित होता है, तर्कनाबुद्धि से ही वह व्यवस्थित होता है।

आदर्शवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्लेटो के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति के लिए वे तीन सनातन मूल्यों–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति आवश्यक समझते थे और इन मूल्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक जीवन जीने पर बल देते थे। नैतिक जीवन के लिए उन्होंने मनुष्य में चार सद्गुणों–संयम, धैर्य, ज्ञान और न्याय का होना आवश्यक माना है। उनका विश्वास है कि सद्गुण आत्मा के गुण हैं और जो मनुष्य इन्हें जितना अधिक प्राप्त कर लेता है वह उतना ही अधिक सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की ओर बढ़ जाता है और अंत में आत्मानुभूति करने में सफल होता है। बर्कले, कान्ट और हीगल आदि आदर्शवादियों ने भी नैतिक नियमों के पालन पर बल दिया है। उनके ये नैतिक नियम प्राकृतिक अथवा सामाजिक नियमों से ऊपर आध्यात्मिक नियम हैं।

आदर्शवाद की परिभाषा

आदर्शवाद को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया है। यहाँ उन सब परिभाषाओं को प्रस्तुत करना संभव नहीं। उन सबके विषय में हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि उनमें आदर्शवाद के किसी एक अथवा कुछ

नोट

मूल सिद्धांतों पर ही बल दिया गया है, वे उसको संपूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं। पाश्चात्य विद्वान **हेंडरसन** द्वारा दी गई परिभाषा से अधिकतर विद्वान सहमत हैं। उनके शब्दों में–

आदर्शवाद मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष पर बल देता है, क्योंकि आदर्शवादियों के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य और जीवन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। एक तत्वज्ञानी आदर्शवादी यह विश्वास करता है कि मनुष्य का सीमित मन उस असीमित मन से निकलता है, व्यक्ति और यह संसार दोनों बुद्धि (विचार) की अभिव्यक्ति हैं और भौतिक संसार की व्याख्या मानसिक संसार के आधार पर की जा सकती है।

(Idealism emphasises the spiritual side of man because to the idealists spiritual values are the most important aspects of man and of life. A metaphysical idealist would believe that man's finite mind springs from the infinite mind that both the individual and the world are expressions of intelligence, that the material world is to be explained by the mental.**—Stella V. Henderson.)**

परंतु यह परिभाषा स्वयं में इतनी गुंफित है कि इसके प्रत्येक पद (शब्द) की व्याख्या की आवश्यकता है। आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान, एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

आदर्शवाद पाश्चात्य दर्शन की यह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को ईश्वर द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि इस वस्तु जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत श्रेष्ठ है। यह ईश्वर को अंतिम सत्य और आत्मा को ईश्वर का अंश मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है, जिसे आध्यात्मिक जीवन जीने अर्थात् शाश्वत मूल्यों और नैतिक नियमों के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त-स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. आत्मा को ..... ईश्वर का अंश मानते थे।
2. हीगल के अनुसार ..... का चरम रूप परमात्मा है।

एक बात जिस पर सभी आदर्शवादी एकमत हैं, वह यह है कि ये सभी वस्तु जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत को श्रेष्ठ मानते हैं और ईश्वर को अंतिम सत्य (Ultimate Reality) मानते हैं।

4.2 आदर्शवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Idealism)

आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड ईश्वर द्वारा निर्मित है**–आदर्शवादियों का विश्वास है कि इस ब्रह्मांड की कोई नियामक सत्ता अवश्य है और यह सत्ता अनादि तथा अनंत है और इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। प्लेटो की दृष्टि से यह सत्ता ईश्वर है जो विचारों की सहायता से सृष्टि की रचना करता है। हीगल के अनुसार ब्रह्मांड के मूल में दो तत्व हैं–एक आत्मा (मनस्, Mind) और दूसरा प्रकृति (पुद्गल, Matter)। उनके अनुसार परमात्मा (परम मन, Super Mind) पदार्थ (Matter) से इस ब्रह्मांड की रचना करता है।
2. **भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत श्रेष्ठ है**–प्लेटो ने इस ब्रह्मांड को दो जगतों में बाँटा है–विचार जगत और वस्तु जगत। उनका स्पष्टीकरण है कि विचार नित्य और अपरिवर्तनशील हैं इसलिए वे सत्य हैं और उनसे बना विचारों का जगत भी सत्य है। इसके विपरीत पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील

नोट

हैं इसलिए असत्य है और उनसे बना जगत भी असत्य है। उनके अनुसार यह भौतिक संसार विचारजन्य संसार की अभिव्यक्ति मात्र है। हीगल भी दो जगत मानते थे–आत्मिक जगत और पदार्थ जगत। अंतर इतना है कि वे आत्मा के साथ-साथ पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि से दोनों जगत ही सत्य हैं। परंतु इतना वे भी मानते थे कि आत्मिक जगत इस पदार्थ के जगत से श्रेष्ठतर है।

3. **आत्मा एक आध्यात्मिक तत्व है और परमात्मा सर्वश्रेष्ठ आत्मा है**–यद्यपि आत्मा के संबंध में सभी आदर्शवादी एक मत नहीं हैं, कुछ उसे परमात्मा का अंश मानते हैं और कुछ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं, परंतु यह सभी मानते हैं कि आत्मा अनादि और अनंत है। उनका कहना है कि आत्मा को इंद्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसे बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। परमात्मा के विषय में भी आदर्शवादी एकमत नहीं हैं, परंतु अधिकतर आदर्शवादी उसे सर्वश्रेष्ठ आत्मा के रूप में देखते हैं।
4. **मनुष्य संसार की सवश्रेष्ठ रचना है**–आदर्शवादी मनुष्य को सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य के पास अन्य प्राणियों की भाँति भौतिक शक्तियाँ तो होती ही हैं, उनके साथ-साथ उसमें आध्यात्मिक शक्तियाँ और होती हैं। ये आध्यात्मिक शक्तियाँ ही उसे सभ्यता, संस्कृति, कला, नीति और धर्म को जन्म देने और उनका विकास करने में सहायक होती हैं जिनसे उसका भौतिक जीवन सुखमय होता है और आध्यात्मिक अनुभूति के लिए आध्यात्मिक पर्यावरण तैयार होता है।
5. **मनुष्य का विकास उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों पर निर्भर करता है–** आदर्शवादियों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप भौतिक एवं आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है। उनका स्पष्टीकरण है कि भौतिक ज्ञान की प्राप्ति भौतिक शक्ति (इंद्रियों) द्वारा होती है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति आध्यात्मिक शक्ति (आत्मा) द्वारा होती है और इस प्रकार मनुष्य का भौतिक विकास उसकी भौतिक शक्तियों के आधार पर होता है और आध्यात्मिक विकास आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा होता है। उनका स्पष्टीकरण है कि आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा वह सभ्यता, संस्कृति, कला, नीति और धर्म का निर्माण करता है और उनकी सहायता से अपने भौतिक पर्यावरण पर नियंत्रण करने और आत्मानुभूति करने में सफल होता है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा ईश्वर प्राप्ति है**–आदर्शवादी मनुष्य जीवन को महत्त्वपूर्ण और सप्रयोजन मानते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य के अंदर आत्मा का निवास है। यह आत्मा सूक्ष्म, अनादि और अनंत है। प्रत्येक प्राणी इस दृष्टि से पूर्ण है। परंतु अज्ञानता के कारण वह इस पूर्णता को समझ नहीं पाता और इसलिए ज्ञान और शक्ति का अनंत भंडार होते हुए भी वह अपने को ज्ञानहीन और शक्तिहीन समझता है। मानव शरीर द्वारा पूर्णता की अनुभूति होती है। अतः मनुष्य योनि पाकर हमें उसकी अनुभूति करनी चाहिए, तब हम संसार के कष्टों से बच जाएँगे और हमें परमानंद की अनुभूति होगी। कुछ आदर्शवादी इसी को आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति कहते हैं। इस प्रकार आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम उद्देश्य आत्मानुभूति, ईश्वर प्राप्ति, परम सत्य अथवा परम आनंद की प्राप्ति है।
7. **आत्मानुभूति अथवा ईश्वर प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक मूल्य, सत्यम्, शिवम् और सुदंरम् की प्राप्ति आवश्यक होती है**–प्लेटो तीन सनातन मूल्यों में विश्वास करते थे। ये मूल्य हैं–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम्। हम जानते हैं कि कुछ आदर्शवादी प्रत्यय पर अधिक बल देते हैं और कुछ आत्मन् पर और इन दोनों का परम रूप परमात्मा है। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् आत्मा तथा परमात्मा रूपी रवे की तीन सतह हैं जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जो सत्य है वही शिव है और जो शिव है वही सुदंर है। इसी प्रकार जो सुंदर है वह शिव है और जो शिव है वही सत्य है। यदि हम विचार कर देखें तो इन तीनों आध्यात्मिक मूल्यों–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् का आधार मानव मस्तिष्क और उसकी प्रकृति ही है। मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव मस्तिष्क की तीन प्रक्रियाएँ हैं–**जानना, संवेग** अथवा **अनुभूति** और वांछा अर्थात् कुछ करने की इच्छा। मनुष्य किसी वस्तु अथवा क्रिया के विषय में जानकर सत्य-असत्य में भेद करता है और सत्य को अपनाता और असत्य को त्यागता चलता है। ज्ञान के आधार पर ही वह सुंदर और असुंदर में भेद करता है, सुंदरता की अनुभूति से आनंद लाभ करता है और असुंदर एवं कुरूप

नोट

वस्तुओं तथा क्रियाओं को त्याग देता है। इस प्रकार मानव मस्तिष्क की प्रवृत्ति सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति की ओर होती है।

8. **आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है**–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् आध्यात्मिक मूल्य हैं। इनको इस शरीर से ही प्राप्त किया जाता है, इसलिए इस शरीर को उसके योग्य बनाना आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों की भाँति ही लड़ते-झगड़ते रहते हैं और पशुओं की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। सामाजिक भावना उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है और वे एक-दूसरे के सुख की बात सोचने लगते हैं। आदर्शवादियों ने हमें बताया कि हम सब आत्माधारी हैं इसलिए समान हैं, और इसलिए एक प्राणी के दूसरे प्राणी के प्रति कुछ कर्तव्य हैं। कर्तव्यों को सामाजिक मूल्य, धर्म, नीति और आदर्श, अनेक रूपों में संगठित किया गया है। आदर्शवादियों का कहना है कि मनुष्य, मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में ही सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् के दर्शन कर सकता है। इस प्रकार आदर्शवाद मनुष्य के इहलोक और परलोक दोनों को सुखमय बनाने के लिए आधार प्रस्तुत करता है।
9. **राज्य एक सर्वोच्च सत्ता है**–प्राय: सभी आदर्शवादी राज्य को व्यक्ति से उच्च स्थान देते हैं। यूनानी दार्शनिक प्लेटो जब सत्य एवं पूर्ण विचार करने वाले व्यक्तियों की कल्पना नहीं कर सके तो उन्होंने सत्य विचार (नियम, Law) को ही राज्य स्वीकार किया। हीगल और फिश्टे ने भी राज्य को आदर्श और सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया है।

क्या आप जानते हैं आदर्शवादी मनुष्य जीवन को महत्त्वपूर्ण और सप्रयोजन मानते हैं।

4.3 आदर्शवाद और शिक्षा (Idealism and Education)

यूनानी (ग्रीस) दार्शनिक **प्लेटो** सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने आदर्शवादी दार्शनिक विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया और साथ ही अपने इन दार्शनिक विचारों के आधार पर शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया, उसके उद्देश्य निश्चित किए, उसकी पाठ्यचर्या निश्चित की, उसकी शिक्षण विधियाँ स्पष्ट कीं, उसके क्षेत्र में अनुशासन के स्वरूप को निश्चित किया और उसे स्थापित करने की विधियाँ निश्चित कीं। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के स्वरूप निश्चित किए, उनके आपसी संबंध स्पष्ट किए और शिक्षा की अन्य समस्याओं के दार्शनिक हल प्रस्तुत किए। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने शैक्षिक विचारों को मूर्तरूप देने के लिए **अकादमी** (Academy) नाम से एक शिक्षा संस्था (विद्यालय) स्थापित की। उनके बाद अन्य आदर्शवादी दार्शनिकों ने भी शिक्षा के स्वरूप एवं उसके विभिन्न अंगों के विषय में अपने विचार व्यक्त किए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदर्शवाद ने शिक्षा को बहुत प्रभावित किया है। इस बीच संसार में अनेक परिवर्तन हुए हैं, अनेक विचारधाराओं ने जन्म लिया है और उन्होंने शिक्षा पर अपना-अपना प्रभाव भी डाला है, लेकिन आज भी शिक्षा किसी न किसी रूप में आदर्शवाद से प्रभावित है। यहाँ आदर्शवादी शिक्षा का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

आदर्शवादी शिक्षा को ज्ञान और प्रक्रिया दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन आदर्शवादी प्राय: शिक्षा और ज्ञान में भेद नहीं करते थे। **प्लेटो** के अनुसार–

शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को यह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वे योग्य हैं।
(Education consists in giving to the body and soul all the perfection of which they are susceptible.**—Plato)**

नोट

परंतु आधुनिक युग के आदर्शवादी शिक्षा को प्रक्रिया रूप में स्वीकार करते हैं। जर्मन शिक्षाशास्त्री **हरबार्ट** के अनुसार–

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है।

(Education is the process of attaining virtues.**—Herbart)**

शिक्षा के उद्देश्य

अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानना–आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को जानना है, इसी को आत्मानुभूति, आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति, ईश्वर की प्राप्ति, आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति अथवा परम आनंद की प्राप्ति कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है? आदर्शवादियों के अनुसार इसके लिए मनुष्य को चार सोपान पार करने होते हैं। प्रथम सोपान पर उसे अपने **प्राकृतिक** 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत मनुष्य का शारीरिक विकास आता है। दूसरे सोपान पर उसे अपने **सामाजिक** 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, चारित्रिक एवं नागरिकता का विकास आता है। तीसरे सोपान पर उसे अपने **मानसिक** 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत मानसिक, बौद्धिक एवं विवेक शक्ति का विकास करना होता है। और चौथे तथा अंतिम सोपान पर उसे अपने **आध्यात्मिक** 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत आध्यात्मिक चेतना का विकास आता है। आदर्शवादियों के अनुसार इन चारों सोपानों को पार करने का अर्थ है–**पूर्ण व्यक्तित्व** का विकास (Development of Complete Personality)। आदर्शवादी इन्हीं सबको शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करते हैं। यहाँ इन पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

1. **शारीरिक एवं मानसिक विकास–**आदर्शवादी यही मानते हैं कि आध्यात्मिक पूर्णता की अनूभूति के लिए सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य के प्राकृतिक 'स्व' के विकास की है इसलिए वे शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य के शारीरिक विकास एवं मानसिक विकास पर बल देते हैं। कोई मनुष्य अपना शारीरिक एवं मानसिक विकास तभी कर सकता है जब वह ऐसा आहार ले एवं ऐसे विचार करे जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी हों और साथ ही अन्यथा आहार एवं विचार पर नियंत्रण रखे। परंतु शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए शारीरिक एवं मानसिक विकास की बात उन्हें मान्य नहीं है। उनके लिए शरीर और मन आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं। प्लेटो ने स्वयं अपनी अकादमी में बच्चों के शारीरिक एंव मानसिक विकास पर बल दिया था, परंतु वे इसे शिक्षा का एक सहायक उद्देश्य मानते थे, मुख्य उद्देश्य नहीं। आज के आदर्शवादी भी इसे शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य तो निश्चित करते हैं परंतु उसे स्वीकार साधन के रूप में ही करते हैं।
2. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास–**आदर्शवादियों के अनुसार आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति के मार्ग का दूसरा सोपान सामाजिक 'स्व' है अत: शिक्षा को मनुष्य के सामाजिक 'स्व' का विकास करना चाहिए सामाजिक 'स्व' के विकास का अर्थ है–मनुष्य समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करता है और उसकी पसंद सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति पर निर्भर करती है। इस स्तर पर मनुष्य अपने प्राकृतिक 'स्व' (मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार) पर नियंत्रण करता है। इसे ही आज समाजशास्त्रीय भाषा में सामाजिक विकास कहते हैं। आदर्शवादी यह बात मानते हैं कि मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संस्कृति है; रहन-सहन एवं खान-पान की विधियाँ, रीति-रिवाज, भाषा, साहित्य, कला, संगीत और मूल्य हैं। ये ही उसे प्राकृतिक 'स्व' से सामाजिक 'स्व' की ओर अग्रसर करते हैं और सामाजिक 'स्व' से आध्यात्मिक 'स्व' की ओर अग्रसर करते हैं इसलिए वे शिक्षा द्वारा मनुष्य की संस्कृति के संरक्षण और विकास पर बल देते हैं और इसे शिक्षा का एक उद्देश्य निश्चित करते हैं। इंग्लैंड के सर टी. पी. नन तो इसे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते थे।
3. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास–**आदर्शवादी मनुष्य के सामाजिक 'स्व' के उच्चतम विकास के लिए उसके नैतिक एंव चारित्रिक विकास पर बल देते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि जब मनुष्य सामाजिक नियमों में आस्था रखता है और उनका पालन स्वेच्छा से करता है तब हम कहते हैं कि उसका नैतिक

नोट

विकास हो गया है, और जब किसी भी परिस्थिति में वह सद्मार्ग पर अडिग रहता है तो हम कहते हैं कि उसका चारित्रिक विकास हो गया है। प्लेटो व्यक्ति, समाज और राज्य सभी की दृष्टि से नैतिकता को परमावश्यक मानते थे। जर्मन शिक्षाशास्त्री हरबार्ट तो नैतिक विकास का ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानते थे।

4. **राज्य के लिए विशेषज्ञों का निर्माण**–हम जानते हैं कि मनुष्य ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में एक उच्च सामाजिक जीवन का विकास किया है और उसकी समुचित व्यवस्था के लिए राज्य का विकास किया है। इस संश्लिष्ट समाज अथवा राज्य के अस्तित्व की रक्षा और उसके संचालन के लिए प्रत्येक समाज अथवा राज्य को विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। प्लेटो के अनुसार राज्य को सैनिक, व्यापारी, शासक और सेवक आदि सभी चाहिए, अत: शिक्षा का एक उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञों का निर्माण करना होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने निम्न बौद्धिक स्तर परंतु शरीर से हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों के लिए सैनिक शिक्षा, उससे ऊँचे बौद्धिक स्तर के व्यक्तियों के लिए उत्पादन एवं उद्योग की शिक्षा, और इससे ऊँचे बौद्धिक स्तर के व्यक्तियों के लिए प्रशासनिक शिक्षा का विधान किया था।
5. **श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण**–प्लेटो, हीगल और फिश्टे आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने राज्य को सर्वोच्च सत्ता माना है। उनकी दृष्टि से शिक्षा का एक उद्देश्य राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिको का निर्माण करना होना चाहिए। श्रेष्ठ नागरिकों से उनका तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से था जो राज्य के प्रति समर्पित होते हैं, राज्य के उत्थान के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और राज्य हित के आगे अपने हित का त्याग करते हैं। यह वह स्थिति है जब व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ की ओर बढ़ता है। साफ जाहिर है कि ऐसे व्यक्तियों का सामाजिक 'स्व' विकसित होता है।
6. **बुद्धि एवं विवेक शक्ति का विकास**–आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति का तीसरा सोपान है–बौद्धिक 'स्व' का विकास। यह वह स्थिति है जब मनुष्य का व्यवहार सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति अथवा राज्य के नियमों से नियंत्रित न होकर उसकी बुद्धि एवं विवेक से नियंत्रित होता है। प्लेटो का तर्क है कि मनुष्य की बुद्धि एवं विवेक उसके समस्त आदर्शों, कृत्यों और आध्यात्मिक चेष्टाओं का आधार होते हैं। उनका तर्क है कि बिना बुद्धि के ज्ञान नहीं हो सकता और बिना ज्ञान के विवेक नहीं हो सकता और बिना विवेक के सत्य-असत्य, शिव-अशिव और सुंदर-असुंदर में भेद नहीं किया जा सकता और सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की प्राप्ति नहीं की जा सकती, अत: शिक्षा के द्वारा मनुष्य की बुद्धि एवं विवेक शक्ति प्राप्ति का विकास किया जाना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कांट तो सबसे अधिक बल मनुष्य के बौद्धिक विकास पर ही देते थे।
7. **आध्यात्मिक चेतना का विकास**–आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के मार्ग का चौथा और अंतिम सोपान है–आध्यात्मिक 'स्व' का विकास। आदर्शवादियों का विश्वास है कि जब मनुष्य अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक 'स्व' से ऊपर उठकर अपने बौद्धिक 'स्व' से नियंत्रित होने लगता है तो उसके बाद वह धीरे-धीरे स्वत: आध्यात्मिक 'स्व' के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है। सुकरात (Socrates) इसे जीवन का मूल उद्देश्य मानते थे। उनके शिष्य प्लेटो (Plato) ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य की प्रवृत्ति सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की ओर झुकी होती है, वह सदैव सत्य की खोज के लिए प्रयत्नशील रहता है और जो कल्याणकारी एवं सुंदर है, उसको स्वीकार करता है और जो कल्याणकारी एवं सुंदर नहीं है, उसका त्याग करता है। आदर्शवादी मनुष्य को इस प्रक्रिया में प्रशिक्षित करने पर बल देते हैं। ऐसा मनुष्य ही चिर सत्य, चिर शिव और चिर सौंदर्य की खोज कर सकता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा को जान सकता है, क्योंकि अपने निरपेक्ष रूप में सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् आत्मा-परमात्मा को ही प्राप्त हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

आदर्शवादी शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति निश्चित करते हैं और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास पर बल देते हैं और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को प्रमुख और अन्य विषयों एवं क्रियाओं को गौण स्थान देते हैं।

नोट

यूनानी (ग्रीक) आदर्शवादी दार्शनिक **प्लेटो** के अनुसार मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य **आत्मानुभूति** अथवा ईश्वर की प्राप्ति है और इसके लिए सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति आवश्यक होती है और ये तीनों आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य की क्रमशः बौद्धिक नैतिक एवं कलात्मक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त होते हैं। प्लेटो पाठ्यचर्या में उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं के समावेश पर बल देते थे जो मानव को उपर्युक्त क्रियाओं में दक्षता प्रदान करें। उन्होंने पाठ्यचर्या में बौद्धिक क्रियाओं के लिए भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित तथा शारीरिक विज्ञान का; नैतिक क्रियाओं के लिए धर्म, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र का और कलात्मक क्रियाओं के लिए विभिन्न कलाओं तथा संगीत का समावेश किया था।

जर्मन आदर्शवादी शिक्षा शास्त्री **हरबार्ट** मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए चारित्रिक एवं नैतिक विकास पर बल देते थे और इसके लिए पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, कला तथा संगीत को मुख्य स्थान देते थे। उनके मतानुसार पाठ्यचर्या में भूगोल, गणित तथा विज्ञान को गौण स्थान देना चाहिए।

इंग्लैंड के आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री **नन** महोदय की दृष्टि से पाठ्यचर्या में उन्हीं विषयों का समावेश किया जाना चाहिए जिनसे मनुष्य को मानव सभ्यता एवं संस्कृति की झलक मिल सके और जिनके द्वारा बच्चों को कुछ विशेष क्रियाओं में अनुशासित एवं प्रशिक्षित किया जा सके। नन महोदय ने विशेष क्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में वे क्रियाएँ आती हैं जो व्यष्टिगत एवं सामाजिक जीवन की रक्षा करती हैं; जैसे–स्वास्थ्य रक्षा, सामाजिक संगठन, शिष्ट, नैतिकता एवं धार्मिक आचरण। इसके लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में शरीर विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा धर्म आदि को स्थान दिया है। दूसरे वर्ग में सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण करने वाली सृजनात्मक क्रियाएँ आती हैं। इन क्रियाओं के प्रशिक्षण के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में साहित्य, कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा दस्तकारी को स्थान दिया है।

शिक्षण विधियाँ

आदर्शवादी इस तथ्य से परिचित हैं कि बच्चा प्रारंभ में अनुकरण द्वारा ही सीखता है इसलिए वे बच्चों के माता-पिता एवं शिक्षकों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे बच्चों के सम्मुख उच्च आचरण प्रस्तुत करें। शिक्षकों से वे यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे बच्चों के सम्मुख लेख, चित्रकला व संगीत आदि के उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत करें जिनका अनुकरण कर वे इनको सीखें। वे शिक्षकों से यह भी अपेक्षा करते हैं कि छात्रों में अच्छे से अच्छा कर दिखाने की प्रेरणा एवं स्पर्धा उत्पन्न करें। उस स्थिति में अनुकरण विधि द्वारा शिक्षण अति लाभकारी होता है। बच्चों में मूल्यों के विकास और उनके चरित्र निर्माण के लिए वे बच्चों के सामने धर्म ग्रंथों और साहित्य के धीरोदात्त नायकों के चरित्र प्रस्तुत करने पर बल देते हैं। आदर्शवादियों का विश्वास है कि मनुष्य की प्रकृति अच्छे-बुरे में भेद करने की होती है, वे धीरोदात्त नायकों के गुणों का अनुकरण कर अच्छे मनुष्य बन सकेंगे।

आदर्शवादी यह मानते हैं कि मनुष्यों में सीखने की आंतरिक इच्छा होती है, वे जो कुछ देखते-सुनते अथवा अनुभव करते हैं उसके बारे में स्वयं सोचने लगते हैं, इसके लिए उन पर किसी बाह्य उद्दीपक के दबाव की आवश्यकता नहीं होती। इसे ही वे आत्मक्रिया कहते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि बच्चों को आत्मक्रिया द्वारा सीखने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए।

आदर्शवादी प्राचीन साहित्य का आदर करते हैं। वे मानते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में हमारे पूर्वजों द्वारा खोजा हुआ ज्ञान भरा पड़ा है, हमें उससे लाभ उठाना चाहिए। प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए वे स्वाध्याय विधि के पक्षधर हैं। परंतु इस विधि का प्रयोग शिक्षा के उच्च स्तर पर ही किया जा सकता है।

पाश्चात्य आदर्शवादी विचारकों ने अनेक शिक्षण विधियों का विकास किया है। प्लेटो के गुरु **सुकरात** वाद-विवाद, व्याख्यान और प्रश्नोत्तर विधि द्वारा उस समय के युवकों को शिक्षा दिया करते थे। वे किसी स्थान पर युवकों को एकत्रित कर उनके सामने प्रश्न प्रस्तुत करते थे, युवक उन प्रश्नों पर विचार करते थे, उत्तर देते थे, तब वे उन प्रश्नों के संदर्भ में अपना मत स्पष्ट करते थे। सुकरात के शिष्य **प्लेटो** ने प्रश्नोत्तर विधि के आधार पर संवाद विधि का विकास किया। प्लेटो ने अपनी अधिकतर रचनाएँ भी संवादों के रूप में लिखी हैं। प्लेटो के संवाद विश्वविख्यात हैं। उनके शिष्य **अरस्तू** आगमन और निगमन विधियों पर बल देते थे। आगमन विधि में विशिष्ट से सामान्य की ओर चला जाता है और निगमन विधि में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। पहले वे उदाहरण प्रस्तुत कर सामान्यीकरण करते थे और फिर इस प्रकार प्राप्त सिद्धांत का प्रयोग करते थे।

नोट

आधुनिक आदर्शवादी दार्शनिकों में **हीगल** ने तर्क विधि, **पैस्टालॉजी** ने अभ्यास और आवृत्ति विधि, **हरबार्ट** ने अनुदेशन प्रणाली और **फ्रोबेल** ने खेल विधि का विकास किया है।

आदर्शवादी विचारकों में **पैस्टालॉजी** पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने शिक्षा प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव मस्तिष्क की मानसिक क्रिया तीन स्तरों में होती है। प्रथम स्तर पर बच्चे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का अस्पष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे स्तर पर वे इस प्रकार प्राप्त वस्तुओं के ज्ञान के आधार पर उनमें भेद करते हैं, एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अलग करते हैं और तीसरे स्तर पर वे वस्तुओं के स्पष्ट संप्रत्ययों का निर्माण करते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की इस विधि को उन्होंने **'आनशांग'** नाम दिया। इस आधार पर ही उन्होंने अभ्यास एवं आवृत्ति विधि का विकास किया।

पैस्टालॉजी के शिष्य **हरबार्ट** ने सीखने की प्रक्रिया की बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि सीखने के लिए पहली आवश्यकता है–सीखने वाले का सीखने के लिए तत्पर होना, क्रियाशील होना। हरबार्ट की दृष्टि से क्रियाशील होने के लिए मस्तिष्क चार अवस्थाओं से होकर गुजरता है–निरीक्षण (Observation), आशा (Expectation), माँग (Demand) और क्रिया (Action)। उन्होंने मानसिक क्रिया के इस क्रम में शिक्षा के चार पद निश्चित किए–स्पष्टता (Clearness), संबंध (Association), व्यवस्था (System) और व्यावहारिक प्रयोग (method)। हरबार्ट के शिष्य **जिलट** ने हरबार्ट के इन चार पदों को पाँच पदों में बदल दिया–तैयारी (Preparation), प्रस्तुति (Presentation), तुलना (Comparison), सामान्यीकरण (Generalization) और प्रयोग (Application)। वर्तमान में इन्हीं पदों को **हरबार्ट की पंच पद प्रणाली** कहते हैं।

पैस्टालॉजी के एक अन्य शिष्य, आदर्शवादी चिंतक **फ्रोबेल** ने स्पष्ट किया कि बच्चों में सीखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इसलिए सीखने की प्रक्रिया आत्मप्रेरित और आत्म-नियंत्रित होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये दोनों गुण खेल क्रिया में होते हैं, इसलिए बच्चों को खेल द्वारा सीखने के अवसर देने चाहिए। उन्होंने खेल विधि का विकास इसी आधार पर किया था।

अनुशासन

आदर्शवादियों का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की इंद्रियाँ उसे भौतिक सुख की ओर आकर्षित करती हैं और उसकी आत्मा आध्यात्मिक आनंद की ओर। उनकी दृष्टि से आत्मा से शासित होना ही सच्चा अनुशासन है। आदर्शवाद के प्रतिपादक **प्लेटो** के अनुसार बच्चों को आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करने के लिए **नैतिक** आचरण आवश्यक होता है, अत: हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि बच्चों को अनैतिक आचरण से रोकें। इसके लिए वे कठोर नियंत्रण और दंड का विधान स्वीकार करते थे। परंतु दूसरी ओर उनका यह भी कहना था कि वास्तविक अनुशासन आंतरिक होता है जिसमें मनुष्य अपने अंत:करण से प्रेरणा प्राप्त करता है और तद्नुकूल आचरण करता है, अत: बच्चों को ऐसा पर्यावरण दिया जाए कि वे स्वत: नैतिक आचरण की ओर अग्रसर हों।

आधुनिक युग के आदर्शवादी विचारक जर्मन शिक्षाशास्त्री **फ्रोबेल** ने स्पष्ट किया कि दंड के भय से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती, बच्चे अनुशासन की प्राप्ति के लिए प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है। उनके शब्दों में–बच्चे पर नियंत्रण करते समय उसकी रुचियों का ध्यान रखना चाहिए और प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

हार्न ने भी आंतरिक अनुशासन पर बल दिया है। इनके शब्दों में–अनुशासन का प्रारंभ बाह्य रूप से होता है परंतु यह उत्तम होगा यदि इसका अंत आदत निर्माण और आत्मनियंत्रण द्वारा आंतरिक हो।

इस प्रकार सभी आदर्शवादी अनुशासन को आंतरिक भावना मानते हैं और छात्रों में इसका विकास करने के लिए विद्यालयों में उच्च पर्यावरण के निर्माण एवं विकास पर बल देते हैं। उचित पर्यावरण में बच्चे स्वत: अनुशासित होंगे, यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

शिक्षक

आदर्शवादी शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को शीर्ष स्थान देते हैं। उनके अनुसार बच्चों को पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाने में शिक्षक की बड़ी आवश्यकता होती है। उनका स्पष्टीकरण है कि बच्चों

नोट

को भौतिक विषयों का ज्ञान तो कोई भी व्यक्ति करा सकता है, परंतु उनके चरित्र निर्माण और आध्यात्मिक विकास के लिए योग्य, सच्चरित्र एवं तपे हुए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। **प्लेटो** के अनुसार ज्ञान के भंडार, दार्शनिक और अंतर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही शिक्षक बनने के अधिकारी होते हैं। **फ्रोबेल** के शब्दों में विद्यालय रूपी बाग में शिक्षक रूपी माली विद्यार्थी रूपी पौधों के विकास में सहयोग देते हैं। यह सहयोग वे तभी दे सकते हैं जब उन्हें बच्चों की प्रकृति और उनके विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट ज्ञान हो। अत: शिक्षक में छात्रों को समझने और उनका उचित ढंग से विकास कर सकने की शक्ति भी होनी चाहिए।

शिक्षार्थी

आदर्शवादी मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं। उनके अनुसार अनुभव का केंद्र मस्तिष्क नहीं, आत्मा होता है। इस दृष्टि से सब बच्चे समान होते हैं और पूर्णता की अनुभूति करने योग्य होते हैं। अधिकतर आदर्शवादी बच्चों को प्रारंभ से ही इस पूर्णता की अनुभूति कराने पर बल देते हैं। परंतु आधुनिक आदर्शवादी बच्चों की शारीरिक और मानसिक भिन्नता को स्वीकार करते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने में शरीर के विभिन्न अंग–कर्मेंद्रियाँ, ज्ञानेंद्रियाँ और मस्तिष्क कार्य करते हैं, और इनमें भिन्नता होती हैं। अत: बच्चों का विकास करते समय उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास, रुचि, रुझान और आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। स्विस् शिक्षाशास्त्री **पैस्टालॉजी** सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बच्चों की मनोवैज्ञानिक भिन्नता के आधार पर उनकी शिक्षा का विधान करने पर बल दिया था। उनके बाद उनके शिष्य जर्मन शिक्षाशास्त्री **हरबार्ट** और **फ्रोबेल** ने अपने गुरु के विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया।

विद्यालय

आदर्शवादियों का तर्क है कि मनुष्य आत्मानुभूति करने में तभी सफल हो सकता है जब उसका शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास हो जाए। इस सबके लिए वे सामाजिक आदर्शों, मूल्यों और सिद्धांतों से पूर्ण उच्च सामाजिक पर्यावरण की आवश्यकता समझते हैं। यह सब विद्यालयों में ही संभव है। विद्यालयों में आदर्श शिक्षकों के संपर्क में आकर बच्चे उच्च आदर्शों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। आदर्शवादियों के अनुसार विद्यालय ऐसे स्थान पर होने चाहिए जहाँ बच्चे उच्च सामाजिक आदर्शों तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति की ओर बढ़ सकें।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा के अन्य पहलुओं; जैसे–जन शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और धर्म शिक्षा आदि पर भी आदर्शवादियों ने प्रकाश डाला है। आदर्शवाद के प्रवर्तक प्लेटो भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की बात करते थे और दासों के लिए वे किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। परंतु अन्य आदर्शवादियों ने जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा, सभी को आवश्यकता पर बल दिया है। धर्म शिक्षा पर तो ये सभी बल देते हैं। बिना धर्म के मनुष्य का नैतिक विकास कैसे हो सकता है! आदर्शवादियों के अनुसार सामान्य शिक्षा सामान्य जीवन के लिए, विशिष्ट शिक्षा विशेष कार्यों के संपादन के लिए और दर्शन, धर्म तथा संस्कृति की शिक्षा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक होती है।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों के पाश्चात्य आदर्शवाद के संदर्भ में भारतीय आदर्शवाद के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में हमारा पहला निवेदन तो यह है कि भारत में आदर्शवाद नाम का कोई दर्शन ही विकसित नहीं हुआ है। और यदि आप यह कहें कि पाश्चात्य अध्यात्मवादी दर्शन आदर्शवाद के संदर्भ में भारतीय अध्यात्मवादी दर्शनों का अध्ययन किया जाए तो भी युक्ति संगत नहीं है। जब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन अलग-अलग करते हैं तो फिर उनका अध्ययन किसी पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में करने का क्या औचित्य है! हम दार्शनिक खिचड़ी में तो भारतीय दर्शनों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। हाँ, किन्हीं भी दो दर्शनों एवं उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है।

नोट

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पाश्चात्य आदर्शवाद के संदर्भ में केवल भारतीय अद्वैत वेदांत के अध्ययन पर बल दिया गया है। हमारी दृष्टि से यह भी युक्ति संगत नहीं है। माना कि ये दोनों दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन हैं और इस कारण इनमें कुछ समानता है और तद्नुकूल इनके शैक्षिक चिंतन में भी कुछ समानता है, परंतु अपनी मूल प्रकृति में ये दो भिन्न दर्शन हैं और इनके शैक्षिक चिंतन में भी मूलभूत भिन्नता है। पहली बात तो यह है कि इन दोनों की पृष्ठभूमि अलग-अलग है। दूसरी बात यह है कि आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है जो सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और अद्वैत वेदांत के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है जो साधन चतुष्टय, ज्ञान योग, कर्म योग और राज योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तीसरी बात यह है कि अद्वैत वेदांत में जीवनमुक्त, विदेहमुक्त, साधन चतुष्टय, कर्म योग, ज्ञान योग और राज योग की जो व्याख्या की गई है, उससे पाश्चात्य आदर्शवादी अपरिचित हैं। और चौथी बात यह है कि इनके शैक्षिक चिंतन में भी भिन्नता है। हाँ, इन दोनों दर्शनों एवं इनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है। इस हेतु इस पुस्तक में अद्वैत वेदांत और शिक्षा पर अलग से लिखा गया है। देखें अध्याय–'वेदांत दर्शन और शिक्षा'।

टास्क आदर्शवाद और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. इंद्रियजन्य ज्ञान को प्लेटो मानते थे–
   (अ) असत्य (ब) सत्य (स) आवश्यक (द) इनमें से कोई नहीं
4. बर्कले का मत है कि कोई भी वस्तु गुणों का होती है–
   (अ) समूह मात्र (ब) खजाना (स) प्रतीति (द) इनमें से कोई नहीं
5. प्लेटो ने इस ब्रह्मांड को बाँटा है–
   (अ) चार जगतों में (ब) दो जगतों में (स) तीन जगतों में (द) इनमें से कोई नहीं
6. आदर्शवादी मनुष्य सृष्टि को मानते हैं–
   (अ) सामान्य रचना (ब) सर्वोत्कृष्ट रचना (स) ईश्वर की रचना (द) इनमें से कोई नहीं

4.4 आदर्शवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Idealism to Education)

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। अब यह परिवर्तन एवं विकास किस प्रकार का हो, यह समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और उसकी भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है और आदर्शवादी शिक्षा का मूल्यांकन भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर किया है।

नोट

एक दर्शन के रूप में आदर्शवाद जीव, जड़ और जगत की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है और हमें भौतिक पदार्थों की नश्वरता और आत्मा-परमात्मा की अमरता से परिचित कराता है। यह हमें अज्ञान के अंधेरे से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर उन्मुख करता है और हमें प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोग से भौतिक जीवन जीने तथा सच्चे ज्ञान एवं नैतिक आचरण से अध्यात्मिकता की प्राप्ति करने की ओर प्रवृत्त करता है। परंतु आत्मिक जगत को सत्य और वस्तु जगत को असत्य मानने की बात सामान्य मनुष्यों को मान्य नहीं हो सकती। आज हमें ऐसे जीवन दर्शन की आवश्यकता है जो हमारे प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, तीनों पक्षों को समान महत्त्व दे और तीनों के संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करे।

शिक्षा का संप्रत्यय

आदर्शवाद के प्रवर्तक प्लेटो के अनुसार शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वे योग्य हैं। आधुनिक आदर्शवादी हरबार्ट के अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है।

साफ जाहिर है कि आदर्शवादियों ने शिक्षा को ज्ञान एवं प्रक्रिया, दोनों रूपों में स्वीकार किया है, परंतु इस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है।

शिक्षा के उद्देश्य

एक शिक्षा दर्शन के रूप में आदर्शवाद शिक्षाशास्त्रियों को शाश्वत मूल्यों से परिचित कराता है और इन मूल्यों के आधार पर शिक्षा के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक उद्देश्य निश्चित करता है। इसके अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है। अत: शिक्षा को मनुष्य की इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता करनी चाहिए। इसके लिए यह मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एंव चारित्रिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार के विकास पर बल देता है।

साफ जाहिर है कि आदर्शवादियों ने शिक्षा के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के उद्देश्यों पर बल दिया है। जो शिक्षा इतना कार्य करती है वह मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों के लिए तैयार करती है। आदर्शवादियों ने आध्यात्मिकता की प्राप्ति हेतु मनुष्य के लिए जो आचार संहिता बनाई है उसमें मनुष्य को स्वयं और उसके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को भौतिक सुख प्राप्त होता है और समाज का रूप बड़ा शिष्ट, सरल एवं सुखदायक बनता है। कुछ विद्वान आदर्शवादियों पर यह दोष लगाते हैं कि वे परलोक के आगे इस लोक की चिंता नहीं करते और मनुष्य की रोटी, कपड़े और मकान की समस्या सुलझाने के लिए व्यावसायिक शिक्षा का विधान नहीं करते। परंतु यह उनका मिथ्या दोषारोपण है। आदर्शवाद के प्रतिपादक प्लेटो ने राष्ट्र के लिए विभिन्न प्रकार के नागरिकों के निर्माण की बात कही है और उन्हें उनकी योग्यतानुसार कर्मक्षेत्र की शिक्षा (व्यवसाय की शिक्षा) देने की बात कही है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

आदर्शवादी शिक्षा की पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, धर्म एवं नीतिशास्त्र पर अधिक और ज्ञान की अन्य शाखाओं, व्यावसायिक विषय एवं भौतिक विज्ञान आदि पर अपेक्षाकृत कम बल देते हैं। उनकी दृष्टि से बिना भाषा, साहित्य, धर्म एवं नीति के ज्ञान के मनुष्य एक अच्छा मनुष्य नहीं बनाया जा सकता। हमारा पहला उद्देश्य मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाना ही होना चाहिए।

परंतु यह बात भी सही है कि जो शिक्षा व्यवस्था सामाजिक परिवर्तनों के साथ कदम मिलाकर नहीं चलती वह अपने में अधूरी होती है। प्रसन्नता की बात है कि आज के आदर्शवादी विचारकों का दृष्टिकोण व्यापक है और वे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पाठ्यचर्या को विस्तृत बनाने पर बल देते हैं।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में आदर्शवादियों ने अनेक उत्तम विधियों का निर्माण किया है। अनुकरण को वे सीखने की स्वाभाविक विधि मानते हैं। प्राचीन आदर्शवादी विचारक अनेक अन्य उत्तम विधियों–प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद,

नोट

संवाद, आगमन तथा निगमन का प्रयोग करते थे। आधुनिक आदर्शवादी विचारक तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिचित हैं और करके सीखने और स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल देते हैं। इस संदर्भ में पैस्टालॉजी की अभ्यास और आवृत्ति विधि, हरबार्ट की पंचपद प्रणाली और फ्रोबेल की किंडरगार्टन प्रणाली उल्लेखनीय हैं।

अब आदर्शवादियों पर यह दोष लगाना उचित नहीं है कि वे व्याख्यान, प्रश्नोत्तर और विचार-विमर्श और प्रणालियों तक ही सीमित हैं और रटने तथा पुस्तक प्रणाली पर अधिक निर्भर करते हैं। परंतु यह बात अवश्य है कि इन सब विधियों में छात्रों की अपेक्षा शिक्षक अधिक क्रियाशील रहते हैं।

अनुशासन

अधिकतर आदर्शवादी दार्शनिक अनुशासन को आत्मानुशासन के रूप में स्वीकार करते हैं और इसकी प्राप्ति के लिए कठोर दंड व्यवस्था की वकालत करते हैं।

मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से आदर्शवादियों का अनुशासन संबंधी यह विचार एकदम दोषपूर्ण है। अनुशासन के संबंध में आदर्शवादी विचारधारा को आज अधिकतर शिक्षाशास्त्री वहाँ तक तो उत्तम समझते हैं जहाँ तक वह बच्चों को उत्तम पर्यावरण में रखकर उच्च आचरण का प्रशिक्षण देती है, परंतु इस सबके लिए बच्चों को कठोर नियंत्रण में रखने और भूल करने पर दंड देने की वे आलोचना करते हैं। इस संदर्भ में हमारा यह अनुभव है कि उचित नियंत्रण और उचित दंड विधान के अभाव में न तो बच्चे बाह्य दृष्टि से अनुशासित होते हैं और न ही आंतरिक दृष्टि से। नियंत्रण तो होना ही चाहिए, परंतु यह नियंत्रण प्रेम पर आधारित होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर दंड भी दिया जाए परंतु बड़ी सावधानी के साथ; जिस छात्र को दंड दिया जाए वह यह अनुभव करे कि उसे जो दंड दिया जा रहा है उसकी स्वयं की भलाई के लिए दिया जा रहा है। और किसी भी स्थिति में कठोर दंड न दिया जाए। कठोर दंड तो छात्रों को और अधिक अनुशासनहीन बनाता है।

शिक्षक

आदर्शवादी दार्शनिक शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि से आदर्श शिक्षकों के द्वारा ही शिक्षा की प्रक्रिया को सही रूप में चलाया जा सकता है।

यूँ कुछ लोग आदर्शवादियों की इस बात के लिए बड़ी आलोचना करते हैं कि वे शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को मुख्य स्थान देते हैं, परंतु हमारी दृष्टि से यह भी उनकी गलत आलोचना है। आचरण की शिक्षा आदर्श आचरण करने वाले शिक्षकों के संपर्क में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को आदर्शवादी जन्म से पूर्ण मानते हैं और इस पूर्णता की अनुभूति के लिए वे उसके लिए एक कठोर आचार संहिता बनाते हैं। शिक्षार्थी को उसका पालन करना आवश्यक होता है।

यूँ सब शिक्षार्थियों का समान मानना आज के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सही नहीं है, परंतु सब शिक्षार्थियों के साथ समान व्यवहार करना आज भी लोकतंत्रीय भावना के अनुकूल है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा की अन्य समस्याओं के समाधान में भी आदर्शवाद बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ विद्वान प्लेटो पर यह दोष लगाते हैं कि उसने दासों को शिक्षा का अधिकार न देकर जन शिक्षा के महत्त्व को नकारा है। वास्तविकता यह है कि वे सेवा कार्य की शिक्षा के लिए विद्यालयी शिक्षा आवश्यक नहीं मानते थे। यदि सभी मनुष्यों के जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है तो सबकों प्राकृतिक नैतिकता, सामाजिक नैतिकता और आध्यात्मिक नैतिकता की शिक्षा तो देनी ही होगी। फिर आधुनिक युग के आदर्शवादी विचारक तो जन शिक्षा के पक्के समर्थक हैं। आदर्शवादियों का यह विचार कि सामान्य शिक्षा सबके लिए और उच्च शिक्षा की व्यवस्था योग्यतानुसार की जानी चाहिए, आज पुनः माना जाने लगा है। लोकतंत्र के नाम पर सब बच्चों को उच्च शिक्षा के अवसर प्रदान कर हम राष्ट्रीय धन का अपव्यय कर रहे हैं और शिक्षा जगत में अनुशासनहीनता फैला रहे हैं। इसके साथ-साथ

नोट

शिक्षित बेरोजगारी भी बढ़ रही है। इस संदर्भ में हमें आदर्शवादी विचारधारा से सहमत होना ही पड़ेगा। आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता भी आज पुनः समझी जा रही है। आज के आदर्शवादी विचारक तो जीवन के कटु सत्य-रोटी, कपड़ा और मकान के प्रति भी जागरूक हैं और बच्चों को व्यावसायिक शिक्षा देने पर बल देते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. आदर्शवादियों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप भौतिक एवं आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है।
8. आदर्शवादी मनुष्य जीवन को महत्त्वहीन और प्रयोजनरहित मानते हैं।
9. प्लेटो तीन सनातन मूल्यों में विश्वास करते थे– सत्यम, शिवम् और सुंदरम्।
10. प्रायः सभी आदर्शवादी राज्य को व्यक्ति से उच्च स्थान देते हैं।

4.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आदर्शवादी इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य ईश्वर की खोज करने में तो सफल रहे हैं परंतु उनके द्वारा वस्तु जगत के अस्तित्व को नकारने की बात सामान्य मनुष्यों के गले नहीं उतरती। परंतु मनुष्य के लिए जिस प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक नैतिकता का विधान आदर्शवादियों ने किया है उसके पालन से मनुष्य के पारलौकिक जीवन के बारे में निश्चयपूर्वक भले ही कुछ न कहा जा सकता हो परंतु उससे उसका लौकिक जीवन निश्चित रूप से सुख एवं शांतिपूर्ण होता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी सर्वाधिक प्रभाव इसी दर्शन का पड़ा है। किसी भी देश की शिक्षा के उद्देश्य मूलतः वही हैं जिनका प्रतिपादन आदर्शवादियों ने किया है। शिक्षा की पाठ्यचर्या में भाषा और साहित्य के महत्त्व को आज भी स्वीकार किया जाता है। आदर्शवादियों द्वारा विकसित शिक्षण विधियों का प्रयोग भी किसी न किसी रूप में सभी देशों में किया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन की आवश्यकता पर सर्वाधिक बल आदर्शवादियों ने दिया है। आज उनसे सभी सहमत हैं परंतु उसकी प्राप्ति के लिए कठोर दंड व्यवस्था के स्थान पर प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार को उत्तम माना जाता है। विद्यालयों में आदर्श पर्यावरण बनाने के संबंध में भी विद्वान एकमत हैं। शिक्षा की अन्य समस्याओं के समाधान में भी आदर्शवाद बड़ा सहायक है। अपनी इन सब विशेषताओं के कारण ही संसार में आज भी इस दर्शन का आसन बरकरार बना हुआ है।

4.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **मन** (Mind) : मस्तिष्क
2. **पदार्थ** (Matter) : वस्तु
3. **क्रिया** (Action) : कर्म

4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आदर्शवाद के मूल सिद्धांत क्या हैं? उनकी विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. 'आदर्शवाद मानव जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा उसके आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल देता है,' इस कथन को स्पष्ट कीजिए और इस संबंध में अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

नोट

3. आदर्शवाद से आप क्या समझते हैं? शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों पर इसके प्रभाव का वर्णन कीजिए।
4. शिक्षा में आदर्शवाद से आप क्या समझते हैं? उत्तम समाज व्यवस्था के निर्माण और संचालन में उसका क्या योगदान रहा है? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. प्लेटो	2. आत्मा	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–5 : प्रकृतिवाद और शिक्षा (Naturalism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
5.1 प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Naturalism)
5.2 प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Naturalism)
5.3. प्रकृतिवाद और शिक्षा (Naturalism and Education)
5.4 प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Naturalism to Education)
5.5 सारांश (Summary)
5.6 शब्दकोश (Keywords)
5.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा जानने हेतु।
- प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- प्रकृतिवाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड में **वाल्टेयर** (Voltaire) ने बौद्धिक दमन के विरुद्ध आवाज उठाई और पादरियों द्वारा धर्म के नाम पर किए जाने वाले शोषण का विरोध किया। इससे आदर्शवादी विचारधारा को धक्का लगा और भौतिकवादी विचारधारा को बल मिला। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी जगत में **रूसो** (Rousseau, 1712–1778) का प्रादुर्भाव हुआ। रूसो ने तत्कालीन समाज और राज्य की कटु आलोचना की और मनुष्य को प्राकृतिक जीवन जीने की सलाह दी।

5.1 प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Naturalism)

प्रकृति पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो प्रकृति को मूल तत्व मानती है, इसी को इस ब्रह्माण्ड का कर्ता और उपादान कारण मानती है। यथार्थवाद की भाँति प्रकृतिवाद भी दार्शनिक चिंतन का प्रारंभिक रूप है। इस संदर्भ में हम उन दार्शनिकों का उल्लेख कर सकते हैं जिनकी चर्चा हमने यथार्थवाद के संदर्भ में की है। यूनानी दार्शनिक **थेल्स** (Thales, 640–550 ई. पू.) ने इस सृष्टि की रचना जल से सिद्ध करने का प्रयास किया था। और जल

नोट

एक पदार्थ है प्रकृति का, तब उनके इस विचार को यथार्थवाद और प्रकृतिवाद की शुरुआत माना जा सकता है। इनके बाद **एनेक्सिमेनीज** (Anexemenes, 590–525 ई. पू.) ने इस सृष्टि की उत्पत्ति वायु से सिद्ध करने का प्रयास किया, और चूँकि वायु भी प्रकृति की ही एक वस्तु है इसलिए उनकी विचारधारा को भी यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। **हेराक्लीटस** (Hiraclitus, 540–475 ई. पू.) अग्नि को सृष्टि का मूल तत्व मानते थे अत: इन्हें भी यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का प्रारंभिक दार्शनिक माना जा सकता है। परंतु एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में इसका बीजारोपण यूनानी दार्शनिक **डेमोक्रीटस** (Democritus, 460–370 ई.पू.) ने किया। उन्होंने इस सृष्टि की रचना परमाणुओं के संयोग से सिद्ध करने का प्रयास किया जो आगे चलकर परमाणुवाद के नाम से विख्यात हुई। परंतु तभी यूनान में **सुकरात** (Socrates, 469–399 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने पदार्थ अथवा प्रकृति के स्थान पर आत्मा–परमात्मा को मूल तत्व सिद्ध किया। उनके शिष्य **प्लेटो** (Plato, 427–347 ई. पू.) ने तो इस संसार को विचारों के संसार का प्रकटीकरण मात्र बताकर पदार्थ और प्रकृति की सत्ता को ही चुनौती दे डाली। प्लेटो के बाद पश्चिमी जगत में 15वीं शताब्दी तक जो भी दार्शनिक चिंतन हुआ वह प्लेटो के आदर्शवाद के आधार पर ही हुआ। परंतु 15वीं शताब्दी में जब वैज्ञानिक खोजों ने हमें प्रकृति (पदार्थ एवं उनके बीच की क्रियाओं) के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराया तो दार्शनिकों का ध्यान उस ओर जाना स्वाभाविक था। एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में प्रकृतिवाद का विकास 15वीं शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। **कॉमटे** (Comte), **बेकन** (Francis Bacon), **हॉब्स** (Hobbes), **डारविन** (Darwin) और **लेमार्क** (Lamarck) इसके पूर्व विचारक माने जाते हैं। इन्होंने 17वीं शताब्दी तक प्रकृतिवाद का पौधा रोप दिया था।

रूसो ईश्वरवादी थे परंतु वे प्रकृति को शुद्ध और कल्याणकारी मानते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि मनुष्य की अपनी प्रकृति शुद्ध एवं कल्याणकारी है परंतु दूषित समाज में रहकर वह चालाक बन जाता है। उनके दूसरे विचार ने प्रकृतिवादी दर्शन के विकास को बड़ा बढ़ावा दिया। शिक्षा के क्षेत्र में तो रूसो के विचार पूर्णरूपेण प्रकृतिवादी हैं। रूसो के बाद **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने प्रकृतिवाद को बढ़ावा दिया, उसकी नींव पक्की की और उसके आधार पर प्रकृतिवादी शिक्षा का पूरा ताना–बाना तैयार किया। इसके बाद **हक्सले** (Haxley), **बर्नार्ड शॉ** (Bernard Shaw) और **सैम्यूल बटलर** (Samuel Butler) आदि विचारकों ने प्रकृतिवाद के विकास में बड़ा योगदान दिया और साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किए।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को जानने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को जानना आवश्यक होता है। तत्व मीमांसा तो ऐसा तत्व है जिसके आधार पर एक दार्शनिक चिंतनधारा को दूसरी से अलग किया जाता है। यूँ पाश्चात्य प्रकृतिवादियों की प्रवृत्ति तत्व मीमांसा की ओर कम ही रही है परंतु इन्होंने सृष्टि की रचना और आत्मा–परमात्मा, जीव–जगत, स्वर्ग–नर्क आदि के विषय में जो भी विचार व्यक्त किए हैं उनसे प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा विकसित की जा सकती है। अत: यहाँ सर्वप्रथम प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा पर ही विचार करेंगे।

नोट्स रूसो ने तत्कालीन समाज और राज्य की कटु आलोचना की और मनुष्य को प्राकृतिक जीवन जीने की सलाह दी।

प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा

यूनानी (ग्रीस) दार्शनिक **डैमोक्रीट्स** के अनुसार, इस संसार की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है। उनके इस विचार को आधुनिक युग के वैज्ञानिक **डाल्टन** महोदय ने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया और यह तथ्य उजागर किया कि भिन्न–भिन्न प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न प्रकार के पदार्थ और भिन्न–भिन्न पदार्थों के संयोग से इस संसार का निर्माण होता है। उनकी यह विचारधारा परमाणुवाद कही जाती है। 20वीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने परमाणु को विभाजित कर उसमें तीन प्रकार के शक्ति कणों (इलैक्ट्रॉन्स, प्रोट्रॉन्स और न्यूट्रॉन्स) का

नोट

पता लगाया। उन्होंने स्पष्ट किया कि जगत का मूल तत्व परमाणु नहीं अपितु परमाणु के संयोजक ये शक्ति कण हैं। इस विचारधारा को शक्तिवाद कहते हैं। परमाणुवाद और शक्तिवाद को **भौतिक विज्ञानवादी** प्रकृतिवाद (Naturalism of Physical Sciences) कहते हैं।

कुछ प्रकृतिवादी संपूर्ण संसार को एक यंत्र के रूप में देखते हैं। ये मनुष्य को भी एक यंत्र मानते हैं जो बाह्य उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप क्रियाशील रहता है। ये मनुष्य के समस्त व्यवहार को उसके स्नायु, ग्रंथि और मांसपेशी संस्थानों पर आधारित मानते हैं। इस विचारधारा को **यंत्रवादी प्रकृतिवाद** (Mechanical Naturialism) कहते हैं।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक **डार्विन** ने विकास सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने बताया कि प्रारंभ में साधारण जातियों का निर्माण हुआ, उसके बाद साधारण जातियों से पौधे, पौधों से निम्न वर्ग के जीव-जन्तु, निम्न वर्ग के जीव-जन्तुओं से पशु और पशुओं से मानव का निर्माण हुआ। इनकी यह विचारधारा **जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद** (Biological Naturalism) कही जाती है। आत्मा-परमात्मा के विषय में सभी प्रकृतिवादी एकमत है। आत्मा को ये एक क्रियाशील तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं और परमात्मा का इनकी दृष्टि से कोई अस्तित्व नहीं है। इनकी दृष्टि से तो प्रकृति ही अंतिम सत्य (Ultimate Reality) है।

प्रकृतिवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्रकृतिवादी प्रकृति के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रकृति क्या है। सामान्य प्रयोग में प्रकृति से अर्थ उस रचना से लिया जाता है जो स्वाभाविक रूप से विकसित होती है और जिसके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता; जैसे-पृथ्वी, समुद्र, पहाड़, नदियाँ आकाश, सूर्य, चंद्रमा, तारे, बादल, वर्षा, वनस्पति और जीव-जन्तु, परंतु दार्शनिक दृष्टि से **प्रकृति संसार का वह मूल तत्व है** जो पहले से था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। इसमें वे क्रियाएँ भी निहित हैं जो निश्चित नियमों के अनुसार होती हैं, जैसे पहले होती थीं वैसे आज भी होती हैं और वैसे ही भविष्य में भी होती रहेंगी। उदाहरण के लिए जल, बर्फ और वाष्प, ये प्राकृतिक पदार्थ हैं, इनकी रचना समान तत्वों (हाइड्रोजन और ऑक्सीजन) से हुई है। हम जानते हैं कि बर्फ से जल, जल से वाष्प, वाष्प से जल और जल से बर्फ, ये सब निश्चित नियमों के अनुसार बनते-बिगड़ते हैं। पदार्थों के मूल तत्व और उनके बनने-बिगड़ने के नियमों को ही प्रकृतिवाद प्रकृति मानता है और इनके ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानता है। इन सबका ज्ञान भौतिक विज्ञानों के द्वारा होता है और भौतिक विज्ञानों का ज्ञान कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। प्रकृतिवादी इन्द्रियानुभूत ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। उनकी दृष्टि से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को स्वयं निरीक्षण परीक्षण करना चाहिए। प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि ज्ञान प्राप्ति की क्रिया में मन और मस्तिष्क संयोजक का कार्य करते हैं।

प्रकृतिवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्रकृतिवाद प्राकृतिक पदार्थों और क्रियाओं को ही सत्य मानता है। प्रकृतिवादियों का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की भी अपनी एक प्रकृति है और उसकी यह प्रकृति अपने में एकदम शुद्ध है, उसके अनुकूल आचरण करने में मनुष्य को सुख मिलता है और प्रतिकूल आचरण करने में दु:ख मिलता है। अत: मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। ये मनुष्य को किसी प्रकार के सामाजिक नियमों और आध्यात्मिक बंधनों में बाँधकर नहीं रखना चाहते, ये उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता देते हैं। इनका तर्क है कि जिन कार्यों के करने में मनुष्य को सुख मिलेगा, उन कार्यों को वह करेगा और जिन कार्यों को करने से उसे दु:ख का अनुभव होगा, उन्हें वह स्वयं छोड़ देगा। इस प्रकार प्रकृतिवादी केवल प्राकृतिक नैतिकता के हामी हैं।

प्रकृतिवाद की परिभाषा

प्रकृतिवाद के अनेक रूप हैं परंतु मूल रूप में उनमें बड़ी समानता है। उस समानता के आधार पर **जेम्सवार्ड** ने उसको निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है–

प्रकृतिवाद वह विचारधारा है जो प्रकृति को ईश्वर से अलग करती है और आत्मा को पदार्थ के अधीन करती है और अपरिवर्तनशील नियमों को सर्वोच्च मानती है।

नोट

(Naturalism is the doctrine which separates nature from God, subordinates spirit to matter and sets up unchangeable laws as supreme. **—James Ward**)

परंतु इस परिभाषा से प्रकृतिवाद के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा की दृष्टि से उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

प्रकृतिवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को प्रकृतिजन्य मानती है और यह मानती है कि यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है। यह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और आत्मा को पदार्थजन्य चेतन तत्व मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है, जिसे प्राकृतिक जीवन जीने अर्थात् प्रकृति के अनुकूल जीने द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

क्या आप जानते हैं यूनानी (ग्रीस) दार्शनिक डैमोक्रीट्स के अनुसार, इस संसार की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. ..... शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी जगत में रूसो का प्रादुर्भाव हुआ।
2. यथार्थवाद की भाँति प्रकृतिवाद भी ..... चिंतन का प्रारंभिक रूप है।

5.2 प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Naturalism)

प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड एक प्राकृतिक रचना है**–प्रकृतिवादियों के अनुसार इस संसार का कर्ता और कारण, दोनों स्वंय प्रकृति ही है। प्राकृतिक तत्वों के संयोग से पदार्थ और प्रदार्थों के संयोग से संसार की रचना होती है और उनके विघटन से उसका अंत होता है। यह संयोग और विघटन की क्रिया कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होती है। इस बनने और बिगड़ने को प्रकृतिक परिवर्तन कहा जाता है। उदाहरण के लिए, पानी से बर्फ और बर्फ से पानी बन जाने की क्रिया प्राकृतिक परिवर्तन ही है। इस संदर्भ में बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनने का उदाहरण सर्वोत्तम है। संसार में अन्य पदार्थ भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार रूप परिवर्तन करते हैं।
2. **यह भौतिक संसार ही सत्य है और इससे परे कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है**–प्रकृतिवादी इस भौतिक संसार को ही सत्य मानते हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि इस संसार को हम इन्द्रियों द्वार प्रत्यक्ष कर रहे हैं अत: यह सत्य है। इसके विपरीत आध्यात्मिक संसार को हम इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर पाते इसलिए वह असत्य है। प्रकृतिवाद के अनुसार पदार्थ नष्ट नहीं होता, वह तो केवल रूप परिवर्तन करता है। तब पदार्थजन्य भौतिक संसार को नाशवान एवं असत्य कैसे माना जा सकता है।
3. **आत्मा पदार्थजन्य चेतन तत्व है**–प्रकृतिवादी आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। इनका स्पष्टीकरण है कि यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित है और यह निर्माण कार्य निश्चित नियमों के अनुसार होता है, इसके पीछे किसी आध्यात्मिक शक्ति (परमात्मा) की कल्पना एक मिथ्या विचार है। प्रश्न उठता है कि प्राणियों में चेतन तत्व (आत्मा) का विकास कैसे होता है। इस संबंध में प्रकृतिवाद का स्पष्टीकरण है कि प्रकृति के पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं और परमाणुओं में क्रियाशीलता होती है, उनके कारण ही जड़ में जीव और जीव में चेतन का विकास होता है, आदर्शवादी इसी चेतन तत्व को

नोट

आत्मा कहते हैं। प्रकृतिवादियों का तर्क है कि यह आत्मा पदार्थजन्य है इसलिए शरीर के नष्ट होने पर यह भी नष्ट हो जाती है।

4. **मनुष्य संसार की सर्वश्रेष्ठ रचना है**–प्रकृतिवाद मनुष्य को जन्म से पूर्ण तो नहीं मानता, परंतु उसे संसार की श्रेष्ठतम रचना अवश्य स्वीकार करता है। भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य संसार का श्रेष्ठतम पदार्थ है, यंत्रवादी प्रकृतिवाद के अनुसार यह संसार का श्रेष्ठतम यंत्र है और जीवविज्ञानवादी प्रकृतिवाद के अनुसार यह संसार का सर्वोच्च पशु है। मनुष्य को केवल पदार्थ अथवा मशीन मानना तो एकदम अनुचित है अत: हम तीसरे मत की ही व्याख्या कर रहे हैं। जीवविज्ञानवादियों के अनुसार मनुष्य में अन्य पशुओं की अपेक्षा कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह अन्य पशुओं से ऊपर उठने में सफल हुआ है। इसके लिए ये मनुष्य की बुद्धि को विशेष महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार यह बुद्धि मस्तिष्क की उपज है और मस्तिष्क उच्च विकसित नाड़ी मण्डल का एक समूह है।
5. **मानव विकास एक प्राकृतिक क्रिया है**–जीवनविज्ञानवादी प्रकृतिवादी विकास सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। इनके अनुसार मनुष्य का विकास निम्न प्राणी से उच्च प्राणी के रूप में हुआ है। अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य भी कुछ मूल शक्तियाँ लेकर पैदा होता है। इन मूल शक्तियों का स्वरूप प्राकृतिक है। बाह्य वातावरण से उत्तेजना पाकर ये शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं और मनुष्य का व्यवहार निश्चित होता है। मनुष्य के इस विकास में किसी प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियाँ काम नहीं करतीं।
6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**–प्रकृतिवाद मनुष्य जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करता। इसका विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा है और जीने के लिए वह संघर्ष करता है और अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर सुरक्षित रहता है। मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना ही नहीं सीखा है अपितु वह अपनी परिस्थितियों का निर्माता भी है और इस प्रकार वह संसार के अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत अधिक सुखभोग करने में समर्थ हुआ है। प्रकृतिवादियों के अनुसार सुखभोग का अर्थ है–आत्मरक्षा और इंद्रियों की संतुष्टि। प्रकृतिवादी मनुष्य जीवन का इतना ही उद्देश्य मानते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भौतिकवादी है।
7. **सुखपूर्वक जीवन के लिए प्राकृतिक जीवन उत्तम है**–प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि सभ्यता एवं संस्कृति के चक्कर में मनुष्य प्रकृति से दूर हो गया है और इसी कारण दु:खी है। इनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की प्राकृतिक प्रकृति उत्तम है, वह केवल आत्मरक्षा चाहता है और यह चाहता है कि उसके इस कार्य में किसी प्रकार की बाधा न हो। उसकी प्रकृति में छल, कपट, द्वेष आदि दुर्गुण नहीं हैं। यही कारण है कि प्रकृतिवादी मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र पर्यावरण में रखकर स्वतंत्र विकास का समर्थन करते हैं।
8. **प्राकृतिक जीवन में सामर्थ्य, समायोजन और परिस्थितियों पर नियंत्रण का महत्त्व है**– जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादियों के अनुसार प्राकृतिक जीवन के लिए एक मनुष्य में सबसे पहले जीवन रक्षा की सामर्थ्य होनी चाहिए, फिर अपने प्राकृतिक वातावरण में समायोजन करने की शक्ति होनी चाहिए और उसके बाद अपनी परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने की शक्ति होनी चाहिए। जिस मनुष्य में यह शक्ति नहीं होगी, वह जीवित नहीं रह सकता।
9. **राज्य की केवल व्यावहारिक सत्ता है**–प्रकृतिवादियों के जनक रूसो राज्य का मूल्यांकन व्यक्ति के हित की दृष्टि से करते थे। उन्होंने एकतंत्र शासन प्रणाली में व्यक्ति के हितों का हनन होते देखा था। इसके विरोध में उन्होंने जनता के लिए जनता के शासन का नारा लगाया और इस प्रकार के शासन में उन्होंने नियम (विचारों) को शासन के रूप में देखा, तभी तो राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में वे आदर्शवादियों के जनक माने जाते हैं। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने राज्य के कठोर नियंत्रण का विरोध किया है। उन्होंने बताया कि राज्य को व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। हमारी समझ में उनके इन विचारों में विरोधाभास है। इस संबंध में हमें अन्य प्रकृतिवादियों के विचारों से सहमत होना चाहिए जो राज्य से जन शिक्षा की आशा करते हैं और उससे यह चाहते हैं कि वह व्यक्ति के व्यष्टिगत हितों का ध्यान रखे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. रूसो ईश्वरवादी थे परंतु वे प्रकृति को मानते थे–
   (अ) शुद्ध और कल्याणकारी (ब) हितकारी
   (स) अहितकारी (द) इनमें से कोई नहीं
4. प्रकृतिवाद प्राकृतिक पदार्थों और क्रियाओं को मानता है–
   (अ) असत्य (ब) सत्य
   (स) अनोखा (द) व्यर्थ
5. प्रकृतिवादी प्रकृति के ज्ञान को मानते हैं–
   (अ) व्यर्थ का ज्ञान (ब) वास्तविक ज्ञान
   (स) अज्ञान (द) इनमें से कोई नहीं
6. प्रकृतिवादी इंद्रियानुभूत ज्ञान को ही मानते हैं–
   (अ) सच्चा ज्ञान (ब) इंद्रियजनित ज्ञान
   (स) अज्ञान (द) इनमें से कोई नहीं

5.3. प्रकृतिवाद और शिक्षा (Naturalism and Education)

प्रकृतिवाद का जन्म आदर्शवादी विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। प्रकृतिवाद में कई उपसम्प्रदाय हैं और मूल रूप से एक होते हुए भी उनमें कुछ भिन्नता है। भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद का शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन यंत्रवादी प्रकृतिवाद तथा जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद ने शिक्षा के क्षेत्र में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इनमें दो व्यक्तियों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है–एक रूसो का और दूसरा हरबर्ट स्पेन्सर का।

रूसो के शिक्षा संबंधी विचार विशेष रूप से उनकी दो पुस्तकों–'द न्यू हेलायज' (The New Heloise) और 'एमिल' (Emil) में प्रकट हुए हैं। 'द न्यू हेलायज' में रूसो ने बच्चों की गृह शिक्षा पर प्रकाश डाला है और बच्चों की शिक्षा में माता-पिता की भूमिका स्पष्ट की है। 'एमिल' में इन्होंने बच्चों की शिक्षा की पूरी रूपरेखा स्पष्ट की है; उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियों, अनुशासन के स्वरूप और शिक्षकों के कार्य स्पष्ट किए हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर के शिक्षा संबंधी विचार मुख्य रूप से उनकी पुस्तक 'एजुकेशन: इन्टैलैक्चुअल, मॉरल एण्ड फिजिकल' (Education Intellectual, Moral and Physical) में प्रकट हुए हैं। इस पुस्तक में उनके चार लेखों का संग्रह हैं–'सबसे उपयोगी शिक्षा' (What Knowledge is of Most Worth), 'बौद्धिक शिक्षा' (Intellectual Education), 'नैतिक शिक्षा' (Moral Education) और 'शारीरिक शिक्षा' (Physical Education)।

रूसो और हरबर्ट स्पेंसर के अतिरिक्त मैक्डूगल, डारविन, लेमार्क, हक्सले, बर्नार्ड शॉ एवं सम्यूलर बटलर ने भी प्रकृतिवादी शिक्षा के विकास में अपना योग दिया है। यहाँ उस सबका विवरण संक्षेप में प्रस्तुत है–

शिक्षा का सम्प्रत्यय

प्रकृतिवादी विचारक पुस्तकीय ज्ञान को शिक्षा नहीं मानते। इनके अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य की उसकी प्रकृति के अनुकूल विकास करने एवं जीवन को सुखमय बनाने में सहायता करती है। यंत्रवादी प्रकृतिवाद ने मनोविज्ञान में व्यवहारवाद को जन्म दिया। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के संपूर्ण व्यवहार की व्याख्या

नोट

उसकी मूल प्रवृत्तियों के आधार पर की है। व्यवहारवादी **मैक्डूगल** के अनुसार मूलप्रवृत्तियों का उदात्तीकरण ही शिक्षा है। जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादी मनुष्य की नैसर्गिक शक्तियों के नैसर्गिक विकास के पक्ष में नजन आते हैं। ये मनुष्य को अपने जीवन की रक्षा करने में समर्थ कर देना चाहते हैं और इसके लिए उसे अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाने पर बल देते हैं। इनके अनुसार शिक्षा व्यक्ति का बाह्य पर्यावरण के साथ समायोजन है। **हरबर्ट स्पेन्सर** के शब्दों में–

शिक्षा का अर्थ अन्त:शक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।

(Education means establishment of coordination between the inherent powers and the outer life. **—Herbert Spencer**)

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में अनेक प्रकृतिवादियों ने योग दिया है और शिक्षा के कई उद्देश्य निश्चित किए हैं। यहाँ हम उन उद्देश्यों को प्रस्तुत कर रहे हैं–

1. **मूल प्रवृत्तियों का मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण**–यंत्रवादी प्रकृतिवाद ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान को जन्म दिया जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज क्रियाएँ लेकर पैदा होता है। जब ये सहज क्रियाएँ बाह्य पर्यावरण के संपर्क में आती हैं तो संबद्ध सहज क्रियाओं का निर्माण होता है। ये संबद्ध सहज क्रियाएँ मनुष्य को विभिन्न कार्य करने में सहायता प्रदान करती हैं। इसलिए यंत्रवादी प्रकृतिवादी मानव में उचित तथा उपयोगी संबद्ध सहज क्रियाएँ उत्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। **मैक्डूगल** के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करके उन्हें वांछित मार्ग पर लगाना है।
2. **जीवन संघर्ष के लिए शक्ति एवं योग्यता का विकास**–जीव विज्ञानवादियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा होती है और अपने जीवन की रक्षा के लिए उसे अपने वातावरण से सदैव संघर्ष करना पड़ता है। **डार्विन** ने इस संबंध में दो सिद्धांत दिए हैं–जीवन के लिए संघर्ष और समर्थ का अस्तित्व। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति तथा राष्ट्र को जीवन संघर्ष के लिए तैयार करना होना चाहिए।
3. **मनुष्य को पर्यावरण के अनुकूल बनाना**–फ्रांस के दार्शनिक **लेमार्क डार्विन** के अनुसार उपरोक्त सिद्धांतों में विश्वास करते थे, परंतु उन्होंने इनकी व्याख्या दुसरे रूप में की है। लेमार्क का विश्वास है कि प्रत्येक जीवित प्राणी में अपने आपको अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है और जो प्राणी अपने आपको अपनी परिस्थितियों के अनुकूल जितना अधिक बना लेता है वह जीवन रक्षा करने में उतना ही अधिक सफल होता है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को वह शक्ति प्रदान करना है जिससे वह अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल बना सके। इसके लिए उन्होंने शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति पर बल दिया है।
4. **मनुष्य को प्राकृतिक जीवन जीने योग्य बनाना–रूसो** के अनुसार बालक को प्राकृतिक जीवन जीने के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इनका विश्वास था कि विधाता सब वस्तुओं को अच्छा बनाता है परंतु मनुष्य उनके साथ छेड़-छाड़ करता है और उन्हें दूषित बना देता है (Every thing is good as it comes from the hands of the author of nature, men maddle with it and it degenerates)। यही कारण है कि ये बच्चों को दूषित समाज से दूर रखकर प्राकृतिक पर्यावरण में उनकी स्वयं की प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र विकास करने के पक्ष में थे और इसी को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे।
5. **पूर्ण जीवन की तैयारी–हरबर्ट स्पेंसर** का दृष्टिकोण कुछ व्यापक है। ये मनुष्य की जीने की इच्छा के साथ-साथ उसी सामाजिक एवं राजनैतिक क्रियाओं को भी महत्त्व देते थे। इनके अनुसार शिक्षा के द्वारा मनुष्य को आत्मरक्षा करने, जीविकोपार्जन करने, अपनी संतान की रक्षा करने, सामाजिक एवं राजनैतिक क्रियाओं में सुचारु रूप से भाग लेने और अवकाश के समय का सदुपयोग करने में दक्ष करना चाहिए। इसे ही ये पूर्ण जीवन की तैयारी कहते हैं।

नोट

6. **जातीय गुणों का विकास–जॉर्ज बर्नार्ड शॉ** जातीय अनुभवों में भी विश्वास रखते थे और शिक्षा द्वारा मनुष्य को अपने जातीय अनुभवों से परिचित कराकर उन्हें विकास मार्ग पर लगाना चाहते थे। इनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जातीय अनुभवों की सुरक्षा और उनका हस्तांतरण होना चाहिए।
7. **व्यक्ति का वैयष्टिक विकास**–प्रकृतिवादी मनुष्य की मूल शक्तियों, प्रवृत्तियों, रुचि, रुझान और योग्यताओं में विश्वास करते हैं और चूँकि इस दृष्टि से कोई दो मनुष्य एक से नहीं होते, इसलिए ये प्रत्येक मनुष्य के वैयष्टिक विकास पर बल देते हैं और इसे शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य निश्चित करते हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

उद्देश्यों के अनुकूल ही प्रकृतिवादियों ने पाठ्यचर्या का निर्माण किया है। प्रकृतिवादी भौतिक जीवन को ही सत्य मानते हैं और उसकी रक्षा एवं विकास पर ही सबसे अधिक बल देते हैं इसलिए ये पाठ्यचर्या में शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं और साहित्य, कला एवं संगीत को सबसे कम। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को ये कोई स्थान नहीं देते।

रूसो ने अपनी पुस्तक **एमिल** में विभिन्न स्तरो के बच्चों के लिए पाठ्यचर्या प्रस्तुत की है। इन्होंने मानव विकास की चार मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं–**शैशवावस्था** (जन्स से 5 वर्ष), **बाल्यावस्था** (5 से 12 वर्ष), **किशोरावस्था** (12 से 15 वर्ष) और **युवावस्था** (15 से 35 वर्ष) के लिए अलग-अलग पाठ्यचर्या निश्चित की है। शैशवावस्था की पाठ्यचर्या में केवल खेल-कूदों को स्थान दिया, बाल्यावस्था की पाठ्यचर्या में खेलने-कूदने के साथ-साथ इन्द्रिय प्रशिक्षण, भाषा ज्ञान, प्रकृति निरीक्षण और गणित एवं भूगोल को स्थान दिया, किशोरावस्था की पाठ्यचर्या में बाल्यावस्था की पाठ्यचर्या के साथ-साथ संगीत, हस्तकार्य और उद्योगों की शिक्षा को स्थान दिया और युवावस्था की पाठ्यचर्या में वास्तविक जीवन को विशेष महत्त्व दिया और साथ ही नैतिक शिक्षा को स्थान दिया। इस स्तर पर इन्होंने धनात्मक शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी स्वीकृति दी है। कुल मिलाकर इन्होंने प्रत्येक स्तर पर शारीरिक क्रियाओं एवं अनुभवों को अधिक महत्त्व दिया है और सैद्धांतिक ज्ञान का विरोध किया है। ये पाठ्यचर्या में खेलने-कूदने, तैरने, घुड़सवारी करने एवं हस्तकार्यों को विशेष महत्त्व देते थे। नारी को ये पुरुष की सहचरी एवं सेविका के रूप में स्वीकार करते थे इसलिए इन्हें केवल गृह कार्य में निपुण करना चाहते थे।

हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना है। इनके अनुसार वही व्यक्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है जो पाँच क्रियाओं (*i*) आत्म रक्षा के कार्य, (*ii*) जीविकोपार्जन के कार्य, (*iii*) वंश वृद्धि एवं शिशु रक्षा संबंधी कार्य, (*iv*) सामाजिक तथा राजनैतिक कार्य और (*v*) अवकाश के समय का सदुपयोग, सफलतापूर्वक कर सकता हो। इन पाँच प्रकार की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को सुचारु रूप से करने के लिए स्पेन्सर ने पाठ्यचर्या में भिन्न-भिन्न विषयों को स्थान दिया है। इन्होंने आत्मरक्षा के कार्यों के लिए स्वास्थ्य विज्ञान, जीविकोपार्जन के लिए भाषा, गणित, भूगोल तथा पदार्थ विज्ञान, वंशवृद्धि एवं शिशु रक्षा के लिए शरीर विज्ञान, बाल मनोविज्ञान तथा गृह विज्ञान, सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यो के लिए इतिहास, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र और अवकाश के समय का सदुपयोग करने के लिए साहित्य, संगीत, कविता तथा कला को स्थान दिया है। स्पेंसर का कथन है कि पाठ्यचर्या में विभिन्न पाठ्य विषयों को वैसा ही महत्त्व देना चाहिए जैसा कि जीवन में उनसे संबंधित व्यवसायों का होता है। इनके विचार से साहित्य, कला और संगीत हमारे जीवन की रक्षा नहीं करते, ये तो केवल क्षणिक आनंद देने वाले होते हैं। अत: इनकी प्राप्ति का प्रश्न तभी उठता है जब हम अपने भौतिक जीवन को सुरक्षित रखन में सफल हो जाते हैं। इस दृष्टि से इन्होंने पाठ्यचर्या में स्वास्थ्य विज्ञान एवं भौतिक विज्ञानों को मुख्य और साहित्य, कला तथा संगीत को गौण स्थान दिया है।

हक्सले महोदय साहित्यिक एवं वैज्ञानिक दोनों प्रकार के विषयों को समान स्थान देने के पक्ष में थे। इनका कहना था कि भौतिक विज्ञान के पीछे सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन को भुला देना उतना ही बुरा है जितना सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन के लिए विज्ञान के अध्ययन को भुला देना और उसकी उपेक्षा करना।

नोट

शिक्षण विधियाँ

प्रकृतिवाद के दो प्रमुख पहलू हैं। पहले पहलू के अनुसार प्रकृतिवाद एक दार्शनिक विचारधारा है जिसने आध्यात्मिक सत्ता का खण्डन और प्रकृति की सत्ता प्रतिपादन किया है। प्रकृतिवाद के इस पहलू से शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण हुआ है। प्रकृतिवाद का दूसरा पहलू मनोवैज्ञानिक है, मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन और उसकी मूल शक्तियों में विश्वास है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवादियों की यह पहुँच बड़े महत्त्व की है। इस पहलू ने हमें शिक्षण की अनेक उपयुक्त विधियाँ दी हैं। इन नवीन उपयोगी विधियों का आधार रूसो तथा हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों में मिलता है।

रूसो का सबसे पहला नारा था 'प्रकृति की ओर लौटो'। रूसो ने विकास की चार अवस्थाओं शिशु, बाल, किशोर तथा युवा का वर्णन कर भिन्न-भिन्न अवस्था के बच्चों की प्रकृति का वर्णन किया और भिन्न-भिन्न स्तर के लिए भिन्न-भिन्न क्रियाओं एवं शिक्षण विषयों का चुनाव किया, परंतु पुस्तकीय शिक्षा के ये विरोधी थे।

रूसो के अनुसार बच्चों को स्वयं अनुभव करके सीखना चाहिए। इनके अपने शब्दों में–'अपने विद्यार्थी को मौखिक पाठ मत पढ़ाओ, उसे तो अनुभव द्वारा सीखने देना चाहिए। जब भी अवसर मिले उसे करके सीखने दो और शब्दों द्वारा सिखाने की बात भी सोचो जब करके सीखना असंभव हो।' इस प्रकार स्वयं करके सीखना तथा स्वानुभव द्वारा सीखना रूसो का दुसरा नारा था।

रूसो ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार मानते थे। इनके अनुसार प्रारंभ में ज्ञानेन्द्रियों का विकास ही करना चाहिए। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा, यह रूसो का तीसरा नारा था।

रूसो बच्चों को किसी प्रकार के नियंत्रण में रखना पसंद नहीं करते थे, ये बच्चों को अपने स्वाभाविक विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्र छोड़ने के पक्ष में थे। शिक्षा में स्वतंत्रता रूसो का चौथा नारा था।

रूसो से पहले बच्चा एक छोटा प्रौढ़ माना जाता था। रूसो ने इसका विरोध किया और बताया कि बच्चों की रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकताएँ एक प्रौढ़ की रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं, अत: उसे उसकी रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकतानुसार ही शिक्षा देनी चाहिए। यह उनका पाँचवाँ नारा था।

रूसो उस शिक्षा को जो बच्चों को आदेशों के रूप में या पुस्तकों के माध्यम से सीधे दी जाती है और जिसके द्वारा उन्हें प्रौढ़ों के से कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है, **सकारात्मक शिक्षा** (Positive Education) कहते थे। इनके अनुसार इस प्रकार से दिया गया ज्ञान स्थायी नहीं होता। इसके विपरीत वह ज्ञान अथवा क्रिया जिसे बच्चे स्वयं के अनुभवों से सीखते हैं वह स्थायी होता है। इसे रूसो ने **नकारात्मक शिक्षा** (Negative Education) की संज्ञा दी। रूसो के अनुसार नकारात्मक शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है कि शिक्षण करते समय शिक्षक को किस क्रम में चलना चहिए। इनके अनुसार शिक्षक को (*i*) सरल से जटिल की ओर, (*ii*) ज्ञात से अज्ञात की ओर, (*iii*) मूर्त से अमूर्त की ओर, (*iv*) अनिश्चित से निश्चित की ओर, (*v*) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर तथा (*vi*) अनुभूत से तर्कयुक्त की ओर चलना चाहिए। स्पेन्सर ने स्वत: सीखने पर बल दिया है। इनके अनुसार शिक्षण प्रणाली रुचिकर तथा मनोरंजक होनी चाहिए।

प्रकृतिवाद ने शिक्षण की अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों को जन्म दिया है। खोज विधि तथ डाल्टन प्रणाली इन्हीं सिद्धांतों पर बनाई गई हैं। भाषा शिक्षण की प्रत्यक्ष विधि तथा भूगोल शिक्षण की निरीक्षण विधि भी प्रकृतिवादी विचारधारा की देन हैं। खेल द्वारा शिक्षा को भी प्रकृतिवादियों ने बढ़ावा दिया है। इन सभी विधियों में बच्चों की व्यक्तिगत रुचि, रुझान एवं योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

अनुशासन

प्रकृतिवादी आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, ये उसे पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व मानते हैं। इनके अनुसार प्राकृतिक 'स्व' से शासित होना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए ये किसी भी बाहरी हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। ये न तो दण्ड व्यवस्था में विश्वास करते हैं और न शिक्षक द्वारा प्रभाव डालने की क्रिया में विश्वास करते हैं। इनका तर्क है कि दण्ड से बच्चों की मूल प्रवृत्तियों का दमन होता है और

नोट

उनके व्यक्तित्व का विकास सही रूप में नहीं हो पाता। शिक्षक द्वारा प्रभाव डालने को भी ये अच्छा नहीं समझते। इनका तर्क है कि इस प्रकार बच्चे शिक्षक के अच्छे-बुरे सभी गुण ग्रहण कर लेते हैं।

रूसो के अनुसार प्रक्रति स्वयं एक शिक्षिका है जो मनुष्य को अनुशासन की शिक्षा भी देती है। जब मनुष्य कोई दुष्कर्म करता है तो प्रकृति स्वयं उसे दण्ड देती है। **रूसो** के अनुसार अनुशासन की स्थापना बच्चों की गलतियों के प्राकृतिक परिणामों द्वारा ही होनी चाहिए। रूसो के अनुशासन संबंधी इन विचारों को दो सिद्धांतों के रूप में प्रकट कर सकते हैं–**स्वतंत्रता का सिद्धांत** (Principle of Freedem) और **प्राकृतिक परिणाम का सिद्धांत** (Principle of Natural Consequencies)। पहले सिद्धांत के अनुसार हमें बच्चों पर किसी प्रकार का बाह्य बंधन नहीं लगाना चाहिए। दूसरे सिद्धांत के अनुसार बच्चों की भूल पर उन्हें दण्डित नहीं करना चाहिए, प्रकृति उन्हें स्वयं दण्ड देगी, अच्छे कार्यों से उन्हें सुख मिलेगा और गलत कार्य करने पर उन्हें दु:ख मिलेगा और इस सुख-दु:ख के आधार पर वे सही क्रियाओं का चुनाव करेंगे और स्वयं अनुशासित होंगे।

हरबर्ट स्पेन्सर भी प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था में विश्वास रखते थे। इनका विचार था कि जिस कार्य को करने में मनुष्य को सुख मिलता है उसे वह स्वीकार करता चलता है और जिस कार्य को करने में उसे कष्ट होता है उसे त्यागता चलता है। स्पेन्सर का यह सिद्धांत **सुख-दु:ख के सिद्धांत** (Hedonistic Theory) के नाम से जाना जाता है। इनका तर्क था कि प्रकृति मनुष्य के कार्यों के लिए उसे सुख-दु:ख प्रदान करती है, जिसके आधार पर वह सही कार्यों का चुनाव करता है और गलत कार्यों का त्याग करता है और बन जाता है एक अनुशासित मनुष्य। बच्चों को शिक्षक अथवा माता-पिता द्वारा दण्ड देने के ये विरोधी थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि दण्ड से बच्चे निष्ठुर बनते हैं। ये प्राकृतिक नियमों और प्रेम को अनुशासन का आधार मानते थे।

हक्सले ने रूसो और **स्पेन्सर** के विचारों का विरोध किया और कहा कि प्रकृति द्वारा उचित अनुशासन की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इनके अनुसार प्रकृति की दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर और तर्कविहीन है। प्रकृति अज्ञान से की गई गलती और जानबूझकर कर की गई गलती पर एक-सा दण्ड देती है। उसके यहाँ असमर्थता और अपराध, दोनों के लिए एक ही दण्ड होता है। ओले बरसते समय आप चाहे किसी सुकृत्य के लिए घर से बाहर निकलें और चाहे किसी कुकृत्य के लिए, दोनों ही दशा में प्रकृति आपका सर फोड़ देगी। अत: अनुशासन संबंधी यह विचारधारा किसी को भी मान्य नहीं होनी चाहिए। हक्सले के अनुसार हमें बच्चों को अपना स्वाभाविक विकास करने की स्वतंत्रता तो देनी चाहिए, परंतु इसके साथ-साथ उन्हें कुछ उत्तरदायित्वों से भी लाद देना चाहिए, तभी उनका व्यवहार संतुलित हो सकता है।

शिक्षक

रूसो शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक को कोई महत्त्व नहीं देते थे। इनका कहना था कि शिक्षक तो दूषित समाज का ही एक अंग होता है, उससे बच्चों के सुधार की आशा नहीं की जा सकती। ये बच्चों को प्रकृति की गोद में रखकर उनके स्वतंत्र विकास करने के पक्ष में थे। इस प्रकार ये प्रकृति को ही शिक्षक मानते थे। परंतु इनकी इस बौखलाहट से तो कोई भी सहमत नहीं हो सकता। **जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादी** बच्चों की प्रकृति को महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक बच्चे में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं और उसका विकास इन्हीं मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से बच्चों में इतनी भिन्नता होती है कि शिक्षक सभी बच्चों को एक-सा नहीं बना सकते। अत: शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह बच्चों की अपनी रुचि, रुझान, योग्यता एवं आवश्यकताओं के अनुसार विकास करने के लिए पर्यावरण तैयार करे, सीखेंगे तो वे स्वयं करके और स्वयं अपने अनुभवों के द्वारा। इस प्रकार प्रकृतिवादी शिक्षक को ज्ञान देने वाला नहीं अपितु बच्चों के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक पर्यावरण तैयार करने वाला मानते हैं। प्रकृतिवादी शिक्षक से इतनी ही आशा करते हैं कि वह बच्चों के स्वाभाविक विकास में सहायक हों।

शिक्षार्थी

प्रकृतिवादी बालक को शिक्षा का केंद्र मानते हैं। इनके अनुसार बच्चा शिक्षा ग्रहण करने के लिए पैदा नहीं होता अपितु उसका विकास करने के लिए शिक्षा का निर्माण किया जाता है। फिर, सभी बच्चे समान नहीं होते। वे

नोट

छोटे प्रौढ़ भी नहीं होते जो उन्हें प्रारंभ से ही प्रौढों का सा ज्ञान दिया जा सके। प्रकृतिवादी बच्चे की प्रकृति–उसकी मूल प्रवृत्तियों, रुचि, रुझान योग्यताओं और आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और किसी बच्चे को वही सिखाते हैं जिसके कि वह योग्य है और जिसके सीखने में वह रुचि दिखाता है।

विद्यालय

रूसो विद्यालयों की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। इनके अनुसार तो प्रकृति की गोद ही विद्यालय है और प्रकृति ही शिक्षिका है। परंतु मानव की प्रकृति को महत्त्व देने वाले प्रकृतिवादी विद्यालयों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक पर्यावरण चाहे जैसा हो परंतु विद्यालयों का पर्यावरण ऐसा होना चाहिए कि बच्चों में वह सब सीखने की इच्छा जागृत हो जिसे मनुष्य ने अच्छाइयों के रूप में प्राप्त किया है। इनके अनुसार विद्यालय ऐसे स्थान होने चाहिए जहाँ बच्चों को अपना स्वाभाविक विकास करने के लिए स्वतंत्र पर्यावरण मिले। हाँ, प्रकृतिवादी विद्यालय की समय सारणी का विरोध करते हैं। ये तो यह विश्वास करते हैं कि कार्य करने के लिए प्रकृति स्वयं समय निर्धारित करती है। इस प्रकृति के यहाँ पुनः दो अर्थ हैं। पहला, अर्थ प्राकृतिक वातावरण से है जो हमें रात्रि में सोने और दिन में कार्य करने की प्रेरणा देता है और दूसरा अर्थ बच्चे की प्रकृति से है। हम जानते हैं कि छोटे बच्चे धूप, छाया, वर्षा आदि का अपेक्षाकृत कम ध्यान रखते हैं और प्रायः हर समय खेलना चाहते हैं जबकि बड़े बच्चे एक विशेष समय पर ही खेलने में रुचि दिखाते हैं। अतः प्रकृतिवादी विद्यालय में कब क्या हो, यह बात प्राकृतिक वातावरण और बच्चे की प्रकृति पर छोड़ देते हैं। विद्यालयों में किसी प्रकार के बाहरी नियंत्रण को ये स्थान नहीं देते; स्वशासन इनका नारा है। ये चाहते हैं कि विद्यालय की पूरी व्यवस्था में बच्चों की भागीदारी हो।

विद्यालय के संबंध में प्रकृतिवादियों की दो बातें और उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि ये यौन को प्राकृतिक देन मानते हैं इसलिए विद्यालयों में सहशिक्षा का समर्थन करते हैं और दूसरी यह कि ये परीक्षाओं का विरोध करते हैं और उनको समाप्त कर विद्यालयों की कठोरता का अंत कर देना चाहते हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

प्रकृतिवादियों ने शिक्षा के अन्य पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। ये **जन शिक्षा** के पक्षधर हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि सामान्य शिक्षा के लिए सभी योग्य हैं, परंतु विशिष्ट शिक्षा के लिए ये विशिष्ट योग्यताओं के छात्रों का चयन करने के पक्ष में हैं। **स्त्री शिक्षा** के संदर्भ में उनमें मतैक्य नहीं है। रूसो स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद कर देना चाहते थे, परंतु हरबर्ट स्पेन्सर उन्हें किसी भी प्रकार की शिक्षा देने के पक्ष में थे। **व्यावसायिक शिक्षा** के संबंध में भी प्रकृतिवादी एकमत नहीं हैं, परंतु हरबर्ट स्पेन्सर मनुष्य को जीविकोपार्जन के कार्यों को सिखाना आवश्यक मानते थे। **धार्मिक शिक्षा** के संदर्भ में सभी प्रकृतिवादी एकमत हैं, वे इसका विरोध करते हैं। ये केवल नैतिक शिक्षा की बात करते हैं और वह भी ऐसी नैतिक शिक्षा की जिसमें प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की शिक्षा दी जाती है, मनुष्यों को मनुष्यों की तरह जीने की शिक्षा दी जाती है।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पाश्चात्य प्रकृतिवाद के संदर्भ में भारतीय प्रकृतिवाद के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में हमारा प्रथम निवेदन तो यह है कि भारत में प्रकृतिवाद नाम का कोई दर्शन ही विकसित नहीं हुआ है। और यदि आप यह कहें कि पाश्चात्य प्रकृतिवाद के संदर्भ में भारतीय दर्शनों के प्रकृतिवादी विचारों का अध्ययन किया जाए तो भी यह युक्ति संगत नहीं है। जब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन अलग-अलग करते हैं तो फिर उनका अध्ययन किसी पाश्चात्य दर्शन के साथ करने का क्या औचित्य! इस दार्शनिक खिचड़ी में तो भारतीय दर्शन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। हाँ, किन्हीं भी दो दर्शनों एवं उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है।

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में तो प्रकृतिवाद के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन के अध्ययन पर बल दिया गया है, परंतु ये दोनों दर्शन भी भिन्न दर्शन हैं, इन्हें एक मानना युक्ति संगत नहीं हैं। पहली बात तो यह कि प्रकृतिवाद का केंद्र बिंदु मनुष्य का प्रकृतिक पक्ष है जबकि रवीन्द्रनाथ टैगोर के चिंतन का केंद्र बिंदु मनुष्य

नोट

का आध्यात्मिक पक्ष है। दूसरी बात यह है कि प्रकृतिवादी दार्शनिक प्रकृति और प्रकृतिक नियमों की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं जबकि टैगोर प्रकृति के सौंदर्य का आनंद लेने की ओर प्रवृत्त हैं। और तीसरी बात यह है कि प्रकृतिवादी मनुष्य के प्रकृतिक विकास पर बल देते हैं टैगोर मनुष्य को एकात्मभाव की अनुभूति करने पर बल हैं और इसी कारण टैगोर के दार्शनिक चिंतन को **विश्वबोध दर्शन** कहा जाता है। शिक्षा के संदर्भ में भी **प्रकृतिवाद** और विश्वबोध दर्शन के विचार भिन्न-भिन्न हैं। इन्हें एक समझना अथवा एक के संदर्भ में दूसरे का अध्ययन करना युक्ति संगत नहीं है। हाँ, प्रकृतिवाद और विश्वबोध दर्शन और उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है। इस हेतु इस पुस्तक में टैगोर के दर्शन एवं शैक्षिक चिंतन पर अलग से लिखा गया है। देखे अध्याय–रवीन्द्रनाथ टैगोर का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन।

टास्क प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. प्रकृतिवाद का जन्म आदर्शवादी विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था।
8. रूसो के अनुसार बालक को प्राकृतिक जीवन जीने के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।
9. हरबर्ट स्पेंसर के शब्दों में, शिक्षा का अर्थ अंत:शक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।
10. रूसो का सबसे पहला नारा था–'प्रकृति की ओर लौटो।'

5.4 प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Naturalism to Education)

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदण्डों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। अब यह परिवर्तन एवं विकास किस प्रकार का हो, यह समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन समाज अथवा राष्ट्र विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और उसकी भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर ही किया जाना चाहिए। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है और प्रकतिवादी शिक्षा का मूल्यांकन भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर किया है।

एक दर्शन के रूप में प्रकतिवाद केवल इस भौतिक जगत को ही सत्य मानता है, आध्यात्मिक (आत्मा- परमात्मा, कर्म-भोग, स्वर्ग-नर्क आदि) में यह विश्वास नहीं करता। यह प्रकृति को मूल तत्व मानता है और इस भौतिक संसार की व्याख्या भौतिक, रासायनिक तथा जीववैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर करता है। मनुष्य को यह एक पदार्थ, मशीन अथवा उच्च पशु के रूप में देखता है और उसके जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करता। परंतु हमने आध्यात्मिक शक्तियों की अनुभूति की है और सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण होते देखा है इसलिए प्रकतिवादियों की यह बात हमारे गले नहीं उतरती। हाँ, मनुष्यों की भौतिक रचना और उसकी मनोवैज्ञानिक भिन्नता का अध्ययन कर जिन तथ्यों को प्रकतिवादियों ने हमारे सामने रखा है, उनसे हम सहमत हैं। शिक्षा के उद्देश्यों को छोड़कर शिक्षा के अन्य पहलुओं का संबंध मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संरचना से ही होता है, इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

नोट

शिक्षा का सम्प्रत्यय

प्रकृतिवाद के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार विकास करने और उसे तद्नुकूल जीवन जीने में प्रशिक्षित करती है।

जहाँ तक शिक्षा के स्वरूप की बात है, प्रकृतिवाद की यह बात तो सही है कि बच्चा कुछ मूल शक्तियों, प्रवृत्तियों, रुचियों और योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है और शिक्षा इनके विकास, मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण का साधन है, परंतु उसका यह विचार कि शिक्षा केवल इसी तक सीमित है, एक संकुचित दृष्टिकोण है। शिक्षा मनुष्य को एक अच्छा पदार्थ, यंत्र अथवा पशु बनाने की क्रिया ही नहीं है अपितु उसके द्वारा मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के स्वरूप के बाद शिक्षा के उद्देश्यों की बात आती है। (इस संसार और उसमें मानव जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण के अभाव में प्रकतिवाद शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में भी असफल रहा है। प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की मूल शक्तियों का मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण करना, उन्हें अपने वातावरण में समायोजन करने योग्य बनाना और इस प्रकार उन्हें सुखपूर्वक जीने के लिए तैयार करना होता है।

हमारी दृष्टि से यदि शिक्षा इतना ही कार्य कर रही होती तो मनुष्य ने यह विकास नहीं किया होता। हरबर्ट स्पेन्सर ने जिस पूर्ण जीवन की तैयारी की बात कही है, वह भी अपने में अपूर्ण है। इसमें मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास को कोई स्थान नहीं दिया गया है। हमारी दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, व्यावसायिक तथा आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिए। फिर आज संसार के प्राय: सभी देशों में शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का अपना उत्तरदायित्व है। तब शिक्षा का एक उद्देश्य राज्यतंत्र की शिक्षा और तद्नुकूल नागरिकता की शिक्षा भी होना आवश्यक है। इसके साथ-साथ शिक्षा को मनुष्य के भविष्य निर्माण में भी सहायक होना चाहिए, राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक होना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

अधिकतर प्रकृतिवादी शारीरिक विकास के लिए खेल-कूद और व्यायाम और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए विज्ञान की शिक्षा पर अधिक बल देते हैं। वे प्राय: भाषा, साहित्य और कला की शिक्षा की अवहेलना करते हैं। स्पेन्सर ने इन सबको स्थान तो दिया है, परंतु इतना उसने भी किया कि शरीर विज्ञान और भौतिक विज्ञानों को मुख्य और भाषा, साहित्य, संगीत और कला को गौण स्थान दिया है। **हक्सले** ने इन वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दोनों विषयों को समान स्थान देने की बात कही है परंतु उनका प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना कि और विचारकों का पड़ा है।

स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद ने पाठ्यचर्या में विज्ञान को बढ़ावा देने और धर्म तथा नीति की शिक्षा का विरोध करने में बड़ी पहल की है। इससे शिक्षा की पाठ्यचर्या अधूरी ही रही। परंतु कुछ भी हो, पाठ्यचर्या के निर्माण संबंधी प्रकतिवादियों के ये विचार मान्य हैं कि पाठ्यचर्या का निर्माण बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यता के आधार पर करना चाहिए, उसमें उपयोगी विषयों को पहले रखना चाहिए और उसमें बच्चों की क्रियाशीलता का ध्यान रखना चाहिए। आज की शिक्षा पर प्रकृतिवादियों की यह छाप स्पष्ट दिखाई दे रही है।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में प्रकृतिवादियों ने बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इन्होंने पुस्तक प्रणाली और रटने की विधि का कड़ा विरोध किया और बच्चों को स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने का नारा लगाया। ये ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार मानते हैं इसलिए इन्होंने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा को बढ़ावा दिया। शिक्षण कैसे किया जाए, इस संबंध में इन्होंने अनेक शिक्षण सूत्रों-सरल से जटिल की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर आदि का निर्माण किया है। प्रकृतिवादियों के शिक्षण संबंधी इन सिद्धांतों और सूत्रों के आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिक शिक्षण प्रणालियों का जन्म हुआ; इनमें अन्वेषण प्रणाली, डाल्टन प्रणाली, प्रत्यक्ष प्रणाली और निरीक्षण प्रणाली मुख्य हैं।

नोट

आज संसार में कोई भी विचारधारा को मानने वाला क्यों न हो परंतु शिक्षण विधियों के क्षेत्र में वह प्रकृतिवादी शिक्षण विधियों का समर्थन करता है। यदि सच पूछो तो शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण तकनीकी की शुरुआत भी प्रकृतिवादियों ने ही की थी। इसलिए शिक्षण तकनीकी ने हमें जो कुछ दिया है उसका श्रेय भी प्रकृतिवादियों को जाना चाहिए।

अनुशासन

प्रकृतिवादी शिक्षक के क्षेत्र में अनुशासन के स्थान पर स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। वे बच्चों को अपनी प्रकृति के अनुकूल व्यवहार की छूट देते हैं और इसे ही सच्चा अनुशासन कहते हैं।

प्रकृतिवादियों के अनुशासन संबंधी विचार केवल विचार मात्र हैं। बच्चों को व्यवहार की पूर्ण स्वतंत्रता देकर उनमें अनुशासन की भावना जागृत कोरी कल्पना है। इस संबंध में रूसो द्वारा प्रतिपादित 'प्रकृति द्वारा दण्ड विधान' और स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित 'सुख-दुख का सिद्धांत' भी मानने योग्य नहीं है। हमारी दृष्टि से मनुष्य को अनुशासित मनुष्य बनाने के लिए उस पर सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है।

शिक्षक

उग्र प्रकृतिवादी न तो शिक्षक की आवश्यकता समझते हैं और न ही सामाजिक पर्यावरण की। इसे तो हम उनकी बौखलाहट की कहेंगे। बिना समाज के शिक्षा की प्रक्रिया चल सकती है, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता। शिक्षक इस प्रक्रिया को उचित दिशा देता है इसलिए उसका अपना महत्त्व है। हम उन प्रकृतिवादियों से सहमत हैं जो शिक्षक को पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार करते हैं।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को प्रकृतिवादी शिक्षा का केंद्र मानते हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि शिक्षा के लिए बच्चा पैदा नहीं होता, बच्चे के लिए शिक्षा का विधान किया जाता है।

प्रकृतिवाद के इस नारे ने आज पूरे संसार की शिक्षा को प्रभावित किया है। आज शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण और शिक्षण विधियों के चुनाव में हम बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यता का ध्यान रखते हैं और उन्हें अपने विद्यालय स्वाभाविक विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं।

विद्यालय

विद्यालय की व्यवस्था में विद्यार्थियों के सहयोग की बात आधुनिक युग में सबसे पहले प्रकृतिवादियों ने कही थी। इन्होंने बच्चों की भावना का इतना ही आदर नहीं किया अपितु उनकी स्वतंत्रता में बाधक होने वाली विद्यालय की समय-सारणी को भी समाप्त करने की बात कही। परीक्षाओं के भय से बच्चों को छुटकारा दिलाने के लिए इन्होंने परीक्षाओं को समाप्त करने का नारा लगाया। बच्चों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहशिक्षा की स्वीकृति भी सबसे पहले प्रकृतिवादियों ने ही दी।

प्रकृतिवादियों के उपरोक्त विचार अपने में चाहे जितने अटपटे हों परंतु आज के शिक्षा जगत पर इनकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अमेरिका में तो ऐसे स्कूलों की कमी नहीं जहाँ समय-सारणी का बंधन नहीं होता, परीक्षाएँ नहीं होतीं और लड़के-लड़कियाँ सब एक साथ पढ़ते हैं। वहाँ सत्र भर के कार्यों के आधार पर ही बच्चों को कक्षोन्नति दे दी जाती है। परंतु इस सबसे अव्यवस्था ही बढ़ी है। हम इस सबका समर्थन नहीं कर सकते।

शिक्षा के अन्य पक्ष

प्रकृतिवाद की दो मुख्य देन और हैं–एक तो यह कि प्रकतिवादियों ने जन शिक्षा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, और दूसरी यह कि इन्होंने स्त्री शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। आज संसार के सभी देश इनकी इन दोनों बातों से सहमत हैं और सभी देशों में जन शिक्षा और स्त्री शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है। प्रकृतिवाद ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि इसने हमें अंधविश्वासों की दुनिया और कूपमंडूकता से निकालकर भौतिक संसार

नोट

की वास्तविकता से परिचित कराया। परिणामस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा का विकास हुआ। हमारी दृष्टि से प्रकृतिवादियों की सबसे बड़ी भूल धार्मिक और नैतिक शिक्षा का विरोध है। उसके अभाव में ईर्ष्या, द्वेष, भ्रष्टाचार और शोषण जैसी बुराइयाँ बढ़ी हैं। अब यदि हम भौतिकता और आध्यात्मिकता में समन्वय कर सकें तो निश्चित रूप से हम सुखी और संपन्न होंगे।

5.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में प्रकतिवाद अंतिम सत्य की खोज करने में असमर्थ रहा है। धार्मिक अंधविश्वासों का पर्दाफाश करने के कारण यह आँधी की तरह आया परंतु ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के कारण यह आँधी की तरह चला भी गया। हाँ, शिक्षा पर इसका प्रभाव आज भी दिखाई देता है। जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यचर्या के निर्माण की बात है, इस क्षेत्र में तो प्रकृतिवाद बाजी हार चुका है परंतु उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण सिद्धांत और शिक्षण सूत्र आज भी अपना आसन बनाए हुए हैं। अब बच्चों को उपदेश नहीं दिए जाते, उन्हें स्वयं करके स्वयं के अनुभव से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद के प्रवेश से पहले शिक्षा शिक्षक केंद्रित थी। आज संसार के सभी देशों की शिक्षा में बच्चों की रुचि, रुझान और आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, हमारे देश भारत में भी। संसार में जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के विकास में भी प्रकृतिवादियों का बड़ा योगदान रहा है। परंतु सब कुछ मनुष्य के प्राकृतिक विकास तक सीमित रहा, उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास की बात ये नहीं सोच पाए। हमारी अपनी दृष्टि से शिक्षा द्वारा मनुष्य के तीनों पक्षों, प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक का विकास होना चाहिए।

5.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **मूल्यांकन** (Evaluation) : मूल्य आंकना
2. **सिद्धांत** (Principles) : नियम

5.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्रकृतिवाद से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. 'प्रकृतिवाद और शिक्षा' पर टिप्पणी कीजिए।
4. 'प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन' से आप क्या समझते हैं।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. 18वीं	2. दार्शनिक	3. (अ)	4. (ब)	5. (ब)
6. (अ)	7. सही	8. गलत	9. सही	10. सही

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
3. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
4. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–6 : प्रयोजनवाद और शिक्षा (Pragmatism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 प्रयोजनवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Pragmatism)

6.2 प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Pragmatism)

6.3 प्रयोजनवाद और शिक्षा (Pragmatism and Education)

6.4 सारांश (Summary)

6.5 शब्दकोश (Keywords)

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्रयोजनावाद का अर्थ जानने हेतु।
- प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- प्रयोजनवाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रयोजनवादी इस ब्रह्माण्ड की रचना के संबंध में विचार करने के स्थान पर मनुष्य जीवन के वास्तविक पक्ष पर ही विचार करते हैं। ये इस ब्रह्माण्ड के बारे में इतना ही कहते हैं कि यह अनेक वस्तुओं और क्रियाओं से बनता रहता है। ये वस्तुओं और क्रियाओं की व्याख्या के झमेले में नहीं पड़ते। इस इन्द्रियग्राह संसार के अतिरिक्त ये किसी अन्य संसार के अस्तित्व को नहीं मानते। ये आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को भी नहीं मानते। इनके अनुसार मन (Mind) का दूसरा नाम आत्मा है और मन एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है। ये इस ब्रह्माण्ड के किसी अंतिम सत्य (Utlimate Reality) की खोज नहीं करते, ये तो प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं।

6.1 प्रयोजनवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Pragmatism)

प्रयोजनवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो मनुष्य के केवल व्यावहारिक पक्ष पर विचार करती है। अंग्रेजी में इसे प्रेग्मेटिज्म (Pragmatism) कहते हैं जो ग्रीक भाषा के प्रेग्मा (Pragma) अथवा प्रेग्मेटिकोस (Pragmaticos) शब्द से बना है जिनका अर्थ व्यावहारिकता और क्रिया से होता है। चूँकि यह दर्शन मनुष्य के व्यावहारिक पक्ष पर ही विचार करता है और समस्त सृष्टि को क्रियाओं का परिणाम मानता है इसलिए अंग्रेजी

नोट

भाषा में इसे प्रेग्मेटिज्म (Pragmatism) कहते हैं। तब हिंदी में इसे **व्यावहारिकतावाद** कहना चाहिए, परंतु अधिकतर भारतीय इसे **प्रयोजनवाद** की संज्ञा देते हैं और हमारे देश में यह इसी नाम से जाना-पहचाना जाता है।

पाश्चात्य जगत में प्रयोजनवादी विचारों की झलक सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक **हेराक्लीटस** (Heraclitus, 540-475 ई. पू.) के विचारों में मिलती है। उन्होंने इस संसार को परिवर्तनशील बताया और कहा कि सभी वास्तविक चीजें परिवर्तनशील हैं इसलिए शाश्वत् सत्य कुछ भी नहीं हो सकता। प्लेटो के पूर्व विचारक **सोफिस्टों** (Sophists) की विचारधारा में भी प्रयोजनवाद के दर्शन होते हैं। सोफिस्ट वृत्तिग्राही शिक्षकों के रूप में ज्ञान चर्चा करते थे। इनमें **प्रोटागोरस** (Protagoras, 500 ई. पू.) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रोटागोरस का मूल कथन था–'मनुष्य ही सब पदार्थों का माप है' (Homo Men Sura)। ये मनुष्यों को सब वस्तुओं का मापदण्ड मानते थे और यह मानते थे कि पहले से किसी का अस्तित्व नहीं होता, सब क्रिया द्वारा निर्मित होता रहता है। ये यह भी मानते थे कि संसार में पूर्व निश्चित सत्य कुछ भी नहीं हैं, मनुष्य नित्य नए अनुभव करता है और सत्यों की खोज करता है। परंतु तभी पश्चिमी जगत **प्लेटो** (Plato, 427-347 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ और वहाँ के दार्शनिक चिंतन ने एक नया मोड़ लिया और 15वीं शताब्दी तक वहाँ जो भी दार्शनिक चिंतन हुआ वह सब प्लेटो के दार्शनिक चिंतन के आधार पर हुआ।

इस युग में प्रयोजनवादी चिंतन का शुभारंभ 16वीं शताब्दी में **बेकन** (Francis Bacon, 1561-1626), ने किया। उन्होंने विज्ञान को समाज का मार्गदर्शक बताया। 18वीं शताब्दी के दार्शनिक **काम्टे** (Comte) को भी इसका पूर्व विचारक माना जा सकता है क्योंकि उन्होने विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार की थी। परंतु एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में इस विचारधारा का विकास 19वीं शताब्दी में अमेरिका में प्रारंभ हुआ। अमेरिका के **चार्ल्स सेन्डर्स पियर्स** (Charles Senders Pierce, 1839-1914) तथा **विलियम जेम्स** (William James, 1842-1910) इस विचारधारा के प्रतिपादक माने जाते हैं। **पियर्स** के अनुसार कोई अवधारणा अंतिम नहीं होती, उसका अर्थ उसके व्यावहारिक प्रभाव से निर्धारित किया जाता है। **जेम्स** ने मानव अनुभव के महत्त्व को स्पष्ट किया और मानव को समस्त वस्तुओं और क्रियाओं की सत्यता की कसौटी बताया। जेम्स के बाद अमेरिका के ही **जॉन डीवी** (John Dewey, 1859-1952) ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया। डीवी ने व्यक्ति की इच्छा शक्ति को सामाजिक परिपेक्ष्य में स्वीकार किया। उनके अनुसार मानव प्रगति का आधार सामाजिक बुद्धि ही होती है। डीवी के बाद अमेरिका में उनके शिष्य **किलपैट्रिक** (Kilpatric) ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया और इंग्लैण्ड में **शिलर** (Shiller) ने आगे बढ़ाया। इन सबमें डीवी का योगदान सबसे अधिक है।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। यूँ प्रयोजनवादियों ने इन पक्षों पर बहुत स्पष्ट रूप से विचार व्यक्त नहीं किए हैं, परंतु इस सृष्टि और मनुष्य के संबंध में उनका जो चिंतन है उसी के आधार पर हम प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को समझने का प्रयत्न करेंगे।

नोट्स प्रयोजनवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो मनुष्य के केवल व्यावहारिक पक्ष पर विचार करती है।

प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा

प्रयोजनवादी इस ब्रह्माण्ड की रचना के संबंध में विचार करने के स्थान पर मनुष्य जीवन के वास्तविक पक्ष पर ही विचार करते हैं। ये इस ब्रह्माण्ड के बारे में इतना ही कहते हैं कि यह अनेक वस्तुओं और क्रियाओं से बनता रहता है। ये वस्तुओं और क्रियाओं की व्याख्या के झमेले में नहीं पड़ते। इस इन्द्रियग्राह संसार के अतिरिक्त ये

नोट

किसी अन्य संसार के अस्तित्व को नहीं मानते। ये आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को भी नहीं मानते। इनके अनुसार मन (Mind) का दूसरा नाम आत्मा है और मन एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है। ये इस ब्रह्माण्ड के किसी अंतिम सत्य (Utlimate Reality) की खोज नहीं करते, ये तो प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं।

जेम्स के अनुसार यह जगत पूर्ण नहीं है, मनुष्य के प्रयास से यह पूर्णता की ओर अग्रसर अवश्य हो रहा है। **जेम्स**–और **शिलर** संसार की उन्हीं वस्तुओं और क्रियाओं को सत्य मानते थे जो मानव के जीवन के लिए उपयोगी हैं और उसकी प्रकृति को समग्र रूप से संतुष्ट करती हैं। इनकी दृष्टि से कोई भी वस्तु अथवा क्रिया मानव के लिए सदैव उपयोगी नहीं हो सकती इसलिए कोई भी पूर्व निश्चित सत्य नहीं हो सकता, सत्य परिवर्तनशील होता है। उनकी इस विचारधारा को **मानवतावादी प्रयोजनवाद** (Humanistic Pragmatism) कहा जाता है। कुछ प्रयोजनवादी केवल उसे ही सत्य मानते हैं जो प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरता है। उनकी इस विचारधारा को **प्रयोगवादी प्रयोजनवाद** (Experimental Pragmatism) कहा जाता है। **डीवी** इस विचारधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं।

कुछ प्रयोजनवादी अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही सत्य मानते हैं, भले ही उसे किसी भी भाषा में व्यक्त किया जाए। इनका स्पष्टीकरण है कि भाषा ही तो भिन्न होती है, परिणाम तो समान होते हैं, इसलिए हमें भाषा की भिन्नता पर नहीं परिणाम पर ध्यान देना चाहिए। इसे **नाम रूपी प्रयोजनवाद** (Nominalistic Pragmatism) कहते हैं।

प्रयोजनवादियों का एक वर्ग मनुष्य को मनोशारीरिक प्राणी मानता है और केवल उन्हीं को सत्य मानता है जो मनुष्य की जीव वैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसे **जीवविज्ञानवादी प्रयोजनवाद** (Biological pragmatism) कहते हैं। जीव विज्ञानवादी प्रयोजनवादी दार्शनिक मानव की उस शक्ति को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिसके द्वारा वह अपने आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है और आवश्यकता पड़ने पर पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाता है। **डीवी** मनुष्य को एक ऐसे जैविक प्राणी के रूप में देखते हैं जो स्वयं में एक ऐसा साधन, निमित्त कारण अथवा उपकरण है जो अपने को अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाने और पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने में सक्षम होता है। इसलिए इस विचारधारा को **साधनवाद, नैमित्तिकवाद** अथवा **उपकरणवाद** (Instrumentalism) भी कहते हैं।

प्रयोजनवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्रयोजनवादियों के अनुसार अनुभवों की पुनर्रचना ही ज्ञान है। ये ज्ञान को साध्य नहीं अपितु मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने का साधन मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने से स्वयं होती है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को ये ज्ञान का आधार, मस्तिष्क तथा बुद्धि को ज्ञान का नियंत्रक और क्रियाओं को ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम मानते हैं।

प्रयोजनवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्रयोजनवादी पूर्व निश्चित सत्य, आदर्श और मूल्यों में विश्वास नहीं करते इसलिए ये मनुष्य के लिए कोई निश्चित आचार संहिता नहीं बनाते। इनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य जीवन में निरंतर परिवर्तन होता रहता है इसलिए उसके आचरण को निश्चित नहीं किया जा सकता, उसमें तो वह शक्ति होनी चाहिए कि वह बदले हुए पर्यावरण में समायोजन कर सके। ये बच्चों में केवल सामाजिक कुशलता का विकास करना चाहते हैं। सामाजिक कुशलता से प्रयोजनवादियों का तात्पर्य समाज में समायोजन करने, अपनी जीविका कमाने, मानव उपयोग की वस्तु एवं क्रियाओं की खोज करने और नई-नई समस्याओं का समाधान करने की शक्ति से होता है।

प्रयोजनवाद की परिभाषा

प्रयोजनवाद के अनेक रूप हैं और उनमें संसार और मानव जीवन की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूप से की गई है, परंतु मूल रूप में उनमें बड़ी समानता है। उस समानता के आधार पर विद्वानों ने इसे परिभाषा में बाँधने का प्रयास किया है। **रॉस** महोदय के शब्दों में–

नोट

प्रयोजनवाद निश्चित रूप से एक मानवतावादी दर्शन है जो यह मानता है कि मनुष्य क्रिया में भाग लेकर अपने मूल्यों का निर्माण करता है और यह मानता है कि वास्तविकता सदैव निर्माण की अवस्था में रहती है। (Pragmatism is essentially a humanistic philosophy maintaining that man creates his own values in course of activity, that reality is still in making and awaits its part of completion. **—Ross**).

परंतु इस परिभाषा में प्रयोजनवाद के पूर्ण दर्शन नहीं होते। प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा की दृष्टि से उसे अग्रलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

प्रयोजनवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को विभिन्न तत्वों और क्रियाओं का परिणाम मानती है और यह मानती है कि यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है। यह ईश्वर के विषय में विचार नहीं करती और आत्मा को पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व के रूप में स्वीकार करती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है, जिसे सामाजिक जीवन जीने अर्थात् सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

क्या आप जानते हैं प्रयोजनवादी चिंतन का शुभारंभ 16वीं शताब्दी में बेकन (Francis Bacon, 1561–1626) ने किया।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त–स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. प्रयोजनवादियों के अनुसार अनुभवों की पुनर्रचना ही ..... है।
2. कुछ प्रयोजनवादी केवल उसे ही सत्य मानते हैं जो प्रयोग की ..... पर खरा उतरता हो।

6.2 प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Pragmatism)

प्रयोजनवाद इस संसार और उसकी वस्तुओं एवं क्रियाओं के कारणों पर उतना विचार नहीं करता जितना मानव जीवन में उनकी उपयोगिता पर विचार करता है। फिर भी एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इसने उसके कारण पक्ष पर भी विचार किया है परंतु उस विचार का आधार मानव को ही माना है। प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह संसार अनेक तत्वों एवं क्रियाओं का परिणाम है**–प्रयोजनवाद इस ब्रह्माण्ड के किसी आधारभूत तत्व की खोज और व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ता। यह तो यह मानता है कि इस संसार की रचना अनेक तत्वों के बीच अनेक प्रकार की क्रियाओं के परिणामस्वरूप हुई है। इसके अनुसार यह क्रिया सदैव होती रहती है इसलिए यह ब्रह्माण्ड सदैव निर्माण की अवस्था में रहता है। इस प्रकार यह एक बहुतत्ववादी दर्शन है जो क्रिया को निर्माण का आधार मानता है।
2. **यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है**–प्रयोजनवादी उपयोगिता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार वही वस्तु, क्रिया अथवा विचार सत्य हैं जिनकी मानव जीवन में व्यावहारिक उपयोगिता है। इस कसौटी पर कसने पर यह भौतिक संसार सत्य उतरता है और आध्यात्मिक संसार असत्य। यहाँ हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि हर समय और हर स्थिति में

नोट

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार की मानव दृष्टि से व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होती। इसलिए प्रयोजनवादी किसी शाश्वत सत्य अथवा मूल्य में विश्वास नहीं करते।

3. **आत्मा एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है और परमात्मा मनुष्य की कल्पना मात्र है**–प्रयोजनवाद किसी सार्वभौमिक सत्ता में विश्वास नहीं करता। आत्मा को यह ऐसे तथ्य के रूप में देखता है जो क्रिया करता है। इसकी स्पष्टीकरण है कि सामाजिक पर्यावरण में यह आत्मा क्रियाशील होती है और इसकी क्रिया की दिशा सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल होती है। परमात्मा के बारे में प्रयोजनवादियों का विचार है कि यह मनुष्य की कल्पना मात्र है जिसके रूप सदैव बदलते रहते हैं इसलिए उसे पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।

4. **मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है**–प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य की पहली विशेषता यह है कि वह मनोशारीरिक प्राणी है जिसके पास क्रिया करने और विचार करने की शक्ति है। मनुष्य समस्या को समझने, उसके हल करने के उपायों को सोचने और उसके अनुसार कार्य करने की शक्ति रखता है। **सामाजिकता** उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है। उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह किसी भी बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसे बिना सत्य नहीं मानता; तभी तो नित्य नई खोजें होती हैं। मानव की यह विशेषता ही उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाने का कारण है।

5. **मानव का विकास एक सामाजिक प्रक्रिया है**–मानव विकास के संबंध में आदर्शवादी आत्मा को आधार मानते हैं और प्रकृतिवादी उसकी प्रकृति को, लेकिन प्रयोजनवादियों का तर्क है कि यदि एक व्यक्ति को मानव समाज से दूर कहीं जंगल में अकेला छोड़ दिया जाए तो उसमें मानवीय गुणों और क्षमताओं का विकास नहीं होता। तब उसके विकास का कारण उसकी आत्मा अथवा प्रकृति को कैसे माना जा सकता है। प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य समाज की सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने से ही अपना विकास करता है।

6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**–प्रयोजनवादी मनुष्य जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करते। ये उससे इतनी ही आशा करते हैं कि वह अपनी समस्याओं को समझकर हल करे और अपनी परिस्थितियों के साथ समायोजन करे। ये उससे यह भी चाहते हैं कि संसार, जो निर्माण की अवस्था में है, उसे इस प्रकार की गति दे जिससे ऐसे वातावरण का निर्माण हो जिससे मनुष्य मात्र को सुख मिले।

7. **सुखपूर्वक जीने के लिए सामाजिक विकास आवश्यक होता है**–प्रयोजनवादी मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता और यदि उसे अकेला छोड़ दिया जाता है तो वह मानवीय जीवन व्यतीत नहीं कर पाता। परंतु समाज में भी वह तभी रह सकता है जब वह उसके साथ अनुकूलन करे। हर समाज की अपनी भाषा होती है, अपनी सभ्यता और संस्कृति होती है। मानव सभ्यता में प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, दया, क्षमा, सहनशक्ति आदि गुणों का होना अनिवार्य है। व्यक्ति किसी समाज में तभी अनुकूलन कर सकता है जब वह इन सबको ग्रहण कर लेता है। इसे ही दूसरे शब्दों में समाजीकरण, स्वसंस्कृतिग्रहण अथवा सामाजिक विकास कहते हैं। जब तक किसी समाज के सदस्य अपने समाज और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए संवेदनशील नहीं होते और उनकी सुख-सुविधा की प्राप्ति में हाथ नहीं बँटाते तब तक सामाजिक दृष्टि से उन्हें विकसित नहीं कहा जा सकता। अत: स्पष्ट है कि मनुष्य सुखपूर्वक तभी जी सकता है जब उसका सामाजिक विकास हो जाता है।

8. **सामाजिक विकास के लिए सामाजिक कुशलता आवश्यक है**–प्रयोजनवादी केवल शब्दों में विश्वास नहीं करते, अपितु व्यावहारिक प्रयोग में विश्वास करते हैं। कोई समाज केवल सामाजिक भावनाओं के आधार पर ही विकास नहीं कर सकता, उसके सदस्यों में क्रियात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। इस क्रियात्मक शक्ति के द्वारा उसे अपनी समस्याओं का व्यावहारिक समाधान करना चाहिए। भौतिक

नोट

आवश्यकताओं–रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति के लिए उद्योग, उत्पादन अथवा व्यवसाय करना चाहिए और इस क्षेत्र की तरक्की के लिए ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नए तथ्यों का पता लगाना चाहिए और उन तथ्यों को स्वीकार करना चाहिए जिनकी उपयोगिता हो। प्रयोजनवादी इसी को सामाजिक कुशलता कहते हैं। सामाजिक कुशलता का दूसरा पक्ष सामाजिक व्यवहार है जिसमें, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग अपेक्षित होता है। इसके लिए व्यक्ति को सामाजिक हित के आगे अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करना होता है। जब तक मनुष्य में इस शक्ति का विकास नहीं होता तब वह समग्र रूप से सुखी नहीं हो सकता।

9. **राज्य एक सामाजिक संस्था है–**प्रयोजनवाद की दृष्टि से राज्य कोई दैवीय संस्था नहीं है अपितु यह मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए निर्मित एक सामाजिक संस्था है, इसे व्यष्टि और समाज दोनों के हितों का ध्यान रखना चाहिए। प्रयोजनवादियों के इस विचार ने लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को बड़ा महत्त्व दिया है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. कुछ प्रयोजनवादी अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही मानते हैं–
   (अ) सत्य (ब) असत्य
   (स) व्यर्थ (द) इनमें से कोई नहीं
4. प्रयोजनवादियों का एक वर्ग मनुष्य को मानता है–
   (अ) ज्ञानी (ब) मनोशारीरिक प्राणी
   (स) अज्ञानी (द) इनमें से कोई नहीं
5. प्रयोजनवादी पूर्व निश्चित सत्य, आदर्श और ..... में विश्वास नहीं करते।
   (अ) मूल्यों (ब) ज्ञान
   (स) धारणा (द) इनमें से कोई नहीं
6. रॉस के शब्दों में, प्रयोजनवाद निश्चित रूप से है–
   (अ) एक प्राकृतिक रूप (ब) एक मानवतावादी दर्शन
   (स) एक प्राकृतिक क्रिया (द) इनमें से कोई नहीं

6.3. प्रयोजनवाद और शिक्षा (Pragmatism and Education)

प्रयोजनवादी किसी निश्चित सत्य में विश्वास नहीं करते। यही कारण है कि वे मनुष्य की शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ आदि कुछ भी निश्चित नहीं करते, केवल उनके निर्माण के सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उस सबका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में चलती है। इसके द्वारा समाज की संस्कृति का संरक्षण, संवहन और विकास किया जाता है; मनुष्य में वे सब क्षमताएँ उत्पन्न की जाती हैं, जिनसे कि वह अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण में समायोजन करता है और अपने अनुभवों द्वारा उनमें परिवर्तन करता है। **डीवी** के अनुसार–

'शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।'

(Education is the development of all those capacities in the individual which will enable him to control his environment and fulfil his possibilities. **—John Dewey**)

शिक्षा के उद्देश्य

नोट

प्रयोजनवादी पूर्व निश्चित आदर्श और मूल्यों में विश्वास नहीं करते। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य का प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण सदैव बदलता रहता है और इस बदलते हुए पर्यावरण में मानव नित्य नए अनुभव करता है और नए-नए आदर्श तथा मूल्यों का निर्माण करता है, इसलिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित नहीं किए जा सकते। इस संबंध में डीवी का कथन उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में–'शिक्षा के अपने में कोई उद्देश्य नहीं होते, उद्देश्य तो व्यक्तियों के होते हैं, और व्यक्तियों के उद्देश्यों में बड़ी भिन्नता होती है, और जैसे-जैसे व्यक्तियों का विकास होता जाता है, उनके उद्देश्य भी बदलते जाते हैं।'

प्रयोजनवादियों के अनुसार यदि शिक्षा का कोई निश्चित उद्देश्य हो सकता है तो यही कि वह बच्चों में ऐसी शक्तियों का विकास करे कि वे अपने पर्यावरण को समझ सकें और उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर स्वयं आदर्शों का निर्माण करें। डीवी ने सामाजिक कुशलता के विकास पर बल दिया है और उनके शिष्य किलपैट्रिक ने लोकतंत्र की शिक्षा पर। इस प्रकार प्रयोजनवादी आदर्शों पर आधारित उद्देश्यों का निर्माण नहीं करते अपितु बच्चों में भिन्न-भिन्न योग्यताओं के निर्माण को ही शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से शिक्षा द्वारा बच्चों में निम्नलिखित योग्यताओं का विकास करना चाहिए–

1. **बच्चों में अपने सामाजिक वातावरण को समझने, अनुभवों को प्राप्त करने और आदर्शों को निश्चित करने की क्षमता का विकास**–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में पैदा होता है, समाज में रहता और समाज में ही समाप्त होता है। उसका यह सामाजिक पर्यावरण सदैव बदलता रहता है। शिक्षा के द्वारा हमें बच्चों में ऐसी क्षमताओं का विकास करना चाहिए कि वे अपने पर्यावरण को समझ सकें और उसके साथ अनुकूलन कर सकें। प्रयोजनवादी व्यक्ति से यह आशा करते हैं कि वह पूर्व निश्चित आदर्श और मूल्यों को स्वीकार नहीं करेगा, अपितु अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर आदर्श और मूल्यों को निश्चित करेगा। इसके लिए बच्चों को समस्या को समझने, उसका हल ढूँढ़ने, क्रिया करने, प्रयोग करने, निर्णय निकालने और इस प्रकर आदर्श और मूल्यों को निश्चित करने की क्रिया में प्रशिक्षित करना होगा। प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा को यह कार्य पहले करना चाहिए।
2. **गतिशीलता का विकास**–प्रयोजनवादी शिक्षा के द्वारा बच्चों में बदलती हुई परिस्थितियों को समझने और उनके अनुसार अपने आपको बदलने और अपनी आवश्यकताओं की अनुभूति करने एवं उनकी प्राप्ति के लिए पर्यावरण को बदलने की शक्ति विकसित करना चाहते हैं। ये व्यक्ति से नए-नए अनुभवों के आधार पर नए-नए सत्यों की खोज करने के लिए गतिशील रहने की आशा करते हैं। इसी से मनुष्य विकास की ओर अग्रसर रह सकता है।
3. **सामाजिक कुशलता का विकास**–जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा का सबसे पहला उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास करना होना चाहिए। सामाजिक कुशलता में उन्होंने सामाजिक व्यवहार, प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोग से जीवन व्यतीत करने और जीवनयापन की योग्यता को स्थान दिया है।
4. **लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा**–प्रयोजनवादी मानव को समग्र रूप से संतुष्ट देखना चाहते हैं। उनकी इस भावना ने सामाजिक प्रवृत्ति और लाकतंत्रीय शासन प्रणाली को बढ़ावा दिया है। कुछ प्रयोजनवादी लोकतंत्र के विकास को ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानते हैं। डीवी के शिष्य **किलपैट्रिक** के अनुसार हमारे विद्यालय लोकतंत्र के जीवित उदाहरण होने चाहिए जहाँ बच्चे लोकतंत्रीय क्रियाओं में भाग लें और लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा प्राप्त करें। डीवी और किलपैट्रिक के विचारों में दृष्टि भेद का ही अंतर है। सामाजिक दृष्टि से जिसे डीवी सामाजिक कुशलता कहते हैं, राजनीतिक दृष्टि से वही लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

निश्चित उद्देश्यों के अभाव में पाठ्यचर्या को निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रयोजनवादियों का विचार है कि मनुष्य के अनुभव और आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं अत: पाठ्यचर्या को भी बदलते रहना चाहिए। किस

नोट

समय पाठ्यचर्या का निर्धारण किस प्रकार करना चाहिए इस संबंध में प्रयोजनवादियों के विचार बड़े मूल्यवान हैं। उनके ये विचार आज पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत बन गए हैं। ये सिद्धांत हैं–

1. **उपयोगिता का सिद्धांत–डीवी** के अनुसार बच्चों को उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं का ज्ञान देना चाहिए जो उनके जीवन के लिए उपयोगी हों। भिन्न-भिन्न बच्चों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिए किसी भी विषय का ज्ञान या क्रिया में दक्षता सभी बच्चों के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। एक बच्चे के लिए खेती के कार्य में दक्षता प्राप्त करना उपयोगी हो सकता है तो दूसरे को किसी अन्य कार्य में। बच्चियों के लिए गृह विज्ञान का अध्ययन बहुत उपयोगी होता है परंतु लड़कों के लिए उतना उपयोगी नहीं होता। कहना न होगा कि पाठ्यचर्या में विविधता होनी चाहिए। बच्चों को अपनी आवश्यकतानुसार पाठ्य विषयों एवं क्रियाओं के चुनाव की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या में विभिन्न उत्पादन कार्यों एवं उद्योगों की शिक्षा का समावेश होना चाहिए।
2. **रुचि का सिद्धांत**–बच्चों की स्वाभाविक रुचियों का ध्यान रखना पाठ्यचर्या निर्माण का दूसरा सिद्धांत है। **डीवी** के अनुसार बालकों की प्रवृत्ति गतिशील होती है, उन्हें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और रुचियों के आधार पर ही शिक्षा देनी चाहिए। डीवी ने बालकों की चार स्वाभाविक रुचियों का वर्णन किया है–बातचीत करने की रुचि, अन्वेषण अथवा परीक्षण करने की रुचि, रचना करने की रुचि और कलात्मक अभिव्यक्ति करने की रुचि। डीवी के अनुसार ये स्वाभाविक रुचियाँ प्राकृतिक स्रोत हैं और इन्हीं के आधार पर बालकों का विकास होता है। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या में लिखने-पढ़ने, हस्तकार्य करने तथा प्रकृति विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।
3. **क्रिया का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी क्रिया को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि पाठ्यचर्या का संबंध बच्चों की वास्तविक क्रियाओं, इन क्रियाओं से प्राप्त अनुभवों और भावी व्यवसायों, इन तीनों से होना चाहिए। **डीवी** क्रिया को पाठ्यचर्या का आधार मानते थे। उनकी दृष्टि से पाठ्यचर्या में पाठ्य विषयों के अतिरिक्त सामाजिक क्रियाओं को भी स्थान दिया जाना चाहिए जिनको करने से बच्चों का सामाजिक विकास होता है। डीवी के अनुसार पाठ्यचर्या में केवल वे ही विषय और क्रियाएँ रखनी चाहिए जिनका संबंध बच्चों के वास्तविक जीवन से हो। उनका कहना है कि विद्यालय समाज का छोटा रूप होता है, इन विद्यालयों में जो कुछ भी हो उसका सामाजिक जीवन से संबंध होना चाहिए अन्यथा शिक्षा अपने में निर्जीव एवं व्यर्थ होगी। **डीवी** के मतानुसार पाठ्यचर्या में विभिन्न विषयों के साथ-साथ बालक के जीवन से संबंधित खेल-कूद, सामाजिक कार्य, उत्सव तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए।
4. **अनुभव का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी अनुभवों को भी बहुत महत्त्व देते हैं। **जॉन डीवी** सामाजिक अनुभवों को पाठ्यचर्या का आधार मानते थे। बालकों के शैक्षिक अनुभव रचनात्मक होते हैं। शैक्षिक अनुभवों के अंतर्गत समाज की आर्थिक, राजनैतिक, औद्योगिक, भौतिक तथा सामाजिक दशाएँ आती हैं। शैक्षिक अनुभवों के द्वारा ही बच्चे नवीन अनुभव प्राप्त करते हैं और **पूर्व संचित अनुभवों** का विकास करते हैं। इसके लिए बच्चों को स्वानुभव का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए।
5. **एकीकरण का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी ज्ञान को एक इकाई मानते हैं। इनके अनुसार बच्चों को किसी भी स्तर पर जो विषय पढ़ाए जाएँ और जो क्रियाएँ कराई जाएँ उन सबको एक इकाई के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है अर्थात् उनमें आपसी संबंध होना चाहिए। प्रयोजनवादी सबसे अधिक महत्त्व क्रिया को देते हैं इसलिए वे क्रिया को ही आधार बनाकर सब विषयों का ज्ञान एवं क्रियाओं का प्रशिक्षण उसके इर्द-गिर्द विकसित करने पर बल देते हैं। अत: पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय विषयों एवं क्रियाओं को इस रूप में चुनना चाहिए कि उनमें एकीकरण हो और वे जीवन की वास्तविक क्रियाओं के माध्यम से विकसित हो सकें।

नोट

शिक्षण विधियाँ

प्रयोजनवादी **जॉन डीवी** ने शिक्षा के दो अंग माने हैं–एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञानिक अंग से तात्पर्य सीखने वाले की जन्मजात शक्ति, रुचि, रुझान और योग्यता से होता है। मनुष्य का विकास उसकी इन जन्मजात शक्तियों के आधार पर ही होता है। इसलिए प्रयोजनवादी शिक्षण विधियों के विधान में बच्चे की जन्मजात शक्तियों, रुचि, रुझान और योग्यता का ध्यान रखते हैं।

प्रयोजनवादी वास्तविकता पर बहुत बल देते हैं। उन्होंने हमें इस सत्य से अवगत कराया कि बच्चे केवल उन्हीं क्रियाओं में रुचि लेते हैं जिनसे उनके तत्कालीन उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। अत: उन्हें जो कुछ भी पढ़ाया जाए उसका संबंध उनके तत्कालीन जीवन से जोड़ देना चाहिए।

प्रयोजनवादी क्रियाशीलता पर सबसे अधिक बल देते हैं। उनका कहना है कि बच्चे जन्म से ही क्रियाशील होते हैं, वे सदैव क्रिया करते हैं और इन क्रियाओं के परिणाम विचारों को जन्म देते हैं। अत: बच्चों को स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने देना चाहिए। **जॉन डीवी** के अनुसार किसी भी बात को सीधे नहीं सिखाया जाना चाहिए अपितु क्रिया द्वारा सिखाना चाहिए।

प्रयोजनवादी ज्ञान को एक इकाई मानते हैं। उनके अनुसार शिक्षण विधियाँ ऐसी होनी चाहिए जो समस्त ज्ञान को एक इकाई के रूप में विकसित कर सकें। उनके विचार से सब विषयों को एक-दूसरे से संबंधित करके पढ़ाना ही शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है। इस एकीकरण के किए वे किसी क्रिया को आधार बनाना उचित समझते हैं।

शिक्षा के सामाजिक अंग पर भी प्रयोजनवादियों ने प्रकाश डाला है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में ही चलती है। इन्होंने यह भी बताया कि बच्चे का विकास उसके सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। इसीलिए ये विद्यालयों में उच्च सामाजिक पर्यावरण के निर्माण और बच्चों द्वारा सामाजिक क्रियाओं में भाग लेकर स्वाभाविक ढंग से सीखने पर बल देते हैं। यह इनका शिक्षण संबंधी चौथा सिद्धांत है।

शिक्षण संबंधी इन सिद्धांतों पर आधारित अनेक शिक्षण विधियों का निर्माण हुआ है। **डीवी** ने **प्रयोग विधि** का विकास किया है जो आज **समस्या समाधान** विधि कहते हैं। यह वैज्ञानिक विधि है। इस विधि के पाँच पद हैं–समस्या की अनुभूति, समस्या का विश्लेषण, उपकल्पनाओं का निर्माण, उपकल्पनाओं का परीक्षण और मूल्यांकन। उनके शिष्य **किलपैट्रिक** ने **प्रोजेक्ट विधि** का निर्माण किया है। यह विधि भी पाँच पदों वाली विधि है। इसके पाँच पद हैं–प्रोजेक्ट का चयन, लक्ष्य निर्धारण, योजना निर्माण, योजना का क्रियान्वयन और मूल्यांकन प्रोजेक्ट विधि में बच्चों के जीवन से संबंधित किसी कार्य का चुनाव किया जाता है और बच्चे उस कार्य को पूरा करने में अनेक विषयों का ज्ञान एवं सामाजिक क्रियाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इसमें बच्चों की रुचि, रुझान, योग्यता एवं आवश्यकताओं, सभी का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। आजकल अन्य शिक्षण विधियाँ भी इन्हीं सिद्धांतों पर निर्मित की जा रही हैं। अब बच्चों को वास्तविक परिस्थितियों में रखकर वास्तविक समस्याओं के हल करने के अवसर दिए जाते हैं। अब बच्चों पर ज्ञान थोपा नहीं जाता, अपितु उन्हें स्वयं करके, स्वयं के अनुभवों से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। इस प्रकार से सीखा हुआ ज्ञान स्थायी ज्ञान होता है।

शिक्षा के सम्प्रत्यय

प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में चलती है।

यथार्थवाद और प्रकृतिवाद ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार ही दिए थे, प्रयोजनवाद ने उसे एक तीसरा आधार भी दिया जिसे हम सामाजिक आधार कहते हैं। इसके अनुसार शिक्षा एक सामाजिक, गतिशील और विकास की प्रक्रिया है। प्रयोजनवाद के इस विचार ने प्रगतिशील शिक्षा को जन्म दिया।

शिक्षा के उद्देश्य

जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्यों की बात है प्रयोजनवादी उन्हें निश्चित करने के पक्ष में नहीं हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि यह संसार और मनुष्य परिवर्तनशील है इसलिए शिक्षा के कोई निश्चित उद्देश्य नहीं हो सकते, यदि शिक्षा

नोट

का कोई उद्देश्य हो सकता है तो यही कि उसके द्वारा मनुष्य का सामाजिक विकास कर उसे इस योग्य बनाया जाए कि वह बदलते हुए समाज में अनुकूलन कर सके और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक पर्यावरण पर नियंत्रण कर सके और उसमें परिवर्तन कर सके।

परंतु जब तक मनुष्य यह नहीं जानता कि उसे सामाजिक पर्यावरण में किस सीमा तक अनुकूलन करना है और उसे अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है तब तक वह उचित मार्ग पर नहीं चल सकता। प्रयोजनवाद इन प्रश्नों के सही उत्तर नहीं देता, इसलिए उसके द्वारा निश्चित शिक्षा के ये उद्देश्य अपने में अपूर्ण हैं। डीवी महोदय ने सामाजिक कुशलता के विकास और किलपैट्रिक महोदय के लोकतंत्रीय जीवन के विकास पर बल दिया है। हमारी दृष्टि से तो शिक्षा को मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

निश्चित एवं स्पष्ट उद्देश्यों के अभाव में प्रयोजनवादी निश्चित पाठ्यचर्या का निर्माण भी नहीं कर सके, हाँ, उन्होंने पाठ्यचर्या निर्माण के संबंध में कुछ सिद्धांतों का निर्माण अवश्य किया है।

प्रयोजनवादियों ने पाठ्यचर्या निर्माण के जो सिद्धांत निश्चित किए हैं वे आज प्राय: सभी शिक्षाशास्त्रियों को मान्य हैं। आज पाठ्यचर्या बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यताओं, उनके अनुभवों और उनके जीवन की वास्तविक क्रियाओं पर आधारित होती है और उसमे वे ही विषय एवं क्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता होती है। सभी विषयों एवं क्रियाओं में एकीकरण कियाा जा सके, इसका भी ध्यान रखा जाता है। प्रयोजनवादियों के इन विचारों के परिणामस्वरूप ही क्रियाप्रधान पाठ्यचर्या और एकीकृत पाठ्यचर्या का निर्माण होने लगा है। परंतु उपयोगिता, रुचि, क्रिया और एकीकरण के नाम पर क्रियात्मक विषयों के बाहुल्य और ज्ञानात्मक विषयों की अवहेलना से शिक्षा का स्तर गिरा है, मनुष्य को मनुष्य बनाने में हम असफल रहे हैं। अति तो किसी भी चीज की बुरी होती ही है, हमें विवेक से काम लेना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के संबंध में यथार्थवादियों और प्रकृतिवादियों ने जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया, उनमें प्रयोजनवादियों ने सामाजिक पर्यावरण के महत्त्व को और जोड़ दिया। इन्होंने बच्चों की जन्मजात शक्तियों को पहचाना, उनके व्यष्टिगत भेटों का आदर किया और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सीखने, करके सीखने और अनुभव द्वारा सीखने पर बल दिया और इसके साथ-साथ इस बात पर भी बल दिया कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए उसका संबंध उनके वास्तविक जीवन से होना चाहिए और उन्हें व्यावहारिक क्रियाओं के माध्यम से अनुभव करने के अवसर देने चाहिए। समस्त विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा एक इकाई के रूप में देने पर भी इन्होंने बल दिया है। इन सिद्धांतों पर डीवी महोदय ने समस्या समाधान विधि और किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट विधि का निर्माण किया। इकाई प्रविधि भी इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है।

परंतु इन विधियों से क्रमबद्ध ज्ञान का विकास नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अब इनका प्रयोग नहीं किया जाता। अब तो इन शिक्षण सिद्धांतों पर अनेक अन्य शिक्षण विधियों का विकास किया गया है।

अनुशासन

प्रयोजनवादी अनुशासन के लिए न तो दंड विधान को स्वीकार करते हैं, न बच्चों को शिक्षक के प्रभाव में रखना चाहते हैं और न ही उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं। ये तो इस बात पर बल देते हैं कि बच्चों को उच्च सामाजिक पर्यावरण में सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने के अधिक से अधिक अवसर दिए जाएँ। इन क्रियाओं में भाग लेने से बच्चों में समाज के नियमों का पालन करने, दूसरों का हित ध्यान में रखने और अपने काम को एक व्यवस्थित ढंग से करने की आदत बनेगी, धीरे-धीरे वे वैसा करना अपना कर्तव्य समझने लगेंगे और इस प्रकार उनमें अनुशासन की भावना जागृत हो जाएगी। यही सच्चा अनुशासन है।

वर्तमान में प्राय: सभी देशों में शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन से तात्पर्य इसी स्वशासन से लिया जाता है।

नोट

टास्क प्रयोजनवाद और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

शिक्षा की क्रिया में आदर्शवादी शिक्षक को और यथार्थवादी तथा प्रकृतिवादी शिक्षार्थी को मुख्य स्थान देते हैं परंतु प्रयोजनवादी दोनों को समान स्थान देते हैं। ये बच्चों के व्यष्टित्व का आदर करते हैं और उनके वैयष्टिक विकास के लिए उन्हें पूरे-पूरे अवसर प्रदान करते हैं। इन्होंने बालक की स्वतंत्रता की माँग की और उसे कक्षा में निष्क्रिय श्रोता से एक क्रियाशील छात्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। अब वह स्वयं करके सीखता है। शिक्षक का कार्य यह है कि वह बच्चों की रुचि, रुझान एवं योग्यता का पता लगाए, उनके अनुसार सामाजिक परिस्थितियाँ तैयार करे, बच्चों को कार्य करने के लिए प्रेरित करे और उनकी क्रियाओं का निरीक्षण करे और निर्णय निकालने में उनकी सहायता करे। शिक्षक अब अधिनायक नहीं, मित्र निर्देशक और सहयोगी होता है।

विद्यालय

प्रयोजनवादी व्यष्टि और समाज, दोनों के हित साधन के लिए विद्यालयों को समाज के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहते हैं। इनके इस विचार ने विद्यालयों को सामुदायिक केंद्रों में बदल दिया। अब विद्यालय कोई कृत्रिम संस्थाएँ नहीं माने जाते अपितु बच्चों की जैविक प्रयोगशाला के रूप में स्वीकार किए जाते हैं जहाँ बच्चे वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हैं, स्वयं क्रिया करते हैं और वास्तविक जीवन की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा की अन्य समस्याओं के समाधान में भी प्रयोजनवाद बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। यह एक मानवतावादी दर्शन है, मानवाधिकारों का समर्थक है। इसने उद्घोषणा की कि शिक्षा मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इससे जन शिक्षा, अनिवार्य सामान्य शिक्षा, स्त्री शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा को बड़ा बढ़ावा मिला। प्रयोजनवाद सभी को समृद्ध एवं सुखी देखना चाहता है। इस हेतु इसने व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। आज संसार के सभी देशों में व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। परंतु यह धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करता, उसे केवल सामाजिक नैतिकता के रूप में स्वीकार करता है, परिणामस्वरूप शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अर्थ ही बदल गया। ईश्वर के भय के अभाव में मनुष्य मानवता से पशुत्व की ओर ही बढ़ा है, गिरा है। परंतु कुछ भी हो संसार में शैक्षिक जागरूकता प्रयोजनवादियों की ही देन है। आज सारे संसार की शिक्षा पर प्रयोजनवादियों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य दिखाई देता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. जॉन डीवी के अनुसार, शिक्षा का पहला उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास करना होना चाहिए।
8. प्रयोजनवादियों का विचार है कि मनुष्य के अनुभव और आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं।
9. प्रयोजनवादी क्रिया को बहुत महत्त्व देते हैं।
10. प्रयोजनवादी अनुभवों को महत्त्व नहीं देते।

नोट

6.4 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक दार्शनिक चिंतनधारा के रूप में प्रयोजनवाद एक अधूरा दर्शन है, यह मनुष्य के केवल सामाजिक पक्ष पर ही ध्यान केंद्रित रखता है, उसके आध्यात्मिक पक्ष पर विचार नहीं करता। उसका यह विचार कि मानव जीवन के कोई शाश्वत आदर्श और मूल्य नहीं हो सकते, मानव की युगों की तपस्या के परिणाम को चुनौती देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका यह विचार कि मनुष्य को सब कुछ अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करना चाहिए, जागरूकता के नाम पर एक बौखलाहट ही है। यदि मनुष्य ने अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ नहीं उठाया होता तो उसने इतना विकास ही न किया होता। परंतु एक शिक्षा दर्शन के रूप में यह काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसने शिक्षा के उद्देश्यों को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार निश्चित करने की जो बात कही है, वह आज सभी को स्वीकार है। पाठ्यचर्या निर्माण के जो सिद्धांत प्रयोजनवादियों ने विकसित किए हैं, वे भी सभी को स्वीकार हैं। शिक्षण विधियों में सामाजिक क्रियाओं को महत्त्व देने की बात भी आज सभी मानते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में स्वानुशासन का विचार भी लोकतंत्रीय समाज के अनुकूल है। विद्यालयों को मानव निर्माण की जीवित प्रयोगशालाओं के रूप में विकसित करने का इनका विचार भी आज सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकार करते हैं। प्रयोजनवादियों ने जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के विकास में जो योगदान दिया है, उसके लिए भी हम उनके ऋणी हैं परंतु शिक्षा में मनुष्य की संस्कृति और उसके आध्यात्मिक पक्ष को स्थान न देकर इन्होंने अपना आसन स्वयं ही गँवा दिया। हमें आज ऐसे शिक्षा दर्शन की आवश्यकता है जो मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, तीनों पक्षों के विकास पर समान बल दे।

6.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रयोजनवाद** (Pragmatism): व्यवहारवाद
2. **मन** (Mind): आत्मा

6.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्रयोजनवाद से आप क्या समझते हैं? शिक्षा पर उसके प्रभाव की उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण की विधियों और अनुशासन के संदर्भ में विवेचना कीजिए।
2. प्रयोजनवाद द्वारा निश्चित पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि आधुनिक युग में इन सिद्धांतों का प्रयोग कहाँ तक किया जाता है?
3. शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोजनवादियों की देन का मूल्यांकन कीजिए।
4. प्रयोजनवाद के मुख्य रूपों (उपसंप्रदायों) का उल्लेख कीजिए और उनके आगे उनके मुख्य पोषकों के नाम भी लिखिए।
5. प्रयोजनवाद के साधनवाद (Instrumentalism) से आप क्या समझते हैं?
6. प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
7. सामाजिक कुशलता से डीवी महोदय का क्या तात्पर्य है?
8. प्रयोजनवाद द्वारा प्रतिपादित पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
9. प्रयोजनवाद द्वारा प्रतिपादित पाठ्यचर्या के सिद्धांतों में एकीकरण के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment) नोट

1. ज्ञान
2. कसौटी
3. (अ)
4. (ब)
5. (अ)
6. (ब)
7. सही
8. सही
9. सही
10. गलत

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–7 : मानवतावाद और शिक्षा (Humanism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 मानवतावाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Humanism)

7.2 मानवतावाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Humanism)

7.3 मानवतावाद और शिक्षा (Humanism and Education)

7.4 मानवतावाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Humanism to Education)

7.5 सारांश (Summary)

7.6 शब्दकोश (Keywords)

7.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मानवतावाद का अर्थ समझने हेतु।
- मानवतावाद के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- मानवतावाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

वर्तमान मानवतावाद का शुभारंभ अपने सही रूप में 18वीं शताब्दी में हुआ। इस शताब्दी में यूरोप में तत्कालीन धर्म तंत्र, राज्य तंत्र, कुलीन तंत्र और पूँजीवाद, इन सभी के विरुद्ध एक क्रांतिकारी चिंतन की शुरुआत हुई। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड के **वाल्टेयर** (Voltaire) ने बौद्धिक दमन के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने अज्ञान के विरुद्ध, ज्ञान का नारा दिया। उनकी चिंतन धारा को **विवेकवाद** (Rationalism) की संज्ञा दी गई।

7.1 मानवतावाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Humanism)

मानव के किसी भी प्रकार के चिंतन का मुख्य केंद्र स्वयं मानव ही होता है। दार्शनिक चिंतन में उसके वर्तमान के साथ-साथ उसके आदि एवं अंत के विषय में भी विचार किया जाता है और उसके लिए तद्नुकूल आचार संहिता बनाई जाती है। सामाजिक चिंतन में उसके सामाजिक जीवन पर विचार किया जाता है और उसके

नोट

सामाजिक जीवन को उच्च बनाने के लिए व्यवहार मानदण्ड निश्चित किए जाते हैं। राजनैतिक चिंतन में शासनतंत्रों पर विचार किया जाता है और उपयुक्त शासन व्यवस्था की खोज की जाती है। आर्थिक चिंतन में विभिन्न अर्थतंत्रों पर विचार किया जाता है और मनुष्यों के आर्थिक विकास की विधियों की खोजकर उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है। मनोवैज्ञानिक चिंतन में मनुष्य के व्यवहार के मूल आधारों एवं कारकों पर विचार किया जाता है और उनके विकास को गति प्रदान की जाती है। वैज्ञानिक चिंतन में मनुष्य के लिए पदार्थों की उपयोगिता की खोज की जाती है और पदार्थों के प्रयोग से मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार मानव के सभी प्रकार के चिंतनों का केंद्र बिंदु मानव ही होता है और सभी चिंतन मानव के विकास एवं समृद्धि के साधनों की खोज की ओर प्रवृत्त होते हैं और इस प्रकार सभी प्रकार के चिंतन अपनी मूल प्रवृत्ति में मानवतावादी हैं। परंतु आज जब हम मानवतावादी चिंतन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य आधुनिक युग की एक विशेष दार्शनिक चिंतनधारा से होता है जो संपूर्ण विश्व को एक परिवार मानती है और मानव मात्र की सुख-शांति के मार्ग की खोज की ओर प्रवृत्त है।

इतिहास बताता है कि 13वीं शताब्दी के अंत तक यूरोप में धर्म (चर्च) का वर्चस्व रहा, वहाँ के लोग धर्म के बंधन में जीवन जी रहे थे। 14वीं शताब्दी में वहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों की शुरुआत हुई। इनसे एक ओर अनेक धार्मिक अंधविश्वासों का अंत हुआ और दूसरी ओर औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई और लोग परलोक के सुख की कल्पना को त्यागकर इस लोक के भौतिक सुखों की ओर आकृष्ट हुए। इससे एक ओर जहाँ कुछ लाभ हुए वहाँ दूसरी ओर कुछ हानि भी हुई। मनुष्य एक मशीन माना जाने लगा और भौतिक संपन्नता की प्राप्ति के बावजूद उसका जीवन दुखमय हो गया। बौद्धिक प्रतिभा के धनी व्यक्तियों ने इस विज्ञानवाद के विरुद्ध आवाज उठानी शुरू की और मानव की गरिमा को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न शुरू किया। कुछ विद्वान मानवतावाद की शुरुआत यहीं से मानते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि इस काल में मानवतावाद एक दर्शन के रूप में विकसित नहीं हो पाया था।

वर्तमान मानवतावाद का शुभारंभ अपने सही रूप में 18वीं शताब्दी में हुआ। इस शताब्दी में यूरोप में तत्कालीन धर्म तंत्र, राज्य तंत्र, कुलीन तंत्र और पूँजीवाद, इन सभी के विरुद्ध एक क्रांतिकारी चिंतन की शुरुआत हुई। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड के **वाल्टेयर** (Voltaire) ने बौद्धिक दमन के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने अज्ञान के विरुद्ध, ज्ञान का नारा दिया। उनकी चिंतन धारा को **विवेकवाद** (Rationalism) की संज्ञा दी गई। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में **रूसो** (Rousseau) ने तत्कालीन निरंकुश शासनतंत्र और शोषण प्रधान धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दी और इस कष्टमय जीवन से बचने के लिए 'प्रकृति की ओर लौटो' का नारा दिया। उनकी विचारधारा को **प्रकृतिवाद** (Naturalism) की संज्ञा दी गई। यूँ तो इन चिंतकों ने मनुष्य मात्र को किसी भी प्रकार के बंधनों से मुक्त कर उनके जीवन को उच्च बनाने का प्रयत्न किया था परंतु इन्होंने जो मार्ग चुने उनसे मनुष्य का अधिक हित नहीं हुआ। उसी समय कुछ विचारक ऐसे हुए जिन्होंने संघर्ष एवं क्रांति के मार्ग के स्थान पर शांति के मार्ग को चुना। आधुनिक मानवतावाद की शुरुआत यहीं से मानी जाती है।

मानवतावादियों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न था–मनुष्य के लिए सुख-शांति के मार्ग की खोज। इनमें कुछ विचारक ऐसे थे जो मनुष्य की विकसित होती हुई सभ्यता का तो आदर करते थे, परंतु विज्ञान का विरोध करते थे। ये मनुष्य की संस्कृति में तो विश्वास करते थे, परंतु उसे संस्कृति की संकीर्णता से मुक्त करना चाहते थे। इनकी विचारधारा को शास्त्रीय **मानववाद** (Classical Humanism) कहा जाता है।

दूसरी तरफ **शिलर** (Schiller) आदि कुछ दार्शनिकों ने विज्ञान के महत्त्व को तो स्वीकार किया परंतु साथ ही दो बातों पर विशेष बल दिया–एक यह कि मनुष्य को विज्ञान (मशीन) का दास नहीं होना चाहिए और दूसरी यह कि विज्ञान का प्रयोग निर्माणात्मक कार्यों में होना चाहिए, संघारात्मक कार्यों में नहीं। ये चिंतक मनुष्य को विज्ञान का दास न बनाकर विज्ञान को मनुष्य का दास बनाने के पक्षधर थे। इन्होंने एक ओर मनुष्य को विज्ञान की सहायता से धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों के शिकंजे से छुड़ाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर मनुष्यों को विज्ञान के सही उपयोग (निर्माणात्मक) की ओर प्रवृत्त किया। विज्ञान का मानव मात्र के हित में प्रयोग करने पर बल देने के कारण इनकी विचारधारा को **विज्ञानवादी मानवतावाद** (Scientific Humanism) कहते हैं।

नोट

अब प्रश्न उठता है कि मानवतावाद के रूप को समझने का। हम जानते हैं कि किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: हम सर्वप्रथम इन्हीं को समझने का प्रयत्न करेंगे।

नोट्स मानव के किसी भी प्रकार के चिंतन का मुख्य केंद्र स्वयं मानव ही होता है।

मानवतावाद की तत्व मीमांसा

मानवतावादी चिंतकों ने प्रकृतिवादी तत्व मीमांसा को स्वीकार किया है। ये किसी अलौकिक तत्व में विश्वास नहीं करते और प्रकृति को ही मूल तत्व (Ultimate Reality) मानते हैं। ये प्रकृति द्वारा निर्मित इस भौतिक जगत को वास्तविक मानते हैं। इनकी दृष्टि से यह भौतिक जगत परिवर्तनशील है। मनुष्य को ये प्राकृतिक विकास की श्रेष्ठतम रचना (Product) मानते हैं और मनुष्य जीवन का उद्देश्य उच्च मानवता का विकास मानते हैं।

मानवतावाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

मानवतावादी इस पदार्थजन्य संसार की समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानने को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। इनकी दृष्टि से ज्ञान की प्रकृति विवेकपूर्ण होती है, इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान को जब तक तर्क की कसौटी पर कसकर खरा न पाया जाए तब तक वह सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। मानवतावाद ऐसे किसी कथन को सत्य नहीं मानता जो तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

मानवतावाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

मानवतावादी मानव को इस ब्रह्माण्ड का केंद्र मानते हैं और संसार की संपूर्ण मानव जाति को एक मानते हैं। ये संसार के सभी मनुष्यों को स्वतंत्र, प्रसन्न और प्रगतिशील देखना चाहते हैं। इनकी दृष्टि से **सबकी भलाई** (Good for all) मानव जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है। मानवतावादी इटैलियन दार्शनिक **वरजीरियो** (Vergerio) का विश्वास है कि मनुष्यों में मूल्यों का निर्माण साहित्याध्ययन द्वारा होता है। वरजीरियो के विपरीत मानवतावादी दार्शनिक **न्यूमैन** (J.H.Newman) किसी भी प्रकार के नैतिक मूल्यों में विश्वास नहीं करते, उनका कथन है कि मूल्य विवेकपूर्ण होने चाहिए। परंतु अधिकतर मानवतावादी दार्शनिक सत्य, सुंदरता, अच्छाई, न्याय, सामाजिक समानता, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग को मानव हित के मूल्य मानते हैं। इनकी दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को एक दूसरे के प्रति प्रेम भाव बरतना चाहिए, एक-दूसरे का सहयोग करना चाहिए और एक-दूसरे की सुख शांति का ध्यान रखकर आचरण करना चाहिए।

मानवतावाद की परिभाषा

मानवतावाद की तत्व मीमांसा अपने में अस्पष्ट है इसलिए उसे दार्शनिक चिंतनधारा के रूप में परिभाषित करना बड़ा कठिन कार्य है। वह मानव मात्र के हित की बात सोचता है इसलिए इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है–

मानवतावाद मनुष्य के मस्तिष्क की वह अभिवृत्ति है जो मनुष्य को और उसके विभिन्न पक्षों, कार्यों, इच्छाओं और उसके हित को सर्वाधिक महत्त्व देती है।

(Humanism is the attitude of mind which attaches primary importance to man and to his faculties, affairs, temporal aspirations and well being.

—Encyclopedia Britannica)

मैसलो ने मानवतावाद को कुछ इस रूप में प्रस्तुत किया है–

मानवतावाद शब्द का प्रयोग लेखकों ने भिन्न-भिन्न रूप में किया है, इनमें एक अर्थ है कि मानव ही

नोट

मानव चिंतन का आधार है और ईश्वर जैसी कोई शक्ति नहीं है और न ही कोई अतिमानवीय वास्तविकता है जिससे इसे जोड़ा जा सके।

(Humanism is a word which is used by writers in many different senses. One of these implies that man makes up the entire framework of human thought, that there is no God, no super human reality to which he can be related or can relate himself. **—Maslow)**

हमारी दृष्टि से मानवतावाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के विषय में जो सामान्य धारणा है, उसके आधार पर मानवतावाद को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

मानवतावाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो इस संसार को प्रकृति द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि यह भौतिक जगत ही सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक जगत नहीं है। यह आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नर्क जैसे सम्प्रत्ययों पर विचार नहीं करती और यह मानती है कि मानव जीवन का मूल उद्देश्य सुख एवं शांतिपूर्वक जीना है, जिसे सबकी अच्छाई हेतु सोचने और कार्य करने से प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. वर्तमान मानवतावाद का शुभारंभ अपने सही रूप में ..... में हुआ।
2. इतिहास बताता है कि 13 वीं शताब्दी के अंत तक ..... में धर्म (चर्च) का वर्चस्व रहा।

7.2 मानवतावाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Humanism)

मानवतावाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में बाँधना चाहें तो निम्नलिखित रूप में बाँध सकते हैं।

1. **इस संसार की कोई नियामक सत्ता नहीं है**–मानवतावादियों की दृष्टि से विश्व की अपनी सृजनात्मक शक्तियाँ हैं, यह उन्हीं शक्तियों द्वारा निर्मित है, इसका कर्ता कोई अन्य नहीं है।
2. **यह भौतिक जगत सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक जगत नहीं है**–मानवतावादी इस भौतिक जगत को ही सत्य मानते हैं और इसकी समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं को सत्य मानते हैं। इनका तर्क है कि मनुष्य को इसी वस्तुजगत में जीना है, उसके लिए यही सत्य है। ये इस संसार को परिवर्तनशील एवं विकासशील मानते हैं। इसके अतिरिक्त ये अन्य किसी संसार में विश्वास नहीं करते।
3. **ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है**–मानवतावादी विचारकों ने मनुष्य के भौतिक सुख के विषय में ही सोचा है। उनकी दृष्टि से ईश्वर मनुष्य के इस कार्य में कोई सहायता नहीं करता। वैसे भी इनके अनुसार सृष्टि में ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है, उसका कोई अस्तित्व नहीं है।
4. **मनुष्य सृष्टि के विकास की चरम सीमा है**–मानवतावादी विचारकों की दृष्टि से मनुष्य न केवल साधारण जीव है और न केवल मशीन अपितु वह विवेकशील प्राणी है, रचनात्मक जीव है और विकास की असीम संभावनाओं से युक्त है।
5. **मनुष्य का विकास उसके स्वयं के ऊपर निर्भर करता है**–मानवतावादी ईश्वर और भाग्य में विश्वास नहीं करते, ये मनुष्य के कर्म में विश्वास करते हैं। इनकी दृष्टि से मनुष्य की सृष्टि से जो शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमताएँ प्राप्त हैं, वे ही उसके विकास के मूल आधार हैं।
6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**–मानवतावादियों का सुख से तात्पर्य भौतिक सुख भर से है, ये भौतिक संतुष्टि को ही सुख मानते हैं।

नोट

7. **सुखपूर्वक जीने के लिए भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है**–मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं के विषय में मानवतावादी एक मत नहीं हैं, कुछ उसकी केवल वस्तुगत आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देते हैं और कुछ उसकी वस्तुगत आवश्यकताओं के साथ-साथ उसकी भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति पर भी बल देते हैं।
8. **किसी भी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानवीय मूल्यों का पालन आवश्यक है**–मानवतावादियों का स्पष्ट मत है कि संसार के सभी मनुष्यों की वस्तुगत एवं भावात्मक आवश्यकताओं की समान रूप से पूर्ति तभी हो सकती है जब सभी मनुष्य मानवीय मूल्यों का पालन करें। इनकी दृष्टि से 'सबकी भलाई' (Good of all) सबसे बड़ा मानवीय मूल्य है। इसके लिए इन्होंने प्रेम और सहयोग पर सबसे अधिक बल दिया है।
9. **राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है**–मानवतावादी राज्य द्वारा व्यक्ति के शोषण के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि से राज्य को व्यक्ति की स्वंतत्रता की रक्षा करनी चाहिए और साथ ही समष्टि के हित की रक्षा करनी चाहिए। यह तभी संभव है जब राज्य मनुष्य के मानवीय अधिकरों की रक्षा करे और उन्हें मानवीय कार्यों की ओर प्रवृत्त करे। उनकी दृष्टि से यह सब लोकतंत्र में ही संभव है मानवतावादी लोकतंत्र शासन प्रणाली के समर्थक हैं।

क्या आप जानते हैं मानवतावादी मानव को इस ब्रह्मांड का केंद्र मानते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. मनोवैज्ञानिक चिंतन में मनुष्य के व्यवहार के मूल आधारों एवं कारकों पर किया जाता है-
   (अ) विचार (ब) चिंतन
   (स) चिंतन-मनन (द) इनमें से कोई नहीं
4. 14 वीं शताब्दी में यूरोप में ..... की शुरुआत हुई।
   (अ) वैज्ञानिक आविष्कारों (ब) धर्म-पुस्तक लिखने की
   (स) इतिहास लिखने की (द) इनमें से कोई नहीं
5. मानवतावादी चिंतकों ने स्वीकार किया है-
   (अ) अलौकिक तत्व को (ब) प्रकृतिवादी तत्व मीमांसा को
   (स) भैतिक जगत को (द) इनमें से कोई नहीं
6. मानवतावाद ऐसे किसी कथन को सत्य नहीं मानता जो तर्क की कसौटी पर नहीं उतरता-
   (अ) खोटा (ब) खरा
   (स) सीधा (द) उलटा

7.3 मानवतावाद और शिक्षा (Humanism and Education)

मानवतावादी मानव मात्र के उत्थान में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि से यह तभी संभव है जब सभी मनुष्य एक-दूसरे के लिए जिएँ। इसके लिए यह आवश्यक है कि वे यह मानें कि संसार में जो कुछ है वह सबके लिए है। **शास्त्रीय मानवतावादी** (Classical Humanists) मनुष्य की भावात्मक (सामाजिक एवं

नोट

सांस्कृतिक), आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक बल देते हैं और **वैज्ञानिक मानवतावादी** (Scientific Humanists) वस्तुगत आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिक बल देते हैं और इस सबके लिए मानवतावादी शिक्षा को आवश्यक मानते हैं। इन्होंने मनुष्य की शिक्षा की पूरी रूपरेखा तैयार की है। यहाँ उसका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

मानवतावादी केवल स्कूली शिक्षा को शिक्षा नहीं मानते अपितु मनुष्य को परिवार, समाज और विद्यालय आदि किसी भी स्थान पर और किसी भी समय जो कुछ भी अनुभव प्राप्त होते हैं, उसे शिक्षा मानते हैं। साफ जाहिर है कि ये शिक्षा को उसके व्यापक रूप में लेते हैं। इनकी दृष्टि से शिक्षा एक सृजनात्मक प्रक्रिया है जो मनुष्य को वर्तमान के साथ-साथ उसके भविष्य को भी सुंदर और प्रगतिशील बनाती है।

शिक्षा के उद्देश्य

मानवतावादियों के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाना होना चाहिए, उसे सृजनात्मक एवं प्रगतिशील मनुष्य बनाना होना चाहिए और यह तभी संभव है जब वह शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो, बौद्धिक दृष्टि से उन्नत हो और उसमें मानवीय मूल्यों का विकास हो। ये मानवमात्र की सुख-समृद्धि में विश्वास करते हैं और यह तभी संभव है जब मनुष्य वस्तुओं के उत्पादन एवं उसके वितरण में निपुण हों। इन सब उद्देश्यों को हम आज की भाषा में निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **शारीरिक एवं बौद्धिक विकास**–शारीरिक विकास से मानवतावादियों का तात्पर्य मनुष्य के स्वास्थ्य से है और बौद्धिक विकास से तात्पर्य उसमें तर्क शक्ति के विकास से है। इनका तर्क है कि उत्तम स्वास्थ्य के अभाव में मनुष्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता और तर्क शक्ति के अभाव में वह किसी भी क्षेत्र में सही निर्णय नहीं ले सकता, अत: शिक्षा द्वारा मनुष्य के इन दोनों पक्षों का विकास होना चाहिए। इसी के साथ ये शिक्षा द्वारा मनुष्य को अपनी बौद्धिक महानता की अनुभूति कराना चाहते हैं।
2. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास**–शास्त्रीय मानवतावादी व्यक्ति एवं समाज के निरंतर उत्थान में विश्वास करते हैं, ये मानव समाज की संस्कृति के पुररोत्थान के पक्षधर हैं। ये संपूर्ण मानव जाति को एक मानते हैं इसलिए संकीर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक भावना के स्थान पर विस्तृत सामाजिक एवं सांस्कृतिक भावना का विकास करने पर बल देते हैं। इनकी दृष्टि से इस प्रकार के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास से ही मानवमात्र को सुखी बनाया जा सकता है।
3. **उच्च मानवीय मूल्यों का विकास**–मानवतावादियों के अनुसार सबकी भलाई (Good for all) सबसे बड़ा मानवीय मूल्य है; प्रेम, सेवा भाव, सहयोग आदि सभी इसमें समाहित हैं। इनकी दृष्टि से मानवमात्र को सुखी एवं सफल बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य में उच्च मानवीय मूल्यों का विकास करना पहली आवश्यकता है, शिक्षा को यह कार्य करना चाहिए।
4. **उत्पादन क्षमता का विकास–** मानवतावादियों के अनुसार मनुष्य की मूल आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं–एक भावात्मक और दूसरी वस्तुगत। भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास आवश्यक होता है और साथ ही उनमें उच्च मानवीय मूल्यों का विकास करना आवश्यक होता है और वस्तुगत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उन्हें मानव उपयोगी विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में दक्ष करना आवश्यक होता है। शास्त्रीय मानवतावादी मनुष्य को विज्ञान के अधीन करने का विरोध करते हैं परंतु वैज्ञानिक मानवतावादी विज्ञान के मानवतावादी प्रयोग का समर्थन करते हैं।
5. **सृजनात्मकता का विकास**–मानवतावादी मनुष्य को जन्म से सृजनात्मक एवं प्रगतिशील मानते हैं। उनकी दृष्टि से शिक्षा द्वारा उसकी इन मूल शक्तियों को जागृत किया जाना चाहिए। उनका तर्क है कि सृजनशीलता प्रगति की जननी है। परंतु यह सृजन मानवमात्र की अच्छाई के लिए होना चाहिए, उसके विनाश के लिए नहीं।

नोट

शिक्षा की पाठ्यचार्य

मानवतावादी अच्छे मनुष्य के निर्माण की बात करते हैं। इनकी दृष्टि से अच्छा मनुष्य वह है जो सबकी अच्छाई में विश्वास करता है और तद्नुकूल आचरण करता है। इसी आधार पर इन्होंने शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए हैं और इसी आधार पर इन्होंने यथा उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु शिक्षा की पाठ्यचार्य का निर्माण किया है।

इनकी दृष्टि से पाठ्यचार्य में स्वास्थ्य रक्षा एवं उसके विकास के लिए स्वास्थ्य विज्ञान एवं व्यायाम (खेलकूद) को, तर्क शक्ति के विकास के लिए तर्कप्रधान विषयों एवं क्रियाओं को, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहिष्णुता के विकास के लिए विभिन्न भाषा, साहित्य, इतिहास, कला एवं अन्य मानविकीय विषयों को, उच्च मानवीय मूल्यों के विकास के लिए समाज सेवा को, उत्पादन क्षमता के विकास के लिए कला-कौशलों, विज्ञान एवं तकनीकी को और सृजनात्मकता के विकास के लिए सृजनात्मक क्रियाओं को स्थान देना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

मानवतावादियों ने सर्वाधिक बल तर्क एवं विवेक पर दिया है। ये इन्द्रियानुभूत ज्ञान को भी तर्क एवं विवेक की कसौटी पर कसने के बाद स्वीकार करने पर बल देते हैं। इनकी दृष्टि से प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद, समस्या समाधान एवं तर्क सीखने-सिखाने की उत्तम विधियाँ हैं। शिक्षण के संबंध में इन्होंने निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष बल दिया है–

1. शिक्षण विधि का चयन छात्रों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के आधार पर किया जाए।
2. छात्रों को सीखने के स्वतंत्र अवसर दिए जाएँ।
3. सीखने-सिखाने की क्रिया में छात्रों की सक्रिय भागीदारी हो।
4. सीखने-सिखाने की क्रिया में छात्रों की बुद्धि और तर्क शक्ति का प्रयोग किया जाए।
5. जो कुछ भी पढ़ाया-सिखाया जाए उसका जीवन से संबंध जोड़ा जाए।
6. छात्रों की वैयक्तिक भिन्नता का ध्यान रखा जाए।
7. पिछड़े छात्रों के लिए उपचारात्मक शिक्षण की व्यवस्था की जाए।

अनुशासन

मानवतावादी आत्मानुशासन के पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि से सच्चे अनुशासन की स्थापना निर्देशों से की जा सकती है और न पुरस्कार एवं दंड द्वारा की जा सकती है। दंड को तो ये अमानवीय कृत मानते हैं। इनकी दृष्टि से अनुशासन का विकास अनुशासन द्वारा ही किया जा सकता है। यदि सिखाने वाले अनुशासन का पालन करते हैं तो सीखने वाले अनायास ही अनुशासन का पालन करेंगे। इनकी दृष्टि से भूल सुधार भी दंड द्वारा नहीं, प्रेम द्वारा होना चाहिए।

शिक्षक

मानवतावादियों की दृष्टि से शिक्षकों को पढ़ाए-सिखाए जाने वाले विषयों और साथ ही अपने शिक्षार्थियों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए; अर्थात् क्या पढ़ाना-सिखाना है और कैसे पढ़ाना-सिखाना है, इसका ज्ञान होना चाहिए। उनका दृष्टिकोण उदार होना चाहिए, उन्हें शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिए और उनके संपूर्ण विकास का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए। शिक्षक परिवर्तनशील और प्रगतिशील होने चाहिए और समाज की पुनर्रचना में उनका विश्वास होना चाहिए।

शिक्षार्थी

मानवतावादी शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व का आदर करते हैं; वे उन्हें शिक्षकों का अंधा भक्त बनाने के पक्ष में नहीं हैं, वे उन्हें स्वतंत्र रूप से सोचने एवं निर्णय लेने की स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं। शिक्षक-शिक्षार्थी के संबंध के विषय में मानवतावादी शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच शासक एवं शासित के संबंध के घोर विरोधी हैं, वे इनके

नोट

बीच मानवीय संबंध के पक्ष में हैं जो प्रेम एवं सहयोग पर आधारित होता है। ये शिक्षकों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपने शिक्षार्थियों को किसी भी प्रकार के भय, द्वंद्व और तनाव से मुक्त रखें। इनकी दृष्टि से उसी स्थिति में छात्रों में मानवीय गुणों का विकास किया जा सकता है।

विद्यालय

मानवतावादी विद्यालयों को मानव निर्माण की प्रयोगशाला मानते हैं। उनके अनुसार विद्यालयों में सबको एक-दूसरे के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए और सबको एक-दूसरे की सुख-सुविधा में सहयोग करना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—मानवतावादियों के अनुसार शिक्षा मनुष्य का मूल अधिकार है। उनकी दृष्टि से किसी भी राज्य को अपने नागरिकों के लिए एक निश्चित स्तर की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य एवं नि:शुल्क रूप से करनी चाहिए। ये जन शिक्षा के सबसे बड़े समर्थक हैं।
2. **स्त्री शिक्षा**—मानवतावादी मनुष्य-मनुष्य में किसी भी आधार पर भेद नहीं करते। इनके अनुसार स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और राज्य को उनके इस अधिकार को प्राप्त करने में उनकी सहायता करनी चाहिए।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**—मानवतावादी मनुष्य मात्र को भौतिक दृष्टि से संपन्न एवं सुखी देखना चाहते हैं और उसके लिए सर्वप्रथम उनमें मानवीय गुणों का विकास करने पर बल देते हैं और उसके बाद उन्हें किसी व्यवसाय में दक्ष कर रोजी-रोटी कमाने योग्य बनाना चाहते हैं।
4. **धार्मिक शिक्षा**—मानवतावादी धर्म के नाम पर होने वाले शोषण के कट्टर विरोधी हैं। ये मनुष्यों को ईवश्र संबंधी धर्म-दर्शन के स्थान पर मानव संबंधी धर्म-दर्शन की शिक्षा देने के पक्ष में हैं।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पाश्चात्य मानवतावाद के संदर्भ में भारतीय मानवतावाद के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में हमारा पहला निवेदन तो यह है कि भारत में मानवतावाद नाम का कोई दर्शन ही विकसित नहीं हुआ है। और यदि आप यह कहें कि पाश्चात्य मानवतावाद के संदर्भ में भारतीय दर्शनों के मानवतावादी चिंतन का अध्ययन किया जाए, तो हमारी दृष्टि से यह भी युक्ति संगत नहीं है। जब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन अलग-अलग करते हैं तो फिर उनका अध्ययन किसी पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में करने का क्या औचित्य है। इस दार्शनिक खिचड़ी में तो भारतीय दर्शनों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। हाँ, किन्हीं भी पाश्चात्य दर्शनों एवं भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है।

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में मानवतावाद के संदर्भ में केवल बौद्ध दर्शन के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। हमारी दृष्टि से यह भी युक्ति संगत नहीं है। माना कि ये दोनों दर्शन मानवमात्र के हित की ओर प्रवृत्त हैं परंतु फिर भी इन दोनों में बड़ी भिन्नता है। इस संदर्भ में पहली बात तो यही है कि मानवतावाद पाश्चात्य दर्शन है और इसका विकास आधुनिक युग में विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोध में हुआ है और बौद्ध दर्शन भारतीय दर्शन है जिसका विकास आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व वैदिक दर्शन के कर्मकाण्ड के विरोध में हुआ था, दोनों की पृष्ठभूमि ही भिन्न है। दूसरी बात यह है कि जहाँ मानवतावाद मानवमात्र को सुखों की प्राप्ति कराने की ओर प्रवृत्त है वहाँ बौद्ध दर्शन उन्हें दुखों से निवृत्त कराने की ओर प्रवृत्त है। तीसरी बात यह है कि जहाँ मानवतावाद मनुष्यों को धर्म की अधीनता से मुक्त कराना चाहता है वहाँ बौद्ध दर्शन मनुष्यों को बौद्ध धर्म के पालन का उपदेश देता है। चौथी बात यह है कि मानवतावाद में निर्वाण जैसे सम्प्रत्यय की कल्पना तक नहीं की गई है जबकि बौद्ध दर्शन इसी को मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य मानता है। और पाँचवीं एवं अंतिम बात यह है कि इन दोनों दर्शनों की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा में भी बहुत अंतर है। मनुष्य को जिस संयम, करुण और दया का उपदेश बौद्ध दर्शन में दिया गया है, मानवतावाद में उसकी कल्पना तक

नोट

नहीं की गई है, उसमें तो आपसी सहयोग की बात भर कही गई है। तदनुकूल इनके शैक्षिक चिंतन में भी बड़ी भिन्नता है। विशेष अध्ययन के लिए पढ़िए अध्याय–बौद्ध दर्शन और शिक्षा।

टास्क मानवतावाद के मूल सिद्धांत पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. मानवतावादी आत्मानुशासन के पक्षधर हैं।
8. मानवतावादी विद्यालयों को मानव निर्माण की प्रयोगशाला मानते हैं।
9. शिक्षक परिवर्तनशील और प्रगतिशील नहीं होने चाहिए।
10. मानवतावादियों के अनुसार, शिक्षा मनुष्य का मूल अधिकार है।

7.4 मानवतावाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Humanism to Education)

मानवतावाद, मनुष्य को संसार का केंद्र मानता है और संपूर्ण मानव जाति को एक मानता है। यही कारण है कि यह संपूर्ण मानव जाति के हित साधनों की खोज की ओर प्रवृत्त है। यह न जाति विरोधी है, न धर्म विरोधी, न समाज विरोधी है और न राज्य विरोधी; यह तो उनकी उस संकीर्णता का विरोधी है जिसने मानव को मानव से अलग कर दिया है और शांति के स्थान पर उसे संघर्ष की आग में झोंक दिया है। यह विज्ञान का भी विरोधी नहीं है, यह तो विज्ञान द्वारा उन संहारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का विरोधी है जिसने संपूर्ण मानव जाति के अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर दिया है। यह मनुष्यों को इन सब संकीर्णताओं एवं खतरों से निकालकर उन्हें एक-दूसरे के लिए जीने का संदेश देता है, इसीलिए इसे मानवतावादी दर्शन कहा जाता है। इस युग में मानवतावाद ने शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करने में भी बड़ी अहम् भूमिका का निर्वाह किया है। इसके कुछ सुझाव बड़े व्यावहारिक हैं।

शिक्षा का संप्रत्यय

मानवतावाद यह मानता है कि शिक्षा की प्रक्रिया सब जगह और हर समय चलती है अत: मनुष्यों को बच्चों के सामने बड़ी सतर्कता के साथ विचार व्यक्त करने चाहिए और व्यवहार करना चाहिए, तभी उन्हें सच्चे मानवता का पाठ पढ़ाया-सिखाया जा सकता है।

साफ जाहिर है कि मानवतावाद शिक्षा को उसके व्यापक रूप में स्वीकार करता है। परंतु न तो किसी मानवतावादी ने शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या की है और न उसके कार्यों की व्याख्या की है।

शिक्षा के उद्देश्य

मानवतावाद शिक्षा द्वारा मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाने पर बल देता है और इसके लिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करता है। इन उद्देश्यों में मुख्य उद्देश्य हैं–शारीरिक एवं बौद्धिक विकास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास, तर्कशक्ति का विकास, मानवीय मूल्यों का विकास और सृजनात्मक शक्ति का विकास।

परंतु मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के बिना उसमें मानवीय मूल्यों का विकास कैसे किया जा सकता है। इस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि मानवतावादी बिना नींव के इमारत खड़ी करना चाहते हैं। शिक्षा द्वारा तो मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक तीनों पक्षों का विकास होना चाहिए।

नोट

शिक्षा की पाठ्यचार्य

शिक्षा की पाठ्यचार्य में शास्त्रीय मानवतावादी मानविकी विषयों को स्थान देने की बात करते है और विज्ञानवादी मानवतावादी मानविकी एवं वैज्ञानिक दोनों विषयों को स्थान देते हैं परंतु धर्म को ये दोनों ही पाठ्यचार्य से अलग करने के पक्ष में हैं।

परंतु अब संसार बहुत आगे बढ़ चुका है, उस सबकी जानकारी के अभाव में अब मानव-अस्तित्व की बात नहीं सोची जा सकती। अब तो पाठ्यचार्य में मानव उपयोग के समस्त विषयों एवं क्रियाओं को स्थान देना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

मानवतावादी तर्क को ज्ञान का आधार मानते हैं, ये इन्द्रियानुभूत ज्ञान को भी तर्क की कसौटी पर कसकर ग्रहण करने पर बल देते हैं। कुछ मानवतावादी विज्ञान का विरोध अवश्य करते हैं परंतु शिक्षण के संदर्भ में वे वैज्ञानिक विधि का ही समर्थन करते हैं और स्वयं के अनुभव से सीखने पर बल देते हैं। सीखने-सिखाने के संबंध में इन्होंने जिन सूत्रों–स्वतंत्रता, जीवन से संबंध एवं वैयक्तिक भिन्नता आदि पर बल दिया है।

सीखने-सिखाने के संबंध में मानवतावादियों ने जो कुछ भी कहा है, वह सब तो इनके पूर्व विचारक भी कह चुके थे। साफ जाहिर है कि इस क्षेत्र में इनकी अपनी कोई देन नहीं है।

अनुशासन

मानवतावादी मानवीय व्यवहार को ही सच्चा अनुशासन मानते हैं और इसकी प्राप्ति के लिए विद्यालयों में मानवीय पर्यावरण के निर्माण की बात करते हैं। ये दंड को अमानवीय कृत्य कहते हैं और उसका कड़ा विरोध करते हैं।

साफ जाहिर है कि मानवतावादियों ने अनुशासन के संबंध में अपने पूर्व विचारकों का ही समर्थन किया है, बस उनमें एक नया शब्द मानवीय और जोड़ दिया है।

शिक्षक और शिक्षार्थी

शिक्षक और शिक्षार्थियों को इन्होंने मानवीय संबंध स्थापित करने का संदेश अवश्य दिया है, परंतु उनके लिए कोई आचार संहिता निश्चित नहीं की है, ये तो पूर्व निश्चित आचार संहिता में विश्वास ही नहीं करते। बिना पूर्व निश्चित आचार संहिता के मानवता को जिंदा रखने का उनका विचार अपने गले तो नहीं उतरता।

विद्यालय

विद्यालयों में जीवन की वास्तविक स्थिति विकसित करने की इनकी बात भी कोई नई बात नहीं है, पूर्व विचारक इस बात पर पहले ही बल दे चुके थे।

शिक्षा के अन्य पक्ष

हाँ, जन शिक्षा के नारे को बुलंद करने में इनका बड़ा योगदान रहा है और स्त्री-पुरुषों को शिक्षा के समान अधिकार एवं समान अवसर प्रदान करने की आवाज को भी इन्होंने गति प्रदान की है, परंतु धर्मनिरपेक्षता के इनके नारे ने धार्मिक शिक्षा के महत्त्व को कम कर दिया है। सच पूछिए तो मानव को मानव बनाने का मूल आधार धर्म ही है। हमें धर्म से नहीं, धार्मिक संकीर्णता से दूर रहना चाहिए।

7.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मानवतावाद ने एक वैचारिक क्रांति को जन्म तो दिया और लोगों को मानव विनाशकारी तथ्यों से परिचित भी कराया परंतु दुनियाँ के लोग वहीं के वहीं हैं, सभी स्वार्थपरता और संकीर्णता से घिरे हैं। शिक्षा दर्शन के रूप में भी इसकी अपनी कोई नई देन नहीं है, पूर्व निश्चित का विरोध करने

नोट

वाले इन मानवतावादियों ने पूर्व निश्चित ज्ञान, विज्ञान एवं मूल्यों की शिक्षा पर ही बल दिया है। बिना इसके मानव विकास संभव भी तो नहीं है। हमारी दृष्टि से सच्ची मानवता के विकास के लिए सच्चे धर्म-दर्शन की शिक्षा आवश्यक है।

7.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **सबकी भलाई** (Good for All) : सबका हित
2. **विवेकवाद** (Rationalism): बुद्धिवाद

7.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मानवतावाद से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. मानवतावाद के मूल सिद्धांत बताइए।
3. मानवतावाद और शिक्षा पर टिप्पणी लिखिए।
4. मानवतावाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. 18 वीं शताब्दी	2. यूरोप	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

7.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–8 : सांख्य दर्शन और शिक्षा (Sankhya Philosophy and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 सांख्य दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sankhya Philosophy)

8.2 सांख्य दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Sankhya Philosophy)

8.3 सांख्य दर्शन और शिक्षा (Sankhya Philosophy and Education)

8.4 सांख्य दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Sankhya Philosophy to Education)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सांख्य दर्शन का अर्थ जानने हेतु।
- सांख्य दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- सांख्य दर्शन और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

सांख्य दर्शन के अनुसार **प्रकृति** और **पुरुष** दो मूल तत्व हैं और प्रकृति की 23 विकृतियाँ हैं और इस प्रकार कुल 25 तत्व हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तत्वों की संख्या बताने के कारण ही इस दर्शन को सांख्य दर्शन कहा जाता है। अन्य विद्वानों के अनुसार **सांख्य का अर्थ** है–विवेक ज्ञान, प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान; और चूँकि सांख्य प्रकृति-पुरुष के भेद को स्पष्ट करता है इसलिए इसे सांख्य कहा जाता है। सांख्य प्रकृति और पुरुष की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करता है इसलिए कुछ विद्वान इसे **द्वैतवादी** दर्शनों की कोटि में रखते हैं। यह प्रत्येक प्राणी में एक स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व की बात करता है इसलिए कुछ विद्वान इसे **अनेकात्मवादी** दर्शनों की कोटि में रखते हैं। सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, और ज्ञान एवं तर्क मीमांसा बड़ी **वैज्ञानिक** हैं और मूल्य एवं आचार मीमांसा बड़ी **व्यावहारिक** है, इसलिए शिक्षा की दृष्टि से यह दर्शन बहुत महत्त्व का दर्शन है।

नोट

8.1 सांख्य दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Difinition of Sankhya Philosophy)

सांख्य दर्शन वेद मूलक षट् दर्शनों में सबसे अधिक प्राचीन है। यूँ तो सांख्य दर्शन संबंधी विचार वेद एवं श्वेताश्वेत, कठ, प्रसन्न और मैत्रेय उपनिषदों में पहले से ही विद्यमान थे परंतु इसे एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया **महर्षि कपिल** (ई. पू. 7वीं शताब्दी) ने। महर्षि कपिल सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने वेद साहित्य में निहित दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन कर सांख्य दर्शन का प्रतिपादन किया। कपिल की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं–एक **'तत्व समास'** और दूसरी **'सांख्य सूत्र'**। 'तत्व समास' सांख्य दर्शन की प्राचीनतम रचना है। इसमें केवल 22 सूत्र हैं। 'सांख्य सूत्र' में 537 सूत्र हैं और उसमें सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है। कपिल के बाद आसुरि, पश्चशिख, ईश्वर कृष्ण विंध्यवासी और विज्ञानभिक्षु ने सांख्य दर्शन की व्याख्या की और उसके सिद्धांतों को स्पष्ट किया। **ईश्वर कृष्ण** (तीसरी शताब्दी) ने अपनी **'सांख्य कारिका'** में इस दर्शन की विषद व्याख्या की है। 'सांख्य कारिका' सांख्य दर्शन का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। उसके बाद भी अनेक विद्वानों ने सांख्य दर्शन की व्याख्या की है और इस प्रकार सांख्य दर्शन की विचारधारा अबाध गति से निरंतर प्रवाहित होती आ रही है।

सांख्य दर्शन के अनुसार **प्रकृति** और **पुरुष** दो मूल तत्व हैं और प्रकृति की 23 विकृतियाँ हैं और इस प्रकार कुल 25 तत्व हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तत्वों की संख्या बताने के कारण ही इस दर्शन को सांख्य दर्शन कहा जाता है। अन्य विद्वानों के अनुसार **सांख्य का अर्थ** है–विवेक ज्ञान, प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान; और चूँकि सांख्य प्रकृति-पुरुष के भेद को स्पष्ट करता है इसलिए इसे सांख्य कहा जाता है। सांख्य प्रकृति और पुरुष की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करता है इसलिए कुछ विद्वान इसे **द्वैतवादी** दर्शनों की कोटि में रखते हैं। यह प्रत्येक प्राणी में एक स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व की बात करता है इसलिए कुछ विद्वान इसे **अनेकात्मवादी** दर्शनों की कोटि में रखते हैं। सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, और ज्ञान एवं तर्क मीमांसा बड़ी **वैज्ञानिक** हैं और मूल्य एवं आचार मीमांसा बड़ी **व्यावहारिक** है, इसलिए शिक्षा की दृष्टि से यह दर्शन बहुत महत्त्व का दर्शन है।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: सर्वप्रथम सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा का क्रमबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा

सांख्य द्वैतवादी दर्शन है। इसके अनुसार दो मूल तत्व हैं–एक **प्रकृति** और दूसरा **पुरुष**, और यह सृष्टि इन्हीं दो तत्वों के योग से बनी है। सांख्य के अनुसार यह प्रकृति सत्, रज और तम, इन तीनों गुणों का समुच्चय है और पदार्थजन्य संसार का उपादान कारण है। और **पुरुष परम चेतन तत्व का पर्याय** है, परम आत्मा का पर्याय है, इसका कोई स्वरूप नहीं होता, यह निर्गुण है। सांख्य संसार के प्रत्येक जीव में एक स्वतंत्र पुरुष (आत्मा) की सत्ता मानता है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि और अनंत हैं। सांख्य का स्पष्टीकरण है कि प्रकृति केवल **जड़** है, बिना पुरुष (चेतन तत्व) के इसमें कोई क्रिया नहीं हो सकती और दूसरी ओर पुरुष केवल चेतन हैं, बिना जड़ माध्यम के वह क्रिया नहीं कर सकता, अत: **सृष्टि की रचना के लिए प्रकृति और पुरुष का संयोग** आवश्यक है। सांख्य के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दोनों की सत्ता **स्वयंसिद्ध** है। प्रकृति इंद्रिय ग्राह है इसलिए उसकी सत्ता निर्विवाद है, और मनुष्य का यह कथन कि 'मैं हूँ' पुरुष की सत्ता का द्योतक है। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष के बीच 23 अन्य तत्वों की खोज की है और इस प्रकार उसके अनुसार तत्वों की कुल संख्या 25 है। ये तत्व हैं–

प्रकृति–प्रकृति अथवा प्रधान अथवा अव्यक्त –01

विकृति–हाथ, पैर, वाणी, गुदा, और जनेंद्रिय; आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा, मन तथा पृथ्वी, जल, वायु और आकाश, अग्नि। –16

नोट

प्रकृति-विकृति–अहंकार, महत् (बुद्धि), शब्द, तन्मात्रा; स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गंध तन्मात्रा। –07

न प्रकृति न विकृति–पुरुष (आत्मा) –01

योग –25

नोट्स सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्व हैं और प्रकृति की 23 विकृतियाँ हैं। इस प्रकार कुल 25 तत्व हैं।

सृष्टि की रचना के संबंध में सांख्य ने **सत्कार्यवाद** सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार कार्य **कारण** में पहले से ही निहित होता है। यह सृष्टि भी प्रकृति में पहले से निहित थी, तभी तो इसकी उत्पत्ति संभव हुई। प्रकृति **कारण** है और सृष्टि इसका **कार्य**। कारण के कार्य रूप में परिवर्तित होने का नाम उत्पत्ति है और कार्य के पुनः कारण के रूप में परिवर्तित होने का नाम विनाश है।

सांख्य ने सृष्टि के विकास क्रम को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष के योग से सर्वप्रथम महत् की उत्पत्ति हुई। सांख्य में महत् का अर्थ है–ब्रह्मांड बुद्धि (Cosmic Intelligence)। ये वेद एवं उपनिषदों के हिरण्यगर्भ का पर्याय जान पड़ता है। इसके बाद महत् से अहंकार की उत्पत्ति हुई अहंकार ब्रह्मांड की विभिन्नता का आधार है, आत्मभाव (Ego) का जन्मदाता है। **अहंकार और सत् के योग** से मनस् और पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, अहंकार और रजस् के योग से पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) की उत्पत्ति होती है और अहंकार और तमस् के योग से पाँच तन्मात्राओं (रस, सुगंध, स्पर्श, ध्वनि और दृश्य) की उत्पत्ति होती है।

भोग और मुक्ति के विषय में सांख्य मत अन्य वैदिक मतों से भिन्न है। इसके अनुसार पुरुष और प्रकृति के योग से जीव (शरीर + जीवात्मा) की उत्पत्ति ही भोग का प्रारंभ है और पुरुष के प्रकृति से अलग होने का नाम मुक्ति है, मोक्ष है। सांख्य के अनुसार मोक्ष की स्थिति में परमानंद प्राप्त होता है। इसका स्पष्टीकरण है कि न तो प्रकृति के अभाव में पुरुष भोग कर सकता है और न पुरुष के अभाव में प्रकृति भोग कर सकती है। तब भोग से छुटकारा पाने के लिए पुरुष को प्रकृति से अलग करना आवश्यक है।

पुनर्जन्म के विषय में सांख्य उपनिषद् दर्शन से सहमत है। इसके अनुसार हमारे सारे अनुभव सूक्ष्म शरीर पर एकत्रित होते हैं और सूक्ष्म शरीर अंतःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) और पाँच तन्मात्राओं (रस, सुगंध, स्पर्श, ध्वनि और दृश्य) का योग है। यही सुख-दुःख का अनुभव करता है और यही अनुभवों को संचित करता है। यह अग्नि से जलता नहीं और पानी से गलता नहीं और जब तक अनुभव शून्य (कर्मफल शून्य) नहीं होता एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करता रहता है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। इस प्रकार पुनर्जन्म सूक्ष्म शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो पुरुष है, जन्म-मरण के बंधन से मुक्त है।

सांख्य दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

सांख्य दर्शन ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–एक **पदार्थ ज्ञान,** इसे वह **यथार्थ ज्ञान** कहता है और दूसरा **प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान,** इसे वह **विवेक ज्ञान** कहता है। सांख्य के अनुसार हमें पदार्थों का ज्ञान इंद्रियों द्वारा होता है। इंद्रियों से यह ज्ञान मन, मन से अहंकार, अहंकार से बुद्धि और बुद्धि से पुरुष को प्राप्त होता है। दूसरी ओर सांख्य यह मानता है कि पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है, बुद्धि अहंकार को जागृत करती है, अहंकार मन को क्रियाशील करता है और मन इंद्रियों को क्रियाशील करता है, और उसके और वस्तु के बीच संसर्ग स्थापित करता है। सांख्य का स्पष्टीकरण है कि इंद्रियाँ, मन, अहंकार और बुद्धि, ये सब **प्रकृति** से निर्मित हैं, अतः ये जड़ हैं, और जड़ में ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। दूसरी ओर पुरुष केवल चेतन तत्व है, बिना जड़ प्रकृति के माध्यम के वह भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रकृति (जड़) और पुरुष

नोट

(चेतन) दोनों का संयोग आवश्यक होता है। सांख्य की पदार्थ ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

पदार्थ ⟷ इंद्रियाँ ⟷ मन ⟷ अहंकार ⟷ बुद्धि ⟷ पुरुष

सांख्य ज्ञान प्राप्त करने के केवल तीन प्रमाण (साधन) मानता है–**प्रत्यक्ष, अनुमान** और **शब्द**। वस्तु जगत के ज्ञान के लिए ये तीनों प्रमाण (साधन) आवश्यक होते हैं। परंतु पुरुष तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें शब्दों पर ही निर्भर रहना होता है। शब्द द्वारा प्राप्त पुरुष तत्व के ज्ञान की अनुभूति के लिए सांख्य योग साधन मार्ग का समर्थन करता है।

सांख्य दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

सांख्य दर्शन का आरंभ दु:खत्रय–आध्यात्मिक (आत्मा, मन और शरीर संबंधी), आधिभौतिक (बाह्य जगत संबंधी) और आधिदैविक (ग्रह एवं दैवीय प्रकोप संबंधी) की सार्वभौमिकता की स्वीकृति से होता है। सांख्य के अनुसार इस दु:ख से छुटकारे का नाम ही **मुक्ति** अथवा **मोक्ष** है। इस संदर्भ में पहला प्रश्न है कि सुख-दु:ख का भोक्ता कौन है? सांख्य का उत्तर है–**पुरुष और प्रकृति के योग से उत्पन्न शरीर, मन और जीवात्मा।** दूसरा प्रश्न है कि दु:खत्रय से छुटकारा कैसे मिले? सांख्य के अनुसार दु:खत्रय का मुख्य कारण अज्ञान है। यह **अज्ञान** क्या है? **जब पुरुष बुद्धि के कार्य को अपना कार्य बना लेता है अर्थात् प्रकृति के सत, रज और तम गुणों की अनुभूति करने लगता है तो इसे अज्ञान कहते हैं,** इसी कारण वह सुख-दु:ख का भोक्ता हो जाता है अन्यथा वह तो निर्गुण है, उसे सुख-दु:ख की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानना और बुद्धि, अहंकार मन और इंद्रियों के कार्यों को अपना कार्य न समझना ही ज्ञान है। इस ज्ञान की स्थिति में ही मनुष्य सुख-दु:ख के अनुभव से अलग हो सकता है। इसकी प्राप्ति के लिए सांख्य योग साधन मार्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को आवश्यक मानता है। **यम** का अर्थ है–मन, वचन और कर्म का संयम। इसके लिए योग सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रत के पालन को आवश्यक मानता है। योग के अनुसार नियम भी **पाँच** हैं; यथा–शौच, संतोष तप, स्वाध्याय और प्राणिधान। सांख्य दर्शन मोक्ष के इच्छुक को इन सब को अपने आचरण में उतारने का उपदेश देता है। इन नैतिक महाव्रतों एवं नियमों का पालन करने से ही मनुष्य अपनी इंद्रियों को वश में कर सकता है, अपने मन को निर्मल कर सकता है और योग साधना के अन्य छह पदों–आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अनुसरण कर सकता है।

सांख्य दर्शन की परिभाषा

सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को प्रकृति एवं पुरुष के योग से निर्मित मानती है और यह मानती है कि प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि और अनंत हैं। यह ईश्वर के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और आत्मा को पुरुष (चेतन तत्व) मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, जिसे विवेक ज्ञान एवं योग साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

क्या आप जानते हैं सांख्य दर्शन वेद मूलक षट् दर्शनों में सबसे अधिक प्राचीन है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. सांख्य में महत् का अर्थ है ..... ।
2. सांख्य ..... दर्शन है।

8.2 सांख्य दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Sankhya Philosophy)

नोट

सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह सृष्टि प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित है**–सांख्य के अनुसार यह सृष्टि प्रकृति और पुरुष के योग से निर्मित है। उसका तर्क है कि प्रकृति केवल **जड़ तत्व** है, बिना **चेतन के संयोग के उसमें क्रिया** नहीं हो सकती और बिना क्रिया के सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। दूसरी ओर पुरुष केवल चेतन तत्व है, बिना जड़ तत्व की सहायता के वह क्रिया नहीं कर सकता और क्रिया के अभाव में सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। अत: सृष्टि की रचना के लिए प्रकृति-पुरुष का संयोग आवश्यक है।
2. **प्रकृति और पुरुष दोनों मूल तत्व है**–सांख्य प्रकृति और पुरुष दोनों को मूल तत्व मानता है, अनादि और अनंत मानता है और सत्य मानता है, परंतु प्रकृति को वह **जड़** और पुरुष को **चेतन** मानता है, प्रकृति को त्रिगुणात्मिका और पुरुष को निर्गुण मानता है। सांख्य के अनुसार सृष्टि रचना की दृष्टि से प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।
3. **पुरुष की स्वतंत्र सत्ता है और वह अनेक हैं**–सांख्य पुरुष अर्थात् आत्मा की **स्वतंत्र सत्ता** मानता है, वह उसे **ब्रह्म का अंश** नहीं मानता, उसे अपने में मूल तत्व मानता है। सांख्य प्रत्येक प्राणी में एक स्वतंत्र आत्मा की सत्ता स्वीकार करता है, वह अनेकात्मवादी दर्शन है।
4. **मनुष्य प्रकृति एवं पुरुष का योग है**–सांख्य के अनुसार मनुष्य सृष्टि का ही एक अंश है अत: उसकी रचना भी प्रकृति-पुरुष के संयोग से होना निश्चित है। कपिल के अनुसार **मनुष्य का स्थूल शरीर माता-पिता के रज-वीर्य** से और सूक्ष्म शरीर अंत:करण और **पाँच तन्मात्राओं के योग** से बनता है। उसके सूक्ष्म शरीर पर जन्म-जन्म के अनुभव संचित होते हैं और यही एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रवेश करता है। सांख्य के अनुसार मनुष्य का स्थूल और सूक्ष्म शरीर जड़ हैं और उनमें निहित चेतन तत्व पुरुष है। सांख्य मनुष्य जीवन को सप्रयोजन मानता है।
5. **मनुष्य का विकास उसके जड़ एवं चेतन दोनों तत्वों पर निर्भर करता है**–सांख्य के अनुसार मनुष्य प्रकृति एवं पुरुष का योग होता है और उसका विकास इन्हीं दो तत्वों पर निर्भर करता है। सांख्य की दृष्टि से मानव विकास की तीन दिशाएँ होती हैं–शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है**–सांख्य के अनुसार मनुष्य जीवन सप्रयोजन है, उसका उद्देश्य दु:खत्रय से छुटकारा पाना है। इसे ही वह मुक्ति कहता है। दु:खत्रय क्यों होता है? जब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने को बुद्धि समझ बैठता है तब उसे दु:ख की अनुभूति होती है अन्यथा तो वह इन सबसे अलग है। जब मनुष्य अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तब वह दु:खत्रय से छुटकारा पा जाता है, मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य इसी जीवन में दु:खत्रय के अनुभव से मुक्त हो जाता है, उसे सांख्य में जीवन्मुक्त कहते हैं और जो शरीर के नाश होने पर दु:खत्रय के अनुभव से मुक्त होता है उसे विदेह मुक्त कहते हैं।
7. **मुक्ति के लिए विवेक ज्ञान आवश्यक है**–सांख्य की दृष्टि से मुक्ति के लिए विवेक ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद को जानना आवश्यक होता है। उसी स्थिति में पुरुष अपने आप को प्रकृति से अलग कर सुख-दु:ख से अलग हो सकता है, कर्मफल भोग से मुक्त हो सकता है।
8. **विवेक ज्ञान के लिए योग साधन मार्ग आवश्यक है**–सांख्य विवेक ज्ञान के लिए योग द्वारा निर्दिष्ट साधन मार्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को आवश्यक मानता है।

नोट

9. **योग मार्ग के अनुयायी के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है–**योग साधन मार्ग का प्रथम पद है–यम। यम का अर्थ है मन, वचन और कर्म का संयम, इसके लिए योग सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक मानता है। योग साधन मार्ग का दूसरा पद है–नियम। योग के अनुसार नियम भी पाँच हैं–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और प्राणिधान। योग के अनुसार इन पाँचों व्रतों और पाँचों नियमों का पालन करने के बाद ही साधन आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की क्रियाएँ कर सकता है। इन्हें ही आज की भाषा में नैतिक नियम कहा जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. 'तत्व समास' सांख्य दर्शन की रचना है–
   (अ) प्राचीनतम (ब) नवीनतम
   (स) सर्वश्रेष्ठ (द) इनमें से कोई नहीं
4. 'सांख्य कारिका' सांख्य दर्शन का माना जाता है–
   (अ) अप्रामाणिक ग्रंथ (ब) प्रामाणिक ग्रंथ
   (स) प्रमुख ग्रंथ (द) इनमें से कोई नहीं
5. सृष्टि की रचना के संबंध में सांख्य ने प्रतिपादन किया है–
   (अ) सत्कार्यवाद सिद्धांत का (ब) प्रकृति का
   (स) ईश्वर का (द) इनमें से कोई नहीं
6. सांख्य के अनुसार मोक्ष की स्थिति में प्राप्त होता है–
   (अ) परमानंद (ब) अहंकार
   (स) पुरुषत्व (द) इनमें से कोई नहीं

8.3 सांख्य दर्शन और शिक्षा (Sankhya Philosophy and Education)

सांख्य दर्शन में शिक्षा के संबंध में स्वतंत्र रूप से कोई विचार नहीं किया गया है, परंतु उसकी तत्व मीमांसा से शिक्षा के अंतिम उद्देश्य, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा से शिक्षा के स्वरूप, शिक्षा की पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों और मूल्य एवं आचार मीमांसा से शिक्षा के सामान्य उद्देश्य, पाठ्यचर्या, अनुशासन और शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य की बाह्य एवं आंतरिक रचना के संबध में सांख्य मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान से अधिक विकसित है। यहाँ हम सांख्य दर्शन में निहित शिक्षा संबंधी विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा का संप्रत्यय

सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धांतानुसार कार्य कारण में पहले से निहित होता है। इस सिद्धांतानुसार मानव का विकास मानव में पहले से निहित होता है, शिक्षा का कार्य इसे बाहर निकालना है। सांख्य प्रकृति और पुरुष दोनों को मूल तत्व मानता है, परंतु दोनों के मूलभूत अंतर को भी जानता है। उसकी दृष्टि से **वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान कराती है।**

शिक्षा के उद्देश्य

सांख्य के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम **उद्देश्य मुक्ति** है और यह मुक्ति प्रकृति-पुरुष के भेद को जानने से प्राप्त होती है। अत: मनुष्य का विकास इस रूप में होना चाहिए कि वह प्रकृति-पुरुष के भेद को समझ सके,

नोट

दु:खत्रय से छुटकारा प्राप्त कर सके, मुक्त हो सके। उसकी दृष्टि से यह शिक्षा का साध्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योग साधना मार्ग को आवश्यक मानता है और योग साधना के लिए नैतिक आचरण को आवश्यक मानता है। आज की भाषा में हम इन उद्देश्यों को निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

साध्य उद्देश्य–

1. **दु:खत्रय से छुटकारे का उद्देश्य** (प्रकृति-पुरुष के भेद को जानने का उद्देश्य, मुक्ति का उद्देश्य)।

साधन उद्देश्य–

1. **शारीरिक विकास का उद्देश्य** (कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों एवं तन्मात्राओं का विकास)।
2. **मानसिक विकास का उद्देश्य** (मन तत्व का विकास; विचार को ऊर्ध्वगामी बनाना)।
3. **भावात्मक विकास का उद्देश्य** (अहंकार तत्व का विकास, अहम् में सत् की प्रधानता का विकास)।
4. **बौद्धिक विकास का उद्देश्य** (बुद्धि तत्व का विकास, उसे इंद्रियों की दासता से मुक्त करना, पुरुष की अनुभूति में संलग्न करना)।
5. **नैतिक विकास का उद्देश्य** (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य व्रतों और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और प्राणिधान नियमों के पालन की ओर प्रवृत्त करना)।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

पाठ्यचर्या तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है। सांख्य दर्शन मनुष्य के **भौतिक** और **आध्यात्मिक** दोनों पक्षों को **सत्य** मानता है और दोनों के विकास को समान महत्त्व देता है। उसकी दृष्टि से पाठ्यचर्या में **पदार्थ** एवं **आत्मा** दोनों से संबंधित ज्ञान एवं क्रियाओं को स्थान देना चाहिए। सांख्य मनुष्य के विकास क्रम से परिचित है, उसके अनुसार भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या होनी चाहिए।

सांख्य के अनुसार **शिशु काल** में बच्चों की कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों का विकास बहुत तेजी से होता है, अत: इस काल में सबसे अधिक बल इनके उचित विकास पर ही देना चाहिए। बच्चों की इंद्रियों के विकास के लिए उचित पर्यावरण की आवयकता होती है। बच्चों को खुले आकाश के नीचे, खुली हवा में खेलने-कूदने और दौड़ने-उछलने के अवसर देने चाहिए। इससे उनकी कर्मेंद्रियों का विकास होता है और तन्मात्राओं के अनुभव की शक्ति विकसित होती है। आधुनिक युग में इटली की **डॉ. माण्टेसरी** ने भी इस तथ्य पर बल दिया है।

सांख्य **बाल्य काल** के मनोविज्ञान से भी परिचित है। उसके अनुसार इस अवस्था पर बच्चों की इंद्रियों का विकास चालू रहता है और इसके साथ-साथ उसके अंत:करण (**मन, अहम्** और **बुद्धि**) का विकास भी होने लगता है। अत: इंद्रियों के विकास एवं प्रशिक्षण की प्रक्रिया चालू रहनी चाहिए और इसके साथ-साथ मन, अहंकार और बुद्धि तत्व के विकास के लिए पाठ्यचर्या में **भाषा, साहित्य, सामाजिक विषय, पदार्थ विज्ञान** और **गणित** को सम्मिलित करना चाहिए।

सांख्य के अनुसार किशोरावस्था पर **अहंकार** (स्व प्रत्यय) स्थायी होने लगता है, बुद्धि में निर्णय लेने की शक्ति आने लगती है। अत: इस आयु के बच्चों की पाठ्यचर्या में तर्क आधारित विवेचनात्मक विषयों (ज्यामिति आदि) को स्थान देना चाहिए।

सांख्य के अनुसार यदि बच्चों को उनके शिशु काल, बाल्य काल और किशोर काल में यथा विकास के उचित अवसर दिए जाएँ तो **युवा काल** तक उनकी समस्त शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास हो जाता है। तब उन्हें **धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र आदि की शिक्षा देनी चाहिए,** पदार्थ एवं आत्मत्व के ज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए। सांख्य **अनेकात्मवादी** दर्शन है, व्यक्ति की वैयष्टिकता का आदर करने वाला दर्शन है। अत: उसके अनुसार इस आयु वर्ग के बच्चों के लिए उनकी योग्यता, क्षमता एवं रुचि के अनुकूल विशेष अध्ययन की व्यवस्था भी होनी चाहिए; जैसे–शरीर विज्ञान, आयुर्वेद विज्ञान एवं ज्योतिषशास्त्र।

सांख्य शिक्षा (अध्ययन) की निरंतरता का पक्षधर है। योग में जिन पाँच नियमों की चर्चा है उनमें एक स्वाध्याय भी है। सांख्य के अनुसार मनुष्य को जीवनपर्यन्त स्वाध्याय करना चाहिए और तब तक करना चाहिए जब तक

नोट

वह प्रकृति-पुरुष के भेद को नहीं जान जाता। इस स्वाध्याय के साथ योग साधना बराबर चलनी चाहिए, योग साधना द्वारा ही वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान सकता है, उसकी अनुभूति कर सकता है।

शिक्षण विधियाँ

सांख्य के अनुसार ज्ञान वस्तु विशेष के गुणों के माध्यम से उत्पन्न होता है, परंतु ये गुण बुद्धि पर आरोपित नहीं होते अपितु बुद्धि इन्हें ग्रहण करती है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति के संबंध में सांख्य दर्शन का सिद्धांत व्यवहारवादी मनोविज्ञान के उद्दीपक-अनुक्रिया के समान है, परंतु दोनों में मूलभूत अंतर यह है कि उद्दीपक-अनुक्रिया सिद्धांतानुसार ज्ञान प्रक्रिया बाहर से अंदर की ओर होती है जबकि सांख्य सिद्धांतानुसार यह प्रक्रिया अंदर से बाहर की ओर होती है। यहाँ हम सांख्य के सीखने-सिखाने संबंधी मनोविज्ञान को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

1. **ज्ञान प्राप्त करने के उपकरण**–सांख्य ने ज्ञान प्राप्त करने के उपकरणों को दो भागों में बाँटा है–**बाह्य उपकरण** और **अंतः उपकरण।** बाह्य उपकरणों में कर्मेंद्रियाँ एवं ज्ञानेंद्रियाँ आती हैं और अंतः उपकरणों में मनस् (मन), अहंकार (अहम्) एवं महत् (बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) आते हैं। सांख्य के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के लिए भी जड़ (इंद्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि) तथा चेतन (आत्मा) का संयोग आवश्यक होता है।
2. **ज्ञान प्राप्त करने के साधन अथवा स्त्रोत**–सांख्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के तीन प्रमाण (साधन अथवा स्त्रोत) होते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द से उसका तात्पर्य आप्त पुरुषों के वचनों से है। वेद को वह शब्द मानता है।
3. **ज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ**–सांख्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के तीन साधन हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके आधार पर ज्ञान प्राप्त करने अथवा ज्ञान प्राप्त करने की तीन विधियाँ होती हैं–प्रत्यक्ष विधि, अनुमान विधि और शब्द विधि। सांख्य दर्शन में उपदेश एवं दृष्टांतों का सहयोग लिया गया है। कुल मिलाकर यह तर्क पर खड़ा है इससे स्पष्ट होता है कि दृष्टांतों एवं तर्क के द्वारा ज्ञान को स्पष्ट करना चाहिए। यहाँ इन सभी विधियों के संदर्भ में सांख्य मत प्रस्तुत है।

(i) **प्रत्यक्ष विधि**–प्रत्यक्ष विधि वह विधि है जिसमें सीखने वाला किसी वस्तु अथवा क्रिया का ज्ञान अपनी इंद्रियों द्वारा सीधे प्राप्त करता है। सांख्य मनोविज्ञान के अनुसार इंद्रियों द्वारा अनुभूति ज्ञान मन, अहंकार और बुद्धि द्वारा आत्मा पर पहुँचता है। दूसरी ओर जब तक पुरुष (आत्मा, चेतन तत्व) इंद्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि के साथ संयोग नहीं करता तब तक ये क्रियाशील नहीं होते। ज्ञान प्राप्ति के लिए जड़ और चेतन दोनों का संयोग आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विधि में इंद्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि और पुरुष (आत्मा) सभी क्रियाशील रहते हैं। सांख्य के प्रत्यक्ष को हम निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

पदार्थ अथवा क्रिया ⟷ इंद्रियाँ ⟷ मन ⟷ अंहकार ⟷ बुद्धि ⟷ पुरुष

सांख्य की दृष्टि से प्रत्यक्ष विधि में मनुष्य के बाह्य एवं आंतरिक दोनों उपकरण क्रियाशील रहते हैं, इस प्रकार प्राप्त ज्ञान वास्तविक होता है, स्थायी होता है। वैसे भी प्रारंभ में मनुष्य प्रत्यक्ष विधि द्वारा ही सीखता है और फिर प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर वह अनुमान और शब्द प्रमाणों के माध्यम से सीखता है। बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्य विधियों से सीखना संभव नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान शिक्षा और शिक्षण का आधार होता है।

(ii) **अनुमान विधि**–अनुमान का अर्थ है किसी पूर्व ज्ञान के आधार पर होने वाला ज्ञान; जैसे–धुआँ देखकर आग का अनुमान करना। इस प्रकार अनुमान विधि वह विधि है जिसमें ज्ञात विषय के आधार पर अज्ञात विषय का किसी हेतु के माध्यम से अनुमान लगाया जाता है। सांख्य के अनुसार अनुमान के दो भेद होते हैं–**वीत** और **अवीत**। जो अनुमान शाश्वत विधि वाक्य पर आश्रित होता है उसे वीत कहते हैं और जो शाश्वत निषेध वाक्य पर आधारित होता है उसे अवीत कहते हैं।

नोट

सांख्य के अनुसार अनुमान प्रमाण का प्रयोग प्रत्यक्ष एवं शब्द प्रमाण के साथ भी होता है, परंतु जब यह अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान एवं तर्क पर आधारित होता है तो लाभकर होता है और जब यह बिना किसी आधार पर किया जाता है तो हानिकारक होता है। सांख्य का यह कथन सत्य है। भाषा के लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति हमें अनुमान से ही होती है। शिक्षण की आगमन-निगमन तथा विश्लेषण-संश्लेषण विधियों में अनुमान विधि का ही प्रयोग होता है। शोधकर्ता अपना शोध कार्य अनुमान के आधार पर ही आगे बढ़ाते हैं।

(iii) **शब्द विधि**–शब्द का अर्थ है **आप्त मनुष्यों की वाणी।** आप्त मनुष्य उसे कहते हैं जिसे **पदार्थ** एवं **आत्मतत्व का ज्ञान** होता है। इस प्रकार शब्द विधि वह विधि है जिसमें आप्त मनुष्यों के मुख से सुनकर अथवा उनके द्वारा विरचित ग्रंथों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

सांख्य के अनुसार जहाँ प्रत्यक्ष या अनुमान से ज्ञान प्राप्त न किया जा सके वहाँ शब्द का प्रयोग करना चाहिए। बस ज्ञाता को यह सावधानी बरतनी चाहिए कि इस प्रकार से सीखे ज्ञान को वह अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की कसौटी पर कसकर ही ग्रहण करे।

शब्द विधि ज्ञान प्राप्त करने की सर्वव्यापक विधि है। आज भी हम अधिकतर शब्द द्वारा ही सीखते-सिखाते हैं। शिक्षण की सभी मौखिक युक्तियाँ–प्रश्नोत्तर, विवरण, व्याख्या आदि शब्द विधि के अंतर्गत आती हैं। पाठ्य पुस्तक प्रणाली भी शब्द विधि का ही रूप है। पर्यवेक्षित अध्ययन इस प्रणाली का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप है। आज के मानव जीवन में सीखने-सिखाने की दृष्टि से प्रेस, रेडियो और टेलीविजन का बड़ा महत्त्व है और ये सब शब्दों द्वारा ही शिक्षा देते हैं। शब्द प्रणाली का इस युग में भी बड़ा महत्त्व है।

(iv) **उपदेश विधि**–सांख्यकार के समय गुरु उपदेश देते थे और शिष्य उन्हें ग्रहण करते थे। परंतु गुरु उपदेश को कथा एवं दृष्टांतों के द्वारा स्पष्ट करते थे, गूढ़ तथ्यों की व्याख्या करते थे और शिष्यों की समस्याओं का समाधान करते थे। सांख्यकार ने अपने मत को स्पष्ट करने हेतु इस विधि का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि सांख्य की उपदेश विधि **कथन, दृष्टांत** एवं **व्याख्या विधि** का संयुक्त रूप है।

(v) **तर्क विधि**–तर्क से तात्पर्य **सप्रमाण क्रमबद्ध चिंतन** से होता है। सांख्यकार ने अपने दार्शनिक मत का प्रतिपादन इसी विधि से किया है। तब उसकी दृष्टि से किसी भी ऐसे तथ्य की, जिसे प्रत्यक्ष एवं अनुमान से स्पष्ट नहीं किया जा सके, उसे तर्क द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। सांख्यकार तो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से प्राप्त ज्ञान को भी तर्क की कसौटी पर कसने के बाद स्वीकार करने की बात कहता है। इस विषय में उसका तर्क है कि मृग मरीचिका की तरह कभी प्रत्यक्ष एवं अनुमान भी असत्य हो सकता है। अत: उसे तर्क द्वारा सत्य सिद्ध होने पर ही स्वीकार करना चाहिए।

अनुशासन

सांख्य योग **अनुशासन** का समर्थक है। योग अनुशासन का पहला पद है–यम। यम का अर्थ है–मन, वचन और कर्म का संयम। इसके लिए योग सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपिरग्रह और ब्रह्मचर्य, इन पाँच व्रतों के पालन पर बल देता है। योग अनुशासन का दूसरा पद है–नियम। योग के अनुसार नियम भी पाँच हैं–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और प्राणिधान। सांख्य के अनुसार जो **व्यक्ति इन पाँच व्रतों और पाँच नियमों का पालन जितनी सीमा** तक करता है वह उसी सीमा तक **अनुशासित** माना जाना चाहिए। सांख्य का स्पष्ट मत है कि बिना इस अनुशासन का पालन किए मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ और मन, अहंकार एवं बुद्धि को निर्मल नहीं बना सकता और जब तक वह अपने शरीर को स्वस्थ और मन, अहंकार और बुद्धि को निर्मल नहीं बनाता तब तक वह पदार्थ अथवा आत्मतत्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

शिक्षक

सांख्य शिक्षक को आप्त रूप में देखता है। इसके अनुसार शिक्षक को अपने विषय का पंडित होना चाहिए। उसे यदि **प्रकृति-पुरुष** के भेद का स्पष्ट ज्ञान हो तो सोने में सुहागा समझिए, उसी स्थिति में वह शिष्य में विवेक

नोट

ज्ञान विकसित कर सकता है। सांख्य शिक्षक से यह भी आशा करता है कि उसे ज्ञान प्राप्ति के साधनों का स्पष्ट ज्ञान हो और वह उनकी सहायता से शिष्यों में ज्ञान का विकास करने में सक्षम हो, निपुण हो। वह शिक्षक को भी अनुशासन का पालन करने का उपदेश देता है।

शिक्षार्थी

सांख्य **अनेकात्मवादी** दर्शन है, वह छात्र के **व्यष्टित्व** का आदर करता है, वह उसके **वैयष्टिक विकास** का पक्षधर है। परंतु वह यह भी मानता है कि आत्मतत्व के साथ उसमें प्रकृति तत्व भी है–सत्, रज और तम गुण भी हैं। अत: वह छात्र को नैतिक आचरण का उपदेश देता है, अनुशासन में रहने का उपदेश देता है। उसी स्थिति में शिष्य पदार्थ और आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

विद्यालय

सांख्यकार के समय जहाँ गुरु (शिक्षक) होता था, वहीं शिक्षा की व्यवस्था होती थी। सांख्य दर्शन के अनुसार विद्यालय भौतिक ज्ञान के विकास और योग क्रिया के प्रशिक्षण की प्रयोगशालाओं के रूप में विकसित होने चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

सांख्य मनुष्य के जड़ और चेतन दोनों तत्वों को समान महत्त्व देता है। वह मनुष्य के **भौतिक** एवं **आध्यात्मिक** दोनों पक्षों के विकास का पक्षधर है। उसकी दृष्टि से मानव जीवन सप्रयोजन है, मनुष्य का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है। तब सांख्य की दृष्टि से सभी मनुष्यों (स्त्री और पुरुष) का भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन सबकी शिक्षा का समर्थक है, परंतु उसका सबकी शिक्षा से तात्पर्य आज की जन शिक्षा से भिन्न है। सांख्यकार का ध्यान व्यावसायिक शिक्षा की ओर तो गया ही नहीं। उसका पूरा ध्यान आध्यात्मिक विकास पर केंद्रित रहा और उसी की प्राप्ति के लिए उसने मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास पर बल दिया है। साफ जाहिर है कि वह धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का प्रबल समर्थक है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. सांख्य के अनुसार, मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है।
8. सांख्य दर्शन मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को सत्य मानता है।
9. सांख्य बाल्यकाल के मनोविज्ञान से अपरिचित है।
10. सांख्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के तीन साधन हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

8.4 सांख्य दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Sankhya Philosophy to Education)

सांख्य प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है इसलिए वह भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी दोनों विचारधाराओं के व्यक्तियों को स्वीकार है, परंतु उसका अनेकात्मवाद और निरीश्वरवाद अन्य भारतीय चिंतकों की दृष्टि में आलोचना का विषय है। परंतु कुछ भी हो, उसकी तत्व मीमांसा और ज्ञान एवं तर्क मीमासां बड़ी वैज्ञानिक है और मूल्य एवं आचार मीमासां बड़ी व्यावहारिक है। इस दृष्टि से इस दर्शन का शैक्षिक महत्त्व सबसे अधिक है।

नोट

शिक्षा का संप्रत्यय

सांख्य दर्शन की दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को प्रकृति और पुरुष के भेद का स्पष्ट ज्ञान कराती है और उसे मोक्ष प्रदान करती है।

साफ जाहिर है कि सांख्य दर्शन में शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है और उसके कार्य को भी मूल रूप से मोक्ष प्राप्ति में केंद्रित कर दिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य

सांख्य की दृष्टि से मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य दु:खत्रय से छुटकारा अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। तब शिक्षा का भी मूल उद्देश्य मनुष्य को दु:खत्रय से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग में प्रशिक्षित करना होना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही उसने मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावात्मक एवं नैतिक विकास पर बल दिया है।

साफ जाहिर है कि आज की दृष्टि से सांख्य द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य अपने में अधूरे हैं। वास्तविक शिक्षा तो वह है जिसके द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास किया जा सके, उसे भौतिक जीवन को सुखपूर्वक जीने योग्य बनाया जा सके और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति की ओर उन्मुख किया जा सके। उसके भौतिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं नैतिक विकास के साथ-साथ उसका सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास भी आवश्यक है और उसे किसी उत्पादन कार्य अथवा व्यवसाय की शिक्षा देना भी आवश्यक है। वर्तमान में तो राष्ट्रीय एकता एवं अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास भी आवश्यक है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

सांख्य ने उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विस्तृत पाठ्यचर्या का विकास किया है। वह मानव विकासक्रम से भी परिचित है। सांख्य का बाल विकास का विवेचन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। उसने बाल विकास के अनुसार ही पाठ्यक्रम का नियोजन किया है। शिशु काल में इंद्रियों के प्रशिक्षण पर बल दिया है; बाल्य काल में इंद्रियों के प्रशिक्षण के साथ-साथ मन, अहंकार एवं बुद्धि से विकास पर बल दिया है; किशोर काल में तर्क शक्ति के विकास पर बल दिया है और युवा काल में धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र आदि की शिक्षा पर बल दिया है।

साफ जाहिर है कि सांख्य मानव मनोविज्ञान से परिचित है और वह उसकी शिक्षा की पाठ्यचर्या तद्नुकूल विकसित करने का पक्षधर है। पाठ्यचर्या निर्माण संबंधी सांख्य मत आज भी बड़ा उपयोगी है।

शिक्षण विधियाँ

सांख्य ने ज्ञान प्राप्त करने के बाह्य उपकरणों (कर्मेंद्रियों एंव ज्ञानेंद्रियों) के साथ-साथ अंत: उपकरणों (मन, अहंकार और बुद्धि) के कार्यों की बड़ी तार्किक विवेचना की है। उसने ज्ञान प्राप्त करने के केवल तीन प्रमाण (साधन) माने हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। उसने इन्हीं के आधार पर शिक्षण विधियाँ विकसित की हैं–प्रत्यक्ष विधि, अनुमान विधि, शब्द विधि, उपदेश विधि और तर्क विधि।

सांख्य का प्रमाण विवेचना बड़ा वैज्ञानिक है। उसका सीखने संबंधी मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान से अधिक विकसित प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द विधियों का जितना वैज्ञानिक विश्लेषण सांख्य ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सीखने में अंत:करण (मन, अहंकार और बुद्धि) की भूमिका की विश्लेषण सांख्य की अपनी विशेषता है। आज के मनोवैज्ञानिकों को सांख्य मनोविज्ञान को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

टास्क सांख्य दर्शन और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

अनुशासन

सांख्य अंत: अनुशासन का पक्षधर है और इसकी प्राप्ति के लिए योग क्रिया (यम, नियम, प्राणायाम, प्राणिधान, धारणा, ध्यान और समाधि) को आवश्यक मानता है। सांख्य के अनुसार जो व्यक्ति इस क्रिया को जिस सीमा तक करता है, वह उसी सीमा तक अनुशासित होता है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा समझा जाए तो स्पष्ट होगा कि सांख्य इंद्रिय निग्रह को अनुशासन मानता है। काश आज के शिक्षक एवं शिक्षार्थी अपने को इंद्रियों के शासन (पराधीनता) से अपने को मुक्त कर सकें तो फिर शिक्षा के क्षेत्र का माहौल ही कुछ और होगा।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

सांख्य के शिक्षक और शिक्षार्थी संबंधी विचार भी अति प्राचीन होते हुए भी अति आधुनिक हैं। शिक्षक और छात्र दोनों को अनुशासन पालन का सांख्य का उपदेश किसे मान्य नहीं होगा। शिक्षक को अपने ज्ञान का पंडित होने और प्रमाणों (साधनों) के प्रयोग में निपुण होने का उपदेश देकर सांख्य ने युग-युग के शिक्षकों का मार्गदर्शन किया है। सांख्य व्यक्ति के व्यष्टित्व का आदर करता है, उसकी यह बात आज के लोकतंत्र की आधारशिला है।

विद्यालय

सांख्यकार के समय आज के से विद्यालय नहीं थे, जहाँ गुरु वहीं शिष्य की व्यवस्था और वही स्थान विद्यालय। सांख्य दर्शन के अध्ययन से विद्यालयों के विषय में यह निहितार्थ अवश्य निकलता है कि विद्यालयों का पर्यावरण आध्यात्मिक होना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

सांख्य सबके भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास में विश्वास करता है, यह बात दूसरी है कि उसने जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं कहा है।

8.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन भारतीय शिक्षा को ठोस आधार प्रस्तुत करता है। उसका मनोविज्ञान तो आज के मनोवैज्ञानिकों के लिए चुनौती है। काश आज के मनावैज्ञानिक सांख्य मनोविज्ञान को समझ सकें तो वे शिक्षा जगत को बहुत कुछ और दे सकेंगे।

8.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **तर्क मीमांसा** (Logic): तर्कशास्त्र
2. **आत्मभाव** (Ego): अहंभाव

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सांख्य दर्शन से आपका क्या तात्पर्य है?
2. सांख्य दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. 'सांख्य दर्शन और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. सांख्य दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment) नोट

1. ब्रह्मांड बुद्धि	2. द्वैतवादी	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–9 : वेदांत दर्शन और शिक्षा (Vedant Philosophy and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
9.1 वेदांत दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Vedant Philosophy)
9.2 वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Vedant Philosophy)
9.3 वेदांत दर्शन और शिक्षा (Vedant Philosophy and Education)
9.4 वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Vedant Philosophy to Education)
9.5 सारांश (Summary)
9.6 शब्दकोश (Keywords)
9.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
9.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- वेदांत दर्शन का अर्थ जानने हेतु।
- वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- वेदांत दर्शन और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अत: हम सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

9.1 वेदांत दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Vedant Philosophy)

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के गूढ़ एवं विस्तृत चिंतन का अंतिम सार ही वेदांत दर्शन है। **वादरायण व्यास** (चौथी शताब्दी) पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इन समस्त ग्रंथों के सार तत्व को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया।

नोट

उनके द्वारा विरचित ग्रंथ का नाम **'ब्रह्म सूत्र'** है। यही ग्रंथ वेदांत दर्शन का आदि ग्रंथ है। वादरायण के कई सौ वर्ष बाद अनेक विद्वानों ने अनके ब्रह्म सूत्र पर भाष्य ग्रंथ लिखे और अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्म सूत्र में प्रतिपादित वेदांत की व्याख्या की। इन व्याख्याओं से वेदांत की अनेक शाखा उपशाखाओं का विकास हुआ। इनमें **शंकर** (9वीं शताब्दी) का अद्वैत, **रामानुजाचार्य** (12वीं शताब्दी) का विशिष्टाद्वैत, **मध्वाचार्य** (13वीं शताब्दी) का द्वैत, **निम्बार्क** (13वीं शताब्दी) का द्वैत, **श्रीकंठ** (13वीं शताब्दी) का शैव विशिष्टाद्वैत, **श्रीपति** (14वीं शताब्दी) का वीर शैव विशिष्टाद्वैत और **बल्लभाचार्य** (16वीं शताब्दी) का शुद्धाद्वैत मुख्य हैं। इनमें शंकर का अद्वैत वेदांत तो पूर्ण रूपेण वेद एवं उपनिषद् मूलक है, परंतु शेष सभी दर्शनों की तत्व मीमांसा तो वेद एवं उपनिषदों पर आधारित है लेकिन उनकी उपासना की पद्धतियाँ वैष्णव, शैव एवं शाक्त आगमों पर आधारित हैं। *वैष्णव, शैव* और *शाक्त* आगमों पर आधारित होने के कारण ही उन्हें क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त दर्शनों के रूप में जाना जाता है। इनमें शंकर का अद्वैत और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, वेदांत के दो सीमांत (Extreme) दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा की दृष्टि से भी वेदांत के इन दो रूपों का अधिक महत्त्व है, अतः हम वेदांत के अंतर्गत केवल इन्हीं का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

शंकर का *अद्वैत* वेदांत भारतीय चिंतन धारा का *चरमोत्कर्ष* है। आज भारत में जितने भी दर्शन एवं धर्म मानव जीवन में उतरे हुए हैं उन पर वेदांत का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य है। भारतेतर दर्शन एवं धर्मों से भी यह बड़ा मेल खाता है। इसका ब्रह्म यहूदी धर्म के जेहोवा, पारसी धर्म के आहुरमज्द, ईसाई धर्म के गौड और इस्लाम धर्म के अल्लाह के समान निर्गुण एवं सर्वशक्तिमान है। अंतर केवल इतना है कि जेहोवा, आहुरमज्द, गौड और अल्लाह इस ब्रह्मांड के कर्ता मात्र हैं, जबकि वेदांत का *ब्रह्म इसका कर्ता एवं उपादान, दोनों कारण* है। जगत के कर्ता के रूप में ब्रह्म को *सगुण* रूप देकर उसे ईश्वर की संज्ञा से विभूषित कर शंकर ने ईश्वर भक्त लोगों के हृदय को भी स्पर्श किया है। वैसे भी भक्ति भाव तो शंकर को अपने माता-पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा विरचित ग्रंथ *'सौंदर्य लहरी'* में उनकी भक्ति भावना ही प्रस्फुटित हुई है। रामानुजाचार्य ने तो ईश्वर को सगुण रूप में ही स्वीकार किया है और उसकी प्राप्ति के लिए *भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन* माना है।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अतः हम सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

नोट्स वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के गूढ़ एवं विस्तृत चिंतन का अंतिम सार ही वेदांत दर्शन है।

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा

शंकर ने इस ब्रह्मांड के मूल में केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म ही *अंतिम सत्य* (Ultimate reality) है। उनका यह ब्रह्म *अनादि, अनंत* और *निराकार* है। यही ब्रह्म इस ब्रह्मांड का *कर्ता* और *उपादान* कारण है। यही शंकर का *अद्वैत* है। शंकर के अनुसार सर्वप्रथम *ब्रह्म* अपनी इच्छा से अपने अंदर *माया* शक्ति का निर्माण करता है और फिर इस माया शक्ति के द्वारा इस नाना वस्तु जगत का निर्माण करता है। शंकर के अनुसार माया *ब्रह्म की बीज शक्ति* है, यह न तो सत् है और न असत्। शंकर ने इसे *अनिर्वचनीय* कहा है। शंकर के अनुसार जगत के कर्ता के रूप में यह *ब्रह्म* साकार ब्रह्म अथवा ईश्वर के नाम से विभूषित होता है। आत्मा को शंकर *ब्रह्म* का अंश मानते हैं और चूँकि ब्रह्म अपने में *अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान* एवं *सर्वज्ञाता* है इसलिए शंकर की सम्मति में आत्मा भी अपने में अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञाता है। जीव के विषय में शंकर का मत है कि शरीर तथा इंद्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है। यही जीव सूक्ष्म शरीर के साथ एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है।

नोट

जगत को शंकर *नाशवान* एवं *असत्य* मानते हैं। उनकी दृष्टि से इस जगत एवं उसमें मानव जीवन की केवल व्यावहारिक सत्ता है। पदार्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, पदार्थ तो विचार शक्ति के तेजी से चक्कर काटने से उत्पन्न भँवरजाल है। जिस प्रकार पानी में भँवर का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। शंकर का यह मत भारतीय प्रत्ययवाद और प्लेटो के विचारवाद से बड़ा मेल खाता है।

मनुष्य को शंकर ने अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत माना है। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्मघाती है और आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है। उनका आगे स्पष्टीकरण है कि माया के आवरण के कारण वह अपने इस वास्तविक स्वरूप को भूले रहता है, जैसे ही माया का आवरण हटता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है।

शंकर कर्म सिद्धांत को मानते थे। उन्होंने मनुष्य के कर्मों को तीन वर्गों में विभाजित किया है–संचित कर्म (पूर्व जन्म में किए गए कर्म), प्रारब्ध कर्म (पूर्व जन्म में किए गए वे कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) और–संचीयमान कर्म (वे कर्म जो इस जीवन में किए जा रहे हैं)। शंकर के अनुसार मनुष्य को प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं, वह उनको भोगे बिना कर्म शून्य नहीं हो सकता, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने संचित कर्मों और संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य कर सकता है। शंकर के अनुसार मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों का फल भोगकर और संचित एवं संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

शंकर के विपरीत **रामानुजाचार्य** ने *ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप* में लिया है। शंकर के अनुसार '*तत्वमसि*' का अर्थ है–तुम (आत्मा) ब्रह्म हो। रामानुजाचार्य के अनुसार 'तत्वमसि' का अर्थ है–ब्रह्म तथा ईश्वर एक है। *शंकर ने केवल ब्रह्म को मूल तत्व माना* है, रामानुजाचार्य ने तीन मूल तत्व माने हैं–चित् (चेतन, आत्मा), अचित् (अचेतन, जड़) और ब्रह्म (ईश्वर)। इनकी दृष्टि से ईश्वर में चित् और अचित् दोनों तत्व विद्यमान हैं, सृष्टि के नष्ट होने पर उसके चित् और अचित् तत्व सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। ईश्वर विशिष्ट ही शेष रह जाता है। *ईश्वर के चित्-अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही उनके दर्शन को विशिष्टाद्वैत दर्शन कहा जाता है*। वस्तु जगत के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत शंकर से अलग है। शंकर ने इस जगत की केवल *व्यावहारिक* सत्ता मानी है, जबकि रामानुजाचार्य ने इसे *वास्तविक* माना है। उनकी दृष्टि से *ब्रह्म* (ईश्वर) और उसके द्वारा निर्मित यह जगत दोनों सत्य हैं, दोनों वास्तविक हैं।

वेदांत दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

शंकर ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–अपरा (लौकिक अथवा व्यावहारिक) तथा परा (आध्यात्मिक)। इस वस्तु जगत एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों के ज्ञान को उन्होंने अपरा ज्ञान कहा है। उनकी दृष्टि से इस ज्ञान की केवल व्यावहारिक उपयोगिता है, इससे मनुष्य अपने जीवन के अंतिम उद्देश्य 'मुक्ति' की प्राप्ति नहीं कर सकता। *वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं गीता की तत्व मीमांसा को वे परा ज्ञान मानते थे*। उनकी दृष्टि से यही सच्चा ज्ञान है, इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शंकर ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की विधि का समर्थन किया है, परंतु पराज्ञान के लिए वे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के साथ साधान चतुष्ट्य को आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि से बिना साधन चतुष्ट्य (नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, भोग विरक्ति, शमदमादि संयम और ममुक्षकत्व) के परा ज्ञान नहीं हो सकता।

रामानुजाचार्य ने ज्ञान को अन्य दो रूपों में विभाजित किया है–*धर्मीभूत ज्ञान* और *धर्मभूत ज्ञान*। धर्मीभूत ज्ञान से उनका तात्पर्य *कर्तारूप ज्ञान* से है और धर्मीभूत ज्ञान से तात्पर्य कर्म में विद्यमान ज्ञान से है। रामानुजाचार्य ने जगत के ज्ञान को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना है जितना ब्रह्म (ईश्वर) ज्ञान को, बशर्ते जगत का ज्ञान भी आत्मोन्नति के लिए किया जाए।

वेदांत दर्शन के मूल्य एवं आचार मीमांसा

नोट

शंकर ने मनुष्य जीवन को दो रूपों में विभाजित किया है–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने मनुष्यों को अपने *वर्ण-कर्म* को निष्ठा एवं ईमानदारी से करने की सलाह दी है। इनका विश्वास है कि जो मनुष्य अपने वर्ण-कर्म को जितनी निष्ठा एवं ईमानदारी से करेगा वह व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही सफल होगा।

शंकर के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति से शंकर का तात्पर्य सांसारिक *सुख-दु:ख* के छुटकारे से है। मुक्ति के शंकर ने दो रूप स्वीकार किए हैं–एक जीवन मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जीवन मुक्ति से शंकर का तात्पर्य जीवन जीते हुए कर्म फल के प्रति अनासक्त होकर, सुख-दु:ख से मुक्त होने से है और विदेह मुक्ति से तात्पर्य जीवन के अंत में ब्रह्म तत्व की प्राप्ति से है जिसके बाद मनुष्य इस संसार के आवागमन से छूट जाता है और इस संसार के सुख-दु:ख भोग से मुक्त हो जाता है। उनके मत से किसी भी प्रकार की मुक्ति के लिए ज्ञान मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शंकर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया है और इस सबके लिए साधन चतुष्टय को आवश्यक माना है। मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक को इन सबका पालन करना चाहिए।

रामानुजाचार्य ने शंकर की भाँति मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति माना है, परंतु उन्होंने जीवनमुक्ति को मुक्ति नहीं माना। उनकी दृष्टि से ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति करके ही मनुष्य मुक्त हो सकता है। और इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व भक्ति को दिया है।

वेदांत दर्शन की परिभाषा

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसको निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

वेदांत दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि ब्रह्म नित्य है और यह वस्तु जगत अनित्य है। यह ब्रह्म को इस सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण मानती है और आत्मा को ब्रह्म का अंश मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, जिसे ज्ञान योग, कर्म योग, राज योग एवं भक्ति योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शंकर ने इस ब्रह्मांड के मूल में केवल ..... स्वीकार की है।
2. शंकर का अद्वैत वेदांत भारतीय चिंतन धारा का ..... हो।

9.2 वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Vedant Philosophy)

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित है**–शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म मूल तत्व है और ब्रह्म से ब्रह्म के ही द्वारा इस ब्रह्मांड का निर्माण होता है और उसी के द्वारा इसमें नित्य दृश्य एवं अदृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। *जिस प्रकार मकड़ी अपने अंदर के द्रव्य पदार्थ से अपने श्रम से अपने जाल की रचना करती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत का निर्माण करता है।* ब्रह्म की वह शक्ति जिसके द्वारा वह ब्रह्मांड का निर्माण करता है, उसे शंकर ने *माया* कहा है। शंकर के अनुसार ब्रह्म अनादि, अनंत, निर्गुण और निर्वयव

नोट

है, परंतु जब उसमें माया के द्वारा संसार के निर्माण का गुण आरोपित किया जाता है तो वह सगुण हो जाता है। उपासना की दृष्टि से भी हम उसे सगुण ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, परंतु है वह निर्गुण ही। रामानुजाचार्य ने *ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप में लिया है।* उनकी दृष्टि से ईश्वर ही इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों का कारण है।

2. **ब्रह्म और जगत में ब्रह्म विशिष्ट है**–शंकर का तर्क है कि इस जगत का निर्माण होता है और नाश भी; इसमें तो प्रति क्षण परिवर्तन होता रहता है, इसलिए यह अनित्य है, असत्य है। उनके अनुसार केवल *ब्रह्म ही नित्य है, सत्य है।* शंकर ने इस जगत की व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार की है। इसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार किए बिना तो मनुष्य के अस्तित्व और उसके द्वारा ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग और मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और जगत दोनों को सत्य माना है, परंतु यह उन्होंने भी माना है कि ब्रह्म इनमें विशिष्ट है, प्रलय के समय जगत तो सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है परंतु ब्रह्म (ईश्वर) विशिष्ट शेष रहता है।
3. **आत्मा ब्रह्म का अंश है**–शंकर की दृष्टि से *आत्मा ब्रह्म का अंश है।* मूल रूप में इनमें भेद नहीं हैं, ब्रह्म की माया शक्ति के कारण आत्मा ब्रह्म से अलग प्रतीत होती है; माया का पर्दा हटते ही आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं दिखाई देता। रामानुजाचार्य ने जीव (आत्मा), अजीव (प्रकृति) और ईश्वर, तीन मूल तत्व माने हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा का अलग अस्तित्व है।
4. **मनुष्य अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्त्रोत है**–शंकर का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्माधारी है और आत्मा ब्रह्म का अंश है, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्त्रोत है, परंतु माया के कारण मनुष्य अपने इस अनंत ज्ञान एवं शक्ति को पहचान नहीं पाता। जो मनुष्य अपनी आत्मा को पहचान लेता है वह सब कुछ जान जाता है और सब कुछ करने में समर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से मनुष्य सत्-असत् का योग है इसलिए अनंत ज्ञान एवं शक्ति को प्राप्त कर सकता है।
5. **मनुष्य का विकास उसके संचित, प्रारब्ध और संचीयमान कर्मों पर निर्भर करता है**–भौतिकवादी मनुष्य के विकास का आधार उसकी कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों और मस्तिष्क को मानते हैं। वेदांत मनुष्य की इंद्रियों और मस्तिष्क में भिन्नता के कारण की खोज में संचित एवं प्रारब्ध कर्मों की तह तक पहुँच गया। वेदांत के अनुसार मनुष्य का विकास संचीयमान कर्म (इस जन्म में किए जाने वाले कर्म) के साथ-साथ उसके संचित कर्म (पूर्व जन्म के संचित कर्म) तथा प्रारब्ध कर्म (पूर्व जीवन के वे संचित कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) पर निर्भर करता है। तभी तो इस जीवन में दो समान मनुष्यों के एक ही परिस्थिति में समान कर्म करने पर असमान फल प्राप्ति होती है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है**–मुक्ति का शंकर ने कई रूपों में वर्णन किया है। जब मनुष्य ज्ञान के द्वारा इस संसार की असत्यता से परिचित हो इससे विरक्त हो जाता है और सांसारिक सुख-दु:ख का अनुभव नहीं करता तो उसे जीवन मुक्त कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपना स्वरूप देखता है, इसलिए वह भेदभाव नहीं बरतता, सत्कर्म उसके व्यक्तित्व का सहज स्वभाव बन जाता है। शंकर के अनुसार इस जीवन मुक्त से आगे की स्थिति है–आत्म-ब्रह्म में अभेद। इस स्थिति पर पहुँचने पर ही मनुष्य वास्तविक मुक्ति प्राप्त करता है। इसे शंकर ने विदेह मुक्ति कहा है। शंकर के अनुसार जीवन मुक्ति में मनुष्य को आनंद की अनुभूति होती है और विदेह मुक्ति में परमानंद की अनुभूति होती है। रामानुजाचार्य के अनुसार मुक्ति का अर्थ है–*ईश्वर की प्राप्ति।*
7. **मुक्ति के लिए ज्ञान योग, कर्म योग व भक्ति योग आवश्यक हैं**–शंकर ने अनादि एवं अनंत ब्रह्म को सत्य जानने को विद्या (ज्ञान) और मायामय संसार को सत्य जानने को अविद्या (अज्ञान) कहा है। शंकर का मत है कि जब तक हम कर्म और भक्ति के द्वारा अच्छे जीवन की आकांक्षा करते रहेंगे तब तक हमें वही प्राप्त होता रहेगा, आत्मा-ब्रह्म के अभेद को हम प्राप्त ही नहीं होंगे। इस अभेद को जानने के लिए उन्होंने ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि शंकर कर्म के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने व्यावहारिक जीवन के लिए व्यावहारिक कर्म, चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्म और

नोट

ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साधन चतुष्टय पर बल दिया है। भक्ति के संदर्भ में उनका इतना ही कहना है कि यदि कोई निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के लिए सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की भक्ति करता है तो वह भी मान्य है। एक स्थान पर उन्होंने चित्त शुद्धि के लिए भी भक्ति को आवश्यक माना है। रामानुजाचार्य ने भक्ति को ही मुक्ति प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। उनका स्पष्टीकरण है कि ईश्वर में श्रद्धा एवं विश्वास रखकर उनकी भक्ति करने वाला व्यक्ति अपने भौतिक जीवन में भी शांति प्राप्त कर सकता है। भगवत् शरण में पहुँचने के बाद तो उसे चिरशांति प्राप्त होती है।

8. **ज्ञान के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन आवश्यक है–**शंकर की दृष्टि से ज्ञान दो प्रकार का होता है–अपरा (व्यावहारिक) और परा (आध्यात्मिक) और इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की एक ही विधि है–श्रवण, मनन, निदिध्यासन। शंकर के अनुसार अनादि और अनंत ब्रह्म को साक्षात् करने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद और गीता के श्रवण अथवा अध्ययन, उस पर मनन और उससे प्राप्त ज्ञान का नित्य प्रयोग करने पर ही प्राप्त हो सकता है। बिना अनुभूति के, केवल तर्कों के आधार पर वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर भक्ति से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, यह मुक्ति का सबसे सरल साधन है।
9. **उत्तम श्रवण-मनन-निदिध्यासन के लिए साधन चतुष्टय आवश्यक है–**शंकर के अनुसार सत्य ज्ञान के जिज्ञासु को श्रवण, मनन और निदिध्यासन हेतु साधन चतुष्टय का पालन करना आवश्यक है। ये चार साधन निम्नलिखित हैं–
   - ***(i)*** **नित्य-अनित्य वस्तु विवेक–**अर्थात् नित्य (आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म) तथा अनित्य (शरीर, पदार्थ, जगत) वस्तुओं के बीच भेद करने तथा ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को समझने का विवेक जागृत करना।
   - ***(ii)*** **भोग-विरक्ति–**अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक, किसी भी प्रकार के भोगों की इच्छा न करना।
   - ***(iii)*** **शमदमादि संयम–**अर्थात् शम (मन का संयम), दम (इंद्रियों पर नियंत्रण), उपरति (यज्ञ आदि विहित कर्मों का त्याग), तितिक्षा (सुख-दुःख सहन करने की शक्ति) और श्रद्धा (ज्ञान तथा ज्ञानीजन गुरुओं के प्रति श्रद्धा) का पालन।
   - ***(iv)*** **ममुक्षकत्व–**अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प करना।

क्या आप जानते हैं वेदांत दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित मानती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार मूल तत्व है–
   (अ) ब्रह्म (ब) आत्मा (स) ईश्वर (द) इनमें से कोई नहीं
4. शंकर के अनुसार यह जगत है–
   (अ) अनित्य और असत्य (ब) नित्य और सत्य (स) माया से परिपूर्ण (द) इनमें से कोई नहीं
5. शंकर की दृष्टि से आत्मा अंश है–
   (अ) परमात्मा का (ब) ब्रह्म का (स) प्रकृति का (द) इनमें से कोई नहीं
6. शंकर की दृष्टि से ज्ञान दो प्रकार का होता है–
   (अ) अपरा और परा (ब) झूठा और सच्चा (स) तर्क और वितर्क (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

9.3 वेदांत दर्शन और शिक्षा (Vedant Philosophy and Education)

भारत में शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से विचार करना आधुनिक युग की देन है। इससे पूर्व के विचारक तो मनुष्य के जीवन पर समग्र रूप से विचार करते थे। शंकर और रामानुजाचार्य ने भी शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया है, परंतु उनकी तत्व मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा से ज्ञान के स्वरूप एवं ज्ञान प्राप्त करने की विधियों और मूल्य एवं आचार मीमांसा से शिक्षा द्वारा मनुष्य के व्यवहार में किए जाने वाले परिवर्तनों के बारे में जानकारी होती है। यहाँ हम उनके शैक्षिक विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा का संप्रत्यय

शंकर के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है और इस मुक्ति के लिए उन्होंने ज्ञान मार्ग का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि ब्रह्म सत्य है और शेष सब असत्य है तभी वह सांसारिक माया-मोह से मुक्त होता है, भेद दृष्टि से मुक्त होता है और सबमें स्वयं को और स्वयं में सबको देखता है, और इस ज्ञान की प्राप्ति होती है शिक्षा से। शिक्षा के विषय में उन्होंने उपनिषदीय विचार का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए (सा विद्या या विमुक्तये)।

शिक्षा के उद्देश्य

शंकर ने मनुष्य जीवन के दो पक्ष माने हैं–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। शिक्षा के द्वारा वे मनुष्य के दोनों पक्षों का विकास करने पर बल देते थे, परंतु इन दोनों पक्षों का विकास मुक्ति के उद्देश्य को सामने रखकर ही होना चाहिए। व्यावहारिक पक्ष में उन्होंने मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास के साथ-साथ उसके वर्ण-कर्म की शिक्षा को सम्मिलित किया है और आध्यात्मिक पक्ष (मुक्ति) के लिए उन्होंने ज्ञान को आवश्यक माना है और ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधन चतुष्टय के पालन को आवश्यक माना है। वे इस सत्य को भी जानते थे कि साधन चतुष्टय का पालन करने के लिए मनुष्य का शरीर और मन स्वस्थ होने चाहिए। उनकी दृष्टि से शिक्षा को ये सब कार्य करने चाहिए। शंकर के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के इन उद्देश्यों को हम आज की भाषा में स्थूल से सूक्ष्म के क्रम में अग्रलिखित रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं–

साध्य उद्देश्य

1. **मुक्ति।**

साधन उद्देश्य

1. **शारीरिक विकास एवं शरीर शुद्धि।**
2. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास।**
3. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास।**
4. **वर्णानुसार कर्म (व्यवसाय) की शिक्षा।**
5. **साधन चतुष्ट्य में प्रशिक्षण।**
6. **पूर्ण व्यक्तित्व का विकास।**
7. **ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति।**

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शंकर के अनुसार शिक्षा की पाठ्यचर्या में मनुष्य के अपरा (व्यावहारिक) एवं परा (आध्यात्मिक), दोनों पक्षों से संबंधित ज्ञान एवं क्रियाओं का समावेश होना चाहिए। व्यावहारिक जीवन के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में *व्यावहारिक ज्ञान* (*भाषा, चिकित्साशास्त्र, गणित एवं वर्ण-कर्म आदि*) तथा व्यावहारिक क्रियाओं (आसन, व्यायाम, भोजन एवं ब्रह्मचर्य आदि) का समावेश किया है और आध्यात्मिक जीवन के लिए पारमार्थिक विषय

नोट

(साहित्य, धर्म एवं दर्शन आदि) एवं पारमार्थिक क्रियाओं (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि) का समावेश किया है।

व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य में भेद होता है। शंकर की दृष्टि से यह भेद कर्मजनित है और जगत नियंता का विधान है। उनकी दृष्टि से वर्ण भेद भी कर्म जनित है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अलग-अलग कर्मों में विश्वास रखते थे और उनके लिए, अपने-अपने कर्मों का कुशलतापूर्वक संपादन करने हेतु अलग-अलग शिक्षा (पाठ्यचर्या) का विधान करने के पक्ष में थे, परंतु परा विद्या के लिए वे सबको समान ज्ञान एवं समान क्रियाएँ करने पर बल देते थे।

शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य वर्ण-भेद को ही स्वीकार नहीं करते थे। उनका स्पष्टीकरण था कि सभी मनुष्य ईश्वर की रचना हैं, सभी समान आत्माधारी हैं, इनमें जन्म के आधार पर कोई भेद नहीं किया जा सकता। अत: सभी के लिए शिक्षा के समान अवसर समान सुलभ होने चाहिए और सभी के लिए शिक्षा की समान पाठ्यचर्या होनी चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

ज्ञान और ज्ञान प्राप्ति के साधनों के संबंध में शंकर ने विस्तृत चर्चा की है। इस संबंध में उनके विचारों का सार संक्षेप में प्रस्तुत है–

1. **ज्ञान प्राप्त करने के उपकरण**–शंकर ने ज्ञान प्राप्ति के उपकरणों को दो भागों में विभाजित किया है–**बाह्य उपकरण** और **आंतरिक उपकरण**। बाह्य उपकरणों में कर्मेंद्रियाँ और ज्ञानेंद्रियाँ आती हैं और आंतरिक उपकरणों में मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त आते हैं। शंकर ने चित्त की अलग सत्ता मानी है। इनका स्पष्टीकरण है कि इंद्रियाँ किसी वस्तु अथवा क्रिया के प्रति तभी क्रियाशील होती है जब मन उनके तथा वस्तु अथवा क्रिया के बीच संयोजन करता है। बुद्धि इसमें काट-छाँट कर उसे अहम् से जोड़ती है और अहम् से ज्ञान अथवा क्रिया चित्त पर अंकित होती है और चित्त से आत्मा को प्राप्त होती है।
2. **ज्ञान प्राप्त करने के स्त्रोत**–शंकर ने ज्ञान प्राप्त करने के चार स्त्रोत माने हैं–**प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द** और **तर्क**। इंद्रिय प्रत्यक्ष को ये तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वह आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। अनुमान में ये पूर्व अनुभवों के आधार पर नए अनुभवों को तर्क द्वारा स्वीकार करने की बात करते हैं। शब्द के रूप में ये निगम (वेद) और आगम (तंत्र) ग्रंथों को श्रेष्ठ मानते हैं। तर्क का अर्थ है *बौद्धिक कसौटी,* अत: जब तक *इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान बौद्धिक तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जाता तब तक उसके बारे में सत्य-असत्य होना प्रमाणित नहीं हो सकता।*
3. **ज्ञान प्राप्ति के सोपान**–शंकर ने ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के तीन सोपान बताए हैं–**श्रवण** (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं गीता आदि ग्रथों का गुरुमुख द्वारा श्रवण अथवा उनका स्वाध्याय), **मनन** (श्रवण अथवा अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर चिंतन) और **निदिध्यासन** (प्राप्त ज्ञान का नित्य प्रयोग)। ये श्रवण अथवा अध्ययन के पश्चात् प्राप्त ज्ञान पर अधिकारी विद्वानों के साथ वाद-विवाद को भी अच्छा मानते थे।
4. **ज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ**–शंकर के शिक्षण एवं सीखने संबंधी उपरोक्त तथ्यों और उनके द्वारा विरचित ग्रंथों की रचना शैली (मत प्रतिपादन विधियों) से यह स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा की निम्नलिखित विधियों के पक्षधर थे–
   - ***(i)*** **प्रत्यक्ष विधि**–शंकर ने इंद्रियों को ज्ञान प्राप्त करने के बाह्य उपकरण माना है और मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को आंतरिक उपकरण माना है। साफ जाहिर है कि वे व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष विधि के समर्थक थे। परंतु वे इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को तभी सत्य मानते थे जब वह तर्क की कसौटी पर सत्य हो और अंत में आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष हो। साफ जाहिर है कि शंकर द्वारा विकसित प्रत्यक्ष विधि, वर्तमान प्रत्यक्ष विधि से एकदम भिन्न है, इससे बहुत उच्च स्तर की विधि है।
   - ***(ii)*** **प्रश्नोत्तर विधि**–शंकर ने अपने ग्रंथ 'प्रश्नोत्तरी' में ब्रह्म तत्व का उद्घाटन एवं प्रतिपादन प्रश्नोत्तर द्वारा ही किया है, परंतु यह प्रश्नोत्तर विधि वर्तमान प्रश्नोत्तर विधि से भिन्न है। इसमें श्रोता ने शंका

नोट

प्रकट की है और वक्ता ने उसकी शंका का समाधान किया है। इस प्रकार शंका द्वारा विकसित प्रश्नोत्तर विधि वर्तमान प्रश्नोत्तर विधि एवं समस्या-समाधान विधि, दोनों का संयुक्त रूप है।

(*iii*) **उपदेश विधि**–शंकर अपने मत का प्रतिपादन सामान्यत: उपदेश द्वारा करते थे। लेखन में भी उन्होंने इसी विधि का प्रयोग किया है। परंतु उपदेश करते समय वे विचार-विमर्श करते थे, शास्त्रार्थ करते थे, शंका-समाधान करते थे और आवश्यकता पड़ने पर निर्देशन भी करते थे। साफ जाहिर है कि शंकर द्वारा प्रतिपादित उपदेश विधि वर्तमान उपदेश विधि से भिन्न है।

(*iv*) **व्याख्या विधि**–शंकर ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और गीता के जो भाष्य किए हैं? वे इसी विधि में किए हैं, इसलिए इसे भाष्य विधि भी कहा जाता है। इस विधि में किसी विद्वान द्वारा अभिव्यक्त विचारों को सरल एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया जाता है और उपमा तथा दृष्टांतों द्वारा उन्हें स्पष्ट किया जाता है। साथ ही उनके गुण-दोष स्पष्ट किए जाते हैं और अंत में प्रत्यय स्पष्ट किए जाते हैं।

(*v*) **स्वाध्याय विधि**–शंकर ने अपने अल्प जीवन में जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया था वह वेद, उपनिषद एवं गीता आदि ग्रंथों के स्वअध्ययन द्वारा प्राप्त किया था। उनका स्पष्ट मत था कि स्वाध्याय यदि एकाग्रता के साथ किया जाए तो इसके द्वारा कम समय में अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि स्वाध्याय अंत:प्रेरित होता है।

(*vi*) **अध्यारोप-अपवाद विधि**–शंकर ने अपनी रचना 'विवेक चूड़ामणि' और 'उपदेश सहत्री' में ब्रह्म ज्ञान कराने हेतु इसी विधि का प्रयोग किया है। उन्होंने निष्प्रपंच ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिए प्रपंच का सहारा लिया है। सर्वप्रथम आत्मा के ऊपर देह धर्मों का आरोप किया है, यह बताया है कि आत्मा ही शरीर, मन, बुद्धि, आदि सब कुछ है। इसे अध्यारोप कहते हैं। इसके बाद विभिन्न युक्तियों द्वारा आत्मा में आरोपित धर्म को आत्मा से भिन्न सिद्ध किया है। इसे अपवाद कहते हैं। सामान्य दृष्टि से भी देखें तो प्रकाश का ज्ञान अंधकार द्वारा ही किया जा सकता है।

(*vii*) **श्रवण-मनन-निदिध्यासन विधि**–शंकर ने इस विधि का प्रयोग भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किया है। उनकी दृष्टि से सर्वप्रथम जिज्ञासु को आप्त ग्रंथों (वेद, उपनिषद व गीता आदि) का गुरुमुख से, सुनकर श्रवण करना चाहिए, फिर उसमें निहित ज्ञान पर मनन करना चाहिए और मनन के बाद जो कुछ प्राप्त हो उस पर निरंतर चिंतन करना चाहिए, उसका निरंतर प्रयोग करना चाहिए। हमारी दृष्टि से यह विधि किसी भी प्रकार के ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने की उत्तम विधि है।

अनुशासन

शंकर ने बाल प्रकृति की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है–

1. **क्षिप्त**–यह वह अवस्था है जब बच्चा अपनी इंद्रियों के अधीन रहता है और अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता।
2. **विक्षिप्त**–यह वह अवस्था है जब बच्चा अपनी इंद्रियों पर कुछ नियंत्रण करने लगता है और थोड़े समय तक ध्यान केंद्रित कर सकता है।
3. **मुधा**–यह वह अवस्था है जिसमें बालक का अपनी इंद्रियों पर काफी नियंत्रण हो जाता है परंतु आलस्यवश पूर्णरूप से ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता।
4. **एकाग्रता**–यह वह अवस्था है जब बच्चे की इंद्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, सभी पर आत्मा का नियंत्रण होता है।

शंकर के अनुसार जो बच्चा इनमें से जिस स्तर पर होता है वह उसी कोटि में अनुशासित होता है। वास्तविक अनुशासन का अर्थ है–एकाग्रता अर्थात् इंद्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, सभी पर आत्मा का नियंत्रण। दूसरे शब्दों में–जब व्यक्ति बाहरी दबाव से नहीं अपने आत्म तत्व से प्रेरित होकर सही मार्ग पर चलता है तब उसे अनुशासित कहते हैं, यही सच्चा अनुशासन है। इसे शंकर ने आत्मानुशासन की संज्ञा दी है। शंकर की दृष्टि से इस अनुशासन की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) है।

नोट

शिक्षक

शंकर की दृष्टि से गुरु के दो कार्य हैं–शिष्य को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना और उसे आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति करना। इनमें से दूसरा कार्य मुख्य और गंभीर है। वेदांती शिक्षक शिष्य को प्रारंभ में उपदेश देता है–'तत्वमसि' अर्थात तू (आत्मा) ब्रह्म है। और शिष्य अंत में यह अनुभव करता है–'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं (आत्मा) ब्रह्म हूँ। इस ब्रह्मज्ञान की चर्चा जीवन मुक्त व्यक्ति ही कर सकता है, इसलिए शिक्षक को जीवन मुक्त होना चाहिए। हमारी अपनी दृष्टि से तो व्यावहारिक ज्ञान देने वाले शिक्षक को भी जीवन मुक्त (सांसारिक सुख-दु:ख से विरक्त, अभेद दृष्टि वाला एवं सबसे प्रेम करने वाला) होना चाहिए। आज के शिक्षक यदि शंकर के जीवन मुक्त शिक्षक बन सकें तो फिर समाज का पुनरुत्थान निश्चित है।

इस संदर्भ में रामानुजाचार्य के विचार कुछ भिन्न हैं। उनकी दृष्टि से इस जगत में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकता, शिक्षक से पूर्ण होने की अपेक्षा करना ठीक नहीं है, परंतु ज्ञान एवं आचरण की दृष्टि से उसे पूर्णता की ओर बढ़ने वाला अवश्य होना चाहिए। शिक्षकों को यह प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

शिक्षार्थी

वेदांत के अनुसार प्रत्यक्ष छात्र अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है, उनमें जो शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक भिन्नता दिखाई देती है वह कर्मजनित है। यह भिन्नता उनका तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से सब छात्र समान हैं और व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भिन्नता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान के इच्छुक छात्रों को साधन चतुष्टय का पालन करना चाहिए। इस साधन चतुष्टय में इंद्रियनिग्रह, मन की एकाग्रता, भोग से विरक्ति और गुरु में श्रद्धा का महत्त्व तो व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से भी होता है। आज के छात्र यदि शंकर की यह बात मान लें तो शिक्षा जगत की सभी समस्याओं का अंत हो जाए।

इस संदर्भ में रामानुजाचार्य का मत शंकर से भिन्न है। उनकी दृष्टि से सभी बच्चे ईश्वर द्वारा बनाए गए हैं, सभी आत्मधारी हैं, सभी समान हैं। उन्होंने श्रद्धा और विश्वास को ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है।

विद्यालय

शंकर और रामानुजाचार्य के युग में व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था परिवार एवं समुदायों में होती थी और आध्यात्मिक शिक्षा की गुरुगृहों में। वास्तविक अर्थ में ये गुरुगृह ही उस समय के विद्यालय थे। शंकर के अनुसार ये गुरुगृह (विद्यालय) जन कोलाहल से दूर प्रकृति की सुरम्य गोद में होने चाहिए। यहाँ के शिक्षक जीवन मुक्त और शिष्य ब्रह्मज्ञान के इच्छुक होने चाहिए। विद्यालयों में शिष्यों को साधन चतुष्ट्य का पालन करना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शंकर की दृष्टि से मनुष्य जीवन के दो पक्ष हैं–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। जीवन के व्यावहारिक पक्ष की रक्षा के लिए उन्होंने वर्णानुसार कर्म की शिक्षा के विधान का समर्थन किया है। शूद्रों के लिए वे किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। इससे ऐसा लगता है कि वे जन शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। परंतु दूसरी ओर ये प्रत्येक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि सभी मनुष्यों के जीवन का अंतिम उद्देश्य इस आत्मा की अनुभूति अर्थात् आत्मा-ब्रह्म अभेद को जानना है। परंतु बिना शिक्षा के यह सब कैसे हो सकता है! स्पष्ट है कि आत्मानुभूति के लिए आध्यात्मिक शिक्षा के सब अधिकारी हैं। रामानुजाचार्य न वर्ण व्यवस्था में विश्वास करते थे और न ही वर्णानुसार कर्म में। उनकी दृष्टि से सब बच्चे समान हैं, सभी किसी भी प्रकार की शिक्षा पाने के अधिकारी, उनका यह विचार जन शिक्षा के पक्ष में जाता है। ये धर्म शिक्षा के पक्ष में थे, और इसके द्वारा सभी को भक्ति मार्ग पर अग्रसर करने के पक्ष में थे।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. भौतिकवादी मनुष्य के विकास का आधार उसकी कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों और मस्तिष्क को मानते हैं।

नोट

8. भारत में शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से विचार करना प्राचीन युग की देन है।
9. शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य वर्ण-भेद को ही स्वीकार नहीं करते।
10. शिक्षण विधियों के क्षेत्र में वेदांत का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

9.4 वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Vedant Philosophy to Education)

शंकर का अद्वैत वेदांत भारतीय चिंतनधारा का चरमोत्कर्ष है। इसने हमें संपूर्ण ब्रह्मांड की एकता (ब्रह्म तत्व) और अनेकता (ब्रह्म के माया तत्व) का स्पष्ट ज्ञान कराकर हमें अपनी अनंत शक्ति से परिचित कराया है। अपनी इस अनंत शक्ति की अनुभूति हेतु जिस साधन मार्ग की चर्चा शंकर ने की है, उसके लिए न केवल भारत अपितु सारा संसार उनका चिर ऋणी रहेगा। हाँ, उनका मायावाद उपनिषद् दर्शन से हटकर है और वही आलोचना का विषय है। जब ब्रह्म सत्य है तो उससे उत्पन्न माया असत्य कैसे हो सकती है, और यह वस्तुजगत असत्य कैसे हो सकता है। परंतु इस वस्तुजगत एवं उसमें मानव जीवन की व्यावहारिक सत्ता मानकर उन्होंने शिक्षा के विषय में जो तथ्य उजागर किए हैं, वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य ने इस जगत को वास्तविक माना है और मनुष्य को सर्वप्रथम इस जगत को समझने और उसके बाद ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का उपदेश दिया है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने जिस सरस भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया, वह भारत भूमि में खूब फला-फूला है।

शिक्षा का संप्रत्यय

शंकर की दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए।

स्पष्ट है कि शंकर ने शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है, केवल उसके आध्यात्मिक कार्य पर ध्यान दिया है।

टास्क वेदांत दर्शन और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

शिक्षा के उद्देश्य

शंकर ने शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में भारी भूमिका अदा की है। उनकी दृष्टि से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य भेद दृष्टि की समाप्ति और अभेद दृष्टि की प्राप्ति होता है। इसे ही उन्होंने मुक्ति कहा है। उनकी दृष्टि से शिक्षा का अंतिम उद्देश्य भी यही होना चाहिए। परंतु इसके साथ-साथ उन्होंने इस जगत और मानव शरीर की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार कर उसके ऐहिक जीवन संबंधी उद्देश्यों का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, नैतिक एवं चारित्रिक, इंद्रिय निग्रह एवं चित्त शुद्धि तथा आध्यात्मिक विकास, सभी पर बल दिया है। यह बात दूसरी है कि इन सब उद्देश्यों को उन्होंने मुक्ति उद्देश्य का साधक माना है और यही तो उनकी सबसे बड़ी देन है। रामानुजाचार्य ने शिक्षा के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उद्देश्यों पर समान बल दिया है।

स्पष्ट है कि वेदांत दर्शन ने शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों विकास पर बल दिया है, यह बात दूसरी है कि आध्यात्मिक विकास पर अधिक बल दिया है। वर्तमान में इनमें समन्वय करने की आवश्यकता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या के विषय में भी शंकर का यही दृष्टिकोण है। उन्होंने पाठ्यचर्या में मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए व्यावहारिक विषयों एवं क्रियाओं तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए आध्यात्मिक विषयों पर

नोट

क्रियाओं को सम्मिलित करने की बात कही है। परंतु व्यावहारिक जीवन को भी वे आध्यात्मिकता पर आधारित करना चाहते थे, तभी तो मनुष्य अपने अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। पाठ्यचर्या के संदर्भ में रामानुजाचार्य का भी यही विचार था, वे भी पाठ्यचर्या में आत्मोन्नति में सहायक विषयों एवं क्रियाओं को मुख्य और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक विषयों एवं क्रियाओं को गौण स्थान देने के पक्ष में थे।

वर्तमान भौतिकवादी युग में उपरोक्त विचार सर्वमान्य नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि से पाठ्यचर्या में ऐसे सभी विषयों एवं क्रियाओं को स्थान देना चाहिए जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक हों और सभी को समान महत्त्व देना चाहिए।

शिक्षण की विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में तो वेदांत का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक मनोविज्ञान जहाँ ज्ञान प्राप्ति के उपकरणों में केवल बाह्य उपकरणों (इंद्रियों) का वर्णन करता है, वहाँ वेदांत ने इनके अतिरिक्त आंतरिक उपकरणों–मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के कार्यों का भी विश्लेषण किया है। जहाँ उपनिषद् न्याय और सांख्य मनुष्य के अंत:करण में मन, बुद्धि अहंकार को स्थान देते हैं और योग इस अंत:करण को चित्त कहता है वहाँ वेदांत चित्त की अलग सत्ता मानता है। शंकर ने चेतना के जो चार स्तर बताए हैं–जाग्रतावस्था (जब अवस्था में मनुष्य इंद्रियों एवं मन की सहायता से पदार्थ की अनुभूति करता है), स्वप्नावस्था (जिस अवस्था में इंद्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, केवल मन ही सक्रिय रहता है), निद्रावस्था (जिस अवस्था में मन निष्क्रिय हो जाता है, परंतु चेतना कार्यशील हो जाती है) और तुरीयावस्था (जिस अवस्था में मनुष्य शरीर, मन और बुद्धि सबसे ऊपर उठ जाता है और समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है), वे वर्तमान मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान द्वारा विवेचित व्यक्तित्व संरचना से कहीं अधिक गहन हैं। शंकर केवल श्रवण अथवा स्वाध्याय में विश्वास नहीं करते थे, वे उसके बाद मनन (चिंतन) और निदिध्यासन (नित्य प्रयोग) पर भी बल देते हैं।

हमारी दृष्टि से श्रवण अथवा स्वाध्याय, मनन अर्थात् चिंतन और निदिध्यासन अर्थात् नित्य प्रयोग द्वारा अनुभूत ज्ञान ही सच्चा ज्ञान होता है और यही शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है। हमें शंकर के शिक्षण-अधिगम मनोविज्ञान को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनुशासन

अनुशासन में मुख्य तत्व है–शासन। शंकर के अनुसार जब मनुष्य इंद्रियों के शासन में रहता है तो वह पशु स्तर पर रहता है, जब समाज द्वारा निश्चित नियमों के शासन में रहता है तो वह सामाजिक स्तर पर पहुँच जाता है और जब वह आत्मा के शासन में रहता है तो आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाता है। उनकी दृष्टि से आत्मानुशासन अनुशासन की उच्चतम सीमा है, हमें इसी को प्राप्त करना चाहिए।

साफ जाहिर है कि शंकर अनुशासन को बाह्य व्यवस्था न मानकर आंतरिक शक्ति मानते थे, आत्मानुशासन (आत्मा के नियंत्रण में होना) मानते थे। परंतु हम बच्चों से आत्मा के नियंत्रण में होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। वर्तमान संदर्भ में हमें अनुशासन को स्वानुशासन के रूप में ही लेना चाहिए। स्वानुशासन का अर्थ है–बाह्य दबाव के कारण नहीं, स्वेच्छा से नियमों के अनुसार आचरण करना। सच्चे अनुशासन की प्राप्ति के लिए शंकर ने जिस योग क्रिया की बात कही है, वह बड़ी प्रभावी है, परंतु सभी बच्चे उसका पालन नहीं कर सकते। उसकी प्राप्ति के लिए हम सर्वप्रथम उचित पर्यावरण के निर्माण की बात कहेंगे। और यदि बच्चों को योग क्रियाओं की ओर अग्रसर किया जा सके तो वह सर्वोत्तम उपाय होगा।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

शिक्षक को जीवन मुक्ति और शिष्य को साधन चतुष्टय का निर्देश देना शंकर वेदांत की एक और बड़ी विशेषता है। काश आज के शिक्षक और शिक्षार्थी शंकर के इस निर्देश का पालन कर सकें तो शिक्षा जगत की सारी समस्याओं का अंत हो जाए।

नोट

विद्यालय

शंकर उच्च, विशिष्ट और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए गुरुआश्रमों के समर्थक थे। आज के युग में जनसंख्या और ज्ञान के क्षेत्र में भारी विस्फोट हुआ है। इसी स्थिति में हम गुरुगृह प्रणाली को स्वीकार नहीं कर सकते।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शंकर ने तो जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में कुछ कहा नहीं है, परंतु रामानुजाचार्य ने इनकी आवश्यकता पर बल दिया है। परंतु धर्म शिक्षा का समर्थन दोनों ने किया है। इस संदर्भ में हमें रामानुजाचार्य का अनुकरण करना चाहिए।

9.5 सारांश (Summary)

भारत में शंकर के बाद जितना भी चिंतन हुआ है, वह उनके वेदांत दर्शन के इधर-उधर ही हुआ है। यदि हम आधुनिक युग के भारतीय चिंतकों–दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, गाँधी, टैगोर और अरविंद के दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों का विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि वे वेदांत के बहुत निकट हैं। स्वामी विवेकानंद ने तो वेदांत को जीवन में उतारने का स्तुत्य प्रयास किया है। गाँधी जी ने भी मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन के विकास की बात बुलंद की है। शंकर के समान अरविंद ने शिक्षा में योग की क्रियाओं को महत्त्व दिया है। वास्तव में वेदांत समस्त धर्म एवं दर्शनों का मूल है, उसे यदि सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक दर्शन कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। आज हम जिस वर्गहीन, धर्मनिरपेक्ष एवं समाजवादी व्यवस्था की बात करते हैं, वह वेदांत की अभेद दृष्टि के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तब हमें अपनी शिक्षा को वेदांत पर आधारित करना ही चाहिए।

9.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **अंतिम सत्य** (Ultimate Reality) : पूर्ण सत्य
2. **देन** (Contribution) : योगदान

9.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. वेदांत दर्शन से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. 'वेदांत दर्शन और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. ब्रह्म की सत्ता	2. चरमोत्कर्ष	3. (अ)	4. (अ)	5. (ब)
6. (अ)	7. सही	8. गलत	9. सही	10. सही

9.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।

❑❑❑

नोट

इकाई–10 : बौद्ध दर्शन और शिक्षा (Budhism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
10.1 बौद्ध दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Budhism)
10.2 बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Budhism)
10.3 बौद्ध दर्शन और शिक्षा (Budhism and Education)
10.4 बौद्ध दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Budhism to Education)
10.5 सारांश (Summary)
10.6 शब्दकोश (Keywords)
10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बौद्ध दर्शन का अर्थ जानने हेतु।
- बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत समझने हेतु।
- बौद्ध दर्शन और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

बुद्ध अपने उपदेश मौखिक रूप में ही करते थे। उनके निर्वाण के 100 वर्ष बाद इन उपदेशों को विस्मृति के गर्भ से बचाने हेतु उनके पट्ट शिष्य आनंद के सहयोग से **'सुत्त पिटक'** तथा उपालि के सहयोग से **'विनय पिटक'** का संकलन किया गया। आगे चलकर सुत्त पिटक के दार्शनिक अंशों की व्याख्या से **'अभिदम्म पिटक'** का निर्माण हुआ। पिटक का अर्थ है–पिटारा। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश संबंधी ग्रंथ हैं, विनय पिटक में आचार संबंधी ग्रंथ हैं और अभिदम्म पिटक में दार्शनिक विवेचना संबंधी ग्रंथ हैं। मूल रूप में ये **त्रिपिटक** ही बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वस्व हैं।

10.1 बौद्ध दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Budhism)

बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि भारत है, यह बात दूसरी है कि उसका विकास भारत की अपेक्षा भारतेतर देशों–सिंहल, बर्मा, श्याम, जावा, तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में अधिक हुआ है। प्रारंभ में यह मत भी एक

नोट

धर्म के रूप में विकसित हुआ था। शाक्य गणाधिपति शुद्धोधन के पुत्र **सिद्धार्थ** (गौतम बुद्ध, 567-487 ई. पू.) इसके प्रतिपादक थे। सिद्धार्थ जन्म से ही आभायुक्त थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ वृद्ध, रोगी और मृतक को देखने से मनुष्यों के दुखों से पीड़ित हो उठे थे और एक दिन राज्य, परिवार, पत्नी और पुत्र सभी को त्यागकर चल दिए थे। सबसे पहले वे भृगु आश्रम पहुँचे। उसके बाद आलार कालाम के पास गए और यहाँ से गया पहुँचकर तपस्या में लीन हो गए। यहाँ उन्हें चार आर्य सत्यों का ज्ञान हुआ, वे सिद्धार्थ से बुद्ध बन गए।

बुद्ध अपने उपदेश मौखिक रूप में ही करते थे। उनके निर्वाण के 100 वर्ष बाद इन उपदेशों को विस्मृति के गर्भ से बचाने हेतु उनके पट्ट शिष्य आनंद के सहयोग से **'सुत्त पिटक'** तथा उपालि के सहयोग से **'विनय पिटक'** का संकलन किया गया। आगे चलकर सुत्त पिटक के दार्शनिक अंशों की व्याख्या से **'अभिदम्म पिटक'** का निर्माण हुआ। पिटक का अर्थ है–पिटारा। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश संबंधी ग्रंथ हैं, विनय पिटक में आचार संबंधी ग्रंथ हैं और अभिदम्म पिटक में दार्शनिक विवेचना संबंधी ग्रंथ हैं। मूल रूप में ये **त्रिपिटक** ही बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वस्व हैं।

धर्म के रूप में बौद्ध दर्शन के दो रूप हैं–**हीनयान** और **महायान।** हीनयान वह संप्रदाय है जो बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानता है। बुद्ध की मौलिक शिक्षाएँ हैं–आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न। बुद्ध ने उपदेश दिया कि न तो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड के पालन में सुख है और न चार्वाकों द्वारा प्रतिपादित इंद्रिय भोग में सुख है; सुख तो इन दोनों के बीच में ही हो सकता है। इसलिए बुद्ध के मार्ग को **मध्यम प्रतिपदा मार्ग** कहा जाता है। इसके विपरीत महायान वह संप्रदाय है जो बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं–चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न के साथ-साथ भक्ति में भी विश्वास करता है। महायानियों ने तो मूर्ति पूजा के विरोधी बुद्ध को ही भगवान के रूप में प्रतिष्ठित कर डाला और निर्वाण के लिए ज्ञान के साथ-साथ भक्ति को आवश्यक माना। महायानियों ने अपने मार्ग की श्रेष्ठता को स्पष्ट करने हेतु अपने मार्ग को महायान और बुद्ध के कोरे ज्ञान के उपदेशों को मानने वालों के मार्ग को हीनयान की संज्ञा दी। वास्तविकता यह है कि भक्ति भावना भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ धर्म और दर्शन ने चाहे जितने रूप बदले हों परंतु अंत में उसके साथ भक्ति भावना अवश्य जुड़ी, चाहे वह जैन दर्शन हो, चाहे बौद्ध और चाहे वेदांत।

हीनयान की दार्शनिक व्याख्या से **वैभाषिक** (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) और **सौत्रांतिक** (बाह्यार्थ अनुमेयवाद), दो दार्शनिक संप्रदायों का विकास हुआ और महायान की दार्शनिक विवेचना से **योगाचार** (विज्ञानवाद) और **माध्यमिक** (शून्यवाद) का विकास हुआ। वैभाषिक संप्रदाय के मूल दार्शनिक ग्रंथ हैं–वसु बंधु कृत 'अभिधर्म कोश' और संघभद्र कृत 'समय प्रदीपिका।' सौत्रांतिक संप्रदाय का मूल ग्रंथ है कुमार लता का 'कल्पना मण्डिलिका'। योगाचार संप्रदाय का मूल ग्रंथ है–असंगकृत 'योगाचार भूमिशास्त्र' और माध्यमिक संप्रदाय का मूल ग्रंथ है–नागार्जुन कृत 'माध्यमिक कारिका'।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए हमें उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: हम सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

नोट्स बुद्ध की मौलिक शिक्षाएँ हैं– आर्य सव्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न।

बौद्ध दर्शन का तत्व मीमांसा

जहाँ तक बुद्ध की बात है उन्होंने तत्व मीमांसा के विवेचन में अपनी शक्ति व्यय नहीं की। उनका स्पष्टीकरण था कि जीव-जगत और आत्मा-परमात्मा के विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता और मनुष्य जीवन को उन्नत बनाने और निर्वाण प्राप्ति में इनके ज्ञान से कोई सहायता भी नहीं मिलती अत: इन पर विचार करना व्यर्थ है। जगत के विषय में उन्होंने केवल इतना कहा कि इस जगत में न तो कोई वस्तु शाश्वत है और

नोट

न पूर्णतया नश्वर। जगत के विषय में उनके इस सिद्धांत को **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** कहा जाता है। परंतु उनके अनुयायियों ने इस जगत की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत की है।

हीनयान से संबंधित **वैभाषिक** एपवं **सौत्रांतिक,** दोनों दर्शन वस्तु तथा चित्त की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। दोनों में अंतर इतना है कि वैभाषिक दर्शन वस्तु को इंद्रिय प्रत्यक्ष (चित्त निरपेक्ष) मानता है और सौत्रांतिक दर्शन अनुमान गम्य (चित्त सापेक्ष) मानता है। इसीलिए वैभाषिक दर्शन को **बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद** और सौत्रांतिक दर्शन को **बाह्यार्थ अनुमेयवाद** कहा जाता है। इनके विपरीत **महायान** से संबंधित **योगाचार** एवं माध्यमिक दर्शन वस्तु को न तो चित्त निरपेक्ष मानते हैं और न चित्त सापेक्ष। **योगाचार** दर्शन इनके मूल में विज्ञान की सत्ता मानता है। इसके अनुसार चित्त, मन और विज्ञप्ति, ये विज्ञान के ही पर्याय हैं और यह समस्त संसार बुद्धि (विचारों) का बना हुआ है (सर्व बुद्धिमयं जगत)। इसलिए योगाचार को विज्ञानवाद कहा जाता है। इसके विपरीत **माध्यमिक** संप्रदाय के लोग इस जगत के मूल में एक पारमार्थिक तत्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह परम तत्व न सत् है न असत्, न सत्-असत् दोनों है और न सत्-असत् दोनों नहीं हैं। इसको वे **'शून्य'** की संज्ञा देते हैं। उनका यह 'शून्य' कोई अभाववादी शब्द नहीं है अपितु एक अनिर्वचनीय परम तत्व का द्योतक है। माध्यमिकों की इस विचारधारा को **शून्यवाद** अथवा **शून्य द्वैतवाद** कहा जाता है। आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को चारों संप्रदाय अस्वीकार करते हैं। इसलिए बौद्ध दर्शन को **अनात्मवादी** एवं **अनीश्वरवादी** दर्शन कहा जाता है। वैभाषिक एवं सौत्रांतिक आत्मा के स्थान पर चित्त, योगाचार विज्ञान और माध्यमिक शून्य के अस्तित्व में विश्वास करते हैं।

बौद्ध दर्शन **कर्म सिद्धांत** और **पुनर्जन्म** दोनों में विश्वास करता है, परंतु इसका कर्म सिद्धांत अन्य धर्म-दर्शनों से भिन्न है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर नया जन्म प्राप्त करता है, परंतु इन पूर्व जन्म के कर्मों का फलदाता कोई अन्य (ईश्वर आदि) नहीं है, कर्म स्वयं ही अपने फल देते हैं।

बौद्ध दर्शन का ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

बौद्ध दर्शन में ज्ञान के स्वरूप और उसे प्राप्त करने के उपायों के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रांतिक दोनों बाह्य जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं, यह बात दूसरी है कि वैभाषिक उसे चित्त निरपेक्ष मानते हैं और सौत्रांतिक चित्त सापेक्ष। पदार्थों के धर्मों एवं चित्त की क्रियाओं के ज्ञान को ये वास्तविक ज्ञान मानते हैं। **वैभाषिकों** के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हैं–ग्रहण और अध्यवसाय। ग्रहण का अर्थ है इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करना, इसके द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। पदार्थ को नाम एवं जाति आदि कल्पना से संयुक्त करना अध्यवसाय है। **सौत्रांतिक** इंद्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर चित्त द्वारा अनुमान करने की क्रिया पर बल देते हैं। योगाचार और माध्यमिक जगत की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते, वे उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। **योगाचार** उसके मूल में विज्ञान और **माध्यमिक** शून्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओं पर बल देते हैं।

बौद्ध दर्शन के मूल्य एवं आचार मीमांसा

ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ (बुद्ध) ने राजकुमार के रूप में एक दिन निर्बल शरीर के बूढ़े को देखा, कुछ दिन बाद उन्होंने एक रोगी को देखा और उसके कुछ दिन बाद एक मृतक की अंतिम यात्रा को देखा। इससे उन्हें बड़ा दुख हुआ, वे व्याकुल हो उठे और एक दिन राजमहल, अपनी पत्नी और पुत्र, सबको छोड़कर चले गए और तपस्या में लीन हो गए। 6 वर्ष की तपस्या के बाद उन्होंने चार सत्यों की खोज की जिन्हें **चार आर्य सत्य** कहा जाता है। ये चार आर्य सत्य हैं–

1. **जीवन दुखों से पूर्ण है (दुखम्)**–सिद्धार्थ के रूप में बुद्ध को वृद्ध, रोगी और मृतक को देखकर मानव के दु:खों की अनुभूति हुई। तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने पाया कि मनुष्य का संपूर्ण जीवन दुखों से पूर्ण है, जिन्हें वह क्षणभर के लिए सुख समझ बैठता है वे भी उसमें तृष्णा को उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार दुखों को उत्पन्न करते हैं।
2. **इन दुखों का कारण विद्यमान है (दुख समुदाय)**–गौतम बुद्ध ने दूसरा सत्य यह खोजा कि मनुष्य के

नोट

दुखों का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही वह इन्द्रिय भोग में सुख समझने लगता है तथा और अधिक पाने की इच्छा अर्थात् तृष्णा से सदैव दुखी रहता है।

3. **इन दुखों का अंत संभव है (दुख निरोध)**–तीसरा आर्य सत्य उन्होंने यह खोजा कि अज्ञान अर्थात् जीवन के प्रति मोह तथा और अधिक प्राप्त करने की तृष्णा की समाप्ति से मनुष्य इन सांसारिक दुखों से छूट सकता है।
4. **इन दुखों के अंत का उपाय है (दुख निरोध मार्ग अथवा निर्वाण मार्ग)**–जीवन के मोह तथा और अधिक प्राप्ति की तृष्णा से मुक्त होने के लिए उन्होंने **आर्य अष्टांग मार्ग** की खोज की। इस मार्ग के अग्रलिखित आठ अंग हैं–

   (i) **सम्यक् दृष्टि (सम्मा दिष्टि)**–बुद्ध के अनुसार मनुष्य के दुखों का मूल कारण अज्ञान है, अज्ञान के कारण ही उसकी भौतिक वस्तुओं में आसक्ति होती है, वह और अधिक पाने की इच्छा (तृष्णा) से ग्रसित रहता है और सदैव दुखी रहता है। अत: सबसे पहली आवश्यकता है–सत्य ज्ञान (सम्यक् दृष्टि, सम्मा दिष्टि) की।

   (ii) **सम्यक् संकल्प (सम्मा संकल्प)**–बुद्ध के अनुसार सत्य ज्ञान होने के बाद दूसरी आवश्यकता है उस सत्य के आधार पर पर चलने का दृढ़निश्चय (सम्यक् संकल्प, सम्मा संकल्प)।

   (iii) **सम्यक् वचन (सम्मा वाचा)**–बुद्ध के अनुसार तीसरा मार्ग है–संयमित वाणी, सत्य वचन (सम्यक् वचन, सम्मा वाचा)। उनके अनुसार असत्य एवं कटु वाणी मनुष्य के अनेक दुखों का कारण होती है अत: उसे सदैव सत्य बोलना चाहिए और कभी भी कटु नहीं बोलना चाहिए।

   (iv) **सम्यक् कर्म (सम्मा कम्मा)**–सम्यक् वचन के बाद सम्यक् वचन के अनुसार सम्यक् कर्म अर्थात् सत् कर्म करना आवश्यक है। बुद्ध के अनुसार सत् कर्मों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा करुणा का पालन एवं अधिक भोजन करने, इंद्रिय भोग में लीन होने और निंदा करने आदि दुष्कर्मों से दूर रहना आवश्यक है।

   (v) **सम्यक् जीव (सम्मा आजीव)**–बुद्ध के अनुसार मनुष्य को अपनी जीविका कमाने के लिए भी उचित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। गलत रास्तों से धनोपार्जन करने एवं आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन करने का बुद्ध ने निषेध किया है।

   (vi) **सम्यक् व्यायाम (सम्मा व्यायाम)**–इसका अर्थ है कि अपनी तथा दूसरों की भलाई के लिए सदैव प्रयत्न करना। इसके लिए आत्मानुशासन एवं करुणा, इन दो का होना आवश्यक है। जब तक मनुष्य अपने पर नियंत्रण नहीं करता और दूसरों की भलाई के लिए तैयार नहीं होता वह सम्यक् व्यायाम नहीं कर सकता। **संयम्, करुणा** और **दया** बौद्ध आचार के मूल आधार माने जाते हैं।

   (vii) **सम्यक् स्मृति (सम्मा मति)**–इसका अर्थ है–सत्य मति। गौतम बुद्ध के अनुसार निर्वाण के इच्छुक को अपनी मति को सदैव सही रखना चाहिए, उसे चार आर्य सत्यों को सदैव अपनी स्मृति में बनाए रखना चाहिए और तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

   (viii) **सम्यक् समाधि (सम्मा समाधि)**–बुद्ध के अनुसार उपरोक्त सात मार्गों का पालन करने वाले व्यक्ति का ही मन शांत हो सकता है और वही एकाग्र मन से समाधि की स्थिति प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ने मन को संसार से हटा लेने को ही समाधि कहा है। इस स्थिति में ही मनुष्य संसार के दुखों से छूट सकता है; निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

आर्य अष्टांग मार्ग पर चलने हेतु शरीर शुद्धि पहली आवश्यकता है। शरीर शुद्धि के बौद्धदर्शन में तीन साधन बताए हैं–शील, समाधि तथा प्रज्ञा। इन्हें **त्रिरत्न** कहते हैं। यहाँ इनका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

1. **शील**–शील का अर्थ है–सात्विक कर्म। अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना, ये पंचशील हैं जिनका पालन गृहस्थ तथा भिक्षुओं दोनों के लिए अनिवार्य है। भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का भी विधान है, वे हैं–अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत व स्वर्ण-रजत का त्याग तथा महत्त्वपूर्ण शय्या का त्याग।

नोट

2. **समाधि**–समाधि का अर्थ है चित्त की नैसर्गिक एकाग्रता। समाधि से तीन प्रकार की विधाएँ उत्पन्न होती हैं–पूर्व जन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति तथा विनाश का ज्ञान और चित्त के बाधक विषयों की जानकारी।
3. **प्रज्ञा**–प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है–श्रुतमयी (सुनी हुई), चिंतामयी (युक्ति से उत्पन्न) और भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)।

महायानी निर्वाण के लिए भक्ति को भी आवश्यक मानते हैं। इनके यहाँ **सप्त विधि अनुत्तर पूजा** (वंदना, पूजा, पाप देशना, पूण्यान मोदन, अध्येषणा, बोधिचिंतोत्पाद तथा परिणामना) का विधान है। इनकी दृष्टि से इसके लिए नैतिक जीवन परमावश्यक है और नैतिक जीवन के लिए **षट्पारामिताओं** (दान, वीर्य, शील, शांति, ध्यान और प्रज्ञा) का अर्जन आवश्यक है। यही संक्षेप में बौद्ध दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा है।

बौद्ध दर्शन की परिभाषा

बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

बौद्ध दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को न तो केवल वस्तुजन्य मानती है और न केवल आध्यात्मिक तत्व द्वारा निर्मित, यह इसे परिणामशील मानती है। यह आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है, जिसे चार आर्य सत्यों के ज्ञान एवं आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

क्या आप जानते हैं धर्म के रूप में बौद्ध दर्शन के दो रूप हैं–हीनयान और महायान।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि ..... है।
2. ..... में बुद्ध के उपदेश संबंधी ग्रंथ हैं।

10.2 बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Budhism)

बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्माण्ड परिणामशील है**–श्रौत दर्शन के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का मूल तत्व आध्यात्मिक है और चार्वाक दर्शन के अनुसार यह ब्रह्माण्ड चार मूलभूतों (भौतिक पदार्थों) से निर्मित है। लेकिन बुद्ध ने इनके विपरीत परिणाम की सत्ता स्वीकार की है। बुद्ध के अनुयायियों ने भी इस पर अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। वैभाषिकों एवं सौत्रांतिकों के अनुसार यह ब्रह्माण्ड स्कंधों के घात-प्रतिघात का प्रतिफल है। योगाचार विज्ञान को इस ब्रह्मांड का मूल तत्व मानते हैं और माध्यमिक शून्य को। परंतु एक बात ये भी मानते हैं कि यह जगत परिणामशील है।
2. **वस्तु जगत और मानसिक जगत दोनों की सत्ता है**–वैभाषिकों के अनुसार यह इंद्रियग्राह्य जगत सत्य है और इसके साथ-साथ मन (चित्त अथवा विज्ञान) के जगत की भी सत्ता है, परंतु है सब परिवर्तनशील। योगाचार और माध्यमिक इस वस्तु जगत की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। योगाचार दर्शन के अनुसार यह बाह्य जगत विज्ञान (मन अथवा चित्त) की अभिव्यक्ति है और माध्यमिक दर्शन के अनुसार यह बाह्य

नोट

जगत शून्य (अनिर्वचनीय परम तत्व) की अभिव्यक्ति है। ये दोनों संप्रदाय वस्तु जगत की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं।

3. **आत्मा-परमात्मा की आध्यात्मिक सत्ता नहीं है**–बौद्ध दर्शन आध्यात्मिक तत्व आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। उसके स्थान पर वैभाषिक एवं सौत्रांतिक क्रियाशील तत्व की सत्ता में विश्वास करते हैं, योगाचार विज्ञान की सत्ता में और माध्यमिक शून्य की सत्ता में।
4. **मनुष्य स्कंधों का संघात मात्र है**–हीनयानियों का मत है कि संसार के समस्त पदार्थ पाँच स्कंधों से निर्मित हैं। ये पंच स्कंध हैं–रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। महायानी इसे विज्ञान अथवा शून्य की प्रतीति मानते हैं। दोनों संप्रदाय यह बात स्वीकार करते हैं कि प्राणी (मनुष्य) पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्मों का संघात मात्र है, यह तो उसका भ्रम है कि उसके अंदर कोई आत्मा है। आष्टांगिक मार्ग से व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का आभास हो जाता है।
5. **मनुष्य का विकास बाह्य एवं आंतरिक क्रियाओं द्वारा होता है**–बौद्ध मतावलंबी कारण-कार्य सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इनकी दृष्टि से मनुष्य का विकास पूर्वजन्म में किए गए कर्मों, वर्तमान में किए जा रहे कर्मों और भविष्य में किए जाने वाले कर्मों, तीनों पर निर्भर करता है। हीनयान के अनुसार मानव के विकास का चरम रूप अर्हत पद की प्राप्ति है और महायान के अनुसर बुद्धत्व की प्राप्ति।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है**–हीनयानी निर्वाण को दुखों का अभाव मात्र मानते हैं, परंतु महायानी निर्वाण को आनंद रूप मानते हैं। वैभाषिक एवं सौत्रांतिकों के अनुसार इंद्रिय भोग से विमुख होना अर्थात् तृष्णा के विरोध से दुखों का अंत ही निर्वाण है। इनके अनुसार निर्वाण के दो रूप हैं–सोपधिशेष और निरूपधिशेष। इनके विपरीत योगाचार का मत है कि क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति से निर्वाण लाभ हो सकता है। माध्यमिक परमार्थ तत्व 'शून्य' की अनुभूति को निर्वाण मानते हैं। इस प्रकार निर्वाण का अर्थ बौद्ध दर्शन के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में भिन्न-भिन्न है।
7. **निर्वाण के लिए अष्टांग मार्ग आवश्यक है**–हीनयानी (वैभाषिक और सौत्रांतिक) बुद्ध द्वारा बताए मार्ग का अनुसरण करते हैं। उनके अनुसार चार आर्य सत्यों के ज्ञान और अष्टांग मार्ग का अनुसरण करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। महायानी (योगाचारी और माध्यमिक) निर्वाण के लिए चार आर्य सत्यों के ज्ञान और अष्टांग मार्ग के अनुसरण के साथ-साथ भक्ति पर भी बल देते हैं।
8. **आर्य अष्टांग मार्ग पर चलने के लिए त्रिरत्न का पालन आवश्यक है**–बौद्ध दर्शन में त्रिरत्न–शील, समाधि और प्रज्ञा को मानव आचरण का मूल माना गया है। शीलों में भी पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य और नशा न करना) तो गृहस्थ और भिक्षुक दोनों के लिए आवश्यक बताए गए हैं। समाधि अर्थात् चित्त की नैसर्गिक एकाग्रता और प्रज्ञा को भी निर्वाण के लिए आवश्यक माना गया है।
9. **राजा का मूल कर्तव्य प्रजा का पालन और उसे सत्य मार्ग पर लगाना है**–बुद्ध शाक्य गणाधिपति शुद्धोधन के पुत्र थे। उनकी दृष्टि से राजा का कर्तव्य है प्रजा का पालन करना। साधु के रूप में उन्होंने इस प्रजा पालन में प्रजा को सद्मार्ग पर लगाने की बात भी राजा के कर्तव्यों में जोड़ दी। आगे चलकर बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रचार में भी राज्य का सहयोग प्राप्त किया गया। किसी भी स्थिति में बौद्ध दार्शनिक राजा अथवा राज्य से यह आशा करते रहे कि वह प्रजा के आचरण पर नियंत्रण रखे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. बुद्ध के मार्ग को कहा जाता है–

(अ) मध्यम प्रतिपदा मार्ग (ब) बुद्ध मार्ग

(स) त्रिपिटक मार्ग (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

4. बौद्ध दर्शन के दो रूप हैं–
   (अ) सत्य व अहिंसा (ब) हीनयान और महायान
   (स) सुत्त पिटक और विनय पिटक (द) इनमें से कोई नहीं
5. बौद्ध दर्शन को कहा जाता है–
   (अ) अनात्मवादी व अनीश्वरवादी (ब) सौत्रांतिक
   (स) वेदांतिक (द) वैभाषिक
6. महायानी निर्वाण के लिए आवश्यक मानते हैं–
   (अ) सत्य (ब) भक्ति
   (स) सम्यक् ज्ञान (द) सम्यक् वचन

10.3 बौद्ध दर्शन और शिक्षा (Budhism and Education)

बौद्ध दर्शन ने हमारे देश की शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में बड़ा योगदान दिया है। आज भी यह हमारी शैक्षिक समस्याओं के समाधान में हमारी सहायता करता है। यहाँ उसके शिक्षा पर प्रभाव को क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

बौद्ध दर्शन लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों सत्यों में विश्वास करता है–

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म देशना
लोक संवित्ति सत्यं च सत्यं न परमार्थना॥ (माध्यमिककारिका, 24/8)

उसके अनुसार शिक्षा एक ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो मनुष्य को लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों जीवन के योग्य बनाती है। पारमार्थिक जीवन से उसका तात्पर्य निर्वाण से है। उसकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराए।

शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं–एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक दृष्टि से बौद्ध दार्शनिकों ने मनुष्य शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक एवं नैतिक तथा व्यावसायिक विकास पर बल दिया है और पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण की प्राप्ति के लिए चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांग मार्ग और त्रिरत्न की उपलब्धि आवश्यक मानी है। उनकी दृष्टि से ये ही शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए। आज की भाषा में हम इन्हें निम्नलिखित रूप में देख-समझ सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–भगवान बुद्ध ने शरीर को स्वस्थ रखने पर बल दिया है। उनकी दृष्टि से शरीर स्वस्थ होने पर मनुष्य शरीर के रुग्ण हो जाने से होने वाले दुखों से मुक्त हो जाता है। फिर स्वस्थ शरीर के अभाव में कुछ संभव नहीं, न धर्म और न कर्म।
2. **अज्ञान का अंत एवं ज्ञान की प्राप्ति**–बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य के समस्त दुखों का कारण अज्ञान है। बौद्धों के अनुसार संसार को सुखमय मानना और इंद्रिय भोग एवं तृष्णा की तृप्ति में सुख की कल्पना करना अज्ञान है। उनके अनुसार चार आर्य सत्यों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।
3. **सामाजिक आचरण की शिक्षा**–बौद्ध दर्शन समस्त प्राणियों के कल्याण का पक्षधर है, यही कारण है कि इसमें करुणा एवं दया पर सबसे अधिक बल दिया गया है। बिना करुण भाव के एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दुखों को नहीं समझ सकता और बिना दया किए एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दुखों को दूर नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन इसी प्रकार के सामाजिक विकास का पक्षधर है।
4. **मानव संस्कृति का संरक्षण**–बौद्ध चिंतक धर्म को संस्कृति का अंग मानते हैं। उनकी दृष्टि से संस्कृति के संरक्षण से ही धर्म का संरक्षण हो सकता है, परंतु संस्कृति से उनका तात्पर्य संपूर्ण मानव जाति की

नोट

संस्कृतियों से है। इनके ज्ञान द्वारा ही मनुष्य वास्तविक ज्ञान की खोज कर सकता है और वास्तविक धर्म का पालन कर सकता है।

5. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–बौद्ध धर्म में आत्मसंयम, करुणा और दया पर सबसे अधिक बल दिया गया है। बौद्धों की दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य में इन सब गुणों का विकास करना चाहिए। इसी को वे चरित्र मानते हैं। इन गुणों के विकास के लिए वे कठोर नियमों के पालन पर बल देते हैं।
6. **व्यावसायिक विकास**–बौद्ध दर्शन मनुष्यों को संसार से विमुख होने का आदेश नहीं देता, वह तो उन्हें सांसारिक दुखों से मुक्ति दिलाना चाहता है। तब भूख के दुख से बचने, कपड़ों के अभाव के दुख से बचने, मकान के अभाव के दुख से बचने, आदि के लिए उसे किसी व्यवसाय (कला-कौशल, उद्योग व व्यापार) में निपुण होना चाहिए। परंतु यह न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त धन अर्जित करने का निषेध करता है। इसकी दृष्टि से तब तो व्यक्ति स्वयं और पूरा समाज और अधिक दुखों को प्राप्त होगा।
7. **निर्वाण की प्राप्ति**–बौद्ध मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सांसारिक दुखों से छुटकार मानते हैं। इसे वे निर्वाण कहते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध मनुष्यों को चार आर्य सत्यों के ज्ञान एवं आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन का उपदेश देते हैं। महायानी इनके अतिरिक्त भक्ति को भी आवश्यक मानते हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा के दो प्रकार के उद्देश्य निश्चित किए हैं–लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक उद्देश्य हैं–शारीरिक विकास, चारित्रिक एवं नैतिक विकास और व्यावसायिक विकास। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में नैतिक जीवन, व्यायाम, भाषा, ज्ञान, आयुर्वेद, शल्य चिकित्सा, कृषि, पशुपालन एवं वास्तुकला आदि को सम्मिलित किया है। बौद्ध शिक्षा के पाठ्यक्रम में उन्नीस शिल्पों (सिम्पों) के सम्मिलित होने का उल्लेख है। पारमार्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में त्रिपिटकों एवं अन्य धर्म-दर्शनों के अध्ययन, अष्टांग मार्ग में प्रशिक्षण और नैतिक जीवन को सम्मिलित किया है।

बौद्ध भिक्षुओं ने संपूर्ण शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया–**प्राथमिक, उच्च** और **भिक्षु-शिक्षा।** प्राथमिक स्तर पर सर्वप्रथम **सिद्धरस्त** नामक पोथी पढ़ाई जाती थी जिसके द्वारा पाली भाषा के अक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। साथ-साथ गणित के अंकों का भी ज्ञान कराया जाता था। इसके बाद भाषा का पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था। भाषा का सामान्य ज्ञान होने पर पाँच विज्ञानों (शब्द विद्या, शिल्प विद्या, चिकित्सा विद्या, हेतु विद्या और अध्यात्म विद्या) की शिक्षा प्रारंभ की जाती थी और बौद्ध धर्म का सामान्य ज्ञान कराया जाता था। नैतिक शिक्षा शब्दों में नहीं क्रियात्मक रूप में दी जाती थी।

उच्च शिक्षा स्तर पर सर्वप्रथम व्याकरण, धर्म, ज्योतिष, आयुर्विज्ञान और दर्शन का सामान्य ज्ञान कराया जाता था और उसके बाद विशिष्ट शिक्षा शुरू होती थी। विशिष्ट शिक्षा की पाठ्यचर्या में पाली, प्राकृत और संस्कृत भाषा तथा इनके व्याकरण एवं साहित्य, खगोलशास्त्र, नक्षत्रशास्त्र, न्यायशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विभिन्न कला-कौशल, आयुर्विज्ञान, ज्योतिष, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, वैदिक दर्शन और भवन निर्माण विज्ञान को स्थान दिया गया था। छात्रों के लिए अध्ययन विषयों का निर्धारण उनकी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर किया जाता था।

भिक्षु शिक्षा वह शिक्षा थी जो बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रचार करने वालों एवं बौद्ध मठों एवं विहारों में शिक्षण कार्य करने वालों के लिए अनिवार्य थी। इसकी पाठ्यचर्या में संपूर्ण बौद्ध साहित्य (त्रिपिटक), वैदिक धर्म-दर्शन, भवन निर्माण विज्ञान और मठों और विहारों की संपत्ति का लेखा-जोखा रखने की विधि और अष्टांग मार्ग में पूर्ण प्रशिक्षण सम्मिलित था।

शिक्षण विधियाँ

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार सीखने के तीन साधन हैं–शरीर, मन और चेतना। उनका स्पष्टीकरण है कि शरीर, मन और चेतना की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चे भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए उनके लिए शिक्षण विधियाँ भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। उन्होंने भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न शिक्षण विधियों

नोट

का विकास किया है। बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण विधियों को हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं–व्यक्तिगत शिक्षण की विधियाँ और सामूहिक शिक्षण की विधियाँ। व्यक्तिगत शिक्षण की विधियों में स्वाध्याय विधि मुख्य है और सामूहिक शिक्षण की विधियों में व्याख्यान विधि मुख्य है। यहाँ बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण विधियों का सामान्य परिचय प्रस्तुत है।

1. **अनुकरण विधि**–अनुकरण विधि सीखने की स्वाभाविक विधि है। बौद्ध भिक्षुक (शिक्षक) बच्चों को भाषा के अक्षरों और गणित के अंकों का ज्ञान कराने के लिए एक-एक अक्षर अथवा अंक को उसके उच्चारण के साथ तख्ती पर लिखते थे, छात्र उनका अनुकरण कर यथा अक्षर अथवा अंक का उच्चारण करते थे और उसे लिखते थे। बौद्ध शिक्षक आचरण एवं अनुशासन की शिक्षा के लिए भी इस विधि का प्रयोग करते थे।
2. **प्रदर्शन एवं अभ्यास विधि**–यह अनुकरण विधि का ही उच्च स्तर है। इस विधि में शिक्षक सर्वप्रथम क्रिया विशेष को करके दिखाता है, शिक्षार्थी उसे देखते-समझते हैं, उसके बाद वे शिक्षक का अनुकरण करते हुए उस क्रिया को स्वतंत्र रूप से करते हैं और फिर अभ्यास द्वारा क्रिया विशेष में कुशलता प्राप्त करते हैं। बौद्ध शिक्षक विभिन्न कलाओं, कौशलों एवं क्रियात्मक विषयों के शिक्षण प्रशिक्षण हेतु इस विधि का प्रयोग करते थे।
3. **व्याख्या विधि**–यह विधि वर्तमान व्याख्यान विधि का निखरा हुआ रूप थी। बौद्ध शिक्षक किसी विषय से संबंधित तथ्यों को मौखिक रूप से प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्हें उपमा एवं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते थे। इसे ही दूसरे शब्दों में तथ्यों की व्याख्या कहा जाता है। इतना ही नहीं अपितु वे शिक्षार्थियों की समस्याओं का समाधान भी करते थे, उनके प्रश्नों के उत्तर भी देते थे और जब तक उन्हें तथ्य स्पष्ट नहीं हो जाते थे, आगे नहीं बढ़ते थे।
4. **व्याख्यान विधि**–बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित व्याख्यान विधि आज की व्याख्यान विधि से भिन्न थी, यह आज की गैस्ट लेक्चर के समान थी परंतु इससे कुछ बेहतर थी। बौद्ध उच्च शिक्षा केंद्रों पर विषय विशेष के अधिकारी विद्वान आमंत्रित किए जाते थे, उनके व्याख्यान कराए जाते थे, व्याख्यान के बाद शंका-समाधान होता था और विषय से संबंधित तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता था।
5. **वाद-विवाद एवं तर्क विधि**–बौद्ध भिक्षुओं ने विवादास्पद विषयों के शिक्षण के लिए वाद-विवाद एवं तर्क विधि का विकास किया। इस वाद-विवाद में भाग लेने वाले अपने-अपने मत प्रस्तुत करते थे, पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते थे। 8 प्रकार के प्रमाण (सिद्धांत, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) उपस्थित करते थे। साफ जाहिर है कि यह वर्तमान वाद-विवाद एवं तर्क विधि से कुछ भिन्न थी।
6. **संगोष्ठी**–यह विधि भी वर्तमान संगोष्ठी से भिन्न थी। इसमें केवल विषय विशेष का अध्ययन करने वाले कुछ छात्र उस विषय को पढ़ाने वाला शिक्षक, उपस्थित होते थे, सभी अपने-अपने विचार तर्क सहित प्रस्तुत करते थे, अंत में सही निर्णय होता था।
7. **सम्मेलन एवं शास्त्रार्थ विधि**–बौद्ध शिक्षक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कभी-कभी सम्मेलनों का आयोजन भी करते थे। इन सम्मेलनों में विषय विशेषज्ञ आमंत्रित किए जाते थे। इन सम्मेलनों में विशेषज्ञों के व्याख्यान होते थे, फिर उनमें शास्त्रार्थ होता था। उच्च शिक्षा के छात्र इनमें उपस्थित होते थे और अपनी शंकाएँ प्रस्तुत करते थे। वक्ता उनकी शंकाओं का समाधान करते थे और इस प्रकार छात्रों को विषय विशेष का स्पष्ट ज्ञान होता था।
8. **स्वाध्याय विधि**–इस विधि का विकास सर्वप्रथम बौद्ध शिक्षकों ने ही किया था। उस समय लेखन कला का विकास हो चुका था। बौद्ध भिक्षुओं ने सर्वप्रथम कार्य तो यह किया कि उस समय उपलब्ध सभी मुख्य ग्रंथों का पाली भाषा में अनुवाद किया, दूसरा कार्य यह किया कि इन ग्रंथों की कई-कई हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार कीं और तीसरा कार्य यह किया कि इन्हें सुरक्षित रखने के लिए पुस्तकालयों का निर्माण किया और इस प्रकार स्वाध्याय के लिए आधारभूत सामग्री एवं साधन तैयार किए। उस समय उच्च शिक्षा के छात्र इन पुस्तकालयों में संबंधित ग्रंथों का पठन करते थे, विषय सामग्री को समझने का प्रयत्न करते थे और पठन के बाद शिक्षकों से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करते थे।

नोट

9. **देशाटन**–बौद्ध शिक्षक इस विधि का प्रयोग मुख्य रूप से भिक्षु शिक्षा में करते थे। भिक्षु शिक्षा के भिक्षुओं को देशाटन के अवसर दिए जाते थे, और इस प्रकार उन्हें जगत के वास्तविक रूप को समझने के अवसर दिए जाते थे, समाज के वास्तविक रूप को समझने के अवसर दिए जाते थे और साथ ही धर्म प्रचार का प्रशिक्षण दिया जाता था।

अनुशासन

बौद्ध धर्म-दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों के लिए कठोर आचार व्यवस्था दी गई है और दोनों को इनके पालन का कठोर निर्देश है। शिक्षकों के लिए चार आर्य सत्यों के ज्ञान और आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन का निर्देश है, सामान्य शिक्षार्थियों के लिए उनके लिए निर्धारित 10 नियमों के पालन का निर्देश है और भिक्षु शिक्षा के भिक्षुओं के लिए इन सामान्य 10 नियमों के पालन के साथ-साथ उनके लिए निर्धारित अतिरिक्त 8 नियमों के पालन का निर्देश है। बौद्ध धर्म-दर्शन में शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों द्वारा इन नियमों के पालन को ही अनुशासन कहा गया है।

बौद्ध धर्म-दर्शन में जहाँ शिक्षकों को शिक्षार्थियों के आचरण पर दृष्टि रखने का निर्देश है, वहीं शिक्षार्थियों को अपने शिक्षकों के आचरण पर दृष्टि रखने का निर्देश है। और साथ ही यह व्यवस्था की गई है कि यदि छात्र नियमों का उल्लंघन करें तो उन्हें शिक्षक दंड दें और यदि शिक्षक नियमों का उल्लंघन करें तो संघ उन्हें दंड दे। इसके लिए सर्वप्रथम उपाय तो यह बताया गया है कि कभी-कभी शिक्षक और छात्र एक स्थान पर एकत्रित हों, आत्मनिरीक्षण करें, अपने दोष स्वीकार करें, पश्चात्ताप करें और उन दोषों को दूर करने का संकल्प लें। घोर अपराध करने का दंड व्यवस्था का विधान है, परंतु किसी भी स्थिति में शारीरिक दंड का निषेध किया गया है और अति घोर अपराध करने की स्थिति में शिक्षा संस्था से निष्कासित करने का प्रावधान किया गया है।

शिक्षक

बौद्ध शिक्षा में वही व्यक्ति शिक्षक हो सकता था जिसने चार आर्य सत्यों को जान लिया हो और जो अष्टांग मार्ग का अनुसरण करता हो। शिक्षा देने का अधिकार केवल भिक्षुओं को था और वह भी उन भिक्षुओं को जो कम से कम 10 वर्ष भिक्षुक रह चुके हों और जो शुद्ध आचरण, पवित्र विचार, विनम्रता तथा मानसिक क्षमता से परिपूर्ण हों। बौद्ध शिक्षकों को दो वर्गों में बाँटते थे–एक उपाध्याय अर्थात् उद्भट विद्वान्, जिनके निकट बैठकर भिक्षुक शिक्षा ग्रहण करते थे और दूसरे आचार्य अर्थात् आचरण की शिक्षा देने वाले, जिनका अनुसरण कर छात्र उच्च आचरण करते थे। उस समय गुरु शिष्यों को उनके आचरण के प्रति सचेत करते थे और शिष्य गुरुओं को उनके अपने आचरण के प्रति सचेत करते थे।

शिक्षार्थी

बौद्ध दर्शन के अनुसार छात्र का वर्तमान उसके पूर्व जन्म के कर्म तथा उसके जन्म से लेकर अब तक के संस्कारों का परिणाम होता है और उसका भविष्य उसके पूर्व जन्म के कर्म तथा जन्म से अब तक के कर्म के साथ-साथ वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों पर निर्भर होता है। अतः सब बच्चे मठ तथा बिहारों में शिक्षा पाने के अधिकारी हैं। परंतु माता-पिता की आज्ञा बिना उन्हें प्रवेश नहीं दिया जाता था। इसके अतिरिक्त संक्रामक रोग से पीड़ित, घोर नैतिक अपराधी, अविनम्र, दुराचारी पलायनकर्ता आदि को भी प्रवेश नहीं दिया जाता था। प्रवेश के समय पवज्जा संस्कार होता था। इसमें बालक सिर मुड़ाकर पवित्रता धारण करता था और **शरणत्रयी–**

बुद्धम् शरणं गच्छामी।
धम्मं शरणं गच्छामी।
संघं शरणं गच्छामी।

से उनका संघ में प्रवेश होता था। इस अवसर पर छात्र को दस आदेश दिए जाते थे। ये दस आदेश **'दस सिक्खा पदानि'** कहलाते हैं। प्रत्येक छात्र को इनका पालन करना होता था। ये दस आदेश थे–

1. जीव हिंसा न करना।

नोट

2. किसी की वस्तु न लेना।
3. अशुद्ध आचरण से दूर रहना।
4. असत्य भाषण न करना।
5. मादक पदार्थों का सेवन न करना।
6. कुसमय भोजन न करना।
7. किसी की निंदा न करना।
8. नृत्य गायन से दूर रहना।
9. सुगंधित व श्रृंगारिक वस्तुओं का उपयोग न करना।
10. सोना-चाँदी बहुमूल्य वस्तुओं का दान न लेना।

विद्यालय

बौद्ध शिक्षा मठों और विहारों में चलती थी। ये ही उस समय के विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय थे। ये विद्यालय बौद्ध संघों के आश्रित होते थे। संघ की सत्ता सर्वोपरि थी। संघ शिक्षक और शिक्षार्थियों दोनों का खर्चा वहन करते थे। वे शिक्षक और शिक्षार्थियों के लिए शास्त्र सम्मत आचरण के नियम बनाते थे जिनका उन्हें कठोरता से पालन करना होता था। बौद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यालयों की स्थापना के पक्ष में थे, परंतु किसी भी प्रकार के विद्यालयों में शिक्षक और शिक्षार्थियों के व्यवहार को शास्त्र सम्मत देखना चाहते थे। इस प्रकार वे विद्यालयों में कठोर व्यवस्था के हामी थे।

सामान्यत: 8 वर्ष की आयु में पब्वज्जा संस्कार के साथ बच्चों का मठ अथवा विहार में प्रवेश होता था, प्रथम चार वर्ष प्राथमिक शिक्षा चलती थी और उसके बाद उच्च शिक्षा। आगे चलकर कुछ मठों एवं विहारों ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया तो उन्होंने अपने-अपने नियम बनाए और अपने-अपने पाठ्यक्रम चलाए। इन विश्वविद्यालयों में शुल्क भी लिया जाता था।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**–बौद्ध दर्शन जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता और सभी के लिए प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था का समर्थन करता है। इस प्रकार वह जन शिक्षा का हिमायती है। परंतु उच्च शिक्षा की व्यवस्था वह केवल मेधावी एवं योग्य छात्रों के लिए ही करना चाहता है। उसके अनुसार शिक्षा का माध्यम लोक भाषा होनी चाहिए। बौद्धों ने अपने समय की लोकभाषा पाली को ही शिक्षा का माध्यम बनाया था।
2. **स्त्री शिक्षा**–बौद्ध दार्शनिक पुरुष और स्त्री में भी भेद नहीं करते, परंतु वे केवल उच्च स्तर की स्त्रियों की शिक्षा की ही बात करते हैं।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**–बौद्ध दार्शनिकों ने लौकिक जीवन को लौकिक दुखों से बचाने के लिए व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल दिया है। उस समय के मठों तथा विहारों एवं विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**–बौद्ध दर्शन सर्वप्रथम बौद्ध धर्म के रूप में विकसित हुआ था, उसकी दार्शनिक विवेचना उसके बाद शुरू हुई। यही कारण है कि यह धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर विशेष बल देता है। यूँ बौद्ध मठों एवं विहारों में बौद्ध धर्म की शिक्षा ही अनिवार्य थी, परंतु वह संसार के किसी भी धर्म की अवहेलना नहीं करता, कुछ मठों एवं विहारों में अन्य धर्म एवं दर्शनों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी।

टास्क बौद्ध दर्शन और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

10.4 बौद्ध दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Budhism to Education)

बौद्ध दर्शन न तो केवल भौतिकवादी है और न केवल आध्यात्मिक। इसने मध्यमा प्रतिपदा सिद्धांत को अपनाया है। एक दर्शन के रूप में इसके कई सिद्धांत उपनिषदीय दर्शन से बड़ा मेल खाते हैं जैसे–भाव प्रपञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के नाश में राग, द्वेष आदि बंधनों से मुक्त होना एवं कर्म सिद्धांत की व्यापकता, परंतु अनात्मवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद के सिद्धांत एकदम उपनिषद् विरोधी हैं। अनात्मवादी होने के कारण ही यह भारत की भूमि पर अधिक दिन नहीं टिक सका। परंतु एक शिक्षा दर्शन के रूप में उसने भारत के जनमानस को स्पर्श किया है और शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य भारत के अन्य दर्शन नहीं कर पाए वे कार्य इसने किए हैं।

शिक्षा का संप्रत्यय

शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप की चर्चा करने में बौद्ध दार्शनिकों ने शक्ति नहीं लगाई, परंतु उसके मूल कार्य को स्पष्ट अवश्य किया है। उनके अनुसार शिक्षा का मूल कार्य मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराना है। बौद्धों की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है–दुखों से छुटकारा। भला इस संसार में दुखों से छुटकारा कौन नहीं चाहेगा।

शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं–एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक दृष्टि से बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा के शारीरिक विकास और व्यावसायिक विकास पर विशेष बल दिया है और पारमार्थिक दृष्टि से नैतिक विकास पर विशेष बल दिया है। नैतिक विकास को तो वे लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व देते हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा समझा जाए तो स्पष्ट होगा कि बौद्धों द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक हैं और आज की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। आज शिक्षा द्वारा नैतिक विकास की बात पुनः सोची जा रही है। हमारे देश में तो आज शिक्षा जगत् में दो ही विचार सर्वाधिक महत्त्व के हैं–रोजगारपरक शिक्षा और नैतिक शिक्षा। परंतु सभी उद्देश्यों के स्वरूप निर्धारण में केवल बौद्ध दर्शन को आधार बनाना वर्तमान में सर्वमान्य नहीं हो सकता। फिर वर्तमान में तो शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है। तब राज्य शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय मूल्यों की शिक्षा देना ही चाहेगा। फिर आज अंतर्राष्ट्रीयता का युग है, तब शिक्षा द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास भी करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया–प्राथमिक, उच्च और भिक्षु शिक्षा और तीनों स्तरों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या का निर्माण किया। दूसरी बात यह है कि उन्होंने सभी स्तरों की पाठ्यचर्याओं से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों एवं क्रियाओं को स्थान दिया है।

उनकी ये दोनों बातें सिद्धांत रूप में अच्छी हैं, परंतु बौद्ध दर्शन और धर्म की शिक्षा पर सर्वाधिक बल देकर उन्होंने अपनी धर्म संकीर्णता का परिचय ही दिया है। आज के युग में शिक्षा के क्षेत्र में किसी दर्शन अथवा धर्म पर सर्वाधिक बल देने की बात किसी को स्वीकार नहीं हो सकती।

शिक्षण विधियाँ

बौद्ध दर्शनिकों ने उचित शिक्षा के लिए अनेक प्रभावी शिक्षण विधियों का विकास किया है। बौद्धों ने व्यक्तिगत शिक्षण के लिए स्वाध्याय, मनन और चिंतन तथा सामूहिक शिक्षण के लिए व्याख्यान, व्याख्या और चर्चा विधि का विकास किया है।

बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण की ये विधियाँ आज भी अच्छी विधियाँ मानी जाती हैं। वास्तविक ज्ञान के लिए आज कुछ विद्वान शास्त्रार्थ को आवश्यक भले ही न मानते हों परंतु पर्यटन और सम्मेलन तो आज भी सभी को मान्य हैं।

नोट

अनुशासन

बौद्ध दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों के लिए कठोर आचार व्यवस्था दी गई है और दोनों को इनके पालन का कठोर निर्देश है। बौद्ध धर्म में शिक्षक और शिक्षार्थियों द्वारा निश्चित नियमों के पालन को ही अनुशासन कहा गया है।

अनुशासन के संबंध में बौद्धों का यह विचार कि आचरण संबंधी निश्चित नियमों का कठोरता से पालन करना ही अनुशासन है, अपने में पूर्ण नहीं है। नियमों के पालन के पीछे नियमों में विश्वास होना भी आवश्यक है और उन नियमों के पालन करने की इच्छा होना भी आवश्यक है। परंतु बौद्धों ने सभी को नियमों के पालन करने का जो उपदेश दिया है वह आज लोकतंत्रीय जीवन के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लोकतंत्र की सफलता तो इसी बात पर निर्भर करती है कि सब अपने-अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी और निष्ठा के साथ करें।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

बौद्ध शिक्षा में वही व्यक्ति शिक्षक हो सकता था जिसने चार आर्य सत्यों को जान लिया हो और जो अष्टांग मार्ग का अनुसरण करता हो और संघ के नियमों का कठोरता से पालन करता हो। इसमें सामान्य विद्यार्थियों के लिए 10 नियम और भिक्षु शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए इन 10 नियमों के अतिरिक्त 8 अन्य नियमों का पालन आवश्यक था।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को संयमी जीवन की सलाह देकर बौद्धों ने शिक्षा जगत को जो शुद्धता प्रदान की थी उसकी आवश्यकता आज भी समझी जा रही है। काश, आज के शिक्षक एवं शिक्षार्थी संयमी जीवन जीना प्रारंभ कर दें तो शिक्षा जगत की सारी समस्याएँ स्वयं हल हो जाएँ।

विद्यालय

बौद्धों का सबसे बड़ा कार्य था शिक्षा को ब्राह्मणों के एकाधिपत्य से निकालकर मठों एवं विहारों को सौंपना। गुरुकुलों में गुरु विशेष का नियंत्रण होता था, मठों एवं विहारों में संघ का नियंत्रण होता था।

इस प्रकार भारत में शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रशासन के स्थान पर संस्था प्रशासन का श्रीगणेश करने का श्रेय बौद्धों को ही जाता है। यहीं से भारत में विद्यालयी शिक्षा का श्रीगणेश माना जाता है। विद्यालय भी दो प्रकार के–एक प्रारंभिक शिक्षा हेतु और दूसरे उच्च शिक्षा हेतु। दोनों ही प्रकार के विद्यालयों में नियमों का कठोरता से पालन होता था, आज हम उसकी पुनः आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। संसार में विश्वविद्यालय जैसी संस्था की स्थापना भी बौद्धों की देन है। उनके द्वारा स्थापित तक्षशिला विश्वविद्यालय संसार का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. बौद्ध चिंतक धर्म को संस्कृति का अंग मानते हैं।
8. बौद्ध धर्म में आत्मसंयम, करुणा और दया पर सबसे अधिक बल दिया गया है।
9. बौद्ध भिक्षुओं ने संपूर्ण शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया–प्राथमिक, उच्च और भिक्षु-शिक्षा।
10. बौद्ध दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों के लिए सरल आचार व्यवस्था दी गई है।

10.5 सारांश (Summary)

बौद्ध दार्शनिक जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते इसलिए उन्होंने सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा का विधान किया है। स्पष्ट है कि वे जन शिक्षा के हामी हैं। परंतु मानसिक व बौद्धिक दृष्टि से वे मनुष्य-मनुष्य के भेद करते हैं और उच्च शिक्षा की व्यवस्था केवल मेधावी एवं योग्य छात्रों के लिए ही करते हैं।

नोट

काश आज हम भी उच्च शिक्षा के द्वार केवल मेधावी एवं योग्य छात्रों के लिए ही खुले रखें तो निश्चित रूप से धन का दुरुपयोग रुकेगा, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों का पर्यावरण शैक्षिक बनेगा, तोड़-फोड़ और अनुशासनहीनता के स्थान पर व्यवस्था कायम होगी, शिक्षा का स्तर उठेगा और समाज को योग्यतम, चरित्रवान एवं निष्ठावान विशेषज्ञ प्राप्त होंगे। इस सबके साथ-साथ शिक्षित बेरोजगारी भी दूर होगी। हमें तो यह विश्वास है कि जिस लोकतांत्रिक शिक्षा की व्यवस्था हम आज करना चाहते हैं उनकी स्थापना बौद्धों ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व कर दी थी।

शिक्षा द्वारा मनुष्य को किसी कला-कौशल, उद्योग अथवा व्यवसाय में प्रशिक्षित करने की शुरुआत तो हमारे देश में वैदिक काल में हो गई थी, परंतु उसे व्यवस्थित रूप दिया बौद्ध दार्शनिकों ने। हाँ, धार्मिक शिक्षा के संबंध में इनके विचार आधुनिक दृष्टि से संकीर्ण ही कहे जाएँगे।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत में शैक्षिक प्रशासन, शैक्षिक संगठन, विद्यालयी एवं विश्वविद्यालयी शिक्षा और समूह शिक्षण की शुरुआत कर बौद्धों ने वर्तमान शिक्षा की नींव रख दी। इसी के साथ उन्होंने जन-शिक्षा, स्त्री-शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा की भी नींव रख दी थी। यह बात दूसरी है कि वे उस समय जन शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं कर पाए। हमें उन नींव के पत्थरों को सदैव स्मरण रखना चाहिए।

10.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **बौद्ध दर्शन** (Budhism) : बुद्धवाद
2. **मूल सिद्धांत** (Fundamental) : मौलिक सिद्धांत

10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. बौद्ध दर्शन से आपका क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. 'बौद्ध दर्शन और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. बौद्ध दर्शन को शिक्षा की देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self-Assessment)

1. भारत	2. सुत्त पिटक	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. सही	10. गलत		

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।

❑❑❑

नोट

इकाई–11 : जैन दर्शन और शिक्षा (Jainism and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
11.1 जैन दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Jainism)
11.2 जैन दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Jainism)
11.3 जैन दर्शन और शिक्षा (Jainism and Education)
11.4 जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Jainism to Education)
11.5 सारांश (Summary)
11.6 शब्दकोश (Keywords)
11.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
11.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जैन दर्शन को जानने हेतु।
- जैन दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- जैन दर्शन की शिक्षाएँ जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

महावीर स्वामी ने 23 वें तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** के चार महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह) में एक महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़कर मनुष्यों को **पाँच महाव्रतों**–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के पालन करने का उपदेश दिया। उन्होंने यह उपदेश उस समय की जनभाषा मागधी में बड़े सीधे-सच्चे और सरल तरीके से दिया था। कालांतर में उनके इन धार्मिक उपदेशों का दार्शनिक विवेचन प्रारंभ हुआ जो जैन दर्शन के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म को दर्शन का रूप देने में मुख्य भूमिका उमास्वाति एवं कुंद कुंदाचार्य (प्रथम शताब्दी), समस्त भद्र (तृतीय शताब्दी), सिद्धसेन एवं दिवाकर (पंचम शताब्दी), हरिभद्र एवं भट्ट अकलंक (आठवीं शताब्दी), विद्यानंद (नवीं शताब्दी), वादिराज सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), देवसूरि एवं हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी), गुण रत्न (पंद्रहवीं शताब्दी) और यशोविजय (सत्रहवीं शताब्दी) की रही।

महावीर स्वामी (599-527 ई. पूर्व)

11.1 जैन दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Jainism)

भारतीय दार्शनिक चिंतन के मुख्य स्रोत वेद हैं। कुछ दर्शन वेद बाह्य भी हैं। उनमें आजीवक, चार्वाक, जैन एवं

नोट

बौद्ध दर्शन मुख्य हैं। प्रारंभ में जैन मत धर्म के रूप में विकसित हुआ था, परंतु आगे चलकर विद्वानों ने उसके दर्शन को विकसित किया। जैन धर्म के प्रवर्तक एवं आद्य तीर्थंकर मनुवंश महिपति नाभि के पुत्र श्री **ऋषभ देव** (जन्म 850, ई.पू.) थे। जैन जनश्रुति के अनुसार ऋषभदेव के पुत्र राजा भरत के नाम पर ही हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। कुछ विद्वान जैन धर्म के तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** (जन्म 817 ई. पू.) को इस धर्म का मूल प्रवर्तक मानते हैं। पार्श्वनाथ काशीनरेश अवश्सेन के पुत्र थे। उन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृह त्याग कर घोर तपस्या की थी और उसके परिणामस्वरूप कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने ही सर्वप्रथम जैन धर्म का प्रचार कार्य किया था। इस धर्म के 24वें और अंतिम तीर्थंकर वैशाली गणराज्य के कुंडलपुर के प्रधान राज्याध्यक्ष सिद्धार्थ के पुत्र **वर्धमान** (महावीर स्वामी, 599-527 ई. पू.) थे। वर्धमान को बचपन में सारे सुख-वैभव के साधन प्राप्त थे, परंतु उनकी उनमें कोई रुचि नहीं थी, वे परोपकार में रुचि लेते थे। उन्होंने राज्य के स्थान पर जन सेवा को स्वीकार किया। वर्धमान (महावीर स्वामी) ने सांसारिक रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिए उन्हें जिन अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले की उपाधि से अलंकृत किया गया और उसके बाद उनके मत को मानने वालों को जैन कहा जाने लगा।

महावीर स्वामी ने 23 वें तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** के चार महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह) में एक महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़कर मनुष्यों को **पाँच महाव्रतों**–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के पालन करने का उपदेश दिया। उन्होंने यह उपदेश उस समय की जनभाषा मागधी में बड़े सीधे-सच्चे और सरल तरीके से दिया था। कालांतर में उनके इन धार्मिक उपदेशों का दार्शनिक विवेचन प्रारंभ हुआ जो जैन दर्शन के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म को दर्शन का रूप देने में मुख्य भूमिका उमास्वाति एवं कुंद कुंदाचार्य (प्रथम शताब्दी), समस्त भद्र (तृतीय शताब्दी), सिद्धसेन एवं दिवाकर (पंचम शताब्दी), हरिभद्र एवं भट्ट अकलंक (आठवीं शताब्दी), विद्यानंद (नवीं शताब्दी), वादिराज सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), देवसूरि एवं हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी), गुण रत्न (पंद्रहवीं शताब्दी) और यशोविजय (सत्रहवीं शताब्दी) की रही।

धर्म के रूप में जैन दर्शन के दो रूप हैं–**दिगंबर** और **श्वेतांबर।** दिगंबर महावीर स्वामी की मूल शिक्षाओं को मानते हैं। उनका विश्वास है कि केवली (मोक्ष के इच्छुक) को वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए। कैवल्य (मोक्ष) के लिए घोर तपस्या आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि से स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, वे पुरुष जीवन प्राप्त करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास कर सकती हैं। श्वेतांबर महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित कठोर नियमों में थोड़ी ढील देते हैं। इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री **संघभद्र** (ई. पू. द्वितीय शतक) हैं। इनके अनुसार केवली के लिए नग्न रहना आवश्यक नहीं है, उन्हें श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए। इसी आधार पर इस संप्रदाय का नाम श्वेतांबर पड़ा है। इनके अनुसार स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। परंतु तत्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से दोनों संप्रदायों में कोई भेद नहीं है। आज तो दोनों संप्रदाय के जैन अपने तीर्थंकरों को भगवान के रूप में पूजते हैं, उनका आरती वंदन और अभिषेक करते हैं और इस प्रकार भारत की मुख्य जीवन धारा 'भक्ति' से जुड़ गए हैं। आज यह धर्म एवं दर्शन भारतीय संस्कृति में पूर्णरूप से समाहित है। अत: इस दर्शन एवं उसके शैक्षिक चिंतन का ज्ञान भारतीय शिक्षकों को अवश्य होना चाहिए।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्वमीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethrics) को समझना आवश्यक होता है, अत: प्रस्तुत है–

जैन दर्शन में द्रव्य के रूपों की मीमांसा

जैन दर्शन बहुतत्ववादी दर्शन है इसके अनुसार यह ब्रह्माण्ड अनेक द्रव्यों (Substances) से बना है। द्रव्य के जैन दर्शन में दो रूप माने गए हैं–अस्तिकाय (पदार्थ, Matter) और अनिस्तिकाय (काल, समय, Time)। अस्तिकाय के दो भेद होते हैं–जीव तथा अजीव। चेतन द्रव्य की संज्ञा जीव है, यह आत्मा का वाचक है। आत्मा अपने में अमूर्त होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा दो प्रकार की होती है–मुक्त आत्मा और बद्ध आत्मा। मुक्त आत्मा सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान होती है। यह आत्मा जब कर्म बंधन में बँधकर अपने स्वरूप को

नोट

भूल जाती है तो उसे बद्ध आत्मा कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार बद्ध आत्मा सुख-दुख की भोक्ता होती है। जब तक यह कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं होती तब तक कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेती है और सुख-दुख भोगती है। अजीव के जैन दर्शन में चार भेद बताए हैं–पुद्गल (पदार्थ, Matter), आकाश (शून्य, Space), धर्म (गति, Dynamics), तथा अधर्म (स्थिति, Statics)। जैन दर्शन में पुद्गल से अर्थ उन द्रव्यों से होता है जो प्रत्यक्ष रूप से शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं और जो प्रत्यक्ष का विनाश होने पर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से पुद्गल के भी दो रूप होते हैं–अणु (Molecule) और संघात (Mixture)। पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश को अणु कहते हैं और दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से बनने वाले पुद्गल को स्त्रोत कहते हैं। आकाश से तात्पर्य जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाले पदार्थ होता है। आकाश भी दो प्रकार का होता है–लोकाकाश और अलोकाकाश। जिस आकाश में जीवादि द्रव्यों की स्थिति होती है उसे लोकाकाश कहते हैं और जो आकाश इस दृश्य जगत से परे हैं, उसे अलोकाकाश कहते हैं। धर्म-अधर्म को जैन दर्शन में कुछ अपने रूप में लिया गया है। धर्म से जैन दार्शनिकों का तात्पर्य गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य विशेष से होता है और अधर्म की कल्पना धर्म के ठीक विपरीत की गई है। जैन दर्शन के अनुसार, जगत के समस्त पदार्थ परिणामशील हैं और इस परिणाम का साधारण कारण है–काल (समय, Time)। काल के अभाव में पदार्थों की स्थिति संभव नहीं। द्रव्य के इन समस्त रूपों को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा एक दृष्टि में देखा-समझा जा सकता है–

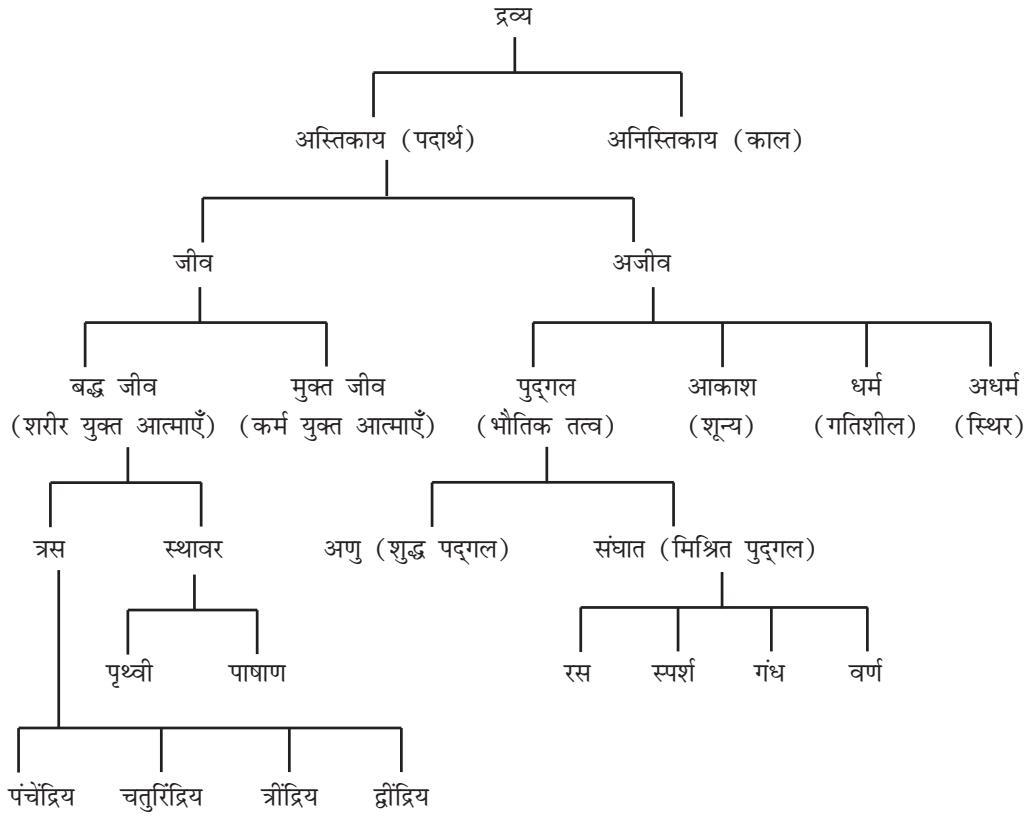

जैन दर्शन के अनुसार दोनों प्रकार के द्रव्य अनादि हैं और वास्तविक हैं। तब जैन दर्शन के अनुसार यह सृष्टि भी अनादि है, अनंत है और वास्तविक है। इसके अनुसार, यह सृष्टि जीव-अजीव के अपने स्वभाव के योग से बनती है और वियोग से बिगड़ती है, इसका कोई अन्य कर्ता (ईश्वर) नहीं है। जैन दर्शन ईश्वर को संसार के कर्ता के रूप में न मानकर उसे सिद्ध पुरुष की स्थिति (शुद्ध-बुद्ध आत्मा) मानता है। इसके अनुसार कोई भी पुरुष सिद्ध स्थिति में पहुँचकर इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि जैन अपने तीर्थंकरों (शुद्ध-बुद्ध आत्माओं) को भगवान के रूप में पूजते हैं।

नोट

जैन दर्शन **कर्म सिद्धांत** में विश्वास करता है, परंतु इसका कर्म सिद्धांत अन्य धर्म-दर्शनों से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार प्रत्येक जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण करता है और भिन्न योनियाँ प्राप्त करता है। इसका अर्थ है–उसके कर्मों के फल का दाता ईश्वर नहीं, वह स्वयं है। जीव (आत्मा) को जैन दर्शन शुद्ध-बुद्ध मानता है। इसके अनुसार जीव (आत्मा) कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण कर सांसारिक बंधन में फँसता है, परंतु इसकी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करने की ही रहती है। बद्ध आत्मा के शुद्ध आत्मा में पहुँचने को ही जैन दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) कहा गया है। जैन दर्शन के दिगंबर उपसंप्रदाय के अनुसार जीव पुरुष योनि पाकर ही कैवल्य प्राप्त कर सकता है, स्त्री योनि पाकर नहीं, परंतु श्वेतांबर उपसंप्रदाय के अनुसार पुरुष और स्त्रियाँ, दोनों ही रत्नत्रय का पालन कर कैवल्य प्राप्त कर सकते हैं।

जैन दर्शन में इस पदार्थ जन्य संसार से परे सूक्ष्म संसार की कल्पना की गई है और उसे कैवल्य धाम कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार जो आत्माएँ कर्मजनित बंधन से मुक्त हो शुद्ध-बुद्ध हो जाती हैं वे इस कैवल्य धाम में रहती हैं। यहाँ वे अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत शांति को प्राप्त होती हैं। यह कैवल्य धाम वैदिक धर्म के स्वर्ग, ईसाई धर्म के हेविन और इस्लाम धर्म के जिन्नत से थोड़ा भिन्न है क्योंकि जैन दर्शन में इन शुद्ध-बुद्ध आत्माओं को ही ईश्वर की संज्ञा दी गई है। जैन दर्शन ने स्वर्ग के साथ नर्क की भी कल्पना की है। उसके अनुसार सूक्ष्म संसार में सात नर्क हैं, इनमें जो जीव (आत्माएँ) निवास करते हैं उन्हें नारकीय कहते हैं।

जैन दर्शन का ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य के दोनों स्वरूपों–अस्तिकाय (जीव और अजीव) तथा अनिस्तिकाय (काल) के वास्तविक रूपों तथा उनके संबंधों को जानना ही ज्ञान है। जैनाचार्य जीव द्रव्य के ज्ञान को विशेष ज्ञान मानते हैं और अजीव द्रव्यों के ज्ञान को साधारण ज्ञान मानते हैं। इनकी दृष्टि से अजीव द्रव्यों का ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द (जैनागमों के अध्ययन) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परंतु जीव द्रव्यों का ज्ञान तपस्या (साधना) द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान के जैन दर्शन में निम्नलिखित पाँच भेद माने गए हैं–

1. **मतिज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो इंद्रियों द्वारा प्राप्त होता है और जिसे अन्य दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। इसे जैन दर्शन में साधारण ज्ञान कहा गया है।
2. **श्रुति ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो लक्षणों, प्रतीकों अथवा शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है। वर्तमान में यह स्वाध्याय (अध्ययन) द्वारा भी प्राप्त किया जाता है।
3. **अवधि ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो देश और काल की परिधि से परे का होता है, इंद्रियातीत होता है और जिसे असाधारण अंतर्दृष्टि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए कर्म को हल्का (पुद्गल शून्य) करना होता है।
4. **मनः पर्याय ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों के मन के भावों को जाना जाता है, उसके वर्तमान एवं अतीत के विचारों एवं भावों को जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) से मुक्त होना आवश्यक होता है।
5. **कैवल्य ज्ञान**–यह वह पूर्ण ज्ञान है जिसे प्राप्त करने के बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, ज्ञाता और ज्ञेय का अंतर ही समाप्त हो जाता है। यह ज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है जो अपने को कर्म बंधन से मुक्त कर लेते हैं।

ज्ञान के संदर्भ में जैन दर्शन का **स्यातवाद** बड़े महत्त्व का है। जैन दर्शन में पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है, 'प्रमाण' कहलाता है, परंतु पदार्थ को किसी विशेष संदर्भ अथवा दृष्टि से देखने को 'नय' कहते हैं। नय एक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर हम किसी पदार्थ के बारे में कोई कथन करते हैं जैसे–पृथ्वी एक लोक है, पृथ्वी स्थिर है, पृथ्वी अस्थिर है, पृथ्वी प्राणदायिनी है आदि। यहाँ ब्रह्माण्ड की दृष्टि (नय) से पृथ्वी एक लोक है, प्रत्यक्ष ज्ञान की दृष्टि (नय) से पृथ्वी स्थिर है, भौगोलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि (नय) से पृथ्वी अस्थिर है और मानव जीवन की दृष्टि (नय) से पृथ्वी जीवन दायिनी है। साफ जाहिर है कि पृथ्वी के विषय में उपरोक्त कोई भी ज्ञान (कथन) अपने में पूर्ण नहीं है। ज्ञान के इस सापेक्ष रूप को जैन दर्शन में **स्याद्वाद** कहा जाता है। जैन दर्शन का स्याद्वाद इस बात पर बल देता है कि हम किसी भी वस्तु अथवा क्रिया के संबंध

नोट

में जो भी कथन करते हैं, वह किसी एक ही दृष्टि (नय) से सही हो सकता है, दूसरी दृष्टि से असत्य भी हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ के संबंध में हमारा जो भी ज्ञान है वह अर्द्धसत्य ही हो सकता है, पूर्ण सत्य नहीं। जैन दर्शन के अनुसार अपने कथन से पूर्व स्यात् शब्द लगाने से यह दोष दूर हो जाता है।

जैनाचार्यों के अनुसार यूँ तो किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का पालन तथा चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) का त्याग आवश्यक होता है परंतु अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए तो इनका कठोरता से पालन करना आवश्यक होता है।

जैन दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है। कैवल्य (मोक्ष) से इनका तात्पर्य अपनी आत्मा को कर्म एवं एतदर्थ पुद्गल से मुक्त कर उसे शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त रूप प्रदान करना है। इसके लिए जैन दर्शन **रत्नत्रय-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान** और **सम्यक् चरित्र** पर बल देता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है–तीर्थंकरों द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र सिद्धांतों में पूर्ण श्रद्धा। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है–तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र सिद्धांतों का यथार्थ अनुभव। और सम्यक् चरित्र का अर्थ है–सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण करना। सम्यक् चरित्र की सिद्धि के लिए जैन दर्शन **पाँच महाव्रतों** (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) के पालन और **चार कषायों** (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग पर बल देता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को यह मानव जीवन के आधारभूत मूल्य मानता है और इनमें भी सबसे अधिक महत्त्व अहिंसा को देता है। सत्य का अर्थ है–विचार, वाणी तथा व्यवहार में सत्य का पालन करना। अहिंसा का अर्थ है–विचार, वाणी तथा व्यवहार में किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना। जैन दर्शन में किसी भी प्रकार के शोषण (शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक आदि) को हिंसा माना गया है। अस्तेय का अर्थ है–वस्तु अथवा विचार किसी की भी चोरी न करना। अपरिग्रह का अर्थ है–आवश्यकता से अधिक सामग्री का संग्रह न करना। और ब्रह्मचर्य का अर्थ है–इंद्रियभोग पर नियंत्रण, वीर्य रक्षा एवं नैतिक जीवन। जैन दर्शन क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को मनुष्य स्वभाव की निकृष्ट वृत्तियाँ मानता है, इसीलिए उन्हें कषाय की संज्ञा देकर उनके त्याग का उपदेश देता है। जैन धर्म एवं दर्शन की सबसे बड़ी देन मनुष्य को सत्जीवन की ओर प्रवृत्त करना ही है। जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा की चरम मानसिक स्थिति स्यात्वाद है। स्याद्वाद का जैन दर्शन में अर्थ कुछ विचित्र है। स्यात् का अर्थ है–इतना ही नहीं, इससे अधिक। इसका अर्थ है जो कुछ व्यक्ति देख-समझ और व्यक्त कर रहा है, वह अपने में पूर्ण नहीं है, वह उससे कुछ अधिक है।

जैन दर्शन की परिभाषा

जैन दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया जा सकता है–

जैन दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को अनेक द्रव्यों से निर्मित मानती है और यह मानती है कि इंद्रियग्राह्य वस्तु जगत और अंतःकरण द्वारा अनुभूत आत्मा, दोनों सत्य हैं। यह प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व मानती है और ईश्वर में विश्वास नहीं करती और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य अपनी बद्ध आत्मा को उसका शुद्ध-बुद्ध रूप प्रदान करना है, जिसे रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. भारतीय दार्शनिक चिंतन के मुख्य स्त्रोत ..... हैं।
2. जैन दर्शन ..... में विश्वास करता है।

नोट

11.2 जैन दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Jainism)

जैन दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड अनेक द्रव्यों से बना है**–जैन दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनेक द्रव्यों से बनी है। ये द्रव्य दो प्रकार के हैं–अस्तिकाय (जीव और अजीव) और अनिस्तिकाय (काल)। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक जीव (आत्मा) और अजीव (पुद्गल) का अपना-अपना स्वभाव एवं गुणधर्म होता है। भिन्न-भिन्न अजीव द्रव्यों के संयोग का नाम बनना और वियोग का नाम बिगड़ना है। विभिन्न प्रकार के जीवधारियों के बारे में जैन दर्शन का मत है कि प्रत्येक जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण करता है और इस प्रकार संसार में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। मनुष्य शरीर धारण करने पर यह तप द्वारा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है। इसी को जैन दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) कहते हैं।
2. **यह वस्तु जगत वास्तविक है**–जैन दर्शन समस्त द्रव्यों को अनादि और अनंत मानता है। इसकी दृष्टि से द्रव्यों से बना यह जगत वास्तविक है। जीव (आत्मा) को भी यह द्रव्य मानता है और एतदर्थ वास्तविक मानता है।
3. **जीवों की स्वतंत्र सत्ता है और ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है**–जैन दर्शन प्रत्येक जीव (आत्मा) की स्वतंत्र सत्ता मानता है। इसके अनुसार सभी आत्माएँ मान हैं, परंतु एक नहीं हैं। सभी आत्माएँ अपने में शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हैं, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान हैं, परंतु अजीव द्रव्यों से आवृत्त होने के कारण अपने इस स्वरूप को भूल जाती हैं। इसका मत है कि जीव-अजीव अपने-अपने स्वभाव (गुण-धर्मों) के आधार पर संयोग करते हैं जिससे भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एवं यह वस्तु जगत बनता है, इसके पीछे कोई ईश्वरीय शक्ति नहीं है। कुछ जैनाचार्यों ने आत्मा के शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त रूप को ईश्वर की संज्ञा दी है। इनकी दृष्टि से ईश्वर संसार का कर्ता नहीं, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है। संभवत: इसी आधार पर तीर्थंकरों को भगवान के रूप में जाना जाता है।
4. **मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है**–जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव (पुद्गल) संग्रहीत करता है और अपने आपको उससे आवृत्त करता है।। परिणामस्वरूप इस जगत में भिन्न-भिन्न प्राणियों का आविर्भाव होता है। इनमें से एक प्राणी मनुष्य है। जैन दर्शन के अनुसार जगत के अन्य प्राणी एक से पाँच इंद्रियों तक के होते हैं, परंतु मनुष्य छह इंद्रियों वाला प्राणी है। उसकी इस छठी इंद्रिय का नाम मन है। मन के द्वारा वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को प्राप्त कर अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त करने में सफल होता है, इसी कारण वह संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।
5. **मनुष्य जीवन का विकास उसके जीव-अजीव द्रव्यों पर निर्भर करता है**–जैन दर्शन के अनुसार जीव विशेष अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को संग्रहीत करता है, इसलिए संसार में अनेक प्रकार के प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है, मनुष्य उनमें से एक है और मनुष्यों में भी जीव तो समान होता है परंतु पुद्गलजन्य भिन्नता होती है। मनुष्य का विकास उसके जीव (आत्मा) और इस पुद्गलजन्य भिन्नता, दोनों पर निर्भर करता है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है**–जैन दर्शन के अनुसार जब जीव मनुष्य के स्वरूप को धारण करता है तब वह अपने शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप को प्राप्त करने में सफल हो सकता है। तब मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य यही होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार इस जगत के अतिरिक्त एक कैवल्य लोक है जिसमें सिद्धों की मुक्त आत्माएँ शुद्ध-बुद्ध रूप में रहती हैं। मुक्त आत्मा में इसके अनुसार चार गुण होते हैं–अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य। इसे **अनंत चतुष्ट्य** कहा जाता है।

नोट

7. **कैवल्य की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र आवश्यक है**–जैन दर्शन के अनुसार जब तक जीव कर्मों से शून्य नहीं हो जाता तब तक वह अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों से संयोग करता रहता है और भिन्न-भिन्न योनियाँ प्राप्त करता रहता है। मनुष्य योनि में वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र द्वारा अपने को कर्म शून्य कर अजीव द्रव्य धारण करने से मुक्त हो सकता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है तीर्थंकरों एवं उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान का अर्थ है तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित द्रव्य संबंधी ज्ञान का यथार्थ अनुभव और सम्यक् चरित्र का अर्थ है सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण करना। यह बहुत कठिन मार्ग है। मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को इस कठिन मार्ग पर चलना ही होगा।
8. **सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के लिए नैतिक जीवन आवश्यक है**–जैन दार्शनिकों के अनुसार जब तक मनुष्य उच्च नैतिक जीवन को प्राप्त नहीं करता तब तक वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को प्राप्त नहीं कर सकता। उच्च नैतिक जीवन के लिए जैन दार्शनिक पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) के पालन और चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) के त्याग पर बल देता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. कुछ विद्वान जैन धर्म के तीर्थंकर पार्श्वनाथ को इस धर्म का मानते हैं–
   (अ) मूल प्रवर्तक (ब) भारतीय दार्शनिक (स) संत (द) इनमें से कोई नहीं
4. जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर थे–
   (अ) महावीर स्वामी (ब) पार्श्वनाथ (स) संघभद्र (द) इनमें से कोई नहीं
5. जैन दर्शन के अनुसार यह ब्रह्मांड बना है–
   (अ) अनेक धर्मों से (ब) अनेक द्रव्यों से (स) अनेक जातियों से (द) इनमें से कोई नहीं
6. जैन दर्शन विश्वास करता है–
   (अ) भाग्य में (ब) कर्म सिद्धांत में (स) धर्म में (द) इनमें से कोई नहीं

11.3 जैन दर्शन और शिक्षा (Jainism and Education)

जैन दर्शन में द्रव्य की विस्तृत व्याख्या की गई है। द्रव्यों के प्रकार एवं गुणों का जितना विशद वर्णन जैन दर्शन में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। आत्मा और काल द्रव्य के जिस स्वरूप एवं गुणधर्म की चर्चा जैन दर्शन में की गई है उस पर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हो चुका है। जैन दर्शन का मुख्य तत्व उसकी मूल्य एवं ज्ञान मीमांसा है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य के बारे में लोग एक मत हों या न हों, परंतु उसके द्वारा निश्चित आचार संहिता से आज सारा संसार सहमत है। इस आचरण की शिक्षा हेतु जैन दर्शन ने शिक्षा को आवश्यक माना है। अब प्रश्न उठता है कि इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो। इस संदर्भ में जैन दर्शन के दृष्टिकोण का सार संक्षेप में प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

जैन दर्शन जीव (आत्मा) और अजीव (पुद्गल), दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानता है और यह मानता है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार अजीव को धारण कर भिन्न-भिन्न योनियों को धारण करता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा मनुष्य योनि को धारण करने के बाद अपने शुद्ध-बुद्ध और मुक्त रूप को प्राप्त हो सकती है, बशर्ते मनुष्य रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) से आत्मा को कर्मशून्य कर सके। तब मनुष्य जीवन

नोट

का यही उद्देश्य होना चाहिए और शिक्षा के उसके इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता करनी चाहिए। जैन आगमों के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को रत्ननत्र की प्राप्ति कराती है जिसकी सहायता से मनुष्य की आत्मा अपने शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त रूप को प्राप्त करती है।

शिक्षा के उद्देश्य

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष, जीव की अजीव से मुक्ति) है। इसके लिए जैन दर्शन ने रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) को साधन मार्ग बताया है। तब शिक्षा के मुख्य उद्देश्य यही होने चाहिए। इसके लिए यह नैतिक जीवन की प्राप्ति पर बल देता है, अत: शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए। भौतिक जीवन के लिए यह विभिन्न कलाओं के ज्ञान और परमार्थ को आवश्यक समझता है। अत: शिक्षा को यह कार्य भी करना होगा। शिक्षा के इन उद्देश्यों का सार प्रस्तुत है–

1. **सम्यक् दर्शन का उद्देश्य**–जैनाचार्यों का विश्वास है कि अच्छा भौतिक जीवन जीने एवं आत्मा को कर्मशून्य कर उसे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त करने, दोनों के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्यों में जैन तीर्थंकरों, जैन आगम ग्रंथों और जैन आगमों का ज्ञान कराने वाले मुनियों में श्रद्धा हो। अत: शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य मनुष्यों में जैन तीर्थंकरों, जैन आगम ग्रंथों और जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा का विकाश करना होना चाहिए।
2. **सम्यक् ज्ञान का उद्देश्य**–सम्यक् ज्ञान से जैनाचार्यों का तात्पर्य द्रव्य (जीव, अजीव और काल) संबंधी उस ज्ञान से है जो तीर्थंकरों ने दिया है और जो जैन आगमों में संग्रहीत है। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान प्रकाश के समान है जो अज्ञान के अँधेरे को दूर करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए।
3. **सम्यक् चरित्र का उद्देश्य**–जैन दर्शन इस बात पर बल देता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का समाहार सम्यक् चरित्र में होना चाहिए अर्थात् मनुष्य को उसे अपने विचार, वाणी और व्यवहार में उतारना चाहिए। इसके लिए जैनाचार्यों की दृष्टि से पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का पालन और चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) का त्याग आवश्यक है। अत: शिक्षा द्वारा इन सबका विकास होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार यह शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व का उद्देश्य है।
4. **विभिन्न कलाओं में प्रशिक्षण का उद्देश्य**–जैन साहित्य में छोटे-बड़े सभी उद्योगों को कला की संज्ञा दी गई है। इन कलाओं में कृषि कार्य, सूत कातना, कपड़ा बुनना, मकान बनाना, चटाई बुनना, धातु के बर्तन बनाना, लकड़ी का सामान बनाना, आदि अनेक उद्योगों का उल्लेख है। सांसारिक व्यक्यिों को अपना जीवन चलाने के लिए इनमें से कुछ न कुछ कार्य अवश्य करना होगा। अत: शिक्षा के द्वारा मनुष्य को अपनी योग्यतानुसार किसी कला (उद्योग) में निपुण करना चाहिए, परंतु जैन आगमों में केवली (मोक्ष के इच्छुक) को इस सबसे दूर रहने का उपदेश है।
5. **परमार्थ भाव के विकास का उद्देश्य**–जैन दर्शन व्यष्टि हित के साथ-साथ समष्टि हित का समर्थक है। यूँ तो सम्यक् चरित्र वाला व्यक्ति अपने शुभ, मंगल और कल्याण के साथ-साथ समस्त प्राणियों के शुभ, मंगल और कल्याण की बात सोचेगा, कहेगा और करेगा, परंतु यहाँ सांसारिक दृष्टि से भी इसकी आवश्यकता होगी। भौतिक जीवन के क्षेत्र में भी मनुष्य एक-दूसरे का हित करें और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी एक-दूसरे का हित करें। प्राणी मात्र के शुभ, मंगल और कल्याण हेतु कार्य करना ही परमार्थ है। जैन धर्म-दर्शन के अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्य में परमार्थ भाव का विकास अवश्य करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

जैन दर्शन में शिक्षा के जो उद्देश्य निश्चित किए गए हैं; उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–व्यावहारिक जीवन संबंधी उद्देश्य और आत्मज्ञान संबंधी उद्देश्य। जैन धर्म ग्रंथ 'व्यवहार सूत्र' में व्यावहारिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या निर्माण के पाँच सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है–

1. छात्र की परिपक्वता का सिद्धांत।

नोट

2. छात्र की क्षमता का सिद्धांत।
3. छात्र की आयु का सिद्धांत।
4. क्रमागतता का सिद्धांत।
5. उपयोगिता का सिद्धांत।

इन सिद्धांतों के आधार पर जैन दर्शन में भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या का निर्माण किया गया है। साथ ही मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए पाठ्यचर्या में विभिन्न विषयों में ज्ञान एवं क्रियाओं में प्रशिक्षण को स्थान दिया गया है। भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए–भाषा, व्याकरण, गणित, भौतिक विज्ञान, स्थिति विज्ञान, गति विज्ञान, शून्य विज्ञान, यांत्रिकी और विभिन्न कलाओं (उद्योगों) का समावेश किया है। जैन आगमों में पुरुषों के लिए 72 कलाओं (उद्योगों) और स्त्रियों के लिए 64 कलाओं (ललित कलाओं) का वर्णन है, इनमें से छात्र अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार किसी एक या दो कला (उद्योग) का चयन करे, यह उनसे अपेक्षा की जाती है और छात्राओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे स्त्रियोचित कलाओं को सीखें। आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के उपदेश एवं जैन आगमों के अध्ययन एवं सज्जीवन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के अनुसार सज्जीवन तो सभी के लिए परमावश्यक है। अत: आचरण की शिक्षा पाठ्यचर्या का अनिवार्य एवं प्रमुख अंग होनी चाहिए। आचरण शिक्षा में रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) और पंचमहाव्रत (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

जैन दर्शन में ज्ञान के स्वरूप एवं उसको प्राप्त करने की विधियों का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन आगमों में निम्नलिखित विधियों का उल्लेख मिलता है–

1. **इंद्रियानुभव विधि**–इस विधि में इंद्रियों द्वारा अनुभव करके ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसे आज की भाषा में प्रत्यक्ष विधि कहते हैं।
2. **अनुकरण विधि**–यह प्रत्यक्ष विधि का ही एक रूप है। इसमें शिक्षक शिक्षार्थी के सामने आदर्श आचरण, आदर्श मौखिक भाषा, आदर्श लिखित भाषा एवं आदर्श विधाएँ आदि प्रस्तुत करते हैं और शिक्षार्थी उनका अनुकरण करते हैं। यह भाषा एवं आचरण सीखने-सिखाने की स्वाभाविक विधि है।
3. **प्रयोग विधि**–इस विधि में स्वयं करके सीखा जाता है। यह विधि कला (उद्योगों एवं ललित कलाओं) की शिक्षा के लिए उपयुक्त विधि होती है।
4. **श्रुति विधि**–इस विधि में गुरु से सुनकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आज की स्थिति में गुरु के साथ-साथ रेडियो व टेलीविजन द्वारा भी सुना और सीखा जाता है।
5. **स्वाध्याय विधि**–इस विधि में पाठ्य सामग्री से संबंधित ग्रंथों का अध्ययन करके सीखा जाता है। इसे स्वाध्याय विधि कहते हैं। इसके जैन ग्रंथों में पाँच प्रकार बताए गए हैं–

1. वाचना (पाठ्य साहित्य का पठन करना)
2. पृच्छना (जो कुछ पढ़ा और समझा है उस पर गुरु से प्रश्न पूछकर शंकाओं का समाधान करना)
3. परिग्रहण (पठित वस्तु की आवृत्ति करना)
4. अनुप्रेक्षा (पठित वस्तु पर पुन: चिंतन और मनन करना) एवं
5. धर्मकथा (इस प्रकार प्राप्त ज्ञान की अन्यान्य अधिकारी व्यक्तियों से चर्चा करना)।

आज की भाषा में यह स्वाध्याय विधि के पद कहे जाते हैं। यदि इन पदों में स्वाध्याय किया जाए तो वह अधिक प्रभावी होगा।

आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन आगामों में **श्रुति, स्वाध्याय** और **तपस्या** विधियों का उल्लेख मिलता है। श्रुति और स्वाध्याय विधियों से द्रव्य (जीव, अजीव और काल) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परंतु जीव

नोट

को कर्मशून्य कर उसके वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए तपस्या की आवश्यकता होती है। तपस्या करने वाले को पाँच महाव्रतों का कठोरता के साथ पालन करना होता है और चार कषायों को पूर्ण रूप से त्यागना होता है।

अनुशासन

जैन दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए अत्यंत कठोर अनुशासन का प्रावधान किया गया है। महावीर स्वामी ने अनुशासन में तप और संयम को बड़ा महत्त्व दिया है। 'उत्तराध्यन सूत्र' में इसे एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह रूपक इस प्रकार है–'तपस्या को अग्नि बनाओ' आत्मा को यज्ञ स्थल बनाओ, योग की कुलछी लो, कर्म को ईंधन बनाओ, संयम रूपी शांति का पाठ करो और इस प्रकार प्रशस्त होम करो। कैवल्य ज्ञान के इच्छुक के लिए तो पाँच महाव्रतों के पालन और चार कषायों के त्याग का कठोरता से पालन करना आवश्यक है। इसी को जैन धर्म में सच्चा अनुशासन कहा गया है, परंतु इस अनुशासन को ये आत्मप्रेरित अनुशासन के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार आचार्य के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए जो स्वेच्छा से महाव्रती अर्थात् पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का कठोरता से पालन करने वाले हों। तब आचार्यों से प्रभावित हो उपाध्याय वैसा आचरण करेंगे और इन दोनों महाव्रतियों से प्रभावित हो श्रावक और श्रमण भी वैसा ही आचरण करेंगे। इसे आज की भाषा में प्रभावात्मक अनुशासन कहते हैं। जैन दर्शन यह व्यवस्था देता है कि यदि किसी शिक्षार्थी से आचरण संबंधी कोई भूल हो जाए तो वह उसे अपने आचार्य के सम्मुख स्वीकार करेगा और आचार्य उसे प्रायश्चित व्यवस्था देगा, परंतु यह प्रायश्चित (दंड) किसी भी स्थिति में अति कठोर नहीं होगा। इस प्रकार प्राप्त अनुशासन को जैन धर्म में **आत्मानुशासन** कहा गया है।

शिक्षक

जैन साहित्य में शिक्षक के लिए **उपाध्याय** और **आचार्य,** दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। उपाध्याय उसे कहा जाता है जो अध्यापन कार्य करता है, शिष्यों को भाषा साहित्य एवं अन्य भौतिक विषयों का ज्ञान कराता है और आचार्य उसे कहा जाता है जो शिष्यों को धर्म, दर्शन और नैतिकता की शिक्षा देता है और उनके आचरण को प्रभावित करता है। जैनाचार्यों की मान्यता है कि आचार्य को जितेंद्रिय एवं महाव्रती होना चाहिए और चार कषायों का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए। यूँ तो उपाध्याय में भी आचरण की शुद्धता होनी चाहिए परंतु उसे पाँच महाव्रतों का पालन और कषायों का त्याग उतनी कठोरता से करना आवश्यक नहीं होता जितनी कठोरता के साथ आचार्यों के लिए आवश्यक होता है। आचार्यों के लिए गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का निषेध है, परंतु उपाध्याय गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकते हैं। जैन दर्शनाचार्यों के अनुसार उपाध्याय को अपने विषय का पंडित होना चाहिए और साथ ही उसे अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए। और सबसे बड़ी बात यह है कि जैन दर्शन उपाध्याय और आचार्य, दोनों को सेवाव्रति के रूप में देखना चाहता है।

शिक्षार्थी

जैनाचार्य शिक्षार्थियों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं–**श्रावक** और **श्रमण।** श्रावक वह है जो अपने को सांसारिक जीवन के लिए तैयार करता है और श्रमण वह है जो अपने को पारमार्थिक जीवन के लिए तैयार करता है। श्रमण के लिए जैन दर्शन में बहुत कठोर जीवन का विधान है। उसे पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग कठोरता से करना होता है इसलिए उसे **महाव्रती** कहा जाता है। श्रावक के लिए भी पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों के त्याग का विधान है, परंतु उसे उनका पालन करने में श्रमण जितनी कठोरता बरतने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए उसे **अणुव्रती** कहा जाता है, परंतु दोनों प्रकार के शिष्यों को सज्जीवन जीना आवश्यक है। जैन दर्शन में शिष्यों को सूर्योदय से पूर्व जागने, गुरुओं के आदेशों को मानने, सात्विक भोजन करने, बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग न करने और सादे वस्त्र पहनने का आदेश है। साथ ही यह भी आदेश है कि वे अधिक हँसे नहीं, अधिक चंचल न हों, इंद्रियों पर नियंत्रण रखें, किसी का रहस्य न खोलें, कटुवचन न बोलें,

नोट

सदाचारी हों, लोभ-क्रोध से दूर रहें, सत्यान्वेषी हों, और अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य से दूर रहें। साथ ही वे शिष्ट एवं विनम्र होने चाहिए और उन्हें सदैव समाज-सम्मत आचरण करना चाहिए। उनमें ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा होनी चाहिए और वे आलस्य का त्याग कर सीखने की ओर प्रवृत्त होने चाहिए। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक छात्र का अपना अलग शरीर होता है और अपनी अलग आत्मा होती है अत: शिक्षक को उसकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर ही उसकी शिक्षा का विधान करना चाहिए।

शिक्षक-शिक्षार्थी में संबंध

जैन दर्शन शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में सेवाभाव का पक्षधर है। उसकी दृष्टि से दोनों को एक-दूसरे के हित के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। जैनाचार्य शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे शिक्षक के क्रुद्ध होने पर भी विनम्र रहें, उन्हें सहन करें, उनकी सेवा करें, उनके आदेशों का पालन करें और उन्हें प्रसन्न करें। जैन दर्शन में शिष्यों को गुरुओं में श्रद्धा रखने का उपदेश है और शिक्षकों को शिष्यों से प्रेम करने का आदेश है। यदि नीचे से श्रद्धा उमड़े और ऊपर से प्रेम बरसे तो शिक्षक-शिक्षार्थियों के बीच कितना मधुर संबंध होगा, इसकी कल्पना हम कर ही सकते हैं।

विद्यालय

जैन धर्म एवं दर्शन के साथ जैन आगमों के ज्ञान और जैन आचरण के प्रशिक्षण हेतु शिक्षा के केंद्रों का भी विकास हुआ, परंतु ये केंद्र बौद्ध मठों की भाँति आज के विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय नहीं थे। प्राय: गुरु गृहों में ही इस सबकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। गुरु गृहों में प्रवेश के समय और शिक्षा पूरी करके घर लौटने पर उत्सव मनाए जाते थे और गुरुओं को भेंट दी जाती थी, परंतु यह शिक्षा सबको सुलभ नहीं थी। सीमित गुरु गृह, सीमित प्रवेश और सीमित शिक्षा व्यवस्था थी।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**–जैन दर्शन वर्ण व्यवस्था में विश्वास नहीं करता, सभी को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी मानता है, परंतु वह मनुष्य की वैयक्तिक भिन्नता को मानता है और जो मनुष्य जिस योग्य हो उसे उसी के अनुकूल ज्ञान एवं कला (उद्योग) की शिक्षा देने की बात करता है। वह प्रत्येक मनुष्य को कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य की प्राप्ति का अधिकारी मानता है। हाँ, रोगी और कोढ़ी को जैन दार्शनिकों ने शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा है। कुल मिलाकर जैन दर्शन जन शिक्षा का पक्षधर है।
2. **स्त्री शिक्षा**–दिगंबर स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं मानते। तब उन्हें जीव संबंधी ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। श्वेतांबर स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी तो मानते हैं, परंतु उनकी शिक्षा के विषय में मौन हैं। आचरण की शिक्षा तो उन्हें उनके अपने-अपने घरों में प्राप्त हो ही जाती है।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**–जैन दर्शन में संसार को वास्तविक माना गया है, तब सांसारिक जीवन के लिए मनुष्य को तैयार करना आवश्यक है। जैन ग्रंथों में पुरुषों के लिए 72 कलाओं (उद्योगों) और स्त्रियों के लिए 64 कलाओं (ललित कलाओं) की शिक्षा का उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन भौतिक जीवन जीने के लिए मनुष्यों को इनमें से एक या दो कला सीखने पर बल देता है। हाँ, केवली (मोक्ष के इच्छुक) को वह इनसे दूर रहने का उपदेश देता है।
4. **धर्म शिक्षा**–जैन दर्शन मूलत: धर्म है, दर्शन तो उसका बाद में विकसित हुआ है। तब जैन दर्शन में जैन धर्म की शिक्षा पर बल होना स्वाभाविक है। वह सभी को पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग कर सज्जीवन जीने का उपदेश देता है, परंतु किसी अन्य धर्म की निंदा को वह मानसिक हिंसा मानता है। यह धर्मनिरपेक्षता का सर्वोत्तम रूप है। उसकी इस धार्मिक उदारता की आज के संदर्भ मे विशेष आवश्यकता है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. महावीर स्वामी ने पाँच महाव्रतों–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया था।
8. जैन धर्म के दो रूप हैं–श्वेतांबर और पीतांबर।
9. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा दो प्रकार की होती है–मुक्त आत्मा और बुद्ध आत्मा।
10. जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है।

11.4 जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Jainism to Education)

एक दार्शनिक चिंतनधारा के रूप में जैन दर्शन का अपना महत्त्व है। द्रव्य का जितना वैज्ञानिक वर्गीकरण एवं विश्लेषण जैन दर्शन में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। जीव (आत्मा) और काल (समय) द्रव्य तो आज के वैज्ञानिकों के लिए खोज के विषय हैं। परंतु उसका यह विचार कि जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वयं अजीव (पुद्गल) संग्रहीत करता है और भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूप में अवतरित होता है अपने गले नहीं उतरता। कर्मों का फल देने वाला कोई नियंता अवश्य होना चाहिए। वह वेदांतियों का ब्रह्म, वैष्णवों का ईश्वर, यहुदियों का जेहोवा, ईसाइयों का गौड, मुसलमानों का अल्लाह और पारसियों का अहुरमज्द ही हो सकता है। हाँ, वस्तु जगत और जीव (आत्मा), दोनों को वास्तविक मानकर जैन दर्शन ने मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करने का स्तुल्य प्रयास किया है। इसने मनुष्य को सज्जीवन का उपदेश देकर उसे अपने और सभी के कल्याण की ओर प्रवृत्त किया है। पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग सज्जीवन की प्राप्ति में बड़ा सहायक होता है।

शिक्षा दर्शन के रूप में भी जैन दर्शन का अपना महत्त्व है। यूँ शिक्षा की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने में जैन दर्शन का कोई विशेष योगदान नजर नहीं आता, परंतु शिक्षा के संदर्भ में उसने जिन सिद्धांतों का निरूपण किया है वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं और आज के संदर्भ में भी बड़े उपयोगी हैं। यहाँ उनका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

जैन दर्शन के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति के साधन रत्नत्रय (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) में प्रशिक्षित करती है। इससे तो ऐसा लगता है कि जैन दर्शन शिक्षा को मनुष्य के केवल आध्यात्मिक विकास का साधन मानता है। परंतु जब वह शिक्षा द्वारा मनुष्य को किसी कला (उद्योग) में प्रशिक्षित कर उसे जीवनयापन करने योग्य बनाने की बात करता है तो स्पष्ट होता है कि वह शिक्षा को मनुष्य के भौतिक विकास का भी साधन मानता है।

साफ जाहिर है कि जैन दर्शन में शिक्षा को मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, यह बात दूसरी है कि आध्यात्मिक विकास को मुख्य और भौतिक विकास को गौण स्थान दिया गया है। वर्तमान में तो शिक्षा को मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक, तीनों पक्षों के संतुलित विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य

जैन दर्शन में शिक्षा के मूल रूप से पाँच उद्देश्य निश्चित किए गए हैं–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, विभिन्न कलाओं में प्रशिक्षण और परमार्थ भाव का विकास।

नोट

साफ जाहिर है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य भी मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों से संबंधित हैं। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक द्रव्यों के ज्ञान एवं विभिन्न कलाओं (उद्योगों) में प्रशिक्षण तथा परमार्थ की शिक्षा और भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र पर बल देकर जैनाचार्यों ने शिक्षा को सज्जीवन की प्राप्ति का मुख्य साधन बना डाला है। इस प्रकार उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य मानव जीवन को समग्र रूप से उन्नत करने की ओर प्रवृत्त हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

इन विस्तृत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक विस्तृत पाठ्यचर्या की चर्चा भी जैन ग्रंथों में मिलती है। जैन आगमों में भौतिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या के निर्माण के पाँच सिद्धांतों (परिपक्वता, क्षमता, आयु, क्रमागतता और उपयोगिता) की चर्चा की गई है और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन अर्थात् जैन तीर्थंकरों, जैन आगमों और जैन मुनियों में श्रद्धा; सम्यक् ज्ञान अर्थात् जीव-अजीव संबंधी, जैन आगमों में संग्रहीत ज्ञान और सम्यक् चरित्र अर्थात् सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण) में प्रशिक्षण की बात कही गई हैं।

जैन दर्शन में भौतिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या के निर्माण के पाँच सिद्धांत निश्चित किए गए हैं, वे आज भी बड़े उपयोगी हैं, परंतु आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय में प्रशिक्षण की बात कुछ संकीर्ण लगती है। संसार के अन्य धर्म एवं दर्शन भी हमें आध्यात्मिकता की प्राप्ति करा सकते हैं। परंतु पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) के पालन और चार कषाओं (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग का प्रशिक्षण तो सभी को स्वीकार होना चाहिए, बिना इनके सज्जीवन की प्राप्ति संभव ही नहीं।

शिक्षण विधियाँ

जैन दर्शन में भौतिक ज्ञान प्राप्त करने की पाँच विधियों–इंद्रियानुभव विधि, अनुकरण विधि, प्रयोग विधि, श्रुति विधि और स्वाध्याय विधि और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की तीन विधियों–श्रुति, स्वाध्याय और तपस्या विधि का उल्लेख मिलता है।

शिक्षण विधियों के संबंध में जैनाचार्यों की कुछ बातें बड़ी उपयोगी हैं। भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इंद्रिय प्रत्यक्ष, प्रयोग, श्रुति और स्वाध्याय विधि, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रुति, स्वाध्याय और सत्संग विधि और आत्मतत्व की अनुभूति के लिए तपस्या विधि का समर्थन, जैन दर्शन की मनोवैज्ञानिक पहुँच है। स्वाध्याय विधि के जिन भेदों (सोपानों) का वर्णन जैन ग्रंथों में है, वह भी बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इन सोपानों में स्वाध्याय करने से मनुष्य बहुत अधिक अच्छे ढंग से सीख सकते हैं और इस प्रकार सीखा ज्ञान स्थायी होता है। तपस्या विधि को छोड़कर अन्य सब विधियों का प्रयोग आज भी किसी न किसी रूप और मात्रा में होता है, यह बात दूसरी है कि आज के संश्लिष्ट ज्ञान को समझने एवं आत्मसात करने में ये उतनी सहायक नहीं हैं जितनी वर्तमान काल में विकसित मनोवैज्ञानिक विधियाँ।

अनुशासन

जैनाचार्यों ने अनुशासन के विषय में भी बड़े स्पष्ट विचार प्रस्तुत किए हैं। उनकी दृष्टि से नियमों का कठोरता से पालन करना ही अनुशासन है, परंतु यह सब आत्मप्रेरित होना चाहिए और जब कभी छात्र से कोई भूल हो जाए तो उसे प्रायश्चित करने का अवसर देना चाहिए। प्रायश्चित के विषय में इनका स्पष्ट निर्देश है कि प्रायश्चित व्यवस्था (दंड) देते समय शिक्षक को कठोर नहीं होना चाहिए।

स्पष्ट है कि जैनाचार्य आत्मप्रेरित अनुशासन के पक्षधर हैं, वास्तविक अनुशासन के पक्षधर हैं।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

जैन दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों को पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और बह्मचर्य) के पालन और चार काषायों (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग का आदेश दिया गया है।

नोट

शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को पाँच महाव्रतों के पालन और चार कषायों के त्याग का उपदेश देकर जैनाचार्यों ने एक बड़ा कार्य किया है। यदि आज के शिक्षक एवं शिक्षार्थी उसे आंशिक रूप में ही स्वीकार कर लें तो शिक्षा जगत की आधी समस्याओं का हल स्वत: हो जाए। सज्जीवन की शिक्षा जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। हमें इसे स्वीकार करना ही चाहिए।

विद्यालय

जैन धर्म-दर्शन के विकास के समय जहाँ गुरु वास होता था वहीं शिक्षा की व्यवस्था होती थी, जैनाचार्य आज की शिक्षा व्यवस्था की कल्पना भी नहीं कर पाए थे।

शिक्षा के अन्य पक्ष

जैन दर्शन में जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा, सभी के संगठन की बात कही गई है, परंतु कुछ अपने ढंग से। साफ जाहिर है कि इन क्षेत्रों में वह हमारा सही मार्गदर्शन नहीं कर सका है।

11.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म-दर्शन अपने मे निरपेक्षवादी धर्म-दर्शन है, यह अपनी बात कहता है, दूसरों की आलोचना नहीं करता। अपनी बात में भी यह स्यात् शब्द का प्रयोग करता है। सज्जीवन की शिक्षा इसका मुख्य उद्देश्य है। उसी के आधार पर इसने शिक्षा व्यवस्था का पूरा ढाँचा तैयार किया है। वर्तमान भारत में उसका शैक्षिक चिंतन बड़ा उपयोगी साबित हो सकता है।

11.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **काल** (Time) : समय
2. **संघात** (Mixture) : मिश्रण
3. **आकाश** (Space) : शून्य

11.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जैन दर्शन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. जैन दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. जैन दर्शन और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. वेद	2. कर्म सिद्धांत	3. (अ)	4. (अ)	5. (ब)
6. (ब)	7. सही	8. गलत	9. सही	10. सही

11.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।

❑❑❑

नोट

इकाई–12 : इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराएँ और शिक्षा (Philosophy & Traditions of Islamic Religion and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 इस्लाम धर्म-दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Islamic Religion and Philosophy)

12.2 इस्लाम धर्म-दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Islamic Religion and Philosophy)

12.3 इस्लामी परंपराएँ (Islamic Traditions)

12.4 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराएँ और शिक्षा (Philosophy & Traditions of Islamic Religion and Education)

12.5 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Islamic Religion, Philosophy and Traditions to Education)

12.6 सारांश (Summary)

12.7 शब्दकोश (Keywords)

12.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- इस्लाम धर्म–दर्शन का अर्थ जानने हेतु।
- इस्लाम धर्म–दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु
- इस्लामी परंपराएँ जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

ऐसी मान्यता है कि काबा शरीफ का निर्माण दुनिया के सबसे पहले आदमी **हजरत आदम** ने अल्लाह के हुक्म से केवल अल्लाह की इबादत (प्रार्थना) के लिए कराया था। उनके बाद जितने भी रसूल (पैगम्बर)–हजरत नूह, हजरत इब्राहीम, हजरत इस्माइल, हजरत दाऊ, हजरत मूसा और हजरत ईसा इस दुनिया में आए उन सभी ने काबा शरीफ को अपना इबादत गाह (प्रार्थना स्थल) बनाया।

नोट

12.1 इस्लाम धर्म-दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Islamic Religion and Philosophy)

ईसा की छठी शताब्दी में अरब देशों में अज्ञान का घोर-अंधकार छाया हुआ था। धार्मिक क्षेत्र में बहुदेवत्ववाद अपनी चरम सीमा पर था, हजारों देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी, यहाँ तक कि मक्का में स्थित **काबा शरीफ** जिसके प्रबंधक उस समय मोहम्मद साहब के दादा थे, उसमें भी 360 मूर्तियाँ स्थापित थीं। ऐसी मान्यता है कि काबा शरीफ का निर्माण दुनिया के सबसे पहले आदमी **हजरत आदम** ने अल्लाह के हुक्म से केवल अल्लाह की इबादत (प्रार्थना) के लिए कराया था। उनके बाद जितने भी रसूल (पैगम्बर)–हजरत नूह, हजरत इब्राहीम, हजरत इस्माइल, हजरत दाऊ, हजरत मूसा और हजरत ईसा इस दुनिया में आए उन सभी ने काबा शरीफ को अपना इबादत गाह (प्रार्थना स्थल) बनाया। उस समय समाज भी अनेक वर्गों में विभाजित था, दास प्रथा प्रचलित थी और दासों के साथ अत्यंत निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। समाज में स्त्रियों की दशा तो और भी अधिक शोचनीय थी। संभ्रांत परिवारों में तो लड़की का जन्म अशुभ माना जाता था, उन्हें जन्म लेते ही मार डाला जाता था। उस समय अरब देशों की राजनैतिक स्थिति भी बहुत खराब थी। अरब भर में छोटे-बड़े अनेक कबीले थे जो एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे, एक-दूसरे की जमीन छीन लेते थे और एक-दूसरे की धन-दौलत एवं स्त्रियों को लूट लेते थे। उस समय शक्तिशाली की विजय थी। पूरे अरब में अल्लाह (ईश्वर) का भय लोगों के दिमाग से निकल चुका था और चारों ओर बुराइयाँ ही बुराइयाँ फैली थीं। इस सबसे निजात दिलाई **हजरत मुहम्मद साहब** ने।

हजरत मुहम्मद साहब का जन्म सन् 53 हिजरी पूर्व 12 रबीउल अव्वल (22 अप्रैल, 571 ई.) को हुआ था। इनके पिता अब्दुल मुत्तबिल इनके जन्म से पहले ही इस संसार से चल बसे थे, फिर भी इनके जन्म का जश्न बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। उस समय के रीति-रिवाज के अनुसार इनकी माता अमीना ने इन्हें 8 दिन तक अपना दूध पिलाया, उसके बाद इन्हें पास के गाँव में रहने वाली हलीमा सादमा नाम की दाई के पास लालन-पालन के लिए भेज दिया। 6 वर्ष की आयु में ये हलीमा के यहाँ से अपनी माँ के पास लौटे, परंतु कुछ दिन बाद ही इनकी माँ का देहांत हो गया और इनके लालन-पालन का उत्तरदायित्व इनके दादा पर आ गया। जब ये 8 वर्ष के थे तो इनके दादा भी संसार से चल बसे। उनके बाद इनके लालन-पालन का उत्तरदायित्व इनके हमदर्द चाचा अबू तालिब पर आ गया। जब मोहम्मद 10 वर्ष के थे, इनके चाचा अपने व्यापार के सिलसिले में सीरिया गए और साथ में इन्हें भी ले गए। इस बार उन्हें अपने व्यापार में बहुत अधिक लाभ हुआ। अब उन्होंने इन्हें अपने व्यापार में ही लगा लिया। जब ये केवल 11 वर्ष के थे इनके साथ एक ऐसी घटना घटी कि ये एक अल्लाह (एकेश्वरवाद) की बात करने लगे। परंतु साथ ही व्यापार कार्य को भी देखते रहे। अल्लाह ताला का इन पर कुछ इतना रहम था कि जो व्यक्ति इन्हें अपने व्यापार में अपना साझीदार बनाता, उसे ही बहुत अधिक लाभ होता। उस समय मक्का शहर में एक धनी विधवा स्त्री **खदीजा** रहती थी। उसने जब मोहम्मद साहब की नेकनियत, ईमानदारी और व्यापार लाभ के बारे में सुना तो उसने इन्हें अपने व्यापार में साझीदार बना लिया, तब उसे भी बहुत लाभ हुआ। वह इनकी सच्चाई और ईमानदारी से इतनी प्रभावित हुई कि उसने इनके सामने शादी का प्रस्ताव रखा। मोहम्मद साहब ने अपने चाचा की रजामंदी से खदीजा के साथ निकाह (शादी) कर लिया। उस समय हजरत मोहम्मद साहब की आयु 25 वर्ष की थी और हजरत खदीजा की आयु 40 वर्ष थी। यहाँ से हजरत मोहम्मद साहब का नया जीवन शुरू होता है।

नोट्स हजरत मुहम्मद साहब का जन्म सन् 53 हिजरी पूर्व 12 रबीउल अव्वल (22 अप्रैल, 571 ई.) को हुआ था।

अब मोहम्मद साहब एक ओर अपना व्यापार कार्य देखते और दूसरी ओर समाज सेवा कार्य करते और साथ ही अल्लाह का प्रचार-प्रसार कार्य करते, और जब कभी समय मिलता मक्का शहर से लगभग 5 किमी. की दूरी

नोट

पर स्थित **हिरा** नामक पहाड़ी की एक छोटी-सी गुफा में ध्यान-मग्न हो अल्लाह की इबादत करते। रमजान के महीने में जब एक दिन मोहम्मद साहब इस गुफा में ध्यान-मग्न हो अल्लाह की इबादत कर रहे थे, अल्लाह का भेजा फरिश्ता **जिब्राईल** इनके सामने प्रकट हुआ। उसने कहा-**इकरा** अर्थात् उठ **पढ़**। बस यहीं से मोहम्मद साहब के सीने में कुरान शरीफ का ज्ञान उतरना शुरू हुआ। मोहम्मदर साहब इस गुफा में जाते रहे। 6 माह के बाद फिर यही फरिश्ता जिब्राईल इनके सामने प्रकट हुआ और उसने इन्हें अल्लाह का सच्चा ज्ञान दिया जो आगे चलकर **कुरान शरीफ** के रूप में लेखबद्ध हुआ। बस फिर क्या था, मोहम्मद साहब एक अल्लाह के प्रचार-प्रसार कार्य में और तेजी से लग गए। एक ओर इनके अनुयायी बढ़ने लगे तो दूसरी ओर इनके विरोधी भी बढ़ने लगे। विरोधियों ने इन और इनके अनुयायियों पर जुल्म ढाने शुरू किए, यहाँ तक कि मोहम्मद साहब को जान से मारने तक का प्रयत्न किया। जब इनकी जान को बहुत अधिक खतरा हुआ तो ये अल्लाह के हुक्म से **मक्का** छोड़कर **मदीना** चले गए। इस समय इनकी आयु 53 वर्ष की थी। जिस दिन मोहम्मद साहब मक्का शहर छोड़कर मदीना शहर गए, उस दिन से ही इस्लामी सन् **हिजरी** शुरू हुआ। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को अरबी भाषा में **हिज** कहते हैं, इसलिए इस दिन से शहर होने वाले सन् को हिजरी कहा गया।

मदीना पहुँचकर मोहम्मद साहब ने एक अल्लाह के प्रचार एवं प्रसार कार्य को जारी रखा। यहाँ भी कुछ लोगों ने इनका खूब विरोध किया। परंतु सच्चाई को कौन रोक सकता था, आखिर एक दिन ऐसा आ ही गया जब पूरे अरब में बहुदेवत्व के स्थान पर सिर्फ एक अल्लाह पूजा योग्य है (एकेश्वरवाद्) स्थापित हो गया। 9 हिजरी (सन् 632 ई.) में मोहम्मद साहब ने हज्ज फर्ज किया और उपदेश दिया कि जो लोग अपनी नेक कमाई से जब भी मक्का जाने में समर्थ हों, वहाँ पहुँचकर काबा शरीफ में अल्लाह की इबादत अवश्य करें। 10 हिजरी (सन् 633 ई.) में आपने आखरी बार हज्ज किया। इस बार लाखों लोग उनके साथ हज्ज करने पहुँचे। इस अवसर पर इन्होंने वहाँ **अफरात के मैदान** में ऊँटनी पर चढ़कर वहाँ उपस्थित डेढ़ लाख लोगों को हज्ज करने की विधि बताई और उन्हें उपदेश दिए। कुछ मुख्य उपदेश इस प्रकार हैं–

1. अल्लाह एक है, वह निराकार है, उसे मूर्ति के रूप में पूजना गलत है।
2. अल्लाह ने सारी दुनिया को बनाया है और वही इसका पालनहार है।
3. लोगो! एक-दूसरे को खून करना, एक-दूसरे का माल गलत तरीके से हड़पकर लेना और एक-दूसरे का अपमान करना सरासर हराम है। तुम मेरे बाद गुमराह न हो जाना कि एक-दूसरे की गर्दन काटने लगो।
4. औरतों के मामले में अल्लाह से डरो, उनके साथ अच्छा व्यवहार करो।
5. लोगो! मैं तुम्हारे पास एक ऐसी चीज छोड़ जाता हूँ, अगर तुमने उसे मजबूती से पकड़ लिया तो तुम कभी गुमराह होकर भटकोगे नहीं, वह है अल्लाह की किताब कुरान शरीफ।
6. तुम पर खुदा ने 5 फर्ज अनिवार्य किए हैं, वे हैं–
   (*i*) कलमा–'ला इलाह इल्ललाह मुहम्मदुर रसूलुल्लाह' अर्थात् अल्लाह के अतिरिक्त कोई इबादत (उपासना) के योग्य नहीं है, हजरत मोहम्मद अल्लाह के रसूल (पैगम्बर) हैं। इस पर अमल करना।
   (*ii*) नमाज–लोगो! तुम पर 5 नमाजें–फजिर, जुहर, असिर, मगरिब और इशा अनिवार्य हैं, इन्हें समय पर अदा करते रहना।
   (*iii*) जकात–अपनी पवित्र कमाई में से ढाई प्रतिशत गरीबों, मोहताजों, यतीमों, बेवाओं और जरूरतमंदों को देते रहना, परंतु जकात (दान) देते समय दिखावा न करना।
   (*iv*) रोजा–रमजान के महीने में पूरे महीना रोजा (उपवास) रखना। इससे तुम्हें भूखों की भूख का अहसास होगा, तुम्हारे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और अल्लाह की याद में तुम्हारी तमाम बुराइयाँ दूर होंगी।
   (*v*) हज–यदि तुम योग्य हो तो जीवन में एक बार अपनी पवित्र कमाई से हज करना।

इसके एक वर्ष बाद 26 अप्रैल, 634 ई. को हजरत मोहम्मद साहब तो अल्लाह को प्यारे हो गए परंतु उनके द्वारा प्रतिपादित इस्लाम धर्म निरंतर फलता-फूलता रहा। आज अरबों लोग इस धर्म को मानते हैं। वर्तमान में इसमें अनेक

नोट

संप्रदाय (मत) हैं जिनमें मुख्य हैं–सूफी, सुन्नी, शिया और अहल हदीस। इनमें सूफी सर्वाधिक बल ज्ञान पर देते हैं, सुन्नी अल्लाह की इबादत पर देते हैं, शिया शरीर और मन की शुद्धता एवं पवित्रता पर देते हैं और अहल हदीसी समानता पर देते हैं। परंतु कुल मिलाकर ये सभी एक अल्लाह में विश्वास करते हैं, मोहम्मद साहब को आखरी रसूल (पैगम्बर) मानते हैं और कुरान शरीफ को अपना धर्म ग्रंथ मानते हैं। ये तीन सूत्र ही दुनिया भर के मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधे हैं।

इस्लाम मूलरूप से एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था परंतु आगे चलकर कुछ विद्वानों ने इसका दर्शन भी विकसित कर दिया। इस कार्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही सूफीवादियों की। हम जानते हैं कि किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उनकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अत: प्रस्तुत है।

इस्लाम धर्म-दर्शन की तत्व मीमांसा

इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस सृष्टि की रचना अल्लाह (ब्रह्म, God) ने की है। अल्लाह ने जैसे ही कहा **कुन** अर्थात् हो जा, तैसे ही इस सृष्टि की रचना हो गई। यह अल्लाह का निराकार, सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमान मानता है और उसे बड़ा दयालु एवं कृपालु मानता है। इसके अनुसार अल्लाह का कोई साझी नहीं, वह अकेला है। इसके अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और इन्हें भी अल्लाह ने बनाया है और अंत में ये अल्लाह के पास ही जाती हैं।

मनुष्य को इस्लाम अल्लाह की सबसे बड़ी देन मानता है। कुरान में उसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। इसके अनुसार अल्लाह ने दुनिया की सारी चीजें मनुष्यों के उपायेग के लिए बनाई हैं और मनुष्य को अपनी इबादत के लिए बनाया है। इस्लाम के अनुसार मनुष्य जीवन का उद्देश्य इस संसार के भौतिक सुख के साथ-साथ अल्लाह की इबादत कर मृत्यु के बाद सदा चलने वाले जीवन की तैयारी करना है और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार जब मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके शव को कब्र में रखा जाता है तब उसका सदैव चलने वाला जीवन शुरू होता है जिसे **बरजाख** कहते हैं। कयामत (महाप्रलय) के दिन अल्लाह उसके कर्मों का लेखा-जोखा और उसके कर्मों के अनुसार उसे बहिश्त (जन्नत, स्वर्ग Heaven) अथवा दोजख (जहन्नुम, नर्क, Hell) में भेज देगा। यह पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता।

इस्लाम धर्म-दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को अमृत मानते थे। ज्ञान से उनका तात्पर्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान से था। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत उन्होंने भौतिक वस्तुओं एवं सामाजिक जीवन के ज्ञान को स्थान दिया है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत इस्लाम धर्म के ज्ञान को स्थान दिया है। वर्तमान में इस्लाम धर्मावलंबी किसी भी प्रकार के ज्ञान का मुख्य स्रोत कुरान शरीफ को मानते हैं।

कुरान शरीफ में भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के तीन साधन बताए गए हैं–**इल्मुल यकीन** (अनुमान द्वारा निश्चय करना), **ऐनुल यकीन** (आँख से देखकर निश्चित करना) और **हक्कुल यकीन** (स्पर्श करके निश्चय करना)। इसका सीधा अर्थ है कि इस्लाम धर्म-दर्शन में इंद्रियों को भौतिक ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना गया है। परंतु जहाँ तक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की बात है, इसे प्राप्त करने का मुख्य स्रोत यह पैगम्बरों के द्वारा दी गई सूचनाओं को मानता है।

इस्लाम धर्म-दर्शन का मूल्य एवं आचार मीमांसा

इस्लाम शब्द का सामान्य अर्थ है–शांति। यह शांति का मार्ग है। **इस्लाम** शब्द का विशिष्ट अर्थ है–अपने आपको अल्लाह को समर्पित कर देना। इस्लाम यह मानता है कि सभी मनुष्य अल्लाह के द्वारा बनाए गए हैं, सभी समान हैं, और सभी एक-दूसरे के भाई हैं, इसलिए सभी को प्रेम के साथ रहना चाहिए और अपने परवरदिगार की इबादत करनी चाहिए। यह **समानता, भाईचारे, प्रेम** और **शांति** को मानव जीवन के आधारभूत मूल्य मानता है। यह भौतिक साधनों के भोग का विरोध नहीं करता, परंतु यह चाहता है कि इनका उपयोग सब मनुष्य

नोट

मिल-बाँटकर करें। यह **दया** और **दान** को बड़ा महत्त्व देता है। पाप और पुण्य कर्मों का उल्लेख कर इसने मानव जाति को सही आचरण का मार्ग दिखाया है। इसने मनुष्यों को अल्लाह से डरने और नेक काम करने का संदेश दिया है और पाक दामन (सच्चरित्र) एवं संयमी जीवन जीने का उपदेश दिया है। पाप कर्मों में उसने मुख्य रूप से झूठ बोलने, दूसरों की वस्तुओं को छीलने, पर-स्त्रियों को कुदृष्टि से देखने, दूसरों को सताने, अकारण किसी मनुष्य की हत्या करने, कर्ज पर ब्याज लेने और अल्लाह की किसी दूसरे से तुलना करने को रखा है, और इनसे बचने का उपदेश दिया है। और पुण्य कर्मों में अल्लाह की इबादत करने (नमाज पढ़ने) पैगम्बर मोहम्मद साहब के दिखाए मार्ग पर चलने, सच बोलने, जकात (दान) देने, स्त्रियों का सम्मान करने और सबकी सेवा करने का उपदेश दिया है। यदि यह कहा जाए कि इस्लाम धर्म अपने वास्तविक रूप में एक ऐसी आचार संहिता है जिसका पालन संसार के सभी व्यक्तियों को करना चाहिए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

इस्लाम धर्म दर्शन की परिभाषा

इस्लाम धर्म दर्शन को उसकी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया जा सकता है–

इस्लाम धर्म-दर्शन इस संसार को अल्लाह द्वारा निर्मित मानता है और यह मानता है कि इस वस्तु जगत की सब वस्तुएँ, नाशवान होने के बावजूद यथार्थ हैं, मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। यह अल्लाह को सर्वशक्तिमान और आत्मा को उसके द्वारा निर्मित मानता है और यह प्रतिपादन करता है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य बरजाख (सदा चलने वाले जीवन) की तैयारी करना और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है, जिसे अल्लाह की इबादत और नेक काम करने के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. अल्लाह का भेजा फरिश्ता ..... था।
2. इस्लाम धर्म–दर्शन के अनुसार, इस सृष्टि की रचना ..... ने की हो।

12.2 इस्लाम धर्म-दर्शन के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Islamic Religion and Philosophy)

इस्लाम धर्म-दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह संसार अल्लाह (ब्रह्म, God) द्वारा निर्मित है–**इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस संसार को अल्लाह ने बनाया है, उसी ने संसार की सभी वस्तुओं और प्राणियों को बनाया है और वही इन सबका पालनहार है।
2. **भौतिक संसार नाशवान होते हुए भी यथार्थ है और आध्यात्मिक संसार सदैव चलने वाला है–**इस्लाम धर्म-दर्शन यह स्वीकार करता है कि यह संसार नाशवान है, इसकी प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक जीव नाशवान है, परंतु ईश्वर ने इसकी समस्त वस्तुओं को मनुष्य के भोग के लिए बनाया है और मनुष्यों को अपनी इबादत (प्रार्थना) के लिए बनाया है इसलिए ये सब यथार्थ हैं, वास्तविक हैं। इसकी दृष्टि से मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका सदैव चलने वाला आध्यात्मिक जीवन शुरू होता है, जिसे बरजाख कहते हैं।
3. **अल्लाह निराकार है और आत्माएँ उसके द्वारा निर्मित हैं–**इस्लाम धर्म-दर्शन अल्लाह को निराकार, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञाता मानता है। अल्लाह के अतिरिक्त यह अन्य किसी देवी-देवता के अस्तित्व को

नोट

स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार आत्माएँ अल्लाह द्वारा निर्मित हैं और अंत में अल्लाह के पास पहुँचना चाहती हैं।

4. **मनुष्य अल्लाह की सर्वोच्च रचना है–**इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस संसार में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अल्लाह की इबादत कर अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचा सकता है। इसकी दृष्टि से मनुष्य अल्लाह द्वारा बनाई सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार अल्लाह कयामत (महाप्रलय) के दिन कब्र में गढ़े मुर्दों के कर्मों का लेखा-जोखा लेगा और फिर उन्हें उनके कर्मों के अनुसार बहिस्त (जन्नत, स्वर्ग) अथवा दोजख (जहन्नुम, नर्क) में भेज देगा।
5. **मनुष्य का विकास उसकी रूहानी ताकतों, उसके कर्मों एवं अल्लाह के रहम पर निर्भर करता है–**इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार मनुष्य का विकास उसकी आध्यात्मिक शक्तियों, उसके स्वयं के प्रयत्नों और अल्लाह के रहम पर निर्भर करता है। इसका विश्वास है कि अल्लाह बड़ा दयालु और कृपालु है, जो लोग उसकी इबादत करते हैं, उससे मिन्नत माँगते हैं, अल्लाह उनकी इच्छा की पूर्ति करता है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कभी न खत्म होने वाले जीवन की तैयारी और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है–**इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार सभी आत्माएँ अल्लाह के पास जाना चाहती हैं, अत: मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कभी न समाप्त होने वाले जीवन की तैयारी और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना होना चाहिए। इसकी घोषणा है कि अल्लाह से हम आए हैं, उसी के लिए हम हैं और उसी के पास हमें लौटना है। इसे इस्लाम धर्म-दर्शन में **नजात** कहते हैं।
7. **आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने के लिए अल्लाह की इबादत आवश्यक है–**इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार, आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने का केवल एक ही रास्ता है–अल्लाह की इबादत। इसका विश्वास है कि बिना अल्लाह तालाह की कृपा के कुछ भी पाना संभव नहीं। इस दुनिया में जो कुछ पाना हो उसके लिए भी अल्लाह की इबादत करनी चाहिए और इस जीवन के बाद कभी न खत्म होने वाले जीवन को प्राप्त करने के लिए भी अल्लाह की इबादत करनी चाहिए और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने के लिए भी उसी की इबादत करनी चाहिए।
8. **अल्लाह की इबादत के लिए पाक-साक होना और मानव मात्र की सेवा करना आवश्यक है–**इस्लाम धर्म-दर्शन की मान्यता है कि अल्लाह उन्हीं की इबादत कबूल करता है जो पाक-साक (सच्चरित्र) होते हैं और दीन-हीनों की सहायता करते हैं। अल्लाह की इबादत के लिए इस्लाम धर्म-दर्शन में निम्नलिखित पाँच नियमों के पालन का विधान है–
   (*i*) अल्लाह, उसके पैगंबर हजरत मोहम्मद साहब और कुरान शरीफ में विश्वास एवं आस्था करना।
   (*ii*) पाँच वक्त की नमाज पढ़ना।
   (*iii*) रमजान के महीने में रोजा (उपवास) रखना।
   (*iv*) अपनी नेक कमाई में से जकात (दान) देना।
   (*v*) जीवन में कम-से-कम एक बार बिना कर्ज लिए हज करना।

   पाक-साक होने के लिए इस्लाम में पाँच कार्यों के सम्पादन को आवश्यक माना गया है–
   (*i*) अल्लाह से डरना।
   (*ii*) शरीर एवं मन से शुद्ध एवं निर्मल होना।
   (*iii*) दीन-हीनों की सहायता करना।
   (*iv*) स्त्रियों का आदर करना।
   (*v*) दुर्बल की हाय से बचना।

नोट

9. **राज्य का काम जनता को सही रास्ते पर लगाना है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार शासक (राजा, राज्य) को हजरत मोहम्मद साहब के बताए रास्ते पर चलना चाहिए और अपनी जनता को भी उसी के बताए रास्ते पर चलने की शिक्षा देनी चाहिए। उसे अपनी जमीन की रक्षा करनी चाहिए और साथ ही किसी दूसरे शासक (राजा, राज्य) की जमीन नहीं छीननी चाहिए। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार यदि किसी राज्य को अपनी जमीन, अपने धर्म और अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़े तो उसे युद्ध करना चाहिए।

क्या आप जानते हैं ईसा की छठी शताब्दी में अरब देशों में अज्ञान का घोर अंधकार छाया हुआ था।

12.3 इस्लामी परंपराएँ (Islamic Traditions)

प्रारंभ में इस्लाम धर्म का एक ही रूप था परंतु आगे चलकर इसमें कई सम्प्रदाय (मत) विकसित हो गए। इनमें चार सम्प्रदाय हैं–(*i*) सूफी, (*ii*) सुन्नी, (*iii*) शिया और (*iv*) अहल हदीस। इनमें सूफी सर्वाधिक बल ज्ञान पर देते हैं, सुन्नी अल्लाह की इबादत पर देते हैं, शिया शरीर की शुद्धता और मन की पवित्रता पर देते हैं और अहल हदीसी समानता पर देते हैं। परंतु कुल मिलाकर ये सभी एक अल्लाह में विश्वास करते हैं, हजरत मुहम्मद साहब को अल्लाह का अंतिम रसूल (पैगम्बर) मानते हैं और कुरान शरीफ को अपना धर्म ग्रंथ मानते हैं। साथ ही इनकी अपनी कुछ समान परंपराएँ भी हैं जो दुनिया भर के इस्लाम धर्मावलंबियों को एक सूत्र में बाँधे हैं। ये सभी दिन में पाँच वक्त नमाज पढ़ते हैं अर्थात् अल्लाह की इबादत करते हैं, अल्लाह के नाम पर जकात (दान) देते हैं, रमजान के पवित्र महीने में रोजा (उपवास) रखते हैं और रमजान का महीना समाप्त होने के बाद दौज का चाँद दिखाई देने के दूसरे दिन ईद मुबारिक मनाते हैं और इस दिन एक साथ नमाज पढ़ते हैं और एक-दूसरे से गले मिलकर समानता, भाईचारे और प्रेम का इजहार करते हैं। ये सभी हज करने (मक्का जाकर काबा शरीफ में अल्लाह की इबादत करने) को अपना पवित्र फर्ज मानते हैं। ये सभी शरियत (धर्म आधारित सामाजिक कानूनों) को मानते हैं और उनका पालन करते हैं। ये **बिसमिल्लाह** (विद्यारंभ), **खतना, निकाह** (विवाह) और **अंतिम संस्कार** करते हैं, यह अलग बात है कि कुछ भिन्नता के साथ करते हैं। परंतु एक बात जिस पर ये सभी अमल करते हैं वह यह कि ये सभी संस्कारों का सम्पादन अल्लाह को साक्षी करके करते हैं, जीवन काल में होने वाले संस्कारों पर व्यक्ति विशेष के लिए सत्य मार्ग पर चलने की दुआएँ करते हैं और जीवन के अंत में होने वाले अंतिम संस्कार में फातिहा पढ़ते हैं और मृतक का तीजा, दसवाँ और चालीसा करते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. जिब्राइल ने मोहम्मद साहब से कहा था–
   (अ) इकरा (ब) बकरा (स) मकड़ा (द) इनमें से कोई नहीं
4. जिस दिन मोहम्मद साहब मक्का शहर छोड़कर मदीना शहर गए, उस दिन से ही शुरू हुआ–
   (अ) इस्लाम सन् संवत् (ब) इस्लामी सन् हिजरी (स) इस्लाम धर्म (द) इनमें से कोई नहीं
5. इस्लाम धर्म के अनुसार इस सृष्टि की रचना की है–
   (अ) मनुष्य ने (ब) अल्लाह ने (स) प्रकृति ने (द) इनमें से कोई नहीं
6. इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को मानते थे–
   (अ) अमृत (ब) विष (स) आवश्यक (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

12.4 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराएँ और शिक्षा (Philosophy & Traditions of Islamic Religion and Education)

इस्लाम मूलत: एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था। कुछ समय बाद कुछ विद्वानों ने उसका दर्शन स्पष्ट करना शुरू कर दिया और इस धर्म-दर्शन के आधार पर मनुष्यों के लिए एक जीवन शैली निश्चित कर दी जिसने धीरे-धीरे परम्परा का रूप ले लिया। इस्लामी शिक्षा इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं पर आधारित है। यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे रूढ़िवादी शिक्षा कहते हैं। यहाँ इस्लाम धर्म-दर्शन एवं इस्लामी परम्पराओं के शिक्षा पर प्रभाव का क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा को प्रकाश माना गया है, ऐसा प्रकाश जिससे अज्ञान रूपी अंधकार दूर होता है। इसमें शिक्षा को ज्ञान एवं क्रिया में समन्वय करने वाली क्रिया के रूप में प्रयोग किया गया है। ज्ञान से तात्पर्य कुरान शरीफ में दिए गए ज्ञान से है और क्रिया से तात्पर्य कुरान शरीफ में बताए गए आचरण से है। ये ज्ञान एवं क्रिया में भेद नहीं करते, इनकी दृष्टि से जिसके द्वारा मनुष्यों को कुरान शरीफ में दिए गए ज्ञान को सिखाया जाता है और फिर उस ज्ञान के अनुसार व्यवहार करना सिखाया जाता है, वही सच्ची शिक्षा है। इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब के अनुसार शिक्षा माँ की गोद से कब्र तक चलनी चाहिए। साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षा को उसके व्यापक रूप में लिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों के विकास पर बल दिया गया है। इसमें भी सबसे अधिक बल मनुष्यों को कुरान शरीफ के ज्ञान और उसके दिखाए गए मार्ग पर चलने के प्रशिक्षण पर दिया गया है। इसके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **ज्ञान का विकास**–इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को अमृत मानते थे। उनकी दृष्टि से जीवन जीने के लिए इस दुनिया का ज्ञान आवश्यक है और निजात (मुक्ति) के लिए अल्लाह के आदेशों का ज्ञान आवश्यक है। जब इस धर्म की पुस्तक कुरान शरीफ तैयार हो गई तो फिर मुक्ति के लिए उसका ज्ञान आवश्यक माने जाने लगा। कुरान शरीफ में स्पष्ट रूप से हिदायत दी गई है कि इस्लाम के मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुरान शरीफ पढ़नी चाहिए और इसमें दिए गए ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए और इसमें दिखाए गए रास्ते पर चलना चाहिए।
2. **सांस्कृतिक विकास**–कुरान शरीफ में जन्म से मरण तक के संस्कारों का वर्णन है, जिनका सम्पादन करना इस्लाम धर्म के मानने वालों के लिए अनिवार्य है। इस धर्म के आधार पर जो सामाजिक कानून बनाए गए हैं उन्हें **शरियत** कहा जाता है। शरियत में दिए गए कानूनों को सबको मानना आवश्यक है। इसी आधार पर इस्लाम के मानने वालों की अपनी एक अलग संस्कृति का विकास हुआ है। इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं के अनुसार कुरान शरीफ और शरियत का ज्ञान कराना और उसके अनुसार मनुष्यों को जीवन जीने में प्रशिक्षित करना शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य होता है।
3. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं के अनुसार इस्लाम धर्म के मानने वाले सभी मनुष्यों को कुरान शरीफ में दिए गए नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए और किसी भी स्थिति में मोहम्मद साहब के दिखाए गए रास्ते पर चलना चाहिए। कुरान शरीफ में साफ लिखा है कि खुदा का फज्ल (कृपा) उन्हीं पर होता है जो नैतिक नियमों का पालन करते हैं और चरित्रवान होते हैं। अत: प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने अंदर छिपे शैतान को मारे और पाक-साफ होकर खुदा की इबादत करे। इस्लामी परम्परा में शिक्षा द्वारा इसके विकास पर विशेष बल दिया जाता है।

नोट

4. **कला-कौशल एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण**—इस्लाम धर्म-दर्शन भौतिक सुख भोग में भी विश्वास करता है, परंतु साथ ही इसमें यह हिदायत दी गई है कि यह भोग सब मनुष्य मिल बाँटकर करेंगे। भौतिक सुख भोग की पहली आवश्यकता है भौतिक सुख भोग की वस्तुओं का उत्पादन। इसके अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्यों को वे सब कला-कौशल सिखाए जाने चाहिए जिनके उत्पाद मनुष्यों को सुख प्रदान करते हैं और साथ ही उन्हें तत्संबंधी व्यवसायों में निपुण करना चाहिए, जिससे उत्पादित वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था हो सके।
5. **इस्लाम धर्म की शिक्षा**—इस्लाम धर्म ठोस एकेश्वरवादी धर्म है। इस धर्म में साफ हिदायत है कि इस्लाम के मानने वालों को एक अल्लाह के अतिरिक्त किसी अन्य देवी-देवता को नहीं मानना है, हजरत मोहम्मद साहब को खुदा का अंतिम पैगंबर मानना है और कुरान शरीफ को अंतिम धार्मिक पुस्तक मानना है और कुरान शरीफ का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण करना है। यह तभी संभव है जब बच्चों को प्रारंभ से ही कुरान शरीफ का अध्ययन कराया जाए और कुरान शरीफ में बताए गए रास्ते के अनुसार उन्हें आचरण करने में प्रशिक्षित किया जाए। इस्लामी धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में यह शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य माना गया है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

इस्लाम धर्म-दर्शन और परम्पराओं के अनुसार शिक्षा के पाँच प्रमुख उद्देश्य हैं—ज्ञान का विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, कला-कौशल एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण और इस्लाम धर्म की शिक्षा। इस्लामी परम्पराओं में इन सबकी प्राप्ति के लिए समन्वित रूप से प्रयास किया जाता है और इन सबकी प्राप्ति के लिए कुरान शरीफ के ज्ञान को आवश्यक माना जाता है। इस्लामी शिक्षा की पाठ्यचर्या को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं—

1. **भौतिक विषय**—भाषा, साहित्य, भाषाशास्त्र, व्याकरण, समाज विज्ञान, इतिहास, राजनीति विज्ञान, गणित, ज्योतिष शास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, कृषि, उद्योग, वाणिज्य, चित्रकला, भवन निर्माण, नक्कासी, शिल्प कौशल और युद्ध कला।
2. **भौतिक क्रियाएँ**—एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार एवं दीन-हीनों की सेवा।
3. **धार्मिक विषय**—धर्मशास्त्र (कुरान शरीफ, हदीसें और अन्य धार्मिक ग्रंथ), अध्यात्म शास्त्र (आसमानी ज्ञान), इस्लामी दर्शन और शरियत (इस्लामी कानून) और नसीहतें (पैगंबर, दरवेश, नबी, रब्बानी, जोंसलेमा आदि द्वारा दिए गए उपदेश)।
4. **धार्मिक क्रियाएँ**—नमाज़ एवं रोजा।

शिक्षण विधियाँ

इस्लाम धर्म-दर्शन एक कठोर एकेश्वरवादी धर्म-दर्शन है। इसके आधार पर पड़ी परम्पराएँ भी अपने में कठोर हैं। परिणाम यह है कि इस्लाम धर्म-दर्शन के द्वारा विकसित सीखने-सिखाने की विधियों में भी बहुत कम परिवर्तन हुआ है। इस परम्परा में सीखने-सिखाने की जिन विधियों का स्थान है, उन्हें हम आज की भाषा में निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं—

1. **अनुकरण विधि**—इस्लाम धर्म-दर्शन इस तथ्य से अवगत है कि अनुकरण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बच्चे प्रारंभ में इसी विधि से सीखते हैं। इस्लामी शिक्षा में प्राथमिक स्तर पर सर्वाधिक प्रयोग इसी विधि का होता है। उस्ताद (शिक्षक) अक्षरों, पहाड़ों और कुरान शरीफ की आयतों का उच्च स्वर में उच्चारण करते हैं और शागिर्द (शिष्य) सामूहिक रूप से उनका अनुकरण करते हैं। यह कार्य बार-बार दोहराया जाता है और बच्चे सीखे हुए ज्ञान को स्मरण करते हैं। इसे सामान्य भाषा में रटना कहते हैं। प्रारंभिक स्तर पर उच्चारण एवं सुलेख की शिक्षा भी इसी विधि से दी जाती है। बच्चों व बड़ों को नवाज पढ़ना भी इसी विधि से सिखाया जाता है। उच्च शिक्षा में इसका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है।

नोट

2. **भाषण, व्याख्यान एवं व्याख्या विधि**–इस्लामिक शिक्षा में उच्च शिक्षा में प्रारंभ से ही सामान्यत: भाषण विधि का प्रयोग किया जाता रहा है। भाषण का विकसित रूप है व्याख्यान और व्याख्यान विधि की सफलता निर्भर करती है व्याख्यान में आए तथ्यों की व्याख्या पर। इस्लामी शिक्षा में उच्च स्तर पर सैद्धांतिक विषयों का शिक्षण प्राय: इन तीनों विधियों के संयुक्त रूप से ही किया जाता है।
3. **तर्क विधि**–तथ्यों को सीधे ग्रहण न करके विषय में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्न करने, अपनी शंकाओं को बार-बार उठाने और तर्क के आधार पर उनका समाधान खोजने की विधि को तर्क विधि कहते हैं। इस्लामी शिक्षा में इस विधि का प्रयोग दर्शन जैसे गूढ़ विषयों के शिक्षण में किया जाता है।
4. **स्वाध्याय विधि**–स्वाध्याय का अर्थ है–स्वयं अध्ययन करना। इस विधि में शिक्षार्थी पाठ्यविषय से संबंधित पुस्तकों का पठन कर तथ्यों की जानकारी स्वयं करते हैं। शिक्षार्थियों द्वारा प्रामाणिक ग्रथों को स्वयं पढ़कर समझने की विधि ही स्वाध्याय विधि है। इस विधि का प्रयोग उच्च शिक्षा में किया जाता है।
5. **प्रदर्शन, प्रयोग एवं अभ्यास विधि**–यह विधि अनुकरण एवं अभ्यास विधि का ही विकसित रूप है। इस्लामी शिक्षा में इस विधि का प्रयोग कला-कौशलों की शिक्षा के लिए किया जाता है। उस्ताद (शिक्षक) सिखाए जाने वाली कला अथवा कौशल को करके दिखाते हैं, शागिर्द (शिक्षार्थी) उसे देखते-समझते हैं और फिर उसी प्रकार उसे करने का प्रत्यन करते हैं। अभ्यास द्वारा वे उसमें दक्षता प्राप्त करते हैं।

अनुशासन

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में अनुशासन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसके अनुसार मोहम्मद साहब के दिखाए गए मार्ग पर चलना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन का पहला कदम है अपने अंदर छिपे शैतान को मारना, दूसरा कदम है संयम बरतना और तीसरा कदम है नियमों का पालन करना और भूल होने पर तोबा (पश्चाताप) करना एवं भूल सुधार करना। इसका विश्वास है कि वास्तविक अनुशासन की स्थापना के लिए यह सब करना आवश्यक है। परंतु आगे चलकर इसका रूप बदल गया। स्कूलों में अनुशासन का अर्थ उस्तादों के आदेशों के पालन में लिया जाने लगा और इसकी स्थापना के लिए शागिर्दों को कठोर दंड दिया जाने लगा। वर्तमान में भी इस्लामी शिक्षा के क्षेत्र में अुनशासन को इसी रूप में लिया जाता है।

शिक्षक

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस्लाम के मानने वाले अल्लाह को सबसे बड़ा शिक्षक मानते हैं और उसके बनाए गए पैगम्बर, उलेमा, रसूल व नबी को भी शिक्षक की श्रेणी में रखते हैं। इनकी दृष्टि से शिक्षक का सर्वप्रमुख कार्य **कुफ्र** (अल्लहा की किसी दूसरे से तुलना करना) के अंधकार को समाप्त कर **ईमान** (एक अल्लाह पर यकीन) का प्रकाश लाना है। कुरान शरीफ के अनुसार सामान्य शिक्षकों को भी कुरान शरीफ का ज्ञान होना चाहिए, उन्हें अल्लाह को मानने वाला और दूसरों को अल्लाह की राह दिखाने वाला होना चाहिए। साथ ही उन्हें हिकमत वाला अर्थात् पढ़ाए-सिखाए जाने वाले विषय एवं क्रियाओं का स्पष्ट ज्ञान रखने वाला होना चाहिए और भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान के सम्प्रेषण में दक्ष होना चाहिए। उन्हें शिक्षार्थियों के प्रति पितातुल्य व्यवहार करना चाहिए और समाज को सही रास्ता दिखाने वाला होना चाहिए।

शिक्षार्थी

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अल्लाह और पैगम्बर मोहम्मद साहब में विश्वास करें और उनके दिखाए गए मार्ग पर चलें। वे संयमी और परिश्रमी हों, अपने शिक्षकों की आज्ञा का पालन करें, एक-दूसरे के प्रति विनम्रतापूर्ण व्यवहार करें, कभी कोई अपराध न करें और यदि भूल से कभी अपराध हो जाए तो उसके लिए तोबा (पश्चाताप) करें।

शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध

इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच पिता-पुत्र जैसे संबंध होने चाहिए, परंतु इसके आधार पर विकसित परम्पराओं में शिक्षक और शिक्षार्थियों में शासक-शासित जैसे संबंध होते हैं।

नोट

विद्यालय

इस्लाम धर्म के प्रचार के समय आज जैसे विद्यालय नहीं थे। आगे चलकर जिन स्थानों पर प्रारंभिक शिक्षा एवं इस्लाम धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें **मकतब** कहा जाने लगा, जहाँ उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें **मदरसा** कहा जाने लगा और जहाँ केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें **उलम** कहा जाने लगा। इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं पर आधारित विद्यालयों का स्वरूप कुछ अपने प्रकार का होता है। या तो ये मस्जिदों के पास बनाए जाते हैं या इनके अंदर मस्जिदें बना दी जाती हैं। इनमें किसी भी प्रकार की शिक्षा के साथ इस्लाम धर्म की शिक्षा अवश्य दी जाती है। इसमें इस्लाम धर्म के जानने एवं मानने वाले शिक्षक नियुक्त किए जाते हैं और कठोर अनुशासन व्यवस्था कायम की जाती है।

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराएँ और शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—इस्लाम धर्म में ज्ञान को अमृत कहा गया है, तब सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। कुरान शरीफ में कलम की स्याही को शहीदों के खून से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह भी इस बात का संकेत है कि समाज में सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। वैसे भी इस्लाम में हर माँ-बाप को अपने बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करने का फर्ज निश्चित किया गया है और साथ ही शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक मर्द व औरत का फर्ज माना गया है। परंतु सच बात यह है कि इस धर्म-दर्शन की परम्पराओं में जन शिक्षा का अर्थ इस्लाम धर्म की शिक्षा से लिया गया है।
2. **स्त्री शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन के प्रतिपादक मोहम्मद साहब ने स्त्री शिक्षा पर बहुत बल दिया है परंतु आगे चलकर इसके आधार पर कुछ ऐसी परम्परा विकसित हुई जिसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा का निषेध कर दिया गया। इसके खिलाफ **इब्ददोष** ने आवाज उठायी तो उसे पत्थर मार-मार कर मार डाला गया। वर्तमान में पाश्चात्य देशों के प्रभाव से इसमें बदलाव आना शुरू हुआ है।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार अल्लाह ने दुनिया की सारी चीजें मनुष्यों के भोग के लिए बनाई हैं और मनुष्यों को अपनी इबादत के लिए बनाया है। यह धर्म भौतिक सुख-भोग में भी विश्वास करता है, परंतु इस हिदायत के साथ कि यह भोग सब मिल बाँटकर करें। तब भोग की वस्तुओं का उत्पादन आवश्यक है। इसके लिए इस धर्म-दर्शन में कला-कौशलों एवं व्यवसायों के सीखने पर बल दिया गया है।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उस पर आधारित परम्पराओं में शिक्षा का तात्पर्य मूल रूप से इस्लाम धर्म की शिक्षा से लिया जाता है और इसके बाद व्यावहारिक शिक्षा से लिया जाता है। व्यावहारिक शिक्षा में भी मनुष्यों के मनुष्यों के प्रति व्यवहार की शिक्षा पर बल दिया जाता है। साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं के अनुसार धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से होनी चाहिए और होती भी है।

टास्क इस्लाम धर्म–दर्शन के मूल सिद्धांतों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

12.5 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Islamic Religion, Philosophy and Traditions of Education)

इस्लाम मूल रूप में धर्म के क्षेत्र के बहुदेवत्ववाद और सामाजिक क्षेत्र के वर्ग भेद के विरुद्ध एक आंदोलन था, जिसने आगे चलकर एकेश्वरवादी धर्म और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की। आगे चलकर विद्वानों ने इस धर्म की दर्शनिक व्याख्या भी शुरू कर दी, जिसके परिणामस्वरूप इस्लाम दर्शन का विकास हुआ। कालांतर में इस

नोट

धर्म दर्शन पर आधारित परम्पराएँ विकसित हुईं, जिनमें शिक्षा का अपना एक विशिष्ट रूप विकसित हुआ। परंतु वर्तमान की परिस्थितियों की दृष्टि से इस इस्लामी परम्परावादी शिक्षा के अपने कुछ गुण-दोष हैं, यहाँ उन्हीं गुण-दोषों का वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा को ज्ञान के पर्याय के रूप में लिया गया है और ज्ञान से इसका तात्पर्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान से है। इस धर्म-दर्शन पर आधारित परम्पराओं में कुरान शरीफ के ज्ञान को प्राप्त करने और कुरान शरीफ में बताए गए मार्ग पर चलने को ही सच्ची शिक्षा माना जाता है। इसके अनुसार मनुष्य की यह शिक्षा माँ की गोद से कब्र तक चलनी चाहिए।

साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा की प्रकृति को तो यह स्पष्ट नहीं किया गया है परंतु उसे मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास का साधन बताकर उसे एक विस्तृत रूप अवश्य प्रदान किया गया है और साथ ही उसे उसके व्यापक रूप-जन्म से मरण तक चलने वाली प्रक्रिया के रूप में लिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य

इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं की दृष्टि से शिक्षा के मुख्य रूप से पाँच उद्देश्य होने चाहिए—ज्ञान का विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, कला-कौशलों एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण और इस्लाम धर्म की शिक्षा। इन उद्देश्यों में सर्वाधिक बल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर दिया गया है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि इन उद्देश्यों में मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के सभी पक्ष सम्मिलित हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि ये इस्लाम धर्म-दर्शन के ज्ञान एवं तदनुरूप आचरण तक सीमित हैं। ज्ञान से इसका तात्पर्य मूल रूप से कुरान शरीफ के ज्ञान से है, संस्कृति से तात्पर्य केवल इस्लामी संस्कृति से है, नैतिकता से तात्पर्य केवल इस्लाम धर्म पर आधारित नैतिकता से है, कला-कौशलों में भी मुख्य रूप से इस्लामी देशों के कला-कौशलों एवं व्यवसायों पर बल है और धार्मिक शिक्षा के नाम पर तो केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल है। साफ जाहिर है कि ये उद्देश्य इस्लामी देशों की शिक्षा के उद्देश्य तो हो सकते हैं, परंतु संसार भर की शिक्षा के उद्देश्य नहीं हो सकते।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या में भी इस्लाम धर्म-दर्शन ने इस्लामी देशों की भाषा और उनके साहित्यों को स्थान दिया है। चिकित्सा विज्ञान में भी केवल यूनानी चिकित्सा को स्थान दिया है और धार्मिक शिक्षा में केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल दिया है। भौतिक विषयों में इतिहास, भूगोल एवं कला-कौशलों को भी इस्लामी देशों के इतिहास, भूगोल एवं कला-कौशलों तक सीमित रखा है। हाँ, गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों को उनके वस्तुनिष्ठ एवं व्यापक रूप में स्थान दिया है।

साफ जाहिर है कि अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण इस धर्म-दर्शन ने शिक्षा की पाठ्यचर्या भी संकुचित ही बनाई है। फिर आज के युग में पाठ्यचर्या में धर्म की शिक्षा को अनिवार्य करना और अनिवार्य विषयों में भी उसे सर्वप्रमुख स्थान देना युक्तिसंगत नहीं है।

शिक्षण विधियाँ

जहाँ तक शिक्षिण विधियों का प्रश्न है इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उनके आधार पर विकसित परम्पराओं पर आधारित विद्यालयों में आज भी अनुकरण एवं अभ्यास, व्याख्यान, तर्क, स्वाध्याय एवं प्रदर्शन विधियों पर सर्वाधिक बल दिया जाता है और इनमें भी रटने पर सबसे अधिक बल दिया जाता है।

साफ जाहिर है कि शिक्षण विधियों के क्षेत्र में इस्लाम धर्म-दर्शन की कोई विशेष देन नहीं है। इसमें रटने पर अधिक बल दिया गया है और इसे आज एकदम अच्छा नहीं माना जाता।

नोट

अनुशासन

यूँ इस्लाम धर्म-दर्शन में कुरान शरीफ में दिखाए गए मार्ग पर चलने अर्थात् अपने अंदर के शैतान को मारने, संयम बरतने, नियमों का पालन करने और भूल होने पर पश्चाताप कर अपने को सुधारने को ही अनुशासन कहा गया है, परंतु इस्लाम धर्म-दर्शन के आधार पर विकसित परम्परागत स्कूलों में शिक्षकों के आदेशों के पालन करने को ही सच्चा अनुशासन माना जाता है और भूल सुधार के लिए पश्चाताप का अवसर प्रदान न कर, कठोर दंड दिया जाता है।

वर्तमान में मनोविज्ञान के क्षेत्र में की गई शोधों के परिणाम बताते हैं कि दंड से अधिकतर बच्चे सही रास्ते पर आने के स्थान पर अपराधों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। दंड से अस्थायी व्यवस्था कायम तो की जा सकती है, परंतु बच्चों में अनुशासन की भावना विकसित नहीं की जा सकती।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

यूँ इस्लाम धर्म-दर्शन सर्वप्रथम शिक्षकों से ज्ञानी और शिक्षार्थियों से ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक होने की अपेक्षा करता है, परंतु ज्ञान से उसका मुख्य तात्पर्य इस्लामी ज्ञान से है। इनके आपसी संबंधों के विषय में उसका स्पष्ट निर्देश है कि इनके बीच पिता-पुत्र जैसे संबंध होने चाहिए, यह दूसरी बात है कि इस्लामी परंपरागत स्कूलों में इनके बीच शासक एवं शासित जैसे संबंध होते हैं।

वर्तमान में लोकतंत्रीय देशों में शिक्षक-शिक्षार्थियों के बीच इस प्रकार के संबंधों का विरोध किया जाता है और लोकतांत्रिक संबंधों की स्थापना पर बल दिया जाता है।

विद्यालय

इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परंपराओं के अनुसार विद्यालय मुख्य रूप से इस्लाम धर्म-दर्शन और संस्कृति के प्रचारक एवं प्रसारक होने चाहिए।

विद्यालयों के विषय में यह दृष्टिकोण भी संकुचित ही कहा जाएगा।

शिक्षा के अन्य पक्ष

जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के संबंध में भी इस्लाम धर्म-दर्शन में जो निर्देश हैं उनको परंपरागत शिक्षा में कुछ अपने तरीके से स्थान है। इस्लाम जन शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा का पोषक है, परंतु उसकी परंपराओं में जन शिक्षा का कोई विधान नहीं है और स्त्री शिक्षा का निषेध है, यह बात दूसरी है कि अब इसमें बदलाव आ रहा है। धर्म शिक्षा के संबंध में इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उसके आधार पर विकसित परंपराओं में समानता है। दोनों ही केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल देते हैं। वर्तमान युग में इसे धर्म के प्रति संकुचित दृष्टिकोण ही कहा जाएगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. इस्लाम धर्म–दर्शन में शिक्षा को प्रकाश माना गया है।
8.. इस्लाम धर्म–दर्शन एक कठोर एकेश्वरवादी धर्म–दर्शन है।
9. समाजवाद का पहला मूलमंत्र है कि सब मनुष्य समान हैं।
10. इस्लाम धर्म–दर्शन के अनुसार, इस सृष्टि की रचना मोहम्मद साहब ने की है।

नोट

12.6 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म-दर्शन अपने समय के बहुदेवत्ववाद और सामाजिक वर्ग भेद को मिटाने में बड़ा सफल रहा। वर्तमान में हम जिस समाजवाद की चर्चा करते हैं उस समाजवाद की स्थापना आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व हजरत मोहम्मद साहब ने कर दी थी। समाजवाद का पहला मूल मंत्र है कि सब मनुष्य समान हैं, दूसरा मूल मंत्र है कि सबको मिल-बाँटकर उपभोग करना चाहिए और तीसरा मूल मंत्र है कि किसी को किसी दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिए। कुरान शरीफ हमें यही पाठ पढ़ाती है। परंतु उसके आधार पर विकसित परंपराएँ बहुत कुछ संकीर्ण रहीं, जिसके कारण वह दुनिया भर के लोगों को सही रास्ता नहीं दिखा पाया। शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में भी उसका दृष्टिकोण संकुचित है, वह इस्लाम धर्म के मानने वालों के लिए बहुत उपयोगी है, परंतु इस्लामेतर धर्मों को मानने वालों के लिए उतना उपयोगी नहीं है। वर्तमान में शिक्षा के प्रति एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जो संसार भर के लोगों का मार्गदर्शन कर सके, यह दृष्टिकोण संकुचित नहीं होना चाहिए, कुछ को नहीं, सभी को ग्राह्य होना चाहिए।

12.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **अल्लाह** (God) : ब्रह्म
2. **परंपराएँ** (Traditions) : रीतियाँ

12.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. इस्लाम धर्म–दर्शन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. इस्लाम धर्म–दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
3. इस्लामी परंपराएँ एवं शिक्षा पर टिप्पणी लिखिए।
4. इस्लाम धर्म–दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. जिब्राइल	2. अल्लाह (ब्रह्म, God)	3. (अ)	4. (ब)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8 सही
9. सही	10. गलत		

12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–13 : महात्मा गाँधी का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thought of Mahatma Gandhi)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 महात्मा गाँधी का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Mahatma Gandhi)

13.2 महात्मा गाँधी का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Mahatma Gandhi)

13.3 महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Mahatma Gandhi)

13.4 महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of the Educational Thought of Mahatma Gandhi)

13.5 सारांश (Summary)

13.6 शब्दकोश (Keywords)

13.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- महात्मा गाँधी का जीवन दर्शन जानने हेतु।
- महात्मा गाँधी का दार्शनिक चिंतन जानने हेतु।
- महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति है। इसी को ये मुक्ति कहते थे। परंतु ये मनुष्य को पहले अपने भौतिक विकास करने और अपने को भौतिक अभावों से मुक्त करने पर बल देते थे। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए इन्होंने गीता के अनाशक्ति योग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए श्रम, नैतिकता एवं चरित्र के महत्त्व को स्वीकार किया है। ये इन्हें ही मानव जीवन के मूल्य मानते थे। इन्होंने इनकी प्राप्ति के लिए एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पर्शता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन पर बल दिया है।

नोट

13.1 महात्मा गाँधी का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Mahatma Gandhi)

गाँधी जी की प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश पोरबंदर की एक पाठशाला में हुआ। जब ये 7 वर्ष के थे, इनके पिता राजकोट के दीवान हो गए थे। तक ये उनके साथ राजकोट चले गए और वहाँ के एक विद्यालय में पढ़ने लगे। पढ़ने में ये सामान्य स्तर के बालक थे। खेल-कूद में भी इनकी कम रुचि थी। हाँ, खेल-कूद, तमाशे और नाटक आदि देखने में ये रुचि लेते थे। सत्यवादी हरिश्चंद्र नाटक का इनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर इनके जीवन दर्शन का आधार बना, ये सत्य के पुजारी बने। स्वभाव के ये शर्मीले और कुछ भीरू थे। जब ये केवल तेरह वर्ष के थे इनका विवाह कर दिया गया। अब तो इनका मन पढ़ने-लिखने में और भी कम लगने लगा। इस समय इन पर कुसंग का कुप्रभाव भी पड़ा परंतु ये उससे शीघ्र ही निकल आए।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में वर्तमान गुजरात प्रदेश के पोरबंदर नामक स्थान पर एक वैष्णव धर्मावलंबी, संपन्न एवं प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इनका वास्तविक नाम मोहनदास कर्मचंद गाँधी था। इनके पिता कर्मचंद गाँधी पोरबंदर राज्य के दीवान थे और बड़े धार्मिक एवं सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इनकी माता श्रीमती पुतलीबाई भी बड़ी धार्मिक एवं सात्विक प्रवृत्ति की महिला थीं। महात्मा गाँधी पर अपने इस पारिवारिक पर्यावरण का बड़ा प्रभाव पड़ा।

गाँधी जी की प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश पोरबंदर की एक पाठशाला में हुआ। जब ये 7 वर्ष के थे, इनके पिता राजकोट के दीवान हो गए थे। तक ये उनके साथ राजकोट चले गए और वहाँ के एक विद्यालय में पढ़ने लगे। पढ़ने में ये सामान्य स्तर के बालक थे। खेल-कूद में भी इनकी कम रुचि थी। हाँ, खेल-कूद, तमाशे और नाटक आदि देखने में ये रुचि लेते थे। सत्यवादी हरिश्चंद्र नाटक का इनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर इनके जीवन दर्शन का आधार बना, ये सत्य के पुजारी बने। स्वभाव के ये शर्मीले और कुछ भीरू थे। जब ये केवल तेरह वर्ष के थे इनका विवाह कर दिया गया। अब तो इनका मन पढ़ने-लिखने में और भी कम लगने लगा। इस समय इन पर कुसंग का कुप्रभाव भी पड़ा परंतु ये उससे शीघ्र ही निकल आए।

1885 में आपने हाई स्कूल परीक्षा पास की और फिर उच्च शिक्षा के लिए भावनगर के श्यामलाल कॉलिज में प्रवेश लिया। परंतु गाँधी जी का मन इस शिक्षा में नहीं लगा। 1887 में ये कानून की शिक्षा लेने इंग्लैण्ड गए। यहाँ इन्होंने कानून की शिक्षा के साथ-साथ 'बाइबिल' और 'लाइट ऑफ एशिया' के अध्ययन और श्रीमती एनी बेसेंट का सत्संग करने का अवसर भी मिला। इसका इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। 1891 में ये बैरिस्ट्री की परीक्षा पास करके भारत लौटे।

यहाँ आकर इन्होंने बम्बई तथा राजकोट में वकालत शुरू की। इस कार्य में इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली लेकिन फिर भी ये यही कार्य करते रहे। 1893 में ये एक मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गए। यहाँ इन्होंने भारतीयों की दीन-हीन दशा को देखा और उन पर होने वाले अत्याचार देखे। ये स्वयं भी इन अत्याचारों के शिकार हुए। इनकी आत्मा कराह उठी और ये वहाँ भारतीयों की दशा सुधारने में लग गए। इन्होंने अफ्रीका प्रवासी भारतीयों को संगठित किया और उनके सुधार के लिए ठोस कार्य करने प्रारंभ किए। 1894 में इन्होंने वहाँ 'नेटाल कांग्रेस' की स्थापना की और इस संगठन के माध्यम से अफ्रीका की रंग भेद नीति के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। परंतु तभी इन्हें कुछ दिन के लिए भारत आना पड़ा। यहाँ आने पर इन्होंने लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, जमशेद जी टाटा और दादाभाई नौराजी से भेंट की और भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन चलाने की चर्चा की। परंतु इससे पहले कि ये यहाँ अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ते, इन्हें तार द्वारा अफ्रीका बुला लिया गया। इस बार ये वहाँ सपरिवार गए। वहाँ पहुँचकर इन्होंने रंगभेद नीति के विरुद्ध आंदोलन का नेतृत्व किया। वहाँ की सरकार ने इनके साथ बहुत अमानवीय व्यवहार किया, इन पर बहुत अत्याचार किए, परंतु गाँधी जी इन सबको सहते हुए निर्भीकता से अपना अहिंसात्मक आंदोलन चलाते रहे। 1899 में बोअर युद्ध के समय गाँधी जी ने रेडक्रस सोसाइटी के सहयोग से समाज सेवा कार्य किए। 1901 में जब यह युद्ध समाप्त हुआ, गाँधी जी स्वदेश लौटे। यहाँ आने पर इन्होंने अपनी जीविका कमाने के लिए पुनः वकालत शुरू की। परंतु भारत को अंग्रेजों के अत्याचारों से मुक्त कराने का लक्ष्य भी इनके सामने था। ये यहाँ अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ने ही वाले थे

नोट

कि 1904 में इन्हें फिर अफ्रीका बुला लिया गया। इनके वहाँ पहुँचते ही सत्याग्रह आंदोलन में उफान आ गया। जनवरी, 1915 तक गाँधी जी वहाँ रहे।

अपने अफ्रीका प्रवास काल में गाँधी जी ने दो कार्य किए–एक राजनैतिक आंदोलनों का नेतृत्व और दूसरा शिक्षा केंद्रों की स्थापना। शिक्षा के क्षेत्र में इनका सबसे पहला कार्य दक्षिण अफ्रीका के फोनिक्स स्थान पर एक आश्रम की स्थापना और उसके द्वारा सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी। इस आश्रम में हिंदी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी और चरित्र विकास पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। 1911 में इन्होंने 'टाल्सटॉय फार्म' की स्थापना की। यहाँ पर बच्चों को हस्तकार्य और विभिन्न धर्मों के सामान्य सिद्धांतों की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। यह फार्म गाँधी जी के शिक्षा सिद्धांतों की एक प्रयोगशाला के रूप में विकसित हुआ। जनवरी, 1915 में गाँधी जी भारत लौटे।

नोट्स गाँधीजी गीता को तत्व ज्ञान का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते थे। गीता के अनुसार मूल तत्व दो हैं–पुरुष (ईश्वर) और प्रकृति (पदार्थ); और इनमें ईश्वर श्रेष्ठ है।

अफ्रीका से लौटने के बाद गाँधी जी सर्वप्रथम गोपाल कृष्ण गोखले से मिलने पूना गए। गोखले को वे अपना गुरु मानते थे। उनसे मिलने के बाद ये गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन गए और इनका आशीर्वाद प्राप्त कर भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इनके प्रवेश से यहाँ की राजनीति ने नया मोड़ लिया। इन्होंने राजनीति को सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित किया। 1915 में इन्होंने फोनिक्स फार्म की तरह का एक आश्रम साबरमती में स्थापित किया और उसका नाम 'सत्याग्रह आश्रम' रखा। 1917 में इन्होंने चंपारन में अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन किया। 1919 में इन्होंने असहयोग आंदोलन का श्रीगणेश किया जो 1921 में बड़े पैमाने पर दिखाई दिया। इसी समय इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा योजना के संबंध में विचार प्रकट किए। 1924 में आपने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए आंदोलन प्रारंभ किया। इनके आत्मिक बल का प्रभाव यहाँ की जनता और सरकार दोनों पर पड़ा। इसके बाद 1927 का खादी आंदोलन और विदेशी वस्तुओं के प्रयोग का बहिष्कार, 1930 का नमक कानून के विरुद्ध आंदोलन, 1932 का सत्याग्रह आंदोलन, 1933 का हरिजनोद्धार आंदोलन और 1934 से ग्रामोद्धार का बीड़ा, इनके मुख्य कार्य थे। इस समय इन्होंने अपना साबरमती आश्रम छोड़ दिया और बर्धा में एक नए सेवा ग्राम आश्रम की स्थापना की। इन्होंने प्रण किया कि भारत को स्वतंत्र कराने के बाद ही ये साबरमती आश्रम जाएँगे। वर्धा आश्रम में इन्होंने ग्राम सेवा आंदोलन चलाया। राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप 1937 में प्रांतों में स्व सरकारों का गठन हुआ और ग्यारह प्रांतों में से सात में कांग्रेस मंत्रीमंडल बने। 1937 में इन्होंने हमें बेसिक शिक्षा का विचार दिया जिसे कुछ प्रांतीय सरकारों ने उसी समय स्वीकार किया। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार का साथ न देने का निर्णय लिया और सातों प्रदेशों के कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया।

1942 में स्वतंत्रता संग्राम का दौर पुनः प्रारंभ हुआ। गाँधी जी ने इस 'भारत छोड़ो' आंदोलन का नेतृत्व किया और इसके फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को देश स्वतंत्र हुआ। गाँधी जी अब सक्रिय राजनीति से दूर हो गए और देश ने इन्हें 'राष्ट्र पिता' के रूप में प्रतिष्ठित किया। राष्ट्रपिता गाँधी यूँ तो राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रणेता और संचालक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं परंतु सच बात यह है कि इन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य किए हैं। ये समाज सुधार, ग्रामोद्धार, हरिजनोद्धार और शैक्षिक सुधारों के लिए भी उतने ही आदर के साथ स्मरण किए जाएँगे। धर्म-दर्शन पर भी इन्होंने खुले मस्तिष्क से सोचा-समझा और लिखा है। गाँधी जी ने अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए समाचार-पत्रों का सहारा लिया था। इन समाचार-पत्रों में यंग इंडिया, हरिजन, भूदान यज्ञ, नई तालीम और नया हिंद मुख्य हैं। अपने जीवन में गाँधी जी ने अनेक ग्रंथों की रचना भी की थी। इन ग्रंथों में–**आत्म कथा, सर्वोदय, सत्याग्रह, मेरा धर्म, गीता बोध, गीता माता, हिंदू धर्म, मंगल प्रभात, नीति धर्म, ब्रह्मचर्य, अनाशक्ति योग** और **बेसिक शिक्षा** मुख्य हैं। परंतु आजादी प्राप्त करने के बाद ये इस संसार में अधिक दिन नहीं रह सके। 30 जनवरी, 1948 को एक सिरफिरे ने इन्हें अपनी गोली का शिकार बनाया और ये 'हे राम' के उच्चारण के साथ अपने 'राम' से जा मिले।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. गाँधीजी गोपालकृष्ण गोखले को अपना ..... मानते थे।
2. 1942 में गाँधीजी ने ..... आंदोलन का नेतृत्व किया।

13.2 महात्मा गाँधी का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Mahatma Gandhi)

गाँधी जी को अपने परिवार में वैष्णव धर्म की शिक्षा मिली थी। अपने बचपन में ही इन्होंने मनुस्मृति का एक अनुवाद पढ़ डाला था। गीता तो ये नित्य पढ़ते थे। इंग्लैण्ड में इन्होंने 'बाइबिल' और 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ी थी और श्रीमती एनी बेसेंट का सत्संग किया था। इस सबके आधार पर इनके धार्मिक एवं दार्शनिक विचार बने। परंतु मूल रूप में इनका जीवन दर्शन गीता पर आधारित है। गीता को ये 'गीता माता' कहते थे।

गाँधी जी ने किसी नए दर्शन का निर्माण नहीं किया। इन्होंने भारतीय दर्शन की मूलभूत बातों को ही व्यावहारिक रूप दिया है। परंतु यह व्यावहारिक रूप इनकी अपनी सूझ-बूझ का पारिचायक है, इसलिए उसे आज **गाँधी दर्शन, गाँधीवाद** अथवा **सर्वोदय दर्शन** के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ गाँधी जी के सर्वोदय दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा प्रस्तुत है।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की तत्व मीमांसा

गाँधी जी गीता को तत्व ज्ञान का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते थे। गीता के अनुसार मूल तत्व दो हैं–पुरुष (ईश्वर) और प्रकृति (पदार्थ) और इनमें ईश्वर श्रेष्ठ है। गाँधी जी गीता की इस बात को मानते थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि ईश्वर की श्रेष्ठता दो बातों से स्पष्ट होती है। पहली यह कि यह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है परंतु प्रकृति ईश्वर में व्याप्त नहीं है। दूसरी यह कि ईश्वर इस जगत का निर्माणकर्ता और पालनकर्ता है और वही इसका संहारकर्ता हैं। गाँधी जी ने गीता के इस तथ्य को उजागर किया कि ईश्वर इस जगत का कर्ता है और प्रकृति इसकी उपादन कारण है। ईश्वर को ये सत्य के रूप में मानते थे। सत्य शब्द सत् से बना है और सत् का अर्थ होता है–अस्तित्व, इसलिए सत्य का अर्थ हुआ जिसका अस्तित्व है, जो नित्य है। गाँधी जी का विश्वास था कि ईश्वर अपरिवर्तनशील और नित्य है इसलिए नित्य है और प्रकृति (पदार्थ) परिवर्तनशील और अनित्य है इसलिए असत्य है।

आत्मा को ये परमात्मा का अंश मानते थे। इनका विश्वास था कि जब परमात्मा नित्य एवं सत्य है तो आत्मा भी नित्य एवं सत्य है। गाँधी जी आत्मा, परमात्मा और सत्य इन सभी को उस अनादि एवं अनंत शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे।

मनुष्य को गाँधी जी शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मज्ञान, ईश्वन प्राप्ति और मोक्ष है। इन्होंने मनुष्य जीवन को दो पक्षों में विभाजित किया–एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। इनकी दृष्टि से ये दोनों पक्ष एक दूसरे पर निर्भर करते हैं और एक के विकास बिना दूसरे का विकास नहीं किया जा सकता, अत: मनुष्य के इन दोनों पक्षों का विकास एक साथ करना चाहिए।

अब प्रश्न उठाता है कि मनुष्य के इन दोनों पक्षों–भौतिक एवं आध्यात्मिक का एक साथ विकास कैसे किया जा सकता। है। गाँधी जी का उत्तर है कि मनुष्य के भौतिक पक्ष का विकास करने के लिए मूल रूप से भौतिक ज्ञान एवं क्रियाओं की आवश्यकता होती है जिसे इंद्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष के विकास के लिए मूल रूप से आध्यात्मिक ज्ञान एवं क्रियाओं की आवश्यकता होती है जिसे धर्म ग्रंथों के पाठ, भजन, सत्संग एवं समाज सेवा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ये मनुष्य के दोनों पक्षों के सही रूप में विकास करने के लिए एकादश व्रत-सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता के पालन को भी आवश्यक समझते थे।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

नोट

गाँधी जी ने ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित किया–भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत इन्होंने भौतिक जगत एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक) के ज्ञान को रखा है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत सृष्टि-सृष्टा और आत्मा-परमात्मा संबंधी तत्व ज्ञान को रखा है। गाँधी जी की दृष्टि से मनुष्य को दोनों प्रकार का ज्ञान आवश्यक है, भौतिक जीवन के लिए भौतिक ज्ञान आवश्यक है और आत्म ज्ञान अथवा ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष के लिए आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक है।

गाँधी जी के अनुसार भौतिक ज्ञान की प्राप्ति इंद्रियों द्वारा की जा सकती है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति गीता पाठ, भजन-कीर्तन और सत्संग द्वारा की जा सकती है। गीता को ये आध्यात्मिक ज्ञान का श्रेष्ठतम ग्रंथ मानते थे।

क्या आप जानते हैं गाँधीजी की प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश पोरबंदर की एक पाठशाला में हुआ था।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति है। इसी को ये मुक्ति कहते थे। परंतु ये मनुष्य को पहले अपने भौतिक विकास करने और अपने को भौतिक अभावों से मुक्त करने पर बल देते थे। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए इन्होंने गीता के अनाशक्ति योग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए श्रम, नैतिकता एवं चरित्र के महत्त्व को स्वीकार किया है। ये इन्हें ही मानव जीवन के मूल्य मानते थे। इन्होंने इनकी प्राप्ति के लिए एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पर्शता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन पर बल दिया है।

सत्य गाँधी जी के लिए साध्य एवं साधन दोनों है। साध्य रूप में सत्य वह है जिसका अस्तित्व है, जिसका कभी अंत नहीं होता, अर्थात् ईश्वर। और साधन रूप में सत्य से गाँधी जी का तात्पर्य सत्य विचार, सत्य आचरण और सत्य भाषण से है। अहिंसा से इनका अर्थ समस्त जीवधारियों के प्रति कुविचार के अभाव से है। गाँधी जी की दृष्टि से केवल जीव हत्या ही हिंसा नहीं है अपितु किसी का शोषण करना भी हिंसा है और किसी के प्रति कुविचार रखना भी हिंसा है। इनके विचार से अहिंसा के अभाव में न तो सत्य का पालन हो सकता है और न सत्य की प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा को ये भौतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए परम आवश्यक मानते थे। ब्रह्मचर्य को ये इंद्रिय निग्रह द्वारा मन को अपने वश में करने के अर्थ में लेते थे। इंद्रिय भोग के रस से दूर रहना ही अस्वाद है। अस्तेय का अर्थ है–चोरी न करना। अपरिग्रह का अर्थ है–संग्रह न करना। अभय का अर्थ है–किसी भी प्रकार के भय से मुक्त होना। अस्पृश्यता निवारण का अर्थ है–जन्म के आधार पर किसी को शूद्र न समझना। कायिक श्रम का अर्थ है–बिना श्रम किए किसी वस्तु का भोग न करना। सर्वधर्म समभाव का अर्थ है–सब धर्मों को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानना। और विनम्रता का अर्थ है–अहंकार एवं क्रोध का त्याग तथा दया एवं क्षमा शक्ति का विकास। गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इन व्रतों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेगा वही समस्त प्राणियों के उदय की बात सोचेगा और वही सच्चे अर्थों में सर्वोदयी होगा। गाँधी जी के विचार में ऐसा उदार हृदय व्यक्ति ही भौतिक जीवन में सुख-शांति प्राप्त कर सकता है और आत्म तत्व की अनुभूति कर सकता है।

13.3 महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Mahatma Gandhi)

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी केवल राजनैतिक नेता ही नहीं थे अपितु एक बहुत बड़े धर्म मर्मज्ञ एवं समाज सुधारक भी थे। इन्होंने अपने समय की पुस्तकीय, सैद्धांतिक, संकुचित और परीक्षा प्रधान शिक्षा में सुधार के लिए भी अनेक सुझाव दिए थे। शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

नोट

गाँधी जी शिक्षा को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे और मनुष्य की किसी भी प्रकार की भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिए इसे उतना ही आवश्यक मानते थे जितना बच्चों के शारीरिक विकास के लिए माँ का दूध। यही कारण है कि इन्होंने एक निश्चित आयु तक के बच्चों के लिए सामान्य शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करने पर बल दिया और निःशुल्क करने की बात कही। इनका स्पष्ट मत था कि यह शिक्षा विदेशी भाषा अंग्रेजी के माध्यम से नहीं दी जा सकती, यह शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही दी जा सकती है। वैसे भी ये अंग्रेजी को मानसिक दासता बढ़ाने वाली भाषा मानते थे। ये शिक्षा द्वारा मनुष्य को स्वावलंबी बनाना चाहते थे, उसे अपनी रोजी-रोटी कमाने योग्य बनाना चाहते थे, इसलिए इन्होंने हस्तकौशलों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। साथ ही ये मनुष्य की आत्मिक उन्नति भी करना चाहते थे, इसलिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य को एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता, निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन की ओर प्रवृत्त करने पर बल दिया। गाँधी जी ने अपने इस शिक्षा दर्शन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया और उसे **बेसिक शिक्षा** का नाम दिया। यहाँ गाँधी जी के शैक्षिक विचारों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

गाँधी जी केवल साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे। इनके अपने शब्दों में–**'साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न प्रारंभ। यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरुष स्त्रियों को शिक्षित किया जा सकता है'** (Literacy is not the end of education nor even the beginning. It is only one of the means whereby men and women can be educated.)। गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन, हृदय और आत्मा का योग मानते थे। इनका स्पष्ट मत था कि शिक्षा को मनुष्य के शरीर, मन, हृदय और आत्मा का विकास करना चाहिए। गाँधी जी ने $3R^s$ (Reading, Writing and Arithmetic) की शिक्षा को $3H^s$ (Hand, Head and Heart) की शिक्षा में बदल दिया और कहा कि शिक्षा का कार्य हाथ, मस्तिष्क और हृदय का विकास करना है। इनके अपने शब्दों में–**'शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा के उच्चतम विकास से है'** (By education I mean an all round drawing out of the best, in child and man-body, mind and spirit)।

शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी के विचार से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति को इन्होंने बड़े व्यापक अर्थ में लिया है। ये पहले शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक मुक्ति की बात करते थे और फिर आत्मिक मुक्ति की। इनका तर्क था कि जब तक मनुष्य को शारीरिक दुर्बलता, मानसिक तनाव, आर्थिक अभाव और राजनैतिक दासता से मुक्ति नहीं मिलती तब तक वह आध्यात्मिक मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। यही कारण है कि ये शिक्षा द्वारा मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का उच्चतम विकास करना चाहते थे। शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में गाँधी जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनको हम निम्नलिखित क्रम में अभिव्यक्त कर सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–मनुष्य जीवन का कोई भी उद्देश्य क्यों न हो उसकी प्राप्ति इस शरीर द्वारा ही होती है, अतः इसका विकास अवश्य होना चाहिए। अपने विद्यालयी जीवन में ही गाँधी जी ने शिक्षा के इस उद्देश्य की आवश्यकता अनुभव कर ली थी। आगे चलकर इन्होंने इसे आत्मिक विकास के लिए भी आवश्यक समझा।
2. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार शरीर के साथ मन और आत्मा का भी विकास होना चाहिए। इनका कहना था कि जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए माँ के दूध की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मानसिक विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा को यह कार्य अवश्य करना चाहिए।
3. **वैयष्टिक एवं सामाजिक विकास**–गाँधी जी व्यक्ति के वैयष्टिक और सामाजिक, दोनों प्रकार के विकास पर बल देते थे। व्यक्ति के वैयष्टिक विकास को ये व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, सभी के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। इनकी दृष्टि से वैयष्टिक विकास का उच्चतम रूप आत्मिक विकास है और

नोट

आत्मिक विकास के लिए मनुष्य का सामाजिक विकास आवश्यक है। सामाजिक विकास से गाँधी जी का तात्पर्य मनुष्य को समाज में प्रेम और सहयोग के साथ रहना सिखाने से था। इनका विश्वास था कि मानव मात्र से प्रेम करने और मानव मात्र की सेवा करने से ही आत्मिक विकास संभव है। ये विश्वबंधुत्व के हामी थे।

4. **सांस्कृतिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार संस्कृति का संबंध आत्मा से होता है और वह मनुष्य के व्यवहार में प्रकट होती है। ये मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने और उसकी आत्मिक उन्नति के लिए उसके सांस्कृतिक विकास को आवश्यक समझते थे और इसे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते थे।
5. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–गाँधी जी चरित्र बल के महत्त्व को जानते थे। ये शिक्षा द्वारा इसके विकास पर बल देते थे। एक उत्तम चरित्र में ये सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपिग्रह और निर्भयता, इन गुणों का होना आवश्यक समझते थे। विद्यालयों को ये चरित्र निर्माण की उद्योगशाला कहा करते थे। चरित्र निर्माण के संबंध में इन्होंने लिखा है कि सभी ज्ञान का उद्देश्य उत्तम चरित्र का निर्माण होना चाहिए (The end of all the knowledge must be the building up of character, personal purity.)।
6. **व्यावसायिक विकास**–आर्थिक अभाव से मुक्ति पाने के लिए गाँधी जी व्यावसायिक उद्देश्य पर बल देते थे। ये प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे और इसके लिए उसे किसी हस्त कौशल अथवा उद्योग की शिक्षा देने पर बल देते थे। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि बेसिक शिक्षा द्वारा बच्चों को कम से कम अपनी जीविका कमाने योग्य बनाया जाना चाहिए।
7. **आध्यात्मिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति आत्मानुभूति, आत्मज्ञान अथवा आत्मबोध है। जिन शारीरिक, मानसिक, वैयष्टिक; सामाजिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक और व्यावसायिक विकास की हमने ऊपर चर्चा की है, इन सबका अंतिम उद्देश्य भी मनुष्य को आत्म ज्ञान करने में सहायता करना है। इसके लिए गाँधी जी धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की भी आवश्यकता समझते थे। इस संबंध में गाँधी जी गीता से प्रभावित थे। ये ज्ञान, कर्म भक्ति और योग इन सब पर समान बल देते थे। अहिंसा और सत्याग्रह को ये इनका मूर्त रूप मानते थे।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

गाँधी जी देश की आधारभूत आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। इन्होंने इन आवश्यकताओं की पूर्ति और वर्गविहीन समाज के निर्माण के लिए क्रिया प्रधान पाठ्यचर्या के निर्माण पर बल दिया। अपने द्वारा प्रस्तावित **बेसिक शिक्षा** (कक्षा 1 से कक्षा 8 तक) के लिए इन्होंने क्रिया प्रधान पाठ्यचर्या का ही निर्माण किया था और उसमें सर्वप्रमुख स्थान हस्तकौशलों की शिक्षा को और द्वितीय स्थान मातृभाषा की शिक्षा को दिया था। इन्होंने बेसिक शिक्षा की निम्नलिखित पाठ्यचर्या प्रस्तुत की थी–

1. **हस्त कौशल एवं उद्योग** (कताई, बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठ कला, चर्म कार्य, पुस्तक कला, मिट्टी का काम, मछली पालन, गृह विज्ञान आदि)।
2. **मातृभाषा।**
3. **हिंदुस्तानी** (आज राष्ट्र भाषा हिंदी, उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है)।
4. **व्यावहारिक गणित** (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, नाप-तौल आदि)।
5. **सामाजिक विषय** (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र एवं समाज का अध्ययन)।
6. **सामान्य विज्ञान** (बागवानी, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान और गृह विज्ञान)।
7. **संगीत।**
8. **चित्रकला।**

नोट

9. **स्वास्थ्य विज्ञान** (सफाई, व्यायाम एवं खेल-कूद आदि)।
10. **आचरण शिक्षा** (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा एवं अन्य सामाजिक कार्य)।

शिक्षण विधियाँ

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि उसके सर्वांगीण विकास के लिए इन सबका विकास होना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य का विकास इन तीनों-शरीर, मन और आत्मा पर निर्भर करता है। यही कारण है कि इन्होंने शिक्षण की प्रक्रिया में मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा तीनों की क्रियाओं को स्थान दिया है। इन्होंने मनोविज्ञान का अध्ययन तो नहीं किया था परंतु ऐसा लगता है कि ये व्यावहारिक मनोविज्ञान के पंडित थे। शिक्षण के क्षेत्र में ये सबसे अधिक बल क्रिया पर देते थे। इनके अनुसार करके सीखना और स्वयं के अनुभव से सीखना ही उत्तम सीखना होता है। वैसे ये कथन, व्याख्यान और प्रश्नोत्तर विधि के महत्त्व को भी स्वीकार करते थे। उपनिषद् एवं वेदांत द्वारा प्रतिपादित श्रवण, मनन और निदिध्यासन की विधि में भी इनका विश्वास था। ज्ञान को पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करना और उसे किसी क्रिया के माध्यम से विकसित करना इनकी शिक्षण विधि के मुख्य आधार थे। इसे सहसंबंध विधि (Correlation Method) कहते हैं। गाँधी जी इन सब शिक्षण विधियों को स्वाभाविक रूप से प्रयोग करने पर बल देते थे। यहाँ हम इस पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

1. **अनुकरण विधि**–गाँधी जी ने स्पष्ट किया कि अनुकरण बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे प्रारंभ में अनुकरण द्वारा ही सीखते हैं; अत: प्रारंभ में इन्हें इसी विधि से सिखाना चाहिए। गाँधी जी सदाचरण की शिक्षा के लिए इसे सर्वोत्तम विधि मानते थे। इनके विचार से सदाचरण की नींव शिशु काल में ही रखनी चाहिए, इस समय विकसित संस्कार बड़े स्थायी होते हैं। इन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया कि माता-पिता और शिक्षक बच्चों के साथ सदैव प्रेमपूर्ण व्यवहार करें जिससे वे प्रेम करना सीखें और उनके सामने सदैव सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपिग्रह, अभय, अस्पृश्यता, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रतापूर्ण आचरण करें जिसका अनुकरण कर वे सदाचरण करें।
2. **क्रिया विधि**–गाँधी जी ने स्पष्ट किया कि क्रिया बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वे सदैव कुछ न कुछ करते रहते हैं; अत: किसी भी विषय अथवा कला-कौशल की शिक्षा क्रिया द्वारा देनी चाहिए। गाँधी जी ने किसी भी ज्ञान अथवा कौशल को, जहाँ तक संभव हो, स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने पर बल दिया। आज की खेल विधि और प्रयोग विधि अपने में क्रिया विधियाँ ही हैं। गाँधी जी कला, संगीत और हस्त कौशलों की शिक्षा के लिए इन विधियों के प्रयोग पर बल देते थे।
3. **मौखिक विधि**–मौखिक विधियों में व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद आदि विधियाँ आती हैं। गाँधी जी इन विधियों का प्रयोग सहयोगी विधियों के रूप में ही करने की आज्ञा देते थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि बच्चे बड़े जिज्ञासु होते हैं, आप किसी भी विधि से शिक्षण करें, वे बीच-बीच में आपसे प्रश्न पूछते ही हैं, उनके प्रश्न के उत्तर देने चाहिए, उनकी शंकाओं का समाधान तुरंत करना चाहिए; परंतु एक सावधानी के साथ कि बच्चे शारीरिक एवं मानसिक, दोनों दृष्टियों से सदैव क्रियाशील रहें, केवल निष्क्रिय श्रोता ही न हों।,
4. **सहसंबंध विधि**–गाँधी जी ने इस बात पर बहुत बल दिया कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक रूप से सिखाया जाए। इसके लिए इन्होंने बच्चों के प्राकृतिक पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण अथवा उनके जीवन से जुड़े किसी हस्त कौशल को शिक्षा का केंद्र बनाकर समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं की शिक्षा इनके माध्यम से देने पर बल दिया। पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं को एक-दूसरे से संबंधित करके पढ़ाने की विधि को सहसंबंध विधि कहते हैं। तब बच्चों के प्राकृतिक पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण अथवा हस्तकौशल को केंद्रीय विषय मानकर पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा इनसे संबंध स्थापित करके देने की विधि को **केंद्रीयकरण विधि**

नोट

कहना चाहिए। परंतु सामान्य प्रयोग में इसे भी सहसंबंध अथवा **समवाय विधि** कहते हैं। गाँधी जी के अनुसार इस विधि में बच्चे अपने वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हैं और इस प्रकार स्वाभाविक रूप से सीखते हैं, इस प्रकार सीखने में उनकी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में समन्वय होता है और वे वास्तविक जीवन के लिए तैयार होते हैं।

5. **श्रवण-मनन-निदिध्यासन–** श्रवण-मनन-निदिध्यासन हमारी प्राचीन शिक्षण विधि है। इस विधि से सर्वप्रथम शिक्षार्थी श्रवस करते थे, गुरु के मौखिक उपदेश सुनते थे, फिर उस पर चिंतन करते थे और अंत में उसका अभ्यास करते थे। वास्तव में ज्ञान का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक वह हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग बनकर हमारे विकास में सहायक नहीं होता। गाँधी जी ने धर्म और दर्शन जैसे विषयों के ज्ञान के लिए इस विधि की उपयोगिता स्वीकार की है, परंतु कुछ परिवर्तन के साथ। इनके अनुसार जब बच्चे बड़े हो जाएँ तब सत्संग करें, उपदेश सुनें, अध्ययन करें, चिंतन करें, बुद्धि और विवेक से सत्य की खोज करें और जो सत्य हो उसको व्यावहारिक जीवन में नित्य प्रयोग करें। परंतु इस विधि का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब बच्चे चिंतन करने योग्य हो जाएँ।

अनुशासन

गाँधी जी अनुशासन के महत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि से सच्चा अनुशासन आत्मप्रेरित होता है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए ये दमनात्मक विधि का विरोध करते थे। इनकी दृष्टि से सच्चे अनुशासन का विकास प्रभावात्मक विधि द्वारा ही किया जा सकता है। ये बच्चों को शुद्ध प्राकृतिक वातावरण और उच्च सामाजिक पर्यावरण में रखने पर बल देते थे। इन्हें विश्वास था कि इस प्रकार के पर्यावरण में बच्चे अनुकरण द्वारा उच्च आदर्शों एवं उच्च आचरण को ग्रहण करेंगे। परंतु यदि फिर भी बच्चे गलत रास्ते पर चलते हैं तो उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए शिक्षकों को अपने आत्मबल का प्रयोग करना चाहिए। परंतु यह आत्मबल यों ही नहीं आ जाता। इसके लिए शिक्षकों को स्वयं ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करना होता है।

शिक्षक

गाँधी जी की दृष्टि से शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति, ज्ञान का पुँज और सत्य आचरण करने वाला होना चाहिए। इनकी दृष्टि से इस व्यवसाय को केवल व्यवसाय के रूप में स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी आदर्श शिक्षक नहीं हो सकता। एक शिक्षक आदर्श शिक्षक तभी हो सकता है जब वह इस व्यवसाय को सेवा कार्य के रूप में स्वीकार करे। उसे बच्चों के पिता, मित्र सहयोगी और पथ प्रदर्शक, अनेक रूपों में कार्य करना होता है इसलिए उसे सहिष्णु, उदारचेता और धैर्यवान होना चाहिए।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी तो शिक्षा की प्रक्रिया का केंद्र होता है। गाँधी जी के विचार से शिक्षार्थी को अनुशासित रहना चाहिए और उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गाँधी जी बच्चों को उनके वैयष्टिक विकास की पूरी-पूरी छूट देते थे परंतु उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास को दृष्टि में रखते हुए। गाँधी जी प्रारंभ से ही बच्चों में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक बल का विकास करने और उन्हें आत्मनिर्भर बनाने पर बल देते थे। इनके विचार से ऐसा ही व्यक्ति अपना और संसार का भला कर सकता है। गाँधी जी के अनुसार शिक्षार्थी को संयमी के साथ-साथ जिज्ञासु होना चाहिए।

विद्यालय

विद्यालयों के संबंध में भी गाँधी जी के अपने विचार हैं। इनके अनुसार विद्यालय ऐसी कार्यशालाएँ होने चाहिए जहाँ शिक्षक सेवा भाव से पूर्ण निष्ठा के साथ शिक्षण कार्य करें और उनके तथा विद्यार्थियों के संयुक्त प्रयास से उनमें इतना उत्पादन हो कि वे आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हों। ये विद्यालयों को सामुदायिक केंद्र बनाने पर बल देते थे। इनका कहना था कि विद्यालयों में समुदाय की विभिन्न क्रियाएँ होनी चाहिए और समुदाय के लोगों

नोट

को यहाँ पढ़ने और कार्य करने की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। यहाँ रात्रि पाठशालाएँ लगाकर प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था भी की जाए। एक ओर समुदाय को विद्यालयों के विभिन्न क्रिया-कलापों में उनका सहयोग करना चाहिए और दूसरी ओर विद्यालयों को समुदाय के विभिन्न क्रिया-कलापों में उनका सहयोग करना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**–गाँधी जी के समय भारत में लगभग 13% लोग साक्षर थे। विद्यालयी शिक्षा के अभाव में उनमें न आत्मविश्वास था और न जागरूकता थी। तब हम प्रगति कैसे करते! गाँधी जी ने अशिक्षा के अभिशाप से बचने के लिए जन शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। जन शिक्षा दो रूपों में होगी–एक तो बालक को शिक्षित करने के लिए इन्होंने बेसिक शिक्षा योजना प्रस्तुत की। यह शिक्षा की राष्ट्रीय योजना थी जिसमें 7 वर्ष से 14 वर्ष तक के बालकों की अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा पर बल दिया गया था। इस शिक्षा को गाँधी जी ने हस्त कौशलों पर केंद्रित किया, एक तो इसलिए कि हस्त कौशल हमारे जीवन के आधारभूत कार्य हैं और दूसरे इसलिए कि इनके द्वारा विद्यालयों का खर्च निकल सकता है और यह शिक्षा सबके लिए सुलभ की जा सकती है। जन शिक्षा के प्रसार के लिए गाँधी जी का दूसरा कदम था–प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था। इनके विचार से अशिक्षित प्रौढ़ों की शिक्षा का उत्तरदायित्व समाज का है। इन्होंने सामाजिक नेताओं, सामाजिक संगठनों और विद्यार्थियों का, इसके लिए आह्वान किया। गाँधी जी केवल साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे इसलिए इन्होंने प्रौढ़ शिक्षा की पाठ्यचर्या में साक्षरता के साथ-साथ सफाई, स्वास्थ्य रक्षा, बौद्धिक विकास, नैतिक विकास, उद्योग, व्यवसाय, समाज कल्याण और संस्कृति से संबंधित कार्यों को रखा था।
2. **स्त्री शिक्षा**–गाँधी जी स्त्री को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना मानते थे। गाँधी जी ने इस बात को स्पष्ट किया कि यद्यपि पुरुष और स्त्री का कार्य क्षेत्र थोड़ा भिन्न होता है लेकिन उनकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ समान होती हैं, इसलिए दोनों को अपने-अपने विकास के समान अवसर देने चाहिए। इन्होंने स्पष्ट किया कि स्त्री को मुख्य रूप से पत्नी, माता और समाज के निर्माता के रूप में कार्य करना होता है। पहले दो कार्यों में वह पुरुष से भिन्न अवश्य होती है परंतु अपने तीसरे उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए उसे अपनी सभ्यता और संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। परंतु किसी भी स्थिति में ये स्त्रियों को संगीत और नृत्य से दूर रखना चाहते थे। इनका मत था कि ये क्रियाएँ वासना को बढ़ावा देती हैं। ये स्त्री और पुरुष की शिक्षा में केवल इतना ही अंतर करते थे कि स्त्रियों को गृह कार्य की अतिरिक्त शिक्षा दी जाए। स्त्री को समाज में बराबर का स्थान देकर उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर गाँधी जी ने समाज का बड़ा उपकार किया है।
3. **सह शिक्षा**–गाँधी जी ने लड़के-लड़कियों को एक साथ रखकर पढ़ाने के प्रयोग किए थे उनके आधार पर सह शिक्षा की संभावना स्वीकार की थी। गाँधी जी के अनुसार प्राईमरी और उच्च स्तर पर सह शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है परंतु किशोरावस्था पर यह उचित नहीं होती। अपने इस मत को व्यक्त करते समय ये प्रत्येक समाज को यह छूट देते हैं कि वह अपने पर्यावरण को दृष्टि में रखते हुए सह शिक्षा को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। इस प्रकार सह शिक्षा के संबंध में गाँधी जी सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करते थे।
4. **व्यावसायिक शिक्षा**–गाँधी जी पुस्तक प्रधान सैद्धांतिक शिक्षा के विरोधी थे, इन्होंने क्रिया प्रधान व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया, ऐसी शिक्षा पर जो मनुष्य को कर्म के सभी क्षेत्रों में कुशलता के साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करे। ये मनुष्य की मूल आवश्यकताओं–रोटी, कपड़े और मकान के प्रति भी सचेत थे, इसलिए इन्होंने अपनी बेसिक शिक्षा में हस्त कौशलों की शिक्षा को मुख्य स्थान दिया। इन्होंने स्पष्ट किया कि भारत कृषि और कुटीर उद्योग धंधों का देश है इसलिए यहाँ बच्चों को कृषि, बागवानी और हस्त कौशलों की शिक्षा देनी चाहिए। ये चाहते थे कि बेसिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद बच्चे आत्मनिर्भर हों, अपने रोजी-रोटी स्वयं कमा सकें। और जो बच्चे बड़े उद्योग और व्यावसायों की शिक्षा

नोट

लेना चाहें उनके लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिए। गाँधी जी के अनुसार इस शिक्षा की व्यवस्था औद्योगिक एवं व्यावसायिक केंद्रों पर होनी चाहिए। इस हेतु गाँधी जी ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा का समर्थन किया है।

5. **धार्मिक शिक्षा**–गाँधी जी धार्मिक विचारधारा के व्यक्ति थे; प्रार्थना भजन और गीता पाठ इनकी दैनिक क्रियाओं के अंग थे। परंतु विद्यालयों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा देने के ये पक्ष में नहीं थे। इन्हें इस बात का भय था कि विभिन्न धर्मों के इस देश भारत में धार्मिक शिक्षा देने से साम्प्रदायिकता और अधिक बढ़ सकती है। अत: इन्होंने सभी धर्मों के सामान्य सिद्धांतों और नैतिक शिक्षा को ही पाठ्यचर्या में स्थान दिया। ये सत्य को ईश्वर मानते थे। इस सत्य की प्राप्ति के लिए इन्होंने सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की शिक्षा पर सबसे अधिक बल दिया है। इसके साथ-साथ इन्होंने प्रेम की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है। मानव सेवा को ये सबसे बड़ा धर्म मानते थे। इनके विचार से बच्चों को मानव सेवा की ओर प्रवृत्त करना ही वास्तविक धार्मिक शिक्षा है।
6. **राष्ट्रीय शिक्षा**–अंग्रेजों ने हमारे लिए जिस शिक्षा का विधान किया था उसके उस समय दो ही उद्देश्य थे–पहला शासन कार्य में सहयोग करने हेतु अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबू तैयार करना और दूसरा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना जो तन से भारतीय हों परंतु मन से अंग्रेज परस्त हों। इसकी पाठ्यचर्या भी बड़ी दोषयुक्त थी, इसका भारतीय जन जीवन एवं संस्कृति से कोई संबंध नहीं था। पाठ्य विषयों में सबसे अधिक बल अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर दिया जाता था और अंग्रेजी भाषा ही उस समय शिक्षा का माध्यम थी और यह शिक्षा भी कुछ बड़े नगरों में ही सुलभ थी। इसके अतिरिक्त यह व्यय साध्य भी थी। परिणामत: उच्च वर्ग के लोग इसे प्राप्त कर सकते थे। और दुख की बात तो यह है कि इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद लोग अशिक्षित लोगों का शोषण करते थे।

स्वतंत्रता की लड़ाई के साथ-साथ गाँधी जी ने तत्कालीन शिक्षा में सुधार के लिए भी कार्य किया। सर्वप्रथम इन्होंने 1921 में अपने साथियों के सामने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रस्ताव रखा। परंतु तब इसे मूर्त रूप नहीं दिया जा सका। 1937 में भारत के सभी प्रांतों में स्वसरकारों का गठन हुआ और ग्यारह में से सात प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। अक्टूबर, 1937 में वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें सातों कांग्रेस मंत्रिमंडलों के शिक्षा मंत्रियों, देश के चोटी के शिक्षाशास्त्रियों, विचारकों और राष्ट्रीय नेताओं को आमंत्रित किया गया। इसका सभापतित्व स्वयं गाँधी जी ने किया। इस सम्मेलन में गाँधी जी ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा योजना प्रस्तुत की। सम्मेलन में इस योजना का स्वागत किया गया और इसे अंतिम रूप देने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति ने गाँधी जी के विचारों को क्रमबद्ध किया और 1938 में इसे बुनियादी शिक्षा (Basic Education) के नाम से प्रस्तुत किया। यह शिक्षा योजना मूल रूप से सात सिद्धांतों पर आधारित है–सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय का सिद्धांत, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा का सिद्धांत, शिक्षा को हस्त जीवन से जोड़ने का सिद्धांत, मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का सिद्धांत, शिक्षा को हस्त कौशलों पर केंद्रित करने का सिद्धांत, शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने का सिद्धांत और ज्ञान को पूर्ण इकाई के रूप में विकसित करने का सिद्धांत।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. गाँधीजी को अपने परिवार में शिक्षा मिली थी–
   (अ) वैष्णव धर्म (ब) कर्म की
   (स) गीता की (द) रामायण की
4. गाँधीजी के पिता कर्मचंद गाँधी पोरबंदर राज्य के थे–
   (अ) वकील (ब) दीवान
   (स) मुख्यमंत्री (द) सदस्य

नोट

5. सन् 1932 में हुआ था–
   (अ) सत्याग्रह आंदोलन (ब) खादी आंदोलन
   (स) हरिजनोद्धार आंदोलन (द) इनमें से कोई नहीं
6. गाँधीजी के विचार से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य है–
   (अ) मुक्ति (ब) शिक्षा
   (स) साक्षरता (द) इनमें से कोई नहीं

13.4 महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of Educational Thought of Mahatma Gandhi)

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह उपरोक्त दृष्टि से उचित शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है।

गाँधी जी इस युग के सबसे महान् व्यक्ति थे। मानव जीवन से संबंधित ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें इन्होंने कार्य न किया हो। देश को राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाने, समाज में अछूतों का उद्धार करने, वर्गविहीन समाज का निर्माण करने और संसार को सत्य, अहिंसा एवं प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए ये तब तक याद किए जाएँगे जब तक यह मानव सभ्यता जीवित रहेगी। इन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किए थे और देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना तैयार की थी। शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

गाँधी जी किसी नए दर्शन के प्रतिपादक नहीं हैं। इन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया है। परंतु इसे व्यावहारिक रूप देने में इनकी अपनी मौलिकता है। इसलिए आज उसे गाँधी दर्शन के रूप में माना जाता है। गाँधी जी आत्मा और परमात्मा में विश्वास करते थे और मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य इस आत्मा की मुक्ति मानते थे। इस मुक्ति के लिए मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता समझते थे। इनके शैक्षिक विचार इसी आधार पर विकसित हैं। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

गाँधी जी ने शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से साक्षरता शिक्षा नहीं है, यह न तो शिक्षा का प्रारंभ है और न ही अंत, यह तो स्त्री-पुरुषों को शिक्षित करने का साधन है। इनके अपने शब्दों में–'शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा के उच्चतम विकास से है।'

शिक्षा की इस परिभाषा से उसके उद्देश्य एवं कार्य तो स्पष्ट होते हैं परंतु उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वैसे गाँधी जी शिक्षा को एक प्रक्रिया ही मानते थे, उसे मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया के रूप में ही स्वीकार करते थे। काश ये शिक्षा के गतिशील और विकासशील पक्ष को भी उजागर करते तो शिक्षा प्रक्रिया के सच्चे व्याख्याकार माने जाते।

शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और उसके इन तीनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इस दृष्टि से इन्होंने शिक्षा के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, वैयष्टिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्यों पर बल दिया है।

अगर गाँधी जी के द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि ये सभी

नोट

उद्देश्य सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य हैं। हाँ, गाँधी जी उस समय शासनतंत्र और नागरिकता की शिक्षा तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति की बात नहीं सोच पाए। सोचते भी कैसे, उस समय हमारे देश में अंग्रेजों का शासन था और हमारे सामने केवल एक ही राष्ट्रीय लक्ष्य था–स्वतंत्रता की प्राप्ति। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों में यदि इन उद्देश्यों को और जोड़ दिया जाए तो उनमें हमारी आज की शिक्षा के सभी उद्देश्य आ जाएँगे।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

अपने द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गाँधी जी ने जिस पाठ्यचर्या का निर्माण किया वह कुछ इस प्रकार थी–हस्त कौशल एवं उद्योग (कताई-बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठ कला, चर्म कार्य, पुस्तक कला, मिट्टी का काम और मछली पालन आदि), मातृभाषा, हिंदुस्तानी (आज की दृष्टि से राष्ट्रभाषा हिंदी, उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है), व्यावहारिक गणित (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित और नाप-तौल आदि), सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और समाज का अध्ययन), सामान्य विज्ञान (बागवानी, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, रसायन विज्ञान और भौतिक विज्ञान), संगीत, चित्रकला, स्वास्थ्य विज्ञान (सफाई, व्यायाम और खेल-कूद आदि) और आचरण शिक्षा (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा एवं अन्य सामाजिक कार्य) और इनमें सबसे अधिक बल हस्त कौशलों पर दिया था और उसके बाद मातृभाषा पर।

यदि गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित पाठ्यचर्या को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो इसकी दो विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–पहली यह कि यह काफी विस्तृत है और दूसरी यह कि इसमें मातृभाषा के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है और उसी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया है। परंतु इनके द्वारा प्रस्तावित इस पाठ्यचर्या में सबसे अधिक बल हस्त कौशलों पर दिया गया है। ऐसा लगता है कि ये भारत को कुटीर उद्योग धंधों का ही देश बनाए रखना चाहते थे। उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या के बारे में तो इन्होंने कोई स्पष्ट विचार प्रस्तुत ही नहीं किए हैं।

शिक्षण विधियाँ

यूँ गाँधी जी ने मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया था परंतु शिक्षण के संबंध में इनके विचार पूर्णरूपेण मनोविज्ञानिक हैं। इन्होंने सबसे अधिक बल स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने पर दिया है। इसके साथ-साथ दो बातों पर और बल दिया है–पहली यह कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए उन्हें वास्तविक परिस्थितियों में रखकर सिखाया जाए और दूसरी यह कि संपूर्ण ज्ञान एवं क्रियाओं को पूर्ण इकाई के रूप में सिखाया जाए। इसके लिए इन्होंने सहसंबंध विधि के प्रयोग पर बल दिया है। गाँधी जी ने प्राचीन शिक्षण विधियों–अनुकरण, मौखिक, क्रिया और श्रवण, मनन, निदिध्यासन को भी कुछ इस प्रकार प्रयोग करने पर बल दिया है कि उनमें छात्रों की क्रियाशीलता निरंतर बनी रहे।

समस्त ज्ञान को किसी हस्त कौशल अथवा प्राकृतिक या सामाजिक पर्यावरण को केंद्र मानकर पूर्ण इकाई के रूप में विकसित करने की बात सिद्धांतत: बहुत अच्छी लगती है परंतु व्यावहारिक रूप में इस विधि की असफलताएँ ही देखी गई हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगभग 30 वर्षों तक इस क्षेत्र में बहुत कार्य हुआ, समवाय विधि के अनेक प्रारूप तैयार किए गए, परंतु हाथ कुछ भी नहीं लगा। शिक्षण के संबंध में हमें गाँधी जी की इतनी ही बात माननी चाहिए कि जहाँ तक संभव हो बच्चों को करके सीखने के अवसर प्रदान किए जाएँ और जहाँ तक संभव हो सहसंबंध विधि से पढ़ाया जाए। जबरदस्ती सहसंबंध स्थापित करने के हम पक्ष में नहीं हैं।

अनुशासन

गाँधी जी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन का होना आवश्यक मानते थे, शिक्षा के क्षेत्र में भी। परंतु ये आत्मप्रेरित अनुशासन के पक्षधर थे। विद्यालयों में इस अनुशासन के विकास के लिए इन्होंने प्रभावात्मक विधि का समर्थन किया है। इनके अनुसार शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिसका अनुकरण कर बच्चे अनुशासन में रहना सीखें। और यदि कोई बच्चा फिर भी अन्यथा आचरण करे तो शिक्षक उसे अपने आत्मबल से सही मार्ग पर लगाएँ। गाँधी जी किसी भी स्थिति में बच्चों को दंड देने के पक्ष में नहीं थे।

अनुशासन स्थापित करने की विधियों को एडम महोदय ने तीन वर्गों में बाँटा है–दमनात्मक, प्रभावात्मक और मुक्त्यात्मक। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें सबसे अच्छी विधि प्रभावात्मक विधि है। परंतु इस संदर्भ में पहली

नोट

बात तो यह है कि हम सभी शिक्षकों से आदर्श आचरण की अपेक्षा नहीं रख सकते और दूसरी बात यह है कि आज विद्यालयों में छात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि आदर्श शिक्षक उन सबके संपर्क में नहीं आ पाते। आज की परिस्थितियों में यदि विद्यालयों के नियम बनाकर विद्यार्थियों से उनका पालन कराया जा सके तो इसी को बहुत बड़ी उपलब्धि मानना चाहिए। और इसके लिए दंड व्यवस्था आवश्यक है। परंतु छात्रों को दंड बड़ी सावधानी से देना चाहिए, उन्हें यह अनुभव होना चाहिए कि उन्हें जो भी दंड दिया जा रहा है उनकी स्वयं की भलाई के लिए दिया जा रहा है, किसी द्वेषवश नहीं। परंतु किसी भी स्थिति में कठोर दंड देना उचित नहीं।

शिक्षक

गाँधी जी के अनुसार शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति होना चाहिए, सत्य आचरण करने वाला होना चाहिए और समाज सेवक होना चाहिए। इनकी दृष्टि से किसी भी व्यक्ति को यह कार्य केवल व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाना चाहिए अपितु उसके पीछे समाज सेवा का भाव होना चाहिए। ऐसे ही व्यक्ति बच्चों का सही मार्ग दर्शन कर सकते हैं।

जहाँ तक शिक्षकों से आदर्श आचरण की अपेक्षा की बात है, प्राय: सभी समाज यह अपेक्षा करते हैं, परंतु आज के युग में शिक्षकों से यह अपेक्षा करना कि वे उच्च वेतन की माँग न करें और इस कार्य को सेवा भाव से करें, केवल सैद्धांतिक बात है। यदि शिक्षक अपना कार्य ईमानदारी से करें तो वही पर्याप्त होगा।

शिक्षार्थी

गाँधी जी छात्रों से यह अपेक्षा करते थे कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करें, विद्यालयों के नियमों का पालन करें, समाज सेवा कार्यों में भाग लें और आत्मनिर्भर बनें।

आज के इस युग में बच्चों से ब्रह्मचर्य के पालन की अपेक्षा तो नहीं की जाती परंतु उनसे विद्यालयों के नियमों के पालन की अपेक्षा सभी करते हैं। और छोटे बच्चों से समाज सेवा कार्य की अपेक्षा करना और उनसे आत्मनिर्भर होने की अपेक्षा करना स्वप्नमात्र है।

विद्यालय

विद्यालयों के विषय में गाँधी जी का एक नया दृष्टिकोण था। प्रथमत: तो ये विद्यालयों को ऐसी कार्यशालाओं के रूप में विकसित करना चाहते थे जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी सभी श्रम करें, जहाँ हस्त कौशलों द्वारा वस्तुओं का निर्माण हो और विद्यालयों में निर्मित वस्तुओं से विद्यालयों का व्यय निकले, वे आत्मनिर्भर हों। दूसरे ये इन्हें सामुदायिक केंद्रों के रूप में विकसित करना चाहते थे। ये चाहते थे कि विद्यालय और समुदाय के बीच सहयोग हो और ये दोनों एक-दूसरे के क्रिया-कलापों में भाग लें। विद्यालयों से ये यह भी अपेक्षा करते थे कि वे संध्या अथवा रात के समय प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करें।

जहाँ तक विद्यालयों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने की बात है, गाँधी जी का यह विचार कोरी कल्पना साबित हुआ। बेसिक स्कूलों में कच्चे माल की किस तरह बरबादी हुई, इस सबसे हम परिचित हैं। फिर छोटे-छोटे हाथों से विक्रय योग्य उत्पादन की आशा करना भी युक्ति संगत नहीं। हाँ, विद्यालयों को सामुदायिक केंद्रों के रूप में विकसित करने, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, इस पर सब एक मत हैं। परंतु आज तो हमारे देश के विद्यालयों के शिक्षक अपने विद्यालयी उत्तरदायित्व को ही पूरा नहीं करते, उनसे सामुदायिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा करना स्वप्न भर है। देश को आज राष्ट्रीय चरित्र की आवश्यकता है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—जन शिक्षा को गाँधी जी ने बड़े व्यापक रूप में लिया है, इसमें 7 से 14 वर्ष तक के बच्चों की सामान्य, अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा दोनों को सम्मिलित किया है। प्रौढ़ शिक्षा को भी इन्होंने थोड़े व्यापक रूप में लिया है, इसमें साक्षरता के साथ-साथ काम-धंधों की शिक्षा को भी सम्मिलित किया है। गाँधी जी के प्रयास से इस देश में जन शिक्षा का प्रसार प्रारंभ हुआ। यह बात दूसरी है कि आज ज्ञान का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने से अब सामान्य शिक्षा का स्तर कक्षा 8 से बढ़ाकर कक्षा 10 तक करना आवश्यक हो गया है।

नोट

2. **स्त्री शिक्षा**–गाँधी जी ने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर भी बहुत बल दिया था। इन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की भाँति किसी भी प्रकार की शिक्षा देने का नारा बुलंद किया। बस ये उन्हें गृह विज्ञान की अतिरिक्त शिक्षा देने की बात और कहते थे। पिछले 50 वर्षों में इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई और आज स्थिति यह है कि स्त्रियाँ स्वयं अपने अधिकारों की माँग कर रही हैं। हमारी अपनी दृष्टि से अब देश में स्त्री-पुरुष सभी को सामान्य शिक्षा अनिवार्य रूप में और विशिष्ट शिक्षा बिना किसी भेदभाव के योग्यता के आधार पर सुलभ करानी चाहिए।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**–व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में गाँधी जी के विचार समीचीन नहीं कहे जा सकते। पहली बात तो यह कि 7 से 14 वर्ष तक की आयु वर्ग के बच्चों को हस्त शिल्पों, कृषि या अन्य कुटीर उद्योगधंधों में दक्ष नहीं किया जा सकता और दूसरी बात यह है कि आज ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में इतना अधिक विकास हुआ है कि बिना उसके ज्ञान के हम इन कुटीर उद्योगों को भी अधिक सफलता के साथ नहीं चला सकते। तभी शिक्षा की नई संरचना 10+2+3 में सामान्य व्यवसायों की शिक्षा +2 पर और विशेष व्यवसायों की शिक्षा +3 पर दिए जाने का विधान किया गया है।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**–यूँ गाँधी जी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे परंतु विद्यालयों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। इनको भय था कि इससे अन्य धर्मावलंबी नाराज होंगे। धर्म शिक्षा के नाम पर इन्होंने मानव मात्र की सेवा की शिक्षा का समर्थन किया है। इस संदर्भ में हम गाँधी जी से सहमत नहीं हैं। गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित सर्वधर्म समभाव के विकास के लिए भी हम विद्यालयों में विभिन्न धर्मों के मूल सिद्धांतों की शिक्षा की आवश्यकता समझते हैं।
5. **राष्ट्रीय शिक्षा**–महात्मा गाँधी जी ने राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में जिस बेसिक शिक्षा का निर्माण किया था, वह उस युग के अनुकूल अवश्य थी परंतु वर्तमान में वह अर्थहीन हो चुकी है। यहाँ उसके गुण-दोषों का विवेचन प्रस्तुत है।

बेसिक शिक्षा के गुण (Merits of Basic Education)

सच बात तो यह है कि सिद्धांत रूप में तो यह योजना बड़ी उपयोगी नजर आती है परंतु प्रयोग के रूप में एकदम अनुपयुक्त रही है। इसके सिद्धांतों को हम इसके गुण मान सकते हैं–

1. **आत्मनिर्भर योजना**–उस समय सरकार के पास अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। उस समय बेसिक शिक्षा को हस्तकौशलों पर आधारित कर उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से स्कूलों का व्यय निकालने का विचार बड़ा उपयोगी लगता था। ऐसा नहीं हो पाया, यह बात दूसरी है।
2. **मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर बल**–बेसिक शिक्षा में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास पर बल दिया गया है। यह बात दूसरी है कि हम इसके द्वारा इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सके।
3. **वास्तविक जीवन की तैयारी**–हमारा देश ग्रामों का देश है। बेसिक शिक्षा में बच्चों को ग्रामीण उद्योगों–कृषि एवं पशुपालन आदि और ग्रामीण हस्तकौशलों–कताई एवं बुनाई आदि की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाने की व्यवस्था की गई थी और यह आशा की गई थी कि इसे प्राप्त करने के बाद वे अपनी जीविका कमा सकेंगे। सिद्धांतत: यह बात बहुत अच्छी है। यह बात दूसरी है कि हम बेसिक शिक्षा द्वारा ऐसा नहीं कर सके।
4. **भारतीयों के लिए आधारभूत पाठ्यचर्या**–बेसिक शिक्षा भारतीयों के वास्तविक जीवन से संबंधित है। इसमें मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त आवश्यक विषयों और सामाजिक क्रियाओं को स्थान दिया गया है और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें हिंदुस्तानी (हिंदी) को पूरे देश के बच्चों के लिए अनिवार्य किया गया है। काश हम ऐसा कर सके होते तो पूरा देश एक सूत्र में बँध गया होता।
5. **वर्गभेद की समाप्ति**–हमारे देश में जाति, धर्म और श्रम आदि अनेक आधारों पर अनेक प्रकार के वर्ग हैं। बेसिक शिक्षा में सबके लिए समान शिक्षा और सबके लिए समान सेवा कार्य की व्यवस्था की गई है। इस सबसे वर्गभेद यदि समाप्त नहीं तो कम तो किया ही जा सकता है।

नोट

6. **शारीरिक एवं मानसिक श्रम के अंतर की समाप्ति**–उस समय अंग्रेज हमें थोड़ी-सी अंग्रेजी सिखाकर बाबू बना देते थे, हमारा ओहदा ऊँचा कर देते थे। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले को हेय समझने लगे। बेसिक शिक्षा में सभी बच्चों के लिए हस्तकौशल अथवा उद्योग की शिक्षा और समाज सेवा कार्य अनिवार्य किए गए। जब सब श्रम करेंगे तो श्रम वालों को हेय कौन समझेगा। इसमें वर्ग भेद की समाप्ति होनी चाहिए थी। यह बात दूसरी है ऐसा कुछ नहीं हो पाया।
7. **क्रियाप्रधान शिक्षण विधि**–बेसिक शिक्षा में वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हुए स्वयं के अनुभव से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। यह सीखने की मनोवैज्ञानिक विधि है। इस प्रकार सीखा हुआ ज्ञान एवं कौशल स्थायी होता है।
8. **समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं में एकीकरण**–बेसिक शिक्षा में ज्ञान और क्रिया को अभिन्न माना जाता है और पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं को किसी हस्तकौशल अथवा उद्योग अथवा प्राकृतिक पर्यावरण अथवा सामाजिक पर्यावरण के माध्यम से एक इकाई के रूप में विकसित किया जाता है। बेसिक शिक्षा में इसे समवाय विधि कहते हैं। यह शिक्षण की एक उपयुक्त विधि है।
9. **शिक्षा का माध्यम मातृभाषा**–यूँ उस समय तक अंग्रेजों ने भी प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषाओं) को ही बना दिया था परंतु इसके साथ अंग्रेजी माध्यम के प्राथमिक स्कूल भी चल रहे थे। गाँधी जी ने केवल मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर बल दिया। तभी तो समानता आ सकती है।
10. **विद्यालय और समाज में निकट का संबंध**–अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में विद्यालयों का भारतीय जन-जीवन से निकट का संबंध नहीं था। बेसिक शिक्षा में विद्यालयों और समाज के इस अंतर को समाप्त किया गया। विद्यालयों में समाज की भाषा, समाज के हस्तकौशल, समाज के उद्योग, समाज के उत्सव और समाज की अन्य क्रियाओं को स्थान दिया गया। इससे विद्यालय और समाज में निकट का संबंध स्थापित हुआ।

टास्क महात्मा गाँधी के दार्शनिक चिंतन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

बेसिक शिक्षा के दोष

सैद्धांतिक दृष्टि से बेसिक शिक्षा के चाहे जितने गुण गिनाए जाएँ और चाहे जितनी उसकी प्रशंसा की जाए, परंतु व्यावहारिक रूप में यह एकदम असफल रही है। इसमें निम्नलिखित दोष हैं–

1. **अपूर्ण योजना**–यूँ तो इसे राष्ट्रीय शिक्षा योजना कहा जाता है परंतु वास्तव में यह केवल अनिवार्य एवं नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा की योजना ही है। फिर इसमें केवल ग्रामीण बच्चों की आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया है, नगरीय बच्चों की आवश्यकताओं का नहीं।
2. **उच्च शिक्षा से संबंध का अभाव**–बेसिक शिक्षा 7 से 14 आयुवर्ग के बच्चों की शिक्षा है। इसकी पाठ्यचर्या केवल इसी आयु वर्ग के बच्चों की और वह भी ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई है। इसका निर्माण करते समय माध्यमिक और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या से संबंध नहीं जोड़ा गया, उसे उच्च शिक्षा का सही आधार नहीं बनाया गया। ऐसा लगता है कि इसके बाद बच्चे पढ़ेंगे ही नहीं। शिक्षा तो क्रमबद्ध रूप से चलनी चाहिए।
3. **नगरीय क्षेत्रों के लिए अनुपयुक्त**–यह माना कि भारत ग्रामों का देश है, परंतु प्राथमिक शिक्षा की पाठ्यचर्या को केवल ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित करना उपयुक्त नहीं है। नगरीय बच्चों के जीवन से इसका कोई संबंध न होना, इसका एक बड़ा दोष है। ऐसा लगता है कि बेसिक शिक्षा केवल भारत की निर्धन जनता के लिए ही बनाई गई थी।
4. **हस्तकौशलों पर अत्यधिक बल**–बेसिक शिक्षा में सबसे अधिक बल हस्तकौशलों की शिक्षा पर दिया गया है। इसे पाठ्यचर्या का केंद्रीय विषय बनाया गया है और इसी के माध्यम से अन्य सब विषयों एवं

नोट

क्रियाओं की शिक्षा देने पर बल दिया गया है। जाकिर हुसैन समिति ने तो इसके लिए स्कूली समय के 5 घंटे 30 मिनट में से 3 घंटे 20 मिनट निर्धारित किए थे। ऐसा लगता है कि बेसिक शिक्षा के निर्माता भारत को हस्तकौशलों का देश बनाना चाहते थे। फिर स्कूली शिक्षा में किसी विषय अथवा क्रिया को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने का अर्थ है दूसरे विषयों एवं क्रियाओं को कम महत्त्व देना। उस स्थिति में बच्चों का सर्वांगीण विकास कैसे किया जा सकता है!

5. **कच्चे मान की बरबादी**—छोटे-छोटे बच्चों से उत्पादन की आशा करना कोरी कल्पना का विषय है। जो कुछ भी बच्चे स्कूलों में बनाते हैं, वह उपभोग करने योग्य नहीं होता, उसे बाजार में नहीं बेचा जा सकता। इस योजना में कच्चे माल की बरबादी के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा।
6. **समय और शक्ति का अपव्यय**—प्राथमिक स्तर पर बच्चों को हस्तकौशलों में दक्षता प्रदान करना संभव नहीं। बेसिक शिक्षा में न तो बच्चों को किसी हस्तकौशल में दक्ष किया जा सका और न उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं से स्कूलों का व्यय निकाला जा सका। इसमें कच्चे माल की बरबादी के साथ-साथ बच्चों के समय और शक्ति का अपव्यय भी होता है।
7. **शिक्षण विधि अस्वाभाविक**—यूँ तो बेसिक शिक्षा में जिस प्रकार शिक्षण करने की बात कही गई है, वह एक स्वाभाविक विधि है, मनोवैज्ञानिक विधि है, परंतु जबरन समवाय करने में उसकी स्वाभाविकता और प्रभाविकता दोनों ही समाप्त हो जाती हैं। फिर पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं में एकीकरण करना और वह भी किसी हस्तकौशल, उद्योग, प्राकृतिक पर्यावरण अथवा सामाजिक क्रिया को केंद्रीय विषय मानकर, कोरी कल्पना की बात है।
8. **शृंखलाबद्ध शिक्षण असंभव**—यदि पाठ्यचर्या के कुछ विषयों एवं क्रियाओं को समन्वित रूप से विकसित करना संभव भी होता है तो दूसरी समस्या उपस्थित होती है, किसी विषय अथवा क्रिया को उसके तार्किक क्रम में प्रस्तुत करने की। समवाय विधि द्वारा क्रमबद्ध शिक्षण किया ही नहीं जा सकता।
9. **धार्मिक शिक्षा का अभाव**—बेसिक शिक्षा को भारत की आधारभूत शिक्षा कहा जाता है और आश्चर्य की बात यह है कि इसमें भारतीय समाज के आधारभूत धर्म की शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है, केवल नैतिक शिक्षा को स्थान दिया गया है। गाँधी जी को भय था कि धार्मिक शिक्षा के नाम पर कहीं द्वेष न फैल जाए। क्या कोई धर्म द्वेष की शिक्षा देता है।

गाँधी जी का प्रभाव

गाँधी जी सर्वोदय सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। ये मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे, ये वर्गप्रधान समाज के स्थान पर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे और इस कार्य में ये काफी सफल भी हुए। इन्होंने सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका में गोर-काले के वर्गभेद को समाप्त करने के लिए आंदोलन किया और उसके बाद भारत में जन्म-आधारित ऊँच-नीच की वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने के लिए आंदोलन किया। इनके प्रयास से भारत में जन्म आधारित वर्णव्यवस्था के स्थान पर वर्गविहीन समाज की स्थापना शुरु हुई, यह बात दूसरी है कि वोट की राजनीति करने वालों ने वर्ण भेद के स्थान पर वर्ग भेद का पौधा रोप दिया है जो राष्ट्रीय एकता में बड़ा बाधक है। गाँधी जी ने धर्म संकीर्णता के स्थान पर सर्वधर्म समभाव के लिए प्रयत्न किया, इसका भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। यदि वोट की राजनीति करने वाले धार्मिक संकीर्णता को पानी न देते तो आज देश का नक्शा ही कुछ और होता।

गाँधी जी युग पुरुष थे, इनका प्रभाव न केवल भारत तक सीमित रहा अपितु अन्य देशों पर भी पड़ा। आज पूरा संसार वर्गविहीन समाज की स्थापना की ओर अग्रसर है और सभी धर्म की संकीर्णता के दायरे से निकलकर मानव धर्म के विस्तृत दायरे में प्रवेश करने के लिए आतुर हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी गाँधी जी का प्रभाव पड़ा। अपने देश भारत में सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की ओर कदम बढ़े। साथ ही प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था में भी तेजी आई। जहाँ तक गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित बेसिक शिक्षा की बात है, स्वतंत्र होने से पहले ही यह कई प्रांतों में लागू कर दी गई थी, स्वतंत्र होने के बाद तो यह सभी प्रांतों में लागू कर दी गई। देखते-देखते समस्त प्राथमिक विद्यालयों पर बेसिक प्राइमरी

नोट

विद्यालयों के बोर्ड लग गए। पाठ्यचर्या में बेसिक क्राफ्टों पर बल और इस सबके लिए सरकार से सामग्री और धन। समवाय विधि से कैसे पढ़ाया जाए इस पर आए दिन वर्कशॉपों का आयोजन। परंतु हाथ कुछ भी नहीं लगा। न इससे बच्चों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हुआ और न नैतिक एवं चारित्रिक विकास। इसके द्वारा बच्चों को अपनी रोजी-रोटी कमाने योग्य भी नहीं बनाया जा सका। वर्ग भेद मिटाने की बात तो दूर रही, इससे वर्ग भेद और बढ़ा। यह निम्न कोटि की शिक्षा मानी गई और इसे प्राप्त करने वाले भी निम्न कोटि के माने गए। और सच बात भी यही है कि यह निम्न कोटि की ही साबित हुई। इसके द्वारा गाँधी जी का एक भी स्वप्न साकार नहीं किया जा सका। हाँ, गाँधी जी द्वारा स्थापित गुजरात पीठ (अहमदाबाद) और हिंदुस्तानी तालीम शिक्षा केंद्र (सेवाग्राम) आज भी इनके आदर्शों के मूर्तरूप हैं और वहाँ एक ओर ग्राम सुधार के कार्यक्रम चलते हैं और दूसरी ओर आत्मबोध के कार्यक्रम चलते हैं। परंतु इस प्रकार की शिक्षा से राष्ट्र का आर्थिक विकास संभव नहीं है। आज आवश्यकता है जीवन के किसी भी क्षेत्र में दुनिया के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. गाँधीजी के विचार से शिक्षार्थी को अनुशासित रहना चाहिए।
8. गाँधीजी के समय भारत में लगभग 13% लोग साक्षर थे।
9. गाँधीजी स्त्री को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना नहीं मानते थे।
10. गाँधीजी सर्वोदय सिद्धांत के प्रतिपादक हैं।

13.5 सारांश (Summary)

कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी ने भारतीय शिक्षा को भारतीय बनाने का नारा बुलंद किया, उसके उद्देश्य विस्तृत किए और उसकी पाठ्यचर्या विस्तृत की। इन्होंने शिक्षण की प्राचीन विधियों के प्रयोग में बच्चों की सक्रिय साझेदारी पर बल देकर उन्हें उपयोगी बनाया और साथ ही शिक्षण की सहसंबंध विधि के प्रयोग पर बल दिया। अनुशासन के संबंध में इनका यह विचार कि यह आत्मप्रेरित होना चाहिए और बच्चों में इसके विकास के लिए प्रभावात्मक विधि को अपनाना चाहिए, आज सभी शिक्षाशास्त्रियों को मान्य है। शिक्षक के संबंध में इनके विचार कुछ अटपटे अवश्य लगते हैं परंतु इनकी यह बात तो सभी स्वीकार करते हैं कि शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य पालन के उपदेश की महत्ता भी सभी स्वीकार करते हैं। हाँ, विद्यालयों के संबंध में गाँधी जी का पहला विचार है कि ये आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने चाहिए, कोरी कल्पना की बात है, परंतु इनकी दूसरी बात पर तो सभी सहमत हैं कि ये सामुदायिक केंद्र के रूप में विकसित होने चाहिए।

जन शिक्षा और स्त्री शिक्षा के संदर्भ में गाँधी जी के विचार और कार्य दोनों ही बड़े अमूल्य हैं। इसके लिए यह देश इनका चिर ऋणी रहेगा। धर्म शिक्षा के संदर्भ में हम इनसे सहमत नहीं हैं, हम तो संसार के मुख्य धर्मों के मूल सिद्धांतों की शिक्षा के पक्षधर हैं। और गाँधी जी के द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय शिक्षा (बेसिक शिक्षा) से तो अब कोई भी सहमत नहीं है और जो लोग इसकी असफलताओं को देखकर भी इसके गीत गाते हैं, वे देश के साथ गद्दारी कर रहे हैं।

गाँधी जी के शैक्षिक विचारों के संबंध में श्री एम.एस. पटेल ने कहा है कि गाँधी जी का शिक्षा दर्शन अपनी योजना में प्रकृतिवादी, उद्देश्यों में आदर्शवादी और अपनी कार्य पद्धति में प्रयोजनवादी है (His philosophy of education is naturalistic in its setting, idealistic in its aims and pragmatic in its methods and programme of work M.S. Patel)। परंतु हम पटेल साहब सहमत नहीं हैं। पहली बात तो यह है कि महात्मा गाँधी पर इन पाश्चात्य दर्शनों का कोई प्रभाव नहीं था। दूसरी बात यह है कि ये भारतीय

नोट

दर्शन, विशेषकर गीता दर्शन से प्रभावित थे। और तीसरी बात यह है कि ये मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा, तीनों के विकास पर समान बल देते थे। अब यदि इनके कोई विचार किन्हीं पाश्चात्य दर्शनों से मेल खाते हैं तो उनके आधार पर इन्हें उन दर्शनों से जोड़ना युक्ति-संगत नहीं है। गाँधी जी ने भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की उन्नति के लिए जिस एकादश व्रत के पालन की शिक्षा दी है और सत्य एवं अहिंसा पर आधारित जो शिक्षा योजना प्रस्तुत की है वह भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही तैयार की है, वह हर दृष्टि से भारतीय दर्शन पर आधारित है। इस युगपुरुष को हमारा शत्-शत् प्रणाम।

13.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **जीवन–परिचय** (Biography) : जीवन–वृत्त
2. **चिंतन** (Thought) : विचार

13.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. महात्मा गाँधी का जीवन–परिचय लिखिए।
2. महात्मा गाँधी के दार्शनिक चिंतन का विवरण दीजिए।
3. महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. गुरू	2. भारत छोड़ो	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

13.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–14 : स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thought of Swami Vivekanand)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
14.1 स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Swami Vivekanand)
14.2 स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Swami Vivekanand)
14.3 स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Swami Vivekanand)
14.4 स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of the Educational Thought of Swami Vivekanand)
14.5 सारांश (Summary)
14.6 शब्दकोश (Keywords)
14.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- स्वामी विवेकानंद का जीवन–परिचय जानने हेतु।
- स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक चिंतन जानने हेतु।
- स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

स्वामी विवेकानंद युगदृष्टा और युगसृष्टा थे। युगदृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने अपने समय के अपने देश की स्थिति को देखा-समझा था; और युगसृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने नवभारत के निर्माण की नींव रखी थी। यूँ तो ये भारतीय धर्म-दर्शन की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में करने, वेदांत को व्यावहारिक रूप देने एवं उसके प्रचार करने और, समाज सेवा एवं समाज सुधार करने के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं परंतु इस सबके लिए इन्होंने शिक्षा की आवश्यकता पर बहुत बल दिया था और नए भारत के निर्माण के लिए तत्कालीन शिक्षा में सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए थे। यही कारण है कि शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों और कार्यों का क्रमबद्ध समालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

14.1 स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Swami Vivekanand)

नोट

स्वामी विवेकानंद का जन्म कलकत्ता के एक बंगाली कायस्थ परिवार में 12 जनवरी, 1863 को हुआ था। इनका वास्तविक नाम **नरेंद्र नाथ दत्त** था। इनके पिता **श्री विश्वनाथ दत्त** कलकत्ते के उच्च न्यायालय में एटर्नी (वकील) थे। वे बड़े बुद्धिमान, ज्ञानी, उदार, परोपकारी एवं गरीबों की रक्षा करने वाले थे। स्वामी जी की माँ **श्रीमती भुवनेश्वर देवी** भी बड़ी बुद्धिमती, गुणवती, धर्मपरायण एवं परोपकारी थीं। स्वामी जी पर इनका अमिट प्रभाव पड़ा। ये बचपन से ही पूजा-पाठ में रुचि लेते थे और ध्यानमग्न हो जाते थे। इनकी इसी प्रवृत्ति ने आगे चलकर इन्हें नरेंद्रनाथ से स्वामी विवेकानंद बना दिया।

नरेंद्रनाथ की शिक्षा का आरंभ इनके अपने घर पर ही हुआ। ये बड़े कुशाग्र बुद्धि और चंचल स्वभाव के बालक थे। सात वर्ष की आयु तक इन्होंने पूरा व्याकरण रट डाला था। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें मेट्रोपोलिटन कॉलिज में भर्ती किया गया। इस विद्यालय में इन्होंने पढ़ने-लिखने के साथ-साथ खेल-कूद, व्यायाम, संगीत और नाटक में रुचि ली और इन सभी क्षेत्रों में ये आगे रहे। 16 वर्ष की आयु में इन्होंने मैट्रीकुलेशन (हाईस्कूल) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके बाद इन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया और उसके बाद जनरल एसेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन में पढ़ने लगे। इस समय इन्होंने कॉलेज के पाठ्य विषयों के अध्ययन के साथ-साथ साहित्य, दर्शन और धर्म का भी अध्ययन किया। इस क्षेत्र में इन्हें अपने माता-पिता और अध्यापकों से बड़ा सहयोग मिला। अध्ययनशील नरेंद्रनाथ दत्त का जीवन बड़ा संयमी था; ये ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और प्रार्थना, उपासना और ध्यान में मग्न रहते थे। ज्ञान के प्रकाश और आध्यात्मिक तेज से गौर वर्ण के सुंदर युवक का चेहरा और अधिक प्रदीप्त हो उठा था।

नवम्बर 1881 में इन्हें कलकत्ता में ही स्थित दक्षिणेश्वर के मंदिर में जाने और श्री रामकृष्ण परमहंस के दर्शन करने का सौभाग्य मिला। परमहंस इनकी आभा से प्रभावित हुए, परंतु एफ.ए. (इंटर) की परीक्षा की तैयारी में लग जाने के कारण नरेंद्र नाथ बहुत दिनों तक उनके पास न जा पाए। नरेंद्र नाथ ने एफ.ए. पास कर बी.ए. में प्रवेश लिया। इसी बीच इन्होंने परमहंस का सत्संग किया। इस सत्संग का यह प्रंभाव हुआ कि नरेंद्र नाथ गृहस्थ जीवन में नहीं बँधे। 1884 में इन्होंने बी.ए. पास किया। उसी वर्ष इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। यूँ तो इनके पिता बहुत पैसा कमाते थे परंतु ये खर्च भी बहुत उदारता से करते थे। परिणामत: उनके पास बचता कुछ नहीं था। जब उनका स्वर्गवास हुआ तो घर में पैसा नहीं था। अब नरेंद्रनाथ को अपनी माँ और बहिनों के भरण-पोषण के लिए आर्थिक क्षेत्र में कार्य करना पड़ा। संपन्न परिवार में जन्मे और पले इस युवक को विपन्नता का सामना करना पड़ा। इस समय इन्होंने अनुभव किया कि निर्धनता दुख की जननी है। 1886 में श्री परमहंस का भी महाप्रस्थान हो गया। महाप्रस्थान करने से तीन दिन पूर्व परमहंस ने नरेंद्रनाथ को अपना उत्तराधिकार देते हुए कहा था–'आज अपना सब कुछ तुम्हें देकर मैं रंक बन गया हूँ। मैंने योग द्वारा जिस शक्ति को तुम्हारे अंदर प्रविष्ट किया है, उससे तुम अपने जीवन में महान कार्य करोगे। अपने इस कार्य को पूर्ण करने के बाद ही तुम वहाँ जाओगे जहाँ से आये हो।'

गुरु के महाप्रस्थान के बाद ये उनकी शिक्षाओं के प्रचार एवं प्रसार कार्य में लग गए। पहले वर्ष इनका कार्य क्षेत्र कलकत्ता ही रहा। इसके बाद 1888 में ये परिव्राजक के रूप में भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। ये काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, मथुरा, वृंदावन और हाथरस होते हुए हिमालय पहुँचे। इस यात्रा में ये प्राय: पैदल ही चले और परमहंस रामकृष्ण की शिक्षाओं का प्रचार एवं प्रसार करते रहे। 1891 में इन्होंने राजस्थान की यात्रा की और 1892 में दक्षिण भारत की यात्रा की। इस यात्रा में इन्होंने भारत की नंगी तस्वीर देखी और उसकी आत्मिक एकता की अनुभूति की। दक्षिण भारत की यात्रा के अंतिम चरण में ये कन्याकुमारी पहुँचे। यहाँ के मंदिर में इन्होंने देवी के दर्शन किए और फिर समुद्र में कूदकर तैरते हुए एक पास की चट्टान पर जा पहुँचे और वहाँ तपस्या में समाधिस्थ हो गए। यहाँ इन्हें एक दिव्य अनुभूति हुई। यहाँ इन्होंने देश सेवा, दीन-हीन, दलित और अपेक्षित भारतीय जनता के कल्याण का व्रत लिया। यहाँ से ये मद्रास पहुँचे। मद्रास में इन्होंने कई स्थानों पर वेदांत पर

नोट

विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिए। यहाँ के लोग इनसे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अमेरिका में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में भेजने के लिए मार्ग व्यय एकत्रित किया। उनके आग्रह पर इन्होंने अमेरिका जाना स्वीकार किया। अमेरिका जाने से पहले इन्होंने अपना नाम विवेकानंद रखा और सितंबर, 1893 में इन्होंने इस सम्मेलन में भाग लिया। यहाँ इन्होंने संसार को भारतीय धर्म और दर्शन से परिचित कराया। विश्व के विद्वान इनकी विद्वता से प्रभावित हुए। अमेरिकी जनसमूह इनके पीछे दौड़ने लगा। अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर ये तीन वर्ष अमेरिका रुके और वहाँ वेदांत का प्रचार किया। इस बीच इनकी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ। 1897 में ये इंग्लैंड गए और अनेक स्थानों पर भाषण दिए और वेदांत का प्रचार किया। इंग्लैंड से इटली, स्विट्जरलैंड, जर्मनी और फ्रांस गए और इन देशों में वेदांत पर व्याख्यान दिए। यहाँ से ये पुनः इंग्लैंड गए और वहाँ वेदांत का प्रचार किया। तब ये भारत लौटे।

नोट्स स्वामी विवेकानंद का मत था कि मनुष्य को सदैव दीनहीनों की सेवा करनी चाहिए।

इंग्लैंड से भारत लौटकर इन्होंने **'रामकृष्ण मिशन'** की स्थापना की, जिसका उद्देश्य न केवल वेदांत का प्रचार था, अपितु दीन-हीनों की सेवा के लिए शिक्षा संस्थाएँ और चिकित्सालय खोलना भी था। स्वामी जी चाहते थे कि इनके अनुयायी गाँव-गाँव जाकर शिक्षा का प्रचार करें अज्ञान के अंधकार को दूर करें। इसी समय इन्होंने कलकत्ता स्थित बेल्लूर में एक मठ का निर्माण कराया जो 1899 के आरंभ से रामकृष्ण के अनुयायियों का स्थायी केंद्र बन गया। थोड़े ही दिनों बाद इन्होंने हिमालय में अल्मोड़े से 75 किमी. की दूरी पर अद्वैत आश्रम के नाम से एक दूसरे मठ का निर्माण कराया। इन कार्यों से निवृत्त होकर स्वामी जी 1899 में पुनः अमेरिका गए। ये वहाँ लगभग एक वर्ष तक रहे और राज योग तथा साधन की शिक्षा देते रहे। 1900 में स्वामी जी अमेरिका से फ्रांस पहुँचे। यहाँ इन्होंने 'पेरिस विश्व धर्म इतिहास सम्मेलन' में भाग लिया। फ्रांस से ये इटली और ग्रीस होते हुए उसी वर्ष भारत लौट आए। अब ये कुछ अस्वस्थ रहने लगे। परंतु अस्वस्थ रहते हुए भी ये धर्म प्रचार, समाज सेवा और जन जागरण के कार्यों में लगे रहे। 1887 से 1901 के बीच स्वामी जी ने अनेक ग्रंथों की रचना भी की। इनमें **ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, राज योग, प्रेम योग, धर्म विज्ञान, हिंदू धर्म, व्यावहारिक जीवन में वेदांत, प्राच्य और पाश्चात्य, मेरे गुरुदेव, धर्म रहस्य, हमारा भारत, वर्तमान भारत** और **शिक्षा** मुख्य हैं। अब इनके पूरे साहित्य और मुख्य भाषणों को 'विवेकानंद साहित्य' के नाम से दस खंडों में प्रकाशित किया गया है। परंतु विधि का विधान, इस युग पुरुष ने 39 वर्ष की अल्प आयु में ही 4 जुलाई, 1902 को निर्वाण प्राप्त किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. स्वामी विवेकानंद का वास्तविक नाम ..... था।
2. अद्वैत दर्शन के अनुसार ..... इस सृष्टि का आदि तत्व है।

14.2 स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Swami Vivekanand)

स्वामी विवेकानंद श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। श्री परमहंस ने इस सत्य की अनुभूति की थी कि परमात्मा आत्मा में है और आत्मा परमात्मा में है और उन्होंने इस सत्य की अनुभूति अपने शिष्य विवेकानंद को भी कराई थी। इसके साथ-साथ श्री विवेकानंद ने वेदों और उपनिषदों का गूढ़ अध्ययन किया था और उनके द्वारा

नोट

प्रतिपादित सत्यों की जीवन में अनुभूति की थी। स्वामी जी के विचार केवल तार्किक ही नहीं हैं, अपितु अनुभव सिद्ध हैं।

वैदिक धर्म और दर्शन भिन्नताओं का योग है। स्वामी विवेकानंद वेदांत दर्शन को मानते थे। वेदांत के भी तीन रूप हैं–द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत। स्वामी जी अद्वैत के समर्थक थे। इनके अनुसार द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इनमें कोई अंतर नहीं है; ये तीनों वेदांत दर्शन के तीन सोपान हैं, जिनका अंतिम लक्ष्य अद्वैत की अनुभूति ही है। इतना ही नहीं, अपितु स्वामी जी तो विश्व के सभी धर्मों और दर्शनों को अंत में अद्वैत की ओर झुका बताते थे।

धर्म और दर्शन के प्रति स्वामी जी का दृष्टिकोण बड़ा वैज्ञानिक था। इन्होंने स्पष्ट किया कि कला, विज्ञान और धर्म एक ही परम सत्य को व्यक्त करने के तीन विभिन्न साधन हैं। एक स्थान पर इन्होंने कहा है–'जब विज्ञान का शिक्षक यह कहता है कि समस्त वस्तुएँ एक ही शक्ति की द्योतक हैं तो क्या आपको ईश्वर की याद नहीं आती, जिसके विषय में आपने उपनिषदों में पढ़ा है।' और यही तो अद्वैत वेदांत कहता है। अद्वैत वेदांत को ये सार्वभौमिक विज्ञान धर्म (Universal Science Religion) कहते थे। इन्होंने वेदांत को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यही उनके अद्वैत वेदांत का नयापन है और इसी आधार पर इनके दार्शनिक चिंतन को नव्य **वेदांत** कहा जाता है। यहाँ स्वामी जी के नव्य वेदांत की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा प्रस्तुत है।

विवेकानंद के नव्य वेदांत की तत्व मीमांसा

अद्वैत दर्शन के अनुसार 'ब्रह्म' इस सृष्टि का आदि तत्व है और वही इस ब्रह्माण्ड की रचना का कर्ता और उपादान कारण है। वेदांतियों का तर्क है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले का निर्माण स्वयं करती है और जाले बनाने का पदार्थ अपने अंदर से निकालती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड का निर्माण स्वयं करता है और इसका उपादान कारण भी वह स्वयं ही है। स्वामी विवेकानंद इस सत्य को स्वीकार करते थे। इस सिद्धांत के अनुसार संसार के सभी स्थूल पदार्थ और सूक्ष्म आत्माएँ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के अंश हैं। दूसरे शब्दों में यह सारा संसार ब्रह्ममय है। प्रश्न उठता है कि इस ब्रह्म का स्वरूप क्या है। अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है जिसका कोई स्वरूप नहीं है, यह निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। माया के योग से यह ब्रह्म साकार ब्रह्म (ईश्वर) का रूप धारण करता है। यह स्थूल इंद्रियग्राह जगत और उसके समस्त पदार्थ भी उसके साकार रूप हैं।

आत्मा के संबंध में स्वामी जी अद्वैतवादियों के विचार से सहमत हैं। इनके अनुसार सभी आत्माएँ परमात्मा का अंश है और परमात्मा की भाँति वे भी अनादि और अनंत हैं, अत: उनके जन्म और मरण का प्रश्न नहीं उठता। अद्वैत के अनुसार संसार के अन्य पदार्थ भी ब्रह्म अर्थात् के ही अंश हैं परंतु आत्मा और अन्य पदार्थों में अंतर इतना है कि आत्मा सर्वव्यापी और सर्वज्ञाता है औरा उसमें अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को समझने और उसे प्राप्त करने का गुण है जबकि अन्य पदार्थों मे यह गुण नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार जब तक आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को नहीं पहचानती और उसे प्राप्त नहीं कर लेती तब तक वह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती रहती है और जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेती है और उसे प्राप्त हो जाती है तब वह ऐहिक जीवन से मुक्त हो जाती है। इसी को स्वामी जी मुक्ति कहते थे।

मनुष्य को विवेकानंद शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन के दो पक्ष हैं–एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। ये मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इनका कथन था कि जब तक मनुष्य शारीरिक दुर्बलता, अज्ञानता और राजनैतिक दासता से मुक्त नहीं होता तब तक वह आत्मिक मुक्तता की ओर नहीं बढ़ सकता।

मनुष्य के विकास के संबंध में विवेकानंद का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। ये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय ज्ञान एवं क्रियाओं को आवश्यक मानते थे ओर उसके भौतिक एवं आर्थिक विकास के लिए पाश्चात्य ज्ञान, विज्ञान एवं तकनीकी को आवश्यक मानते थे। आज तो ज्ञान किसी देश की सीमा में सीमित नहीं है, आज तो ज्ञान के क्षेत्र में भूमंडलीकरण हो गया है।

नोट

विवेकानंद के नव्य वेदांत की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

स्वामी जी ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत इन्होंने वस्तुजगत (उसकी समस्त वस्तुओं और क्रियाओं) के ज्ञान को रखा है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत सूक्ष्म जगत (परमात्मा, आत्मा और जीवात्माओं) के ज्ञान और सूक्ष्म जगत के ज्ञान को प्राप्त करने के साधन मार्गों (ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग और राज योग) के ज्ञान को रखा है। वेदांत के प्रतिपादक शंकर के अनुसार वस्तु जगत का ज्ञान असत्य ज्ञान है और सूक्ष्म जगत का ज्ञान सत्य ज्ञान है, परंतु विवेकानंद वस्तु जगत और सूक्ष्म जगत दोनों के ज्ञान को सत्य मानते थे। इनका तर्क है कि यह वस्तु जगत ब्रह्म द्वारा ब्रह्म से निर्मित है और ब्रह्म सत्य है, तब यह जगत भी सत्य होना चाहिए। सत्य से असत्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है! अत: इसका ज्ञान भी सत्य ज्ञान की कोटि में आता है। जहाँ तक ज्ञान प्राप्ति के साधनों की बात है, इस संदर्भ में भी स्वामी जी के विचार स्पष्ट हैं। इनके अनुसार वस्तु जगत का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि और प्रयोग विधि से होता है और सूक्ष्म जगत का ज्ञान सत्संग, स्वाध्याय और योग द्वारा होता है। योग को तो ये किसी भी प्रकार के ज्ञान (वस्तु जगत अथवा सूक्ष्म जगत के ज्ञान) प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि मानते थे।

विवेकानंद के नव्य वेदांत की मूल्य एवं आचार मीमांसा

स्वामी जी मनुष्य को आत्माधारी मानते थे और शंकर की इस बात से सहमत थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, इस संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त करना है, आत्मा का परमात्मा में लीन करना है; परंतु ये इस वस्तु जगत और उसमें मानव जीवन को भी सत्य मानते थे इसलिए वस्तु जगत में उसे शारीरिक दुर्बलता, मानसिक दासता, आर्थिक अभाव और हीनता की भावना से मुक्त कराने पर बल देते थे। इन दोनों प्रकार की मुक्ति के लिए इन्होंने संपूर्ण मानव जाति को अध्ययनशील, विवेकशील एवं कर्मशील होने का उपदेश दिया है और सत्संग, भक्ति एवं योग (ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग और राज योग) साधना का उपदेश दिया है।

मनुष्य के आचार-विचार के संबंध में स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि मनुष्यों को सदैव सत्य का पालन करना चाहिए और दीन-हीनों की सेवा करनी चाहिए। सत्य और सेवा को ये जीवन का आधारभूत मूल्य मानते थे। इनकी अपनी दृष्टि से सत्य वह है जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों का हित (भौतिक हित एवं आध्यात्मिक हित) होता है और असत्य वह है जिससे व्यष्टि अथवा समष्टि किसी का भी अहित (भौतिक अथवा आध्यात्मिक) होता है। स्वामी जी मनुष्य को ईश्वर का मंदिर मानते थे और मानव सेवा को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। इनकी दृष्टि से मनुष्य को मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना चाहिए, अपनी जीविका ईमानदारी से कमानी चाहिए, दीन-हीनों की सेवा करनी चाहिए और इस प्रकार अपने को शुद्ध एवं निर्मल बनाकर योग साधना के योग्य बनाना चाहिए और फिर किसी भी योग मार्ग (ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा राज) द्वारा आत्मानुभूति करनी चाहिए। योग साधना के लिए इन्होंने सात सोपानों–शम-दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षत्व और नित्यानित्य विवेक के मार्ग का समर्थन किया है।

क्या आप जानते हैं स्वामी विवेकानंद श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे।

14.3 स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Swami Vivekanand)

स्वामी विवेकानंद भारतीय दर्शन के पंडित और अद्वैत वेदांत के पोषक थे। ये वेदांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके दार्शनिक विचार सैद्धांतिक रूप में इनके द्वारा विरचित पुस्तकों में पढ़े जा सकते हैं और इनका व्यावहारिक रूप रामकृष्ण मिशन के जन कल्याणकारी कार्यों में देखा जा सकता है। स्वामी जी अपने देशवासियों की अज्ञानता और निर्धनता, इन दो से बहुत चिंतित थे और इन्हें दूर करने के लिए इन्होंने शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया था। ये अपने और अपने साथियों को केवल वेदांत के प्रचार में नहीं लगाए रहे, इन्होंने

नोट

जन शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में भी बड़ा योगदान दिया है। भारतीय शिक्षा को भारतीय स्वरूप प्रदान करने के लिए ये सदैव स्मरण किए जाएँगे। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों का क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है–

शिक्षा का सम्प्रत्यय

स्वामी जी शिक्षा के द्वारा मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों के लिए तैयार करना चाहते थे। इनका विश्वास था कि जब तक हम भौतिक दृष्टि से संपन्न एवं सुखी नहीं होते तब तक ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग, ये सब कल्पना की वस्तुएँ हैं। लौकिक दृष्टि से इन्होंने नारा दिया– **'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जिसके द्वारा चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य स्वावलंबी बनें'** (We want that education by which character is formed, strength of mind is increased, the intellect is expanded and by which one can stand on one's own feet.)। इस प्रकार की शिक्षा को ये **'मनुष्य के निर्माण की शिक्षा'** (Man Making Education) कहते थे। परंतु मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य ये अपने अंदर छिपी आत्मा (पूर्णता) की अनुभूति मानते थे। पारलौकिक दृष्टि से इन्होंने उद्घोषणा की– **'शिक्षा मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है'** (Education is manifestation of perfection already present in man.)। इनकी दृष्टि से जो शिक्षा ये दोनों कार्य करती है, वही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रकार की शिक्षा को ये **पूर्ण शिक्षा** (Complete Education) कहते थे।

शिक्षा के उद्देश्य

स्वामी विवेकानंद मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों रूपों को वास्तविक मानते थे, सत्य मानते थे, इसलिए ये मनुष्य के दोनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इनकी दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य का भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार का विकास होना चाहिए। जो शिक्षा ये दोनों कार्य करे उसे ये पूर्ण शिक्षा (Complete Education) कहते थे। इस हेतु स्वामी जी ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों पर बल दिया है उन्हें हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–स्वामी जी भौतिक जीवन की रक्षा एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति और आत्मानुभूति दोनों के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता समझते थे। भौतिक दृष्टि से इन्होंने कहा कि इस समय हमें ऐसे बलिष्ट लोगों की आवश्यकता है जिनकी पेशियाँ लोहे के समान दृढ़ हों और स्नायु फौलाद की तरह कठोर। आत्मानुभूति के लिए इन्होंने ज्ञान योग, कर्म योग; भक्ति योग अथवा राज योग को आवश्यक बताया और इनमें से किसी भी प्रकार की योग साधना के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता स्पष्ट की। इनकी दृष्टि से शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य का शारीरिक विकास किया जाना चाहिए।
2. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास**–स्वामी जी ने भारत के पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण उसके बौद्धिक पिछड़ेपन को बताया और इस बात पर बल दिया कि हमें अपने बच्चों का मानसिक एवं बौद्धिक विकास करना चाहिए और इसके लिए उन्हें आधुनिक संसार के ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना चाहिए, जहाँ से जो भी अच्छा ज्ञान एवं कौशल मिले उसे प्राप्त करना चाहिए और उन्हें संसार में आत्मविश्वास के साथ खड़े होने की सामर्थ्य प्रदान करनी चाहिए।
3. **समाज सेवा की भावना का विकास**–स्वामी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पढ़ने-लिखने का अर्थ यह नहीं कि अपना ही भला किया जाए, मनुष्य को पढ़ने-लिखने के बाद मनुष्य मात्र की भलाई करनी चाहिए। इन्होंने भारत की जनता की दरिद्रता को स्वयं अपनी आँखों से देखा था। ये चाहते थे कि पढ़े-लिखे और संपन्न लोग दीन-हीनों की सेवा करें, उन्हें ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न करें। समाज सेवा से इनका तात्पर्य दया या दान से नहीं था, समाज सेवा से इनका तात्पर्य दीन-हीनों के उत्थान में सहयोग करने से था, उठेंगे तो वे स्वयं ही। ये शिक्षा द्वारा ऐसे समाज सेवियों की टीम तैयार करना चाहते थे। ये आध्यात्मिक दृष्टि से भी समाज सेवा को बहुत महत्त्व देते थे। ये मनुष्य को ईश्वर का मंदिर मानते थे और उसकी सेवा को ईश्वर की सेवा मानते थे।

नोट

4. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–स्वामी जी ने यह बात अनुभव की कि शरीर से स्वस्थ, बुद्धि से विकसित और अर्थ से संपन्न होने के साथ-साथ मनुष्य को चरित्रवान भी होना चाहिए। चरित्र ही मनुष्य को सत्यनिष्ठ बनाता है, कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। इसलिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य के नैतिक एवं चारित्रिक विकास पर भी बल दिया। नैतिकता से इनका तात्पर्य सामाजिक नैतिकता और धार्मिक नैतिकता दोनों से था और चारित्रिक विकास से तात्पर्य ऐसे आत्मबल के विकास से था जो मनुष्य को सत्य मार्ग पर चलने में सहायक हो और उसे असत्य मार्ग पर चलने से रोके। इनका विश्वास था कि ऐसे नैतिक एवं चरित्रवान मनुष्यों से ही कोई समाज अथवा राष्ट्र आगे बढ़ सकता है, ऊँचा उठ सकता है।
5. **व्यावसायिक विकास**–स्वामी जी ने भारत की दरिद्र जनता को बड़े निकट से देखा था; उनके शरीर से झाँकती हुई हड्डियों को रोटी, कपड़े और मकान की माँग करते हुइ देखा था। साथ ही इन्होंने पाश्चात्य देशों के वैभवशाली जीवन को भी देखा था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उन देशों ने यह भौतिक संपन्नता ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी के विकास और प्रयोग से प्राप्त की है। अत: इन्होंने उद्घोष किया कि कोरे आध्यात्मिक सिद्धांतों से जीवन नहीं चल सकता, हमें कर्म के हर क्षेत्र में आगे आना चाहिए। इसके लिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्यों का उत्पादन एवं उद्योग कार्यों तथा अन्य व्यवसायों में प्रशिक्षित करने पर बल दिया।
6. **राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबंधुत्व का विकास**–स्वामी जी के समय हमारा देश अंग्रेजों के आधीन था, हम परतंत्र थे। स्वामी जी ने अनुभव किया कि परतंत्रता हीनता को जन्म देती है और हीनता हमारे सारे दुखों का सबसे बड़ा कारण है। अत: जब ये अमेरिका से भारत लौटे तो इन्होंने भारत की भूमि पर पैर रखते ही युवकों का आह्वान किया–'तुम्हारा सबसे पहला कार्य देश को स्वतंत्र कराना होना चाहिए और इसके लिए जो भी बलिदान करना पड़े, उसके लिए तैयार होना चाहिए।' इन्होंने उस समय ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया जो देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करे, उन्हें संगठित होकर देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत करे। परंतु ये संकीर्ण राष्ट्रीयता के हामी नहीं थे, ये तो सब मनुष्यों में उस परमात्मा के दर्शन करते थे और इस दृष्टि से विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे।
7. **धार्मिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास**–स्वामी जी शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर समान बल देते थे। इनका स्पष्ट मत था कि मनुष्य का भौतिक विकास आध्यात्मिकता की पृष्ठिभूमि में होना चाहिए और उसका आध्यात्मिक विकास भौतिक विकास के आधार पर होना चाहिए और ऐसा तभी संभव है जब मनुष्य धर्म का पालन करे। धर्म को स्वामी जी उसके व्यापक रूप में लेते थे। इनकी दृष्टि से धर्म वह है जो हमें प्रेम सिखाता है और द्वेष से बचाता है, हमें मानवमात्र की सेवा में प्रवृत्त करता है और मानव के शोषण से बचाता है और हमारे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास में सहायक होता है। स्वामी जी मनुष्य को प्रारंभ से ही ऐसे धर्म की शिक्षा देने पर बल देते थे। इनकी दृष्टि से ये सब गुण हमारे अद्वैत वेदांत धर्म में हैं, यह संसार में एकत्व भाव की अनुभूति कराता है और सबसे प्रेम करना सिखाता है। यह सार्वभौमिक धर्म है। इनकी दृष्टि से संसार के अन्य धर्म भी कुछ ऐसी ही शिक्षाएँ देते हैं परंतु उन सबमें हमारा भारतीय वेदांत धर्म सर्वश्रेष्ठ है। अत: हमें प्रारंभ से ही उसकी शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही बच्चों को जीवन के अंतिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रारंभ से ही ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग अथवा राज योग की ओर उन्मुख करना चाहिए। इनकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वही है जो मनुष्य को भौतिक जीवन जीने के लिए और आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए तैयार करती है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

पाठ्यचर्या तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है। स्वामी जी ने अपने द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक विस्तृत पाठ्यचर्या का विधान प्रस्तुत किया। उन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या में मनुष्य के शारीरिक विकास हेतु खेल-कूद, व्यायाम और यौगिक क्रियाओं और मानसिक एवं बौद्धिक विकास हेतु भाषा, कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित और विज्ञान विषयों को स्थान देने पर बल दिया। भाषा के

नोट

संदर्भ में स्वामी जी का दृष्टिकोण बड़ा विस्तृत था। इनकी दृष्टि से अपने सामान्य जीवन के लिए मातृभाषा, अपने धर्म दर्शन को समझने के लिए संस्कृत भाषा, अपने देश को समझने के लिए प्रादेशिक भाषाओं और विदेशी ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी को समझने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है, अत: इन भाषाओं को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए। कला को ये मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग मानते थे और इसके अंतर्गत चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नृत्य और अभिनय सभी को पाठ्यक्रम में स्थान देने के पक्ष में थे। इतिहास के अंतर्गत ये भारत और यूरोप, दोनों के इतिहास को पढ़ाने के पक्ष में थे। इनका तर्क था कि भारत का इतिहास पढ़ने से बच्चों में स्वदेश प्रेम विकसित होगा और यूरोप का इतिहास पढ़ने से वे भौतिक श्री प्राप्त करने के लिए कर्मशील होंगे। इन्होंने राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र को भी पाठ्यचर्या में स्थान देने पर बल दिया। इनका विश्वास था कि इन दोनों विषयों के अध्ययन से बच्चों में राजनैतिक चेतना जागृत होगी और वे आर्थिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करेंगे। मनुष्यों में समाज सेवा का भाव उत्पन्न करने और उन्हें समाज सेवा की ओर उन्मुख करने के लिए स्वामी जी ने शिक्षा के सभी स्तरों पर समाज सेवा को अनिवार्य करने पर बल दिया; उनके नैतिक एवं चारित्रिक विकास हेतु धर्म एवं नीतिशास्त्र की शिक्षा को अनिवार्य करने पर बल दिया, व्यावसायिक विकास हेतु मातृ भाषा, अंग्रेजी भाषा, भौतिक विज्ञान, कृषि विज्ञान, तकनीकी और उद्योग कौशल की शिक्षा पर बल दिया और उनके आध्यात्मिक विकास हेतु साहित्य, धर्म दर्शन और नीतिशास्त्र विषयों तथा भजन, कीर्तन सत्संग और ध्यान की क्रियाओं को स्थान देने पर बल दिया।

स्वामी जी ने देश में उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने और उसके द्वारा अपने ही देश में इंजीनियरों, डॉक्टरों, वकीलों और प्रशासकों आदि की शिक्षा की व्यवस्था करने पर भी बल दिया। ये जानते थे कि जब तक हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं हो जाते तब तक हम न भौतिक उन्नति कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिक। इन्होंने शिक्षाविदों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि देश-विदेश में, जहाँ जो अच्छा है, लाभकारी है, हमारे समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक है, उसे उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। इस प्रकार शिक्षा की पाठ्यचर्या के संबंध में स्वामी जी का दृष्टिकोण अति व्यापक था। और क्यों न होता, इन्होंने अपने देश के उच्चतम धर्म-दर्शन को पढ़ा और समझा था और पाश्चात्य जगत के भौतिक वैभव को अपनी आँखों से देखा था। ये जानते थे कि पाश्चात्य जगत के भौतिक ज्ञान से हम अपना भौतिक विकास कर सकते हैं और अपने देश के आध्यात्मिक ज्ञान से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा की पाठ्यचर्या के संबंध में स्वामी जी का दृष्टिकोण अति आधुनिक और अति व्यापक था।

शिक्षण विधियाँ

स्वामी जी आत्मा की पूर्णता में विश्वास करते थे और यह मानते थे कि आत्मा सर्वज्ञ है। परंतु यह तभी संभव है जब मनुष्य को स्वयं आत्मज्ञान हो, वह स्वयं आत्मदृष्टा हो। स्वामी जी के विचार से मनुष्य को आत्मज्ञान तभी होता है जब उसे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान हो। स्वामी जी ने भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष, अनुकरण, व्याख्यान, निर्देशन, विचार-विमर्श और प्रयोग विधियों का समर्थन किया है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय, मनन, ध्यान, और योग की विधियों का समर्थन किया है। इन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह बात बहुत बलपूर्वक कही कि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि योग विधि (एकाग्रता) है। स्वामी जी स्वयं शिक्षक थे। इन्होंने देश-विदेश में लोगों को वेदांत की शिक्षा दी थी और उन्हें ध्यान क्रिया में प्रशिक्षित किया था। परंतु इन्होंने उपरोक्त सभी विधियों को कुछ अपने विशिष्ट रूप में प्रयोग किया था, अत: यहाँ इनके इस विशिष्ट रूप को समझना आवश्यक है।

1. **अनुकरण विधि**—स्वामी जी यह बात जानते थे कि मनुष्य प्रारंभ में भाषा और व्यवहार की विधियाँ अनुकरण द्वारा ही सीखता है, इसलिए इन्होंने शुद्ध भाषा और समाज सम्मत आचरण की शिक्षा के लिए इसे सर्वोत्तम विधि बताया। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि माता-पिता और शिक्षकों को बच्चों के सामने शब्द भाषा का प्रयोग करना चाहिए और आचरण के उच्च आदर्श प्रस्तुत करने चाहिए जिनका अनुकरण कर बच्चे शुद्ध भाषा सीखें और उत्तम आचरण करें। खेल-कूद, व्यायाम, योगासन एवं अन्य क्रियाओं की शिक्षा के लिए भी ये इस विधि को उपयुक्त मानते थे। ये लोगों को योग की शिक्षा इसी विधि से देते थे।

नोट

2. **व्याख्यान विधि**–तथ्यों की जानकारी मौखिक रूप से देने की विधि को व्याख्यान विधि कहते हैं। स्वामी जी यह बात मानते थे कि पूर्वजों द्वारा खोजे सत्यों का ज्ञान व्याख्यान विधि द्वारा सरलता और शीघ्रता से कराया जा सकता है। परंतु ये किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने पर बल देते थे। यही इनकी व्याख्यान विधि की विशेषता थी। ये वेदांत के सिद्धांतों की शिक्षा व्याख्यान विधि द्वारा ही देते थे परंतु तर्कपूर्ण ढंग से देते थे, वैज्ञानिक ढंग से देते थे।
3. **तर्क एवं विचार-विमर्श विधि**–तथ्यों को सीधे ग्रहण न करके उनके विषय में 'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' प्रश्न करने, उनका तार्किक उत्तर प्राप्त करने, अपनी शंकाओं को बार-बार उठाने और उनका समाधान खोजने की विधि को तर्क एवं विचार-विमर्श विधि कहते हैं। विवेकानंद की तर्क विधि भारतीय न्याय दर्शन की तर्क विधि से भिन्न है। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं का समाधान करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे शंका-समाधान विधि भी कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं के समाधान हेतु तथ्यों की व्याख्या करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे व्याख्या विधि कहते हैं। तथ्यों की व्याख्या में तथ्यों का विश्लेषण करना पड़ता है। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे विश्लेषण विधि कहते हैं। स्वामी जी किसी भी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। इसलिए उन्होंने इस विधि को तर्क एवं विचार-विमर्श विधि कहा है।
4. **निर्देशन और परामर्श विधि**–वैयष्टिक निर्देशन और परामर्श द्वारा शिक्षार्थियों का मार्ग निर्देशन करने, उनकी स्वयं सीखने में सहायता करने और बीच-बीच में उनकी शंकाओं का समाधान करने की विधि को निर्देशन एवं परामर्श विधि कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की; क्या पढ़ें और कैसे पढ़ें; क्या करें और कैसे करें, इस संबंध में सहायता करते हैं। इस विधि में शिक्षार्थी स्वाध्याय अथवा स्व क्रिया द्वारा स्वयं सीखते हैं, शिक्षक तो उनका केवल मार्ग दर्शन करते हैं। स्वामी जी किशोर और युवकों की शिक्षा के लिए इस विधि को उत्तम विधि मानते थे।
5. **प्रदर्शन एवं प्रयोग विधि**–स्वामी जी प्रयोगिक विषयों–विज्ञान एवं तकनीकी और क्रियाओं के शिक्षण एवं प्रशिक्षण के लिए इस विधि के प्रयोग का समर्थन करते थे। इस विधि में शिक्षक वस्तु अथवा क्रिया को प्रस्तुत करता है, शिक्षार्थी अवलोकन करते हैं, शिक्षक हर तथ्य को स्पष्ट करता है, शिक्षार्थी उसे प्रयोग करके निश्चित करते हैं। आज तो इस विधि में बच्चों की सक्रिय साझेदारी ली जाती है। अपने सही अर्थों में विज्ञान आदि प्रायोगिक विषयों की शिक्षा इसी विधि से दी जा सकती है।
6. **स्वाध्याय विधि**–स्वाध्याय विधि का अर्थ है स्वयं अध्ययन करना। इस विधि में शिक्षार्थी तथ्यों का ज्ञान तत्संबंधी पुस्तकों के अध्ययन द्वारा प्राप्त करते हैं। स्वामी जी अपने धर्म-दर्शन के ज्ञान के लिए आर्य ग्रंथों के अध्ययन पर बल देते थे। ये कहा करते थे कि सब कुछ उपदेशों एवं व्याख्यानों द्वारा नहीं बताया जा सकता, किसी भी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिए उससे संबंधित प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक होता है। शिक्षार्थी द्वारा इन प्रामाणिक ग्रंथों को स्वयं पढ़ना और स्वयं समझने का प्रयत्न करना ही स्वाध्याय विधि है। स्वाध्याय को स्वामी जी तब तक अधूरा मानते थे जब तक उस पर चिंतन, मनन और निदिध्यासन नहीं किया जाए। इनका उद्घोष था कि किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करो। इस प्रकार स्वामी जी द्वारा अनुमोदित स्वाध्याय विधि आज की पुस्तक विधि अथवा पुस्तकालय विधि से कुछ भिन्न है, कुछ अधिक है और कुछ अधिक उपयोगी।
7. **योग विधि**–स्वामी जी इसे भौतिक एवं आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने अथवा ज्ञान की खोज करने की सर्वोत्तम विधि मानते थे। इनकी दृष्टि से भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अल्प योग (अल्पकालीन एकाग्रता) ही पर्याप्त होता है परंतु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूर्ण योग (दीर्घकालीन एकाग्रता) की आवश्यकता होती है। आज के मनोवैज्ञानिक भी तो यही कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए सीखे जाने वाली वस्तु अथवा क्रिया पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है। हमारा अनुभव भी यही बताता है कि सीखने वाले में सीखने के लिए जितना अधिक योग होता है, वह उतनी ही शीघ्रता से सीखता है। स्वामी विवेकानंद तो बचपन से ही इस विधि का प्रयोग करते थे।

नोट

अनुशासन

मनुष्य जीवन के मुख्य रूप में तीन पक्ष होते हैं–प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। स्वामी जी इन तीनों पक्षों को महत्त्व देते थे, परंतु सर्वाधिक महत्त्व आध्यात्मिक पक्ष को देते थे। स्वामी विवेकानंद के अनुसार अनुशासन का अर्थ है अपने व्यवहार में आत्मा द्वारा निर्दिष्ट होना। इनके अनुसार जब मनुष्य अपने प्राकृतिक 'स्व' से प्रेरित होकर कार्य करता है तो हम उसे अनुशासित नहीं कह सकते, जब वह अपने प्राकृतिक 'स्व' पर संयम रखकर सामाजिक 'स्व' से प्रेरित होता है तो हम उसे अनुशासित कह सकते हैं, परंतु वास्तव में अनुशासित वह है जो आत्मा से प्रेरित होकर कार्य करता है।

स्वामी जी शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को आत्मानुशासन का उपदेश देते थे। प्रश्न उठता है–बच्चे आत्मानुशासन की स्थिति में कैसे आ सकते हैं। इस संबंध में स्वामी जी का अपना मत था कि जब शिक्षक शिक्षार्थियों के सामने आत्मानुशासन का उच्च आदर्श प्रस्तुत करेंगे तो बच्चे भी उनका अनुसरण करेंगे और फिर धीरे-धीरे सोचने और करने की उन्हें अंदर से प्रेरणा मिलने लगेगी, वे आत्मानुशासन की ओर बढ़ेंगे।

शिक्षक

स्वामी जी प्राचीन गुरुगृह प्रणाली के समर्थक थे। इनकी दृष्टि से शिक्षकों को भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान होना चाहिए जिससे वे बच्चों को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन के लिए तैयार कर सकें। ये शिक्षकों को संयमी और आत्माज्ञानी होने का उपदेश देते थे, तभी तो शिष्य उनका अनुसरण कर संयमी एवं आत्मज्ञानी हो सकते हैं। स्वामी जी शिक्षकों से यह भी आशा करते थे कि वे मनोविज्ञान की सहायता से बच्चों की कर्मजनित भिन्नता को समझकर उनके लिए उनके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें और आत्मज्ञान द्वारा उनकी आध्यात्मिक एकता को समझकर उन्हें आत्मतत्व का बोध करने में सहायक हों। इस प्रकार स्वामी जी शिक्षक के प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों स्वरूपों के समर्थक थे।

शिक्षार्थी

स्वामी जी के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक, किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करें। इनका विश्वास था कि जब तक शिक्षार्थी इंद्रिय निग्रह नहीं करते, उनमें सीखने के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न नहीं होती और वे गुरु में श्रद्धा रखकर सत्य को जानने का प्रयत्न नहीं करते तब तक वे न तो भौतिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी जी के अनुसार गुरु-शिष्य का संबंध केवल लौकिक ही नहीं होना चाहिए अपितु उन्हें एक-दूसरे के दिव्य स्वरूप को भी देखना-समझना चाहिए।

विद्यालय

स्वामी जी गुरु गृह प्रणाली के हामी थे। परंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ये यह जानते थे कि अब गुरु गृह जन कोलाहल से दूर कहीं प्रकति की सूरम्य गोद में स्थापित नहीं किए जा सकते। ये केवल इस बात पर बल देते थे कि विद्यालयों का पर्यावरण शुद्ध हो और वहाँ व्यायाम, खेल-कूद, अध्ययन-अध्यापन और इन सबके साथ-साथ समाज सेवा, भजन-कीर्तन एवं ध्यान की क्रियाएँ भी संपादित हों।

शिक्षा के अन्य अक्ष

1. **जन शिक्षा**–स्वामी जी के समय अपने देश की स्थिति बड़ी दयनीय थी। इसके विपरीत पश्चिमी देशों की दशा बहुत अच्छी थी, वहाँ के लोग संपन्न थे और वैभवशाली जीवन जी रहे थे। स्वामी जी ने इस सबको अपनी आँखों से देखा था। इन्होंने अनुभव किया कि हमारी राजनैतिक पराधीनता, आर्थिक विपन्नता, सामाजिक पिछड़ापन और धार्मिक अंधविश्वास, इन सबका मूल कारण अशिक्षा है। इन्होंने उद्घोष किया कि जब तक भारत के सभी नर-नारी शिक्षित नहीं होते तब तक हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में आगे

नोट

नहीं बढ़ सकते। इन्होंने समाज और राज्य से जन शिक्षा की व्यवस्था की अपेक्षा की। जन शिक्षा से स्वामी जी का तात्पर्य बच्चों, युवकों और अशिक्षित प्रौढ़ों सबको शिक्षित करने से था। इन्होंने शिक्षित लोगों का आह्वान किया कि वे अशिक्षित प्रौढ़ों और वृद्धों को साक्षर बनाएँ, उन्हें शिक्षित करें।

2. **स्त्री शिक्षा**–स्वामी जी अपने देश की स्त्रियों की दयनीय दशा के प्रति बड़े सचेत थे। इन्होंने उद्घोष किया कि नारी का सम्मान करो, उन्हें शिक्षित करो और उन्हें आगे बढ़ने के अवसर दो। इन्होंने स्पष्ट किया कि जब तक हम नारी को शिक्षित नहीं करते तब तक समाज को शिक्षित नहीं कर सकते और जब तक समाज को शिक्षित नहीं करते तब तक समाज अथवा राष्ट्र का विकास नहीं कर सकते। परंतु स्त्री शिक्षा के संबंध में इनका दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भारतीय था। ये उन्हें आदर्श गृहणी, आदर्श माताएँ, आदर्श शिक्षिकाएँ और समाज सुधारक बनाना चाहते थे। ये नारियों के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे जिसके द्वारा ऐसी नारियों का निर्माण हो जो पवित्र हों, निर्भय हों, गृहस्थ धर्म के निर्वाह में निपुण हों, वीर पुत्रों को जन्म दें, आदर्श माताएँ बनें और समाज को उचित दिशा दें।

3. **सह शिक्षा**–स्वामी जी सह शिक्षा के विरोधी थे। इनका पहला तर्क तो यह था कि स्त्री-पुरुषों की शिक्षा की पाठ्यचर्या समान नहीं होती इसलिए उन्हें साथ-साथ कैसे पढ़ाया जा सकता है। इनका दूसरा तर्क यह था कि सह शिक्षा आत्म संयम में बाधक होती है। ये लड़कियों के लिए अलग से विद्यालयों की स्थापना करने और उनमें केवल स्त्री शिक्षिकाओं की नियुक्ति करने के पक्ष में थे।

4. **व्यावसायिक शिक्षा**–स्वामी जी ने अपने देश की नंगी तस्वीर देखी थी और साथ ही पाश्चात्य देशों का वैभव देखा था। इन्होंने अनुभव किया कि अपने देश की निर्धनता के दो मुख्य कारण हैं–सामान्य शिक्षा का अभाव और विशिष्ट एवं व्यावसायिक शिक्षा का अभाव। अत: इन्होंने पहला नारा जन शिक्षा का दिया और दूसरा नारा विशिष्ट एवं व्यावसायिक शिक्षा का दिया। व्यावसायिक शिक्षा से स्वामी जी का तात्पर्य केवल कुटीर उद्योगों और सामान्य शिल्पों की शिक्षा से नहीं था अपितु पाश्चात्य देशों की विज्ञान और तकनीकी शिक्षा से भी था, देश के लिए इंजीनियर, डॉक्टर और वकील आदि तैयार करने से भी था और प्रशासक और संगठनकर्ता तैयार करने से भी था। इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में इनका दृष्टिकोण अति व्यापक और व्यावहारिक था।

5. **धर्म शिक्षा**–स्वामी जी धार्मिक शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। परंतु धार्मिक शिक्षा के संदर्भ में स्वामी जी के विचार बहुत उदार थे। ये धर्म को किसी सम्प्रदाय की सीमा में बाँधने के पक्ष में नहीं थे ये धर्म को मनुष्य जीवन के शाश्वत मूल्यों के उद्घोषक के रूप में स्वीकार करते थे। ये स्वयं अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस की इस बात का प्रचार एवं प्रसार करते थे कि संसार के सभी धर्म एक हैं, सभी एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। धर्म के संबंध में स्वामी जी की दो बातें और उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में कही थीं। पहली यह कि–'मुझे गर्व है कि मैं हिंदू धर्मावलंबी हूँ जो सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व की शिक्षा देता है'; और दूसरी यह कि–'लोगों का यह सोचना व्यर्थ है कि संसार में कभी केवल एक ही धर्म होगा।' इनके इन उद्घोषों से स्पष्ट है कि ये ऐसे धर्म की शिक्षा के समर्थक थे जो मनुष्यों को सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व की शिक्षा दे।

6. **राष्ट्रीय शिक्षा**–यूँ स्वामी जी ने कोई राष्ट्रीय शिक्षा योजना तो प्रस्तुत नहीं की परंतु इन्होंने इसकी आवश्यकता पर बहुत बल दिया था। इन्होंने स्पष्ट किया कि शिक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, सभी के उत्थान के लिए मूलभूत आवश्यकता है अत: किसी भी राष्ट्र को अपने नागरिकों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। अपने भारत राष्ट्र की शिक्षा के संदर्भ में इनके विचार बहुत स्पष्ट थे। इन्होंने उद्घोष किया कि जहाँ से जो अच्छा और उत्तम मिले उसी स्वीकार करो। इन्होंने अनुभव किया कि भौतिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य देश आगे हैं और आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में भारत का कोई सानी नहीं है, इसलिए इन्होंने देश के भौतिक विकास के लिए पाश्चात्य देशों के भौतिक ज्ञान-विज्ञान एवं कौशलों को सीखने और आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन को सीखने पर बल दिया। वेदांत को तो ये सार्वभौमिक धर्म मानते थे इसलिए उसकी शिक्षा अनिवार्य रूप से देने पर बल देते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. वैदिक धर्म और दर्शन भिन्नताओं का ..... है।,
   (अ) योग (ब) वियोग (स) विचार (द) इनमें से कोई नहीं
4. धर्म और दर्शन के प्रति स्वामी जी का दृष्टिकोण था–
   (अ) वैज्ञानिक (ब) धार्मिक (स) अधार्मिक (द) अवैज्ञानिक
5. सन् 1892 में स्वामी विवेकानंद ने यात्रा की–
   (अ) राजस्थान की (ब) दक्षिण भारत की (स) मथुरा की (द) आगरा की।
6. अमेरिका में होने वाला विश्व धर्म सम्मेलन हुआ था–
   (अ) सितंबर 1993 में (ब) सितंबर 1893 में (स) सितंबर 1793 में (द) सितंबर 1693 में

14.4 स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of the Education Thought of Swami Vivekanand)

किसी वस्तु, क्रिया, अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह इस प्रकार की शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है।

स्वामी विवेकानंद युगदृष्टा और युगसृष्टा थे। युगदृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने अपने समय के अपने देश की स्थिति को देखा-समझा था; और युगसृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने नवभारत के निर्माण की नींव रखी थी। यूँ तो ये भारतीय धर्म-दर्शन की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में करने, वेदांत को व्यावहारिक रूप देने एवं उसके प्रचार करने और, समाज सेवा एवं समाज सुधार करने के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं परंतु इस सबके लिए इन्होंने शिक्षा की आवश्यकता पर बहुत बल दिया था और नए भारत के निर्माण के लिए तत्कालीन शिक्षा में सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए थे। यही कारण है कि शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों और कार्यों का क्रमबद्ध समालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

स्वामी जी ने शिक्षा को एक ऐसे ज्ञान एवं कौशल के रूप में स्वीकार किया है जो मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के लिए आवश्यक है। मनुष्य के भौतिक विकास की दृष्टि से इन्होंने उद्घोष किया कि 'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जिसके द्वारा चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य स्वावलंबी बनें और उसके आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उद्घोष किया कि 'शिक्षा मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है'

यदि स्वामी जी द्वारा शिक्षा की इन दो परिभाषाओं को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि स्वामी जी शिक्षा को मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास का साधन मानते थे और ऐसी शिक्षा को पूर्ण शिक्षा मानते थे। परंतु इन परिभाषाओं से शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप का बोध नहीं होता। शिक्षा के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिभाषा में शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप एवं कार्यों दोनों को स्पष्ट किया जाए।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

स्वामी जी मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास पर समान बल देते थे। इनकी दृष्टि से शिक्षा को ये दोनों कार्य करने चाहिए। इस आधार पर इन्होंने शिक्षा के सात उद्देश्य निश्चित किए–शारीरिक विकास, मानसिक एवं बौद्धिक विकास, समाज सेवा की भावना का विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, व्यावसायिक विकास, राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबंधुत्व का विकास और आध्यात्मिक विकास।

यदि ध्यानपूर्वक देखें-समझें तो स्वामी जी द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक हैं, इनमें आज की भारतीय शिक्षा के लगभग सभी उद्देश्य–शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य सम्मिलित है। परंतु पता नहीं भारतीय संस्कृति के पोषक होते हुए भी इन्होंने सांस्कृतिक विकास पर बल क्यों नहीं दिया। संभवत: ये धर्म और संस्कृति को अभिन्न समझते थे। उस समय अपना देश परतंत्र था इसलिए शासनतंत्र और नागरिकता की शिक्षा का प्रश्न इनके मस्तिष्क में कैसे आता। अंतर्राष्ट्रीयता भी इस युग का नारा है, इनके युग में यह विश्वबंधुत्व के रूप में जाना-समझा जाता था।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या के संदर्भ में स्वामी जी का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। इस संदर्भ में इन्होंने पहली बात यह कही कि शिक्षा की पाठ्यचर्या में वे सब विषय एवं क्रियाएँ सम्मिलित की जाएँ जो मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक हैं। दूसरी बात यह कही कि देश-विदेश, जहाँ से भी जो अच्छा मिले उसे पाठ्यचर्या में स्थान दिया जाए। और तीसरी बात यह कही कि मनुष्य, समाज अथवा राष्ट्र के भौतिक विकास के लिए पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी को मुख्य स्थान दिया जाए और उन्हें समझने के लिए अंग्रेजी भाषा को स्थान दिया जाए और मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन को पाठ्यचर्या का अनिवार्य विषय बनाया जाए। इन्होंने मनुष्य के भौतिक विकास की दृष्टि से पाठ्यचर्या में मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं को; कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, गृह विज्ञान, कृषि विज्ञान, गणित, तकनीकी और उद्योग शिक्षा विषयों को और खेल-कूद, व्यायाम, योगासन और समाज सेवा क्रियाओं को स्थान दिया और उसके आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से साहित्य, धर्म दर्शन और नीतिशास्त्र विषयों को तथा भजन, कीर्तन, सत्संग एवं ध्यान की क्रियाओं को स्थान देने पर बल दिया। इन्होंने उस समय भारत में उच्च शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया और उसकी पाठ्यचर्या में देश-विदेश के उच्चतम ज्ञान एवं कौशल और विज्ञान एवं तकनीकी को स्थान देने पर बल दिया।

यदि स्वामी जी के शिक्षा की पाठ्यचर्या संबंधी विचारों को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि इन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या को अति विस्तृत बनाने पर बल दिया है। इसमें तो दो मत नहीं कि समस्त ज्ञान-विज्ञान की जीवन में उपयोगिता है परंतु प्रत्येक आदमी न तो सब कुछ सीख सकता है और न ही उसे सब कुछ सीखने की आवश्यकता है। काश स्वामी जी कुछ दिन और जीते तो ये सामान्य शिक्षा की पाठ्यचर्या की रूपरेखा निश्चित करते। स्वामी जी की यह बात आज लोगों के गले भले ही न उतरती हो कि वेदांत की शिक्षा सबको अनिवार्य रूप से दी जाए परंतु उन्हें यह तो मानना ही होगा कि यदि देश को भ्रष्टाचार, घोटालों, अराजकता और आंतकवाद से मुक्त कराना है तो बच्चों को प्रारंभ से ही धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा अनिवार्य रूप से देनी होगी।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में स्वामी जी की अपनी कोई नई देन नहीं है; इन्होंने कुछ परंपरावादी शिक्षण विधियों (अनुकरण, उपदेश, व्याख्यान, स्वाध्याय, तर्क और योग) और कुछ आधुनिक विधियों (निर्देशन, परामर्श और प्रयोग) का समर्थन किया है। इन सबमें भी इन्होंने योग विधि को सर्वोत्तम विधि बताया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वामी जी ने प्राचीन एवं अर्वाचीन शिक्षण विधियों की उपयोगिता स्वीकार कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। परंतु जिस योग विधि का स्वामी जी ने समर्थन किया है, उसे उसी रूप में आज की परिस्थितियों में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस क्षेत्र में यदि ये शंकर के मनोविज्ञान की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक भाषा में करते तो भारत को कुछ और नया दे सकते थे।

नोट

अनुशासन

स्वामी जी के अनुसार अनुशासन का अर्थ है आत्मा द्वारा निर्दिष्ट होना। स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि मनुष्य जन्म से पशु समान होता है अत: उसके जन्मजात अर्थात् प्राकृतिक व्यवहार को अनुशासन नहीं कह सकते, समाज में रहकर वह सामाजिक आचरण सीखता है और जब यह सामाजिक आचरण आत्मप्रेरित होता है तो उसे हम अनुशासन कहते हैं।

इस संदर्भ में हमारा निवेदन है कि जब तक मनुष्य आत्मतत्व की अनुभूति नहीं करता तब तक उसके द्वारा निर्दिष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता और आत्मतत्व की अनुभूति करने में उसे पूरा जीवन लग सकता है। स्पष्ट है कि विद्यालय अनुशासन की बात स्वामी जी नहीं कर पाए। विद्यालय अनुशासन का हमारी दृष्टि से यह अर्थ होना चाहिए कि शिक्षक और शिक्षार्थी सभी अपने प्राकृतिक स्व पर नियंत्रण कर सकें और सामाजिक नियम एवं आदर्शों के अनुकूल आचरण करने के लिए अंदर से प्रेरित हों। आज इसे स्वानुशासन कहते हैं।

शिक्षक

शिक्षकों के विषय में स्वामी जी के विचार परंपरावादी थे। ये शिक्षकों से यह अपेक्षा करते थे कि वे आत्मज्ञानी हों, सदाचारी हों और शिष्यों के दिव्य स्वरूप को पहचानने वाले हों। ये उनसे यह भी अपेक्षा करते थे कि वे मनोविज्ञान की सहायता से शिक्षार्थियों की कर्मजनित भिन्नता को समझें और उनके लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें और सद्ज्ञान की सहायता से उनकी आध्यात्मिक एकता को समझें और उन्हें आत्मतत्व का ज्ञान कराएँ।

शिक्षकों से आत्मज्ञानी होने की अपेक्षा तो इस युग में नहीं की जा सकती परंतु वे अपने विषय के पंडित हों यह तो सभी चाहते हैं। उनके सदाचारी होने के संबंध में भी सब एकमत हैं। यदि शिक्षक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हो जाएँ तो शिक्षा जगत की सभी समस्याएँ आसानी से हल की जा सकती हैं।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थियों के संबंध में स्वामी जी के विचार परंपरावादी के साथ-साथ आधुनिक भी थे। ये शिक्षार्थियों से ब्रह्मचर्यव्रत के पालन की अपेक्षा करते थे। इनका स्पष्ट मत था कि जब तक शिक्षार्थी इंद्रियनिग्रह नहीं करते, उनमें सीखने के लिए प्रबल इच्छा नहीं होती और वे गुरु में श्रद्धा नहीं रखते तब तक उन्हें न भौतिक ज्ञान दिया जा सकता है और न आध्यात्मिक।

आज शिक्षाविद् स्वामी जी के ब्रह्मचर्यव्रत शब्द से भले ही सहमत न हों परंतु यह सभी स्वीकार करते हैं कि शिष्यों को संयमी होना चाहिए, ज्ञान पिपासु होना चाहिए, अध्ययन में रुचि रखने वाला होना चाहिए और परिश्रमी होना चाहिए। और ये सब ब्रह्मचारी के लक्षण हैं। हमारी दृष्टि से भारतीयों को तो ब्रह्मचर्य शब्द का सम्मान करना ही चाहिए।

टास्क स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

विद्यालय

स्वामी जी ने एक ओर गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया है और दूसरी ओर जन शिक्षा और विशिष्ट शिक्षा की व्यवस्था के लिए स्थान-स्थान पर क्रमश: सामान्य एवं विशिष्ट शिक्षा संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया है। इन्होंने स्वयं जनजातियों की बस्तियों में विद्यालय स्थापित किए थे। परंतु विद्यालय कहीं भी हों और किसी भी प्रकार के हों, इनके अनुसार उनका प्राकृतिक वातावरण शुद्ध होना चाहिए, सामाजिक पर्यावरण आदर्शोन्मुख होना चाहिए और उनमें आध्यात्मिक विकास के लिए योग साधना होनी चाहिए।

नोट

आज स्वामी जी की पहली दो बातों से तो सभी सहमत हैं परंतु विद्यालयों में आध्यात्मिक विकास हेतु भजन-कीर्तन एवं योग साधना को स्थान देने में विद्वान एकमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि यह कार्य परिवार और धार्मिक संस्थाओं का है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—जहाँ तक जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा की बात है, इन सभी क्षेत्रों में स्वामी जी ने हमारा मार्गदर्शन किया है। जन शिक्षा के संदर्भ में इनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था; ये देश के सभी बच्चों, युवकों, प्रौढ़ों और वृद्धों को साक्षर देखना चाहते थे, उन्हें सामान्य जीवन जीने योग्य बनाना चाहते थे और उन्हें अपनी रोजी-रोटी कमाने में दक्ष करना चाहते थे। इनके इन विचारों ने हमें सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा, दोनों की व्यवस्था करने की प्रेरणा दी।
2. **स्त्री शिक्षा**—इसमें दो मत नहीं कि स्वामी जी ने स्त्रियों को मातृशक्ति के रूप में सम्मान देकर भारतीय संस्कृति और उसकी अस्मिता की रक्षा की है और स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देकर हमारा बड़ा उपकार किया है परंतु स्त्री शिक्षा के संदर्भ में इनके ये विचार कि उन्हें आदर्श गृहणी, आदर्श माताएँ और आदर्श शिक्षिकाएँ ही बनाया जाए, संकीर्ण ही कहे जाएँगे। सह शिक्षा के लिए इनकी अस्वीकृति भी आज आलोचना का विषय है।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**—देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने और उसमें पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा को स्थान देने पर बल देना, इनके खुले मस्तिष्क और व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। आज इसी शिक्षा के द्वारा हम विकास पथ पर अग्रसर हैं।
4. **धार्मिक शिक्षा**—स्वामी जी वेदांत को सार्वभौमिक धर्म मानते थे और उसकी शिक्षा अनिवार्य रूप से देने पर बल देते थे। आज के युग में किसी विशेष धर्म-दर्शन की शिक्षा के पक्ष में तो लोग नहीं हैं परंतु सर्वमान्य धार्मिक नैतिकता की शिक्षा के पक्ष में अवश्य हैं।
5. **राष्ट्रीय शिक्षा**—जहाँ तक राष्ट्रीय शिक्षा की बात है स्वामी जी ने इसकी कोई रूपरेखा तो तैयार नहीं कर पाई परंतु इन्होंने इस बात पर बल अवश्य दिया था कि यह ऐसी होनी चाहिए जिससे राष्ट्र भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से आगे बढ़े, ऊँचा उठे।

विवेकानंद का प्रभाव

विवेकानंद ने मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों पर समान बल दिया और वेदांत को जीवन में जीने का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने मनुष्य के भौतिक विकास के लिए देश-विदेश के ज्ञान एवं कौशल का लाभ उठाने पर बल दिया और उसके आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन, विशेषकर वेदांत दर्शन के ज्ञान और योग की क्रियाओं के प्रयोग पर बल दिया। इससे धर्म प्रधान भारतीय संस्कृति में भौतिक जीवन से संबंधित सत्यों का महत्त्व बढ़ा, समाज में देश-विदेश के ज्ञान का लाभ उठाने की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

विवेकानंद ने एक तरफ अपने देशवासियों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का लाभ उठाने की ओर प्रवृत्त किया और दूसरी तरफ पाश्चात्य देशवासियों को भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान से परिचित कराया, विशेषकर वेदांत दर्शन और राज योग से। आज पूरे भूमंडल में भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी का प्रयोग हो रहा है। आज ज्ञान किसी देश की बपौती नहीं माना जाता, आज वह पूरे संसार के लिए होता है।

विवेकानंद के समय भारत में शिक्षा के क्षेत्र में दो विरोधी विचारधाराएँ चल रही थीं—एक प्राच्यवादी और दूसरी पाश्चात्यवादी। विवेकानंद ने इन दोनों में समन्वय किया। इनके प्रभाव से देश में भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन एवं ज्ञान के विकास के साथ-साथ पाश्चात्य भाषा, साहित्य, धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा की व्यवस्था होने लगी, देश भौतिक क्षेत्र में भी प्रगति करने लगा। आज हम जो कुछ भी हैं वह इस समन्वित एवं व्यापक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

नोट

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. स्वामीजी ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है– भौतिक-ज्ञान और आध्यात्मिक-ज्ञान।
8. स्वामी विवेकानंद श्री रामकृष्ण परमहंस के गुरु थे।
9. स्वामीजी के समय हमारा देश अंग्रेजों के आधीन था, हम परतंत्र थे।
10. स्वामीजी ने उद्घोष किया कि नारी का सम्मान करो, उन्हें शिक्षित करो और उन्हें आगे बढ़ने के अवसर दो।

14.5 सारांश (Summary)

स्वामी विवेकानंद इस युग के पहले भारतीय हैं जिन्होंने हमें हमारे देश की आध्यात्मिक श्रेष्ठता और पाश्चात्य देशों की भौतिक श्रेष्ठता से परिचित कराया और हमें अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास के लिए सचेत किया। इन्होंने उद्घोष किया कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करो और शिक्षा द्वारा उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए सक्षम करो, उसे स्वावलंबी बनाओ, आत्मनिर्भर बनाओ, निर्भय बनाओ, स्वाभिमानी बनाओ और इन सबसे ऊपर एक सच्चा मनुष्य बनाओ जो मानव सेवा द्वारा ईश्वर की प्राप्ति में सफल हो। इन्होंने अपने दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों को मूर्तरूप देने के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, देश-विदेश में उसकी शाखाएँ खोलीं और उनके द्वारा जन सेवा एवं जन शिक्षा की व्यवस्था की। इन्होंने देश के निर्बल एवं उपेक्षित व्यक्तियों पर विशेष रूप से ध्यान दिया। परंतु रामकृष्ण मिशन द्वारा स्थापित संस्थाएँ न के बराबर हैं और जो हैं उनमें अब कोई नयापन नहीं रह गया है। जिन उद्देश्यों को सामने रखकर उनकी स्थापना की गई थी उनके लिए संयमी एवं त्यागी शिक्षकों की आवश्यकता है। काश स्वामी जी कुछ दिन और जीते। परंतु कुल मिलाकर स्वामी जी के शैक्षिक विचार धर्म एवं दर्शन पर आधारित हैं और भारतीय जन जीवन के अनूकूल हैं। राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनाने वालों को उनका प्रयोग करना चाहिए। स्वामी जी के बारे में पं. जवाहरलाल नेहरू के विचार उद्धरणीय हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है–'भारत के अतीत में सरल आस्था रखते हुए और भारत की विरासत पर गर्व करते हुए भी स्वामी जी का जीवन की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण आधुनिक था और ये भारत के अतीत तथा वर्तमान के बीच एक बड़े संयोजक थे (Rooted in the past and full of pride in India's heritage, Vivekanand was yet modern in his approach to life's problems and was a kind of bridge between the past of India and her present.)

— Pt. Jawahar Lal Nehru

14.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **शैक्षिक** (Educational) : शिक्षा–संबंधी
2. **पूर्ण शिक्षा** (Complete Education) : पूरी शिक्षा

14.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. स्वामी विवेकानंद का जीवन-परिचय लिखिए।
2. स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक चिंतन का विवरण दीजिए।
3. 'स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन' पर टिप्पणी लिखिए।
4. स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।

नोट

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. नरेंद्रनाथ दत्त	2. ब्रह्म	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–15 : श्री अरविंद एवं राधाकृष्णन का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन (Philosophical and Educational Thoughts of Shri Aurobindo and Radhakrishnan)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
15.1 श्री अरविंद का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Shri Aurobindo)
15.2 श्री अरविंद का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Shri Aurobindo)
15.3 श्री अरविंद का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Shri Aurobindo)
15.4 श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of Educational Thought of Shri Aurobindo)
15.5 राधाकृष्णन के शैक्षणिक विचार (Educational Thoughts of Radhakrishnan)
15.6 सारांश (Summary)
15.7 शब्दकोश (Keywords)
15.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
15.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- श्री अरविंद का जीवन परिचय जानने हेतु।
- श्री अरविंद का दार्शनिक चिंतन जानने हेतु।
- श्री अरविंद का शैक्षिक चिंतन जानने हेतु।
- राधाकृष्णन के शैक्षणिक विचार जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविंद ने भारतीय दर्शन को वैज्ञानिक बाना पहनाने का प्रयत्न किया है और कुछ लोग उनके विचारों से बड़े प्रभावित भी हुए हैं। ये स्थान, जाति, धर्म, अर्थ और रंग आदि किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे। ये विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे। इनके द्वारा स्थापित पांडिचेरी आश्रम में देश-विदेश के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न धर्मों को मानने वाले और विभिन्न आर्थिक स्तर से आए लोग रहते हैं, सभी शारीरिक श्रम करते हैं, सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार भौतिक जीवन को चलाने के लिए भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, उत्पादन करते हैं और सभी इस सबके साथ-साथ ध्यान योग करते हैं, भौतिक जीवन की रक्षा करते हुए आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते हैं। इससे भौतिकता प्रधान एवं धर्मप्रधान समाज एवं संस्कृतियों की दूरी कम हो रही है और समाज से वर्गभेद समाप्त हो रहा है।

नोट

15.1 श्री अरविंद का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Shri Aurobindo)

श्री अरविंद का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता के एक संपन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री कृष्णघन घोष कलकत्ता के प्रसिद्ध डॉक्टर थे और पाश्चात्य संस्कृति के प्रशंसक थे। इनके घर में नौकर तक अंग्रेजी भाषा बोलते थे। परंतु डॉक्टर साहब थे बड़े दयालु प्रवृत्ति के। ऐसे परिवार में श्री अरविंद का लालन-पालन हुआ।

श्री अरविंद की शिक्षा का आरंभ 1877 में दार्जिलिंग के 'लोरेटो कान्वेंट स्कूल' से हुआ। यह उस समय का माना हुआ इंग्लिश स्कूल था। दो वर्ष बाद 1879 में इन्हें, इनके दोनों भाइयों और बहिन के साथ आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया। इंग्लैंड में श्री अरविंद की शिक्षा का भार ड्रिवेट दंपत्ति पर छोड़ा गया। इनसे श्री अरविंद ने लैटिन भाषा सीखी। 1885 में इन्हें लंदन के 'सैंट पाल स्कूल' में भर्ती कराया गया। यहाँ इन्होंने ग्रीक भाषा का अध्ययन किया। 1889 में इन्हें कैंब्रिज के 'किंग्स कॉलिज' की छात्रवृत्ति मिली। इस कॉलिज में इन्होंने फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिस और जर्मन भाषाओं का अध्ययन किया। 1890 में ये अपने पिता की आज्ञा से उस समय की इंडियन सिविल सर्विस (ICS) की परीक्षा में बैठे और इसमें सफलता प्राप्त की। परंतु अंग्रेजों की दासता में काम करना इन्हें अच्छा प्रतीत नहीं हुआ और ये उसकी घुड़सवारी की परीक्षा में नहीं बैठे। 1893 में श्री अरविंद भारत लौट आए।

भारत लौटने पर श्री अरविंद ने सर्वप्रथम तत्कालीन बड़ौदा राज्य में प्रशासनिक पद पर कार्य किया। इसके बाद ये बड़ौदा राज्य के ही 'स्टेट कॉलिज बड़ौदा' में फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक नियुक्त हुए। कुछ ही समय बाद इन्हें यहाँ अंग्रेजी भाषा का प्राध्यापक बना दिया गया। आगे चलकर ये इसी कॉलिज के प्राचार्य बने। बड़ौदा में रहते हुए इन्होंने संस्कृत, बंगाली, मराठी और गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया और इनके साहित्यों के अध्ययन से भारतीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। 1901 में इनका विवाह हो गया, परंतु इससे इनके अध्ययन, चिंतन और मनन में लेशमात्र अंतर नहीं पड़ा, ये अध्ययन, चिंतन और मनन में मग्न रहते थे। गीता ने इनके जीवन को नया मोड़ दिया। ये एक ओर भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने और दूसरी ओर ईश्वर दर्शन के लिए व्याकुल हो उठे। 1906 में इन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े।

सर्वप्रथम इन्होंने 1906 में कलकत्ता के **'राष्ट्रीय विद्यालय'** (National College) के प्राचार्य के पद का कार्यभार सँभाला। यह उस समय राष्ट्रीय आंदोलन का केंद्र था। इसी के साथ इन्होंने उस समय के क्रांतिकारी समाचार-पत्र 'वंदेमातरम्' का संपादन किया। 1907 में एक क्रांतिकारी लेख लिखने के कारण इन्हें जेल भेज दिया गया, परंतु कुछ ही माह बाद छोड़ दिया गया। 1908 में इन्हें एक बम दुर्घटना के साथ जोड़कर पुनः जेल भेजा गया। इस बार इन्हें जेल के अंदर एक अद्‌भुत अनुभूति हुई। इन्हें जेल की हर वस्तु में भगवान् श्री कृष्ण दिखाई दिए और इनके अंतःकरण में देश और सनातन धर्म की रक्षा का भाव जागृत हुआ। इस बार जेल से बाहर आने के बाद ये और अधिक सक्रिय हो गए। अंग्रजों ने इन पर कड़ी निगरानी शुरू कर दी और वे इन्हें परेशान करने लगे। अंग्रेजों से बचने के लिए ये 10 फरवरी, 1910 को चंद्र नगर चले गए। यहाँ से श्री अरविंद 4 अप्रैल, 1910 को पांडिचेरी पहुँचे। पांडिचेरी मद्रास से दक्षिण दिशा में 160 किमी. की दूरी पर स्थित एक बंदरगाही नगर है। यह उस समय फ्रांसीसी शासन में था। श्री अरविंद के साथ इनके चार युवा साथी भी थे। यहाँ ये एक मकान किराए पर लेकर उसमें रहने लगे। यहाँ ये अंग्रेजों के भय से मुक्त थे। ऐसे भयमुक्त वातावरण में श्री अरविंद ध्यान योग साधना की ओर प्रवृत्त हुए। यहाँ से इनके जीवन का नया अध्याय शुरू होता है।

अब श्री अरविंद घंटों तक ध्यान योग साधना में मग्न रहने लगे और उनका यह मकान ध्यान योग का केंद्र बन गया। 29 मार्च, 1914 को एक फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड ने श्री अरविंद से भेंट की और इनकी योग साधना से बड़ी प्रभावित हुईं और उन्होंने इस केंद्र के विकास के लिए खुले हाथों से दान देना शुरू किया। 15 अगस्त, 1914 से श्री अरविंद ने यहाँ से एक दार्शनिक पत्रिका 'आर्य' का प्रकाशन शुरू किया और इसके माध्यम से अपने दार्शनिक विचारों को सामान्य व्यक्तियों तक पहुँचाना शुरू किया। इससे श्री अरविंद की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। 24 अप्रैल, 1920 को यह फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड स्थायी रूप से आश्रम में आ गईं और आश्रम के कार्यों के संपादन में सहयोग करने लगीं। उनके आने से यहाँ शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। तब उनके आवास के लिए कुछ और मकान लेने पड़े और साथ ही उनके खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ी।

नोट

श्री अरविंद का साधना क्रम जारी रहा। साधना के साथ-साथ ये लेखन कार्य भी करते रहे और उपदेश भी देते रहे। 1926 में इस आश्रम ने संगठित रूप धारण किया। उसी वर्ष (1926) में 26 नवंबर के दिन श्री अरविंद को अपनी साधना का फल प्राप्त हुआ, इन्हें लगा कि इनका अधिकार उस अनंत शक्ति वाले मन पर है जो भूत, वर्तमान और भविष्य, सभी को देख-समझ सकता है। इसके बाद श्री अरविंद पूर्णत: एकांत जीवन व्यतीत करने लगे और वर्ष में केवल चार दिन जनता के बीच उपस्थित होते थे। उस समय यह फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड **श्री माँ** के रूप में स्थापित हो चुकी थीं। ये ही श्री अरविंद के संदेश आश्रमवासियों को और जन-जन तक पहुँचाती थीं। 2 दिसंबर, 1943 को श्री अरविंद आश्रम में आश्रम स्कूल की स्थापना की गई और इसमें श्री अरविंद के शैक्षिक विचारों को मूर्त रूप दिया गया। 5 दिसंबर, 1950 को इस सिद्ध पुरुष ने इस संसार को त्याग कर दिव्य लोक को प्रस्थान किया। प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि पूरे 111 घंटों तक उनके शरीर से दिव्य ज्योति निकलती रही थी, सभी आश्रमवासियों एवं उपस्थित जनसमूह ने उसे अपनी आँखों से देखा था।

नोट्स मनुष्य को भी श्री अरविंद ने विकसित प्राणी के रूप में लिया है।

15.2 श्री अरविंद का दार्शनिक चिंतन (Philosophical Thought of Shri Aurobindo)

श्री अरविंद गीता के अनन्य भक्त थे। इन्होंने गीता के कर्म योग एवं ध्यान योग की वैज्ञानिक व्याख्या की है। इनकी दृष्टि से मानव एवं दिव्य शक्ति का संयोग ही योग है। दूसरे शब्दों में योग वह साधन है जिससे मानव दिव्य शक्ति की अनुभूति करता है। श्री अरविंद मानव को योग द्वारा आत्मतत्व की अनुभूति कर ब्रह्म में लीन होने का उपदेश नहीं देते थे, ये तो इसके द्वारा संपूर्ण मानव जाति को अज्ञान, अंधकार और मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश और अमृत्व की ओर ले जाना चाहते थे। इसीलिए इनकी विचारधारा को **सर्वांग योग दर्शन** कहा जाता है। श्री अरविंद के सर्वांग योग दर्शन को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को समझना आवश्यक है, अत: प्रस्तुत है–

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की तत्व मीमांसा

श्री अरविंद के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर इस जगत का निर्माण किस प्रकार करता है। इसकी व्याख्या श्री अरविंद ने विकास सिद्धांत के आधार पर की है। इनके अनुसार विकास की दो दिशाएँ हैं–अवरोहण और आरोहण। इनका स्पष्टीकरण है कि ब्रह्म अवरोहण द्वारा वस्तु जगत का रूप धारण करता है। इस अवरोहण के इन्होंने सात सोपान बताए हैं–सत् → चित्त → आनंद → अतिमानस → मानस → प्राण → द्रव्य। इनका तर्क है कि द्रव्य रूप इस जगत में मनुष्य अपने द्रव्य रूप से आरोहण द्वारा सत् की ओर बढ़ता है। इसके भी इन्होंने सात सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अति मानस → आनंद → चित्त → सत्। ब्रह्म को ये सत् और ईश्वर को सत्-चित्त-आनंद के रूप में स्वीकार करते थे। आत्मा को अरविंद ने गीता के पुरुष रूप में स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से आत्मा में परमात्मा के दो गुण होते हैं–आनंद और चित्त और यह विभिन्न योनियों से होती हुई मनुष्य योनि में प्रवेश करती है और इस शरीर के माध्यम से सत् की ओर बढ़ती है।

मनुष्य को भी श्री अरविंद ने विकसित प्राणी के रूप में लिया है। इनकी दृष्टि से मनुष्य जन्म से विकास के दो सोपान पार कर मानस सोपान पर पैदा होता है। जन्म के बाद वह अतिमानस, अतिमानस से आनंद, आनंद से चित्त् और चित्त से सत् की ओर बढ़ता है। श्री अरविंद के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत् + चित्त + आनंद अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति ही होती है।

नोट

मनुष्य के विकास के संबंध में श्री अरविंद का मत है कि उसके भौतिक विकास के लिए द्रव्य ज्ञान आवश्यक होता है जो इंद्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और उसके आत्मिक विकास के लिए आत्म ज्ञान आवश्यक होता है जो योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। श्री अरविंद इस सबके लिए तद्नुकूल उचित शिक्षा आवश्यक समझते थे। इनकी दृष्टि से मनुष्य को शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम अपने द्रव्य एवं प्राण स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए और उसके बाद अतिमानस, आनंद, चित्त और सत् का ज्ञान करना चाहिए। इस सबके लिए ये स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और संयमी जीवन आवश्यक समझते थे।

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

श्री अरविंद के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों तत्वों में मूल तत्व ब्रह्म ही है, इसलिए भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों के अभेद को जानना ही सच्चा ज्ञान है। प्रयोग की दृष्टि से इन्होंने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–द्रव्यज्ञान और आत्मज्ञान। द्रव्यज्ञान (जगत ज्ञान) को ये साधारण ज्ञान मानते थे और आत्मज्ञान को उच्च ज्ञान। इनकी दृष्टि से वस्तु जगत का ज्ञान ज्ञानेंद्रियों द्वारा और आत्मतत्व का ज्ञान अंत:करण द्वारा होता है। आत्मतत्व के ज्ञान के लिए ये योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि) को आवश्यक मानते थे।

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

श्री अरविंद ने आरोहण के 7 सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अतिमानस → आनंद → चित्त → सत्। इनके अनुसार मनुष्य जन्म से ही द्रव्य, प्राण और मानस के सोपानों को पार कर चुका होता है, जन्म के बाद उसे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त कर आनंद, चित्त और सत् की प्राप्ति करनी होती है। इनके अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आनंद + चित्त + सत् की प्राप्ति है। इसके लिए इन्होंने गीता के कर्म योग एवं ध्यान योग को साधन बताया है जिसमें योगी संसार (कर्मक्षेत्र) से पलायन नहीं करता अपितु सत्-चित्-आनंद में ध्यान लगाकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता है। ऐसे कर्मयोगी एवं ध्यानयोगी के लिए यह आवश्यक है कि उसका शरीर स्वस्थ हो, मन विकार-रहित हो और जीवन संयमी हो। इसके लिए अरविंद ने योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनके मत से ये यह सब मनुष्य के आचरण के अंग होने चाहिए।

क्या आप जानते हैं श्री अरविंद के अनुसार, मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. श्री अरविंद ने आरोहण के ..... बताए हैं।
2. श्री अरविंद के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता ..... है।

15.3 श्री अरविंद का शैक्षिक चिंतन (Educational Thought of Shri Aurobindo)

श्री अरविंद एक दार्शनिक के रूप में अधिक विख्यात हैं, परंतु अपने दार्शनिक सिद्धांतों को मनुष्य जीवन में उतारने के लिए इन्हें एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव हुई। उधर राष्ट्रोत्थान के लिए भी तत्कालीन

नोट

शिक्षा उपयुक्त नहीं थी। इसलिए इन्होंने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना प्रस्तुत की। इनके शिक्षा संबंधी ये विचार मुख्य रूप से इनकी दो पुस्तकों–**'नेशनल सिस्टम ऑफ एजूकेशन'** (National System of Education) और **'ऑन एजूकेशन'** (On Education) में प्रकट हुए हैं। यहाँ उनका सार संक्षेप में प्रस्तुत है–

शिक्षा का संप्रत्यय

श्री अरविंद का विश्वास था कि मनुष्य द्रव्य और प्राण की अवस्था को पार कर मानस की स्थिति में होता है; जन्म के बाद उसे अतिमानस की अवस्था, उससे आनंद, आनंद से चित्त और चित्त की अवस्था पर पहुँचना होता है। अब यदि हम उसे इस विकास की ओर अग्रसर करना चाहें तो हमें उसे ऐसी शिक्षा देनी होगी कि वह अपने द्रव्य, प्राण एवं मानस स्वरूप को जाने और उससे आगे के स्वरूप एवं उनकी ओर बढ़ने की विधियों को जाने। श्री अरविंद के अनुसार यह सब कार्य शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है, एक ऐसी शिक्षा द्वारा जो मनुष्य का भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अंतरात्मिक और आध्यात्मिक विकास करे। ऐसी शिक्षा को ये संपूर्ण शिक्षा (Integral Education) कहते थे। इनके शब्दों में–**'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है और उसमें ज्ञान, चरित्र और संस्कृति को जागृत करती है'** (Education is the building of the power of the human mind and spirit. It is the evoking of knowledge, character and culture.)।

शिक्षा के उद्देश्य

श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा के दो मुख्य कार्य हैं–पहला कार्य है मनुष्य को उसके अपने विकास क्रम (आध्यात्मिक) का स्पष्ट ज्ञान कराना और दूसरा कार्य उसमें सत् तक पहुँचने की शक्ति का विकास करना। श्री अरविंद ने शिक्षा के उद्देश्यों को इसी विकास क्रम में प्रस्तुत किया है।

1. **भौतिक विकास का उद्देश्य**–इस जगत एवं मानव विकास का प्रथम सोपान द्रव्य (जड़) है। श्री अरविंद शिक्षा द्वारा मनुष्य को सर्वप्रथम पंच महाभूतों से बने इस वस्तु जगत एवं उसके स्वयं के भौतिक स्वरूप के बारे में ज्ञान करा देना चाहते थे और उसे अपने शरीर की रक्षा एवं विकास की क्रियाओं में प्रशिक्षित करा देना चाहते थे। इसे ही दूसरे शब्दों में शारीरिक विकास का उद्देश्य कहते हैं। श्री अरविंद के अनुसार सत्-चित्त-आनंद की प्राप्ति भी स्वस्थ शरीर से ही होती है इसलिए शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य शारीरिक विकास होना चाहिए। मनुष्य को अपने द्रव्य स्वरूप की रक्षा के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। अत: शिक्षा द्वारा उसे किसी व्यवसाय अथवा उद्योग का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। इसे ही दूसरे शब्दों में व्यावसायिक विकास कहते हैं। श्री अरविंद यह भी जानते थे कि मनुष्य अपने इस भौतिक जीवन को समाज में रहकर जीता है, इसलिए ये उसके सामाजिक विकास पर भी बल देते थे और इन सबको मनुष्य को भौतिक विकास के अंतर्गत रखते थे।
2. **प्राणिक विकास का उद्देश्य**–मानव विकास का दूसरा सोपान है प्राण। प्राण का अर्थ उस शक्ति से है जिसके कारण जगत में परिवर्तन होता है। श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य इस प्राण शक्ति का विकास होना चाहिए। इनके अनुसार मनुष्य की प्राण शक्ति को सही दिशा में लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका नैतिक एवं चारित्रिक विकास किया जाए और उसकी इच्छा शक्ति को दृढ़ किया जाए। यह विकास तभी संभव है जब इंद्रियों को असत् से सत् मार्ग की ओर लगा दिया जाए। अत: इन्द्रियों का प्रशिक्षण शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए ये स्नायु शुद्धि, मानस शुद्धि और चित्त शुद्धि आवश्यक समझते थे।
3. **मानसिक विकास का उद्देश्य**–मानस अर्थात् मन मनुष्य के विकास क्रम का तीसरा सोपान है। मन हमारी सत्ता का सबसे चंचल भाग है, अत: शिक्षा द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास करना चाहिए। श्री अरविंद की शिष्या एवं उत्तराधिकारी श्री माताजी के अनुसार मन की शिक्षा के पाँच अंग होते हैं–एकाग्रता की शक्ति को जागृत करना, मन की व्यापकता एवं समृद्धता बढ़ाना, उच्चतम लक्ष्य की ओर समस्त विचारों

नोट

को संगठित करना, विचारों को संयमित करना तथा अनिष्ट विचारों का त्याग करना और मानसिक स्थिरता का विकास करना। इस सबके लिए श्री अरविंद योग की क्रिया द्वारा मनुष्य की कल्पना, स्मृति, चिंतन, तर्क और निर्णय की शक्तियों को बढ़ाने पर बल देते थे।

4. **अंतरात्मिक विकास का उद्देश्य**–अतिमानस अर्थात् मनुष्य का अंत:करण मानव विकास का चौथा सोपान है। श्री अरविंद ने इस अंत:करण के चार स्तर बताए हैं–चित्, बुद्धि, मन और अंतर्ज्ञान। श्री अरविंद ने अनुभव किया था कि इस स्तर पर पहुँचकर मनुष्य बिना ज्ञानेंद्रियों का प्रयोग किए सब कुछ देख-समझ लेता है। सत् का साक्षात्कार तो होता ही इस अंत:करण से है, अत: शिक्षा द्वारा इस अंत:करण का विकास किया जाना चाहिए। इस विकास के लिए श्री अरविंद ने योग विधि को आवश्यक माना है।
5. **आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य**–मानव विकास के अंतिम तीन सोपान हैं–आनंद, चित्त और सत्। श्री अरविंद के अनुसार आनंद वह स्थिति है जिसमें मनुष्य सुख-दु:ख की अनुभूति ही नहीं करता है: चित्त वह चेतना शक्ति है जिससे मनुष्य अपने, जगत के और सत् के स्वरूप को जानता है और सत् शुद्ध अस्तित्व का नाम है। सत् केवल ईश्वर को प्राप्त है इसलिए सत् ही ईश्वर और ईश्वर ही सत् है। ये तीनों आध्यात्मिक स्तर हैं। इन स्तरों पर पहुँचने के लिए श्री अरविंद ने कर्म योग एवं ध्यान योग को साधन बताया है और इन दोनों मार्गों पर चलने के लिए मनुष्य के लिए योग क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को आवश्यक बताया है। इनके अनुसार यह शिक्षा का अंतिम उद्देश्य होना चाहिए।

शिक्षा का पाठ्यचर्या

श्री अरविंद ने शिक्षा के पाँच उद्देश्य–भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अंतरात्मिक और आध्यात्मिक विकास बताए हैं। इनकी दृष्टि से इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समन्वित रूप से प्रयास करना होता है और इसके लिए इन्होंने एक विस्तृत एवं समन्वित पाठ्यचर्या प्रस्तुत की है। भौतिक विकास के लिए ये पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी को आवश्यक समझते थे इसलिए इन्होंने उसे भी पाठ्यचर्या में स्थान दिया है, परंतु इनका स्पष्टीकरण था कि उससे भी अधिक महत्त्व की वस्तु है हमारी अपनी संस्कृति जो योग की संस्कृति है, उसके अभाव में हम पाश्चात्य भौतिक विज्ञान का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत पाठ्यचर्या को हम अग्रलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **भौतिक विषय**–मातृभाषा एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषाएँ, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, कृषि उद्योग, वाणिज्य और कला।
2. **भौतिक क्रियाएँ**–खेल-कूद, व्यायाम, उत्पादन कार्य, शिल्प।
3. **आध्यात्मिक विषय**–वेद, उपनिषद, गीता, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विभिन्न देशों के धर्म एवं दर्शन।
4. **आध्यात्मिक क्रियाएँ**–भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।

परंतु इन सब विषयों का अध्ययन एवं क्रियाओं का प्रशिक्षण एक दिन में नहीं किया जाएगा। श्री अरविंद आश्रम में उसे निम्नलिखित रूप में रखा गया है–

1. **प्राथमिक स्तर**–मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, गणित, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेल-कूद, व्यायाम, बागवानी, भजन एवं कीर्तन।
2. **माध्यमिक स्तर**–मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जंतु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेल-कूद, व्यायाम, बागवानी, कृषि, अन्य शिल्प, भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।
3. **उच्च स्तर**–अंग्रेजी साहित्य, फ्रेंच साहित्य, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, विज्ञान का इतिहास, सभ्यता का इतिहास, जीवन का विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं विश्व एकीकरण और कृषि, अन्य शिल्प, भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।

शिक्षण विधियाँ

नोट

श्री अरविंद विकास सिद्धांत में विश्वास करते थे। इनके अनुसार विकास के सात सोपान होते हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अतिमानस → आनंद → चित्त → सत्। मनुष्य इनमें से तीसरे सोपान पर होता है, उसे अति मानस → आनंद → चित्त और सत् सोपानों पर चढ़ना शेष रहता है। इनके लिए ये स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और संयमी जीवन को आवश्यक मानते थे। इस दिशा में बढ़ने के लिए उसे जिस ज्ञान एवं कौशल की आवश्यकता होती है उसके लिए भी ये तीन तत्व आवश्यक होते हैं और सामान्य ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक होते हैं। परंतु शिक्षण विधियों के संबंध में श्री अरविंद के विचार पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है। कहीं तो वे प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार क्रमिक विधि अर्थात् एक दो विषयों के अध्ययन के बाद अन्य एक दो विषयों का अध्ययन प्रारंभ करने की बात करते हैं और कहीं बच्चों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए अनेक विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा एक साथ करने की बात करते हैं। इसी प्रकार एक ओर तो ये बच्चे की शिक्षा का विधान उसकी भौतिक शक्तियों के आधार पर करने की बात करते हैं और दूसरी ओर उसके लिए योग की क्रिया के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। परंतु एक बात अवश्य है और वह यह कि ये प्राचीन विधियों को नया रूप देना चाहते थे। ये उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान और अन्य मौखिक विधियों के प्रयोग की स्वीकृति तो देते थे लेकिन इस शर्त के साथ कि किसी भी स्थिति में बच्चों को रटाया नहीं जाएगा अपितु उन्हें ज्ञान को स्वयं के प्रयत्नों से आत्मसात् कराया जाएगा। यह तभी संभव है जब शिक्षण रुचिकर हो। इसके लिए ये प्राथमिक स्तर पर कहानी विधि का प्रयोग करने की बात कहते थे। ये पाठ्य पुस्तक प्रणाली के भी समर्थक थे परंतु इस संबंध में इनका यह कहना था कि पहले बच्चों को ज्ञान की खोज के लिए तैयार किया जाना चाहिए और फिर उन्हें पुस्तकें पढ़ने के लिए कहना चाहिए। पुस्तकों से बच्चे रटेंगे नहीं अपितु उनका प्रयोग सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ के रूप में करेंगे। स्वाध्याय विधि को अपनाते समय भी ये इस बात पर ध्यान देने के लिए कहते थे। इनकी दृष्टि से योग की क्रिया सीखने की उत्तम विधि है परंतु इसमें भी वे स्वक्रिया, चिंतन और तर्क को आधार मानते थे। इनके शिक्षण संबंधी विचारों का विश्लेषण करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों से अवगत होते हैं–

1. शिक्षण करते समय बच्चों की शारीरिक और मानसिक क्षमता तथा उनकी अपनी रुचियों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।
2. रटने के स्थान पर समझने पर बल देना चाहिए।
3. बच्चों को क्रिया करने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए और उन्हें स्वयं के अनुभव से सीखने देना चाहिए।
4. बच्चों को चित्त वृत्तियों के निरोध, चिंतन और मनन क्रिया में प्रशिक्षित करते चलना चाहिए।
5. बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
6. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
7. हर स्तर पर बच्चों के सहयोग से आगे बढ़ना चाहिए।

अनुशासन

श्री अरविंद की दृष्टि से स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही अनुशासन है। इनके अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में भी अनुशासन का बड़ा महत्त्व होता है। यह अनुशासन कैसे प्राप्त किया जाए, इस संबंध में श्री अरविंद के अपने विचार हैं। अनुशासन का संबंध ये भावना से जोड़ते थे और इस भावना का संबंध नैतिकता। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह बच्चों के मन में ऐसी भावना भरे कि वे अच्छाई की ओर अग्रसर हों, नैतिकता का पालन करें और अपने अध्ययन में एकाग्रता से लगें। इनके विचारानुसार शिक्षक को बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए, कठोरता से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। दंड को ये अमानवीय कृत्य कहते थे।

नोट

इस संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री अरविंद प्रभावात्मक अनुशासन में विश्वास करते थे। इनके अनुसार शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श आचरण प्रस्तुत करना चाहिए जिसका अनुकरण कर बच्चे पहले तो आदर्श आचरण की ओर अग्रसर हों और फिर वैसा करना अपना कर्तव्य समझें। इनकी दृष्टि से वास्तविक अनुशासन आंतरिक होता है।

शिक्षक

श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक का स्थान बच्चे के पथ-प्रदर्शक और सहायक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इनके अनुसार शिक्षक न तो बच्चों को ज्ञान देता है और न ही उनके अंदर के ज्ञान को विकसित करता है, अपितु बच्चों की इस बात में सहायता करता है कि वे स्वयं ज्ञान को प्राप्त करें और अपने अंदर के ज्ञान को विकसित करें। यह कार्य वही शिक्षक कर सकता है जिसे शिक्षार्थी और पाठ्यचर्या, दोनों का पूरा-पूरा ज्ञान हो। शिक्षार्थी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए और पाठ्यचर्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे यथा विषयों का अध्ययन और क्रियाओं में प्रशिक्षण लेना चाहिए। श्री अरविंद के अनुसार शिक्षक को व्यक्ति की आत्मा को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जिस अध्यात्म विषय का स्पष्ट ज्ञान हो और जो योग की क्रिया में प्रशिक्षित हो। श्री अरविंद शिक्षक को इसी रूप में देखना चाहते थे। ये स्वयं बहुत बड़े योगी थे इसलिए शिक्षक को भी एक योगी बना देना चाहते थे।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को श्री अरविंद शिक्षा का केंद्र मानते थे। इनके अनुसार प्रत्येक बालक कुछ सामान्य शक्तियाँ और कुछ विशिष्ट योग्यताएँ अथवा प्रतिभाएँ लेकर जन्म लेता है। बच्चों की इन शक्तियों और योग्यताओं में बड़ी भिन्नता होती है। श्री अरविंद के अनुसार बच्चों की शिक्षा का विधान उनकी इन शक्तियों के आधार पर ही करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा की व्यवस्था करते समय बच्चों की व्यष्टिगत रुचि, रुझान और योग्यताओं का ध्यान रखना चाहिए। श्री अरविंद के अनुसार सबसे बड़ी चीज जिसे एक बालक लेकर पैदा होता है वह उसकी आत्मा है। श्री अरविंद के अनुसार यह आत्मा अपने में पूर्ण होती है, इसके कारण ही समस्त ज्ञान अंतर्निहित होता है। इस पूर्ण ज्ञान की अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे और एकाग्रचित होकर ध्यान करे। श्री अरविंद शिक्षार्थी से यही अपेक्षा करते थे। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और सत्य ज्ञान की खोज के लिए साधना करनी चाहिए। इसके साथ-साथ श्री अरविंद बालक के पर्यावरण के प्रभाव को भी स्वीकार करते थे। ये जानते थे कि बालक के विकास में उसके पर्यावरण का बड़ा हाथ रहता है। ये बच्चों को उच्च पर्यावरण में रखना चाहते थे जिससे उनकी ज्ञानेंद्रियों का विकास और प्रशिक्षण हो और वे सत्य की खोज के लिए अग्रसर हों।

विद्यालय

श्री अरविंद के अनुसार प्रत्येक विद्यालय को बच्चों के भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास में सहायक होना चाहिए। ये मनुष्य के भौतिक विकास के लिए विद्यालयों में संसार की सभी श्रेष्ठ भाषाओं, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति, गणित और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रबंध करने और आध्यात्मिक विकास के लिए बच्चों को श्रम करने, कर्तव्य पालन करने, मानव सेवा करने और ध्यान करने के अवसर देने पर बल देते थे। इनके अनुसार विद्यालय भौतिक प्रगति और योग साधना के केंद्र होने चाहिए।

श्री अरविंद मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे, ये जाति, धर्म, अर्थ और रंग किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य के अंतर को स्वीकार नहीं करते थे। इनके अनुसार विद्यालयों में सभी बच्चों को अपनी योग्यतानुसार प्रवेश के समान अवसर दिए जाने चाहिए और उन्हें अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। विद्यालयों का पर्यावरण विश्वबंधुत्व की भावना से पूर्ण होना चाहिए। इनके द्वारा स्थापित श्री अरविंद आश्रम का 'श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' इसी प्रकार का शिक्षा केंद्र है।

नोट

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र एक आवासीय सहशिक्षा संस्था है। इसमें शिशु शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान तक की व्यवस्था है परंतु कुछ अपने प्रकार की। यथा–

1. **शिशु विहार** (किंडर गार्टन, शिशु स्तर) आयु 3 से 5 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
2. **भविष्य** (आवनी, प्राथमिक स्तर) आयु 6 से 8 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
3. **प्रगति** (प्रोगे, उच्च प्राथमिक स्तर) आयु 9 से 11 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
4. **पूर्णता की ओर** (अनाबा बैर ला पैर फैक्सिओ, माध्यमिक स्तर) आयु 12 से 17 वर्ष, पाठ्यक्रम 6 वर्षीय।
5. **उच्चर्या** (हायर कोर्स, उच्च शिक्षा स्तर) आयु 18 से 20 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।

विशेष

1. यहाँ शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है–दिव्य शरीर की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर शारीरिक शिक्षा, व्यायाम एवं विभिन्न प्रकार के खेल-कूद में भाग लेना अनिवार्य है, परंतु छात्र-छात्राएँ अपनी क्षमता एवं पसंद के खेलकूद चुनने के लिए स्वतंत्र हैं।
2. यहाँ शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है–अनंत शक्ति की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर ध्यान योग अनिवार्य है।
3. यहाँ प्रथम तीन स्तरों पर शिक्षा का माध्यम फ्रेंच भाषा है और अंतिम दो स्तरों पर फ्रेंच एवं अंग्रेजी दो भाषाएँ हैं।
4. यहाँ शिक्षा की **मुक्त प्रणाली** है। यहाँ किसी भी स्तर के छात्रों को किसी प्रकार के बंधन में नहीं रखा जाता, उन्हें अध्ययन विषयों एवं खेल-कूद आदि क्रियाओं के चयन और उनको अपनी गति से सीखने एवं करने की पूरी छूट है। उच्च शिक्षा स्तर पर तो छात्र-छात्राएँ यहाँ उपलब्ध अध्ययन सुविधाओं में से किसी एक अथवा जितने चाहें उतने विषयों का अध्ययन कर सकते हैं और अपनी गति से कर सकते हैं। इस केंद्र में छात्र-छात्राओं पर बाहर से कुछ नहीं लादा जाता, बस उन्हें ऐसा पर्यावरण दिया जाता है कि वे अपनी आंतरिक सत्ता से पथ-प्रदर्शन पाते हैं। इसे ही शिक्षा की मुक्त प्रणाली कहा जाता है।
5. यहाँ किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार की परीक्षाएँ नहीं होतीं, शिक्षकों की संस्तुति पर ही छात्र-छात्राओं को आगे के अध्ययन में प्रवेश दे दिया जाता है। यहाँ कोई पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद किसी प्रकार का प्रमाणपत्र भी नहीं दिया जाता।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **नैतिक और धार्मिक शिक्षा–**श्री अरविंद साधु थे, संत थे और एक बहुत बड़े योगी थे। नैतिकता और धर्म में इनकी आस्था थी, इसलिए ये शिक्षा को नैतिकता और धर्म पर आधारित करना चाहते थे। श्री अरविंद के विचार से धर्म कोई भी हो और कैसा भी हो परंतु वह मनुष्य को अपने लिए, दूसरो के लिए और ईश्वर के लिए जीना सिखाता है। किसी धर्म से घृणा करना, यह धर्म का लक्षण नहीं; यह तो धार्मिक संकीर्णता का परिचायक है। सांप्रदायिकता का विकास इसी संकीर्णता के कारण होता है। श्री अरविंद संसार के सब धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे और किसी देश की शिक्षा को उसके अपने धर्म पर आधारित करना चाहते थे। इनका स्पष्ट मत था कि धर्म के अभाव में मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप को नहीं पहचान सकता।
2. **राष्ट्रीय शिक्षा–**श्री अरविंद अपने देश की परतंत्रता से दु:खी थे और उस समय की शिक्षा पद्धति से इन्हें बड़ा असंतोष था। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि देश स्वतंत्र होना चाहिए और इसकी शिक्षा को भारतीय रूप प्रदान करना चाहिए। इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी रूपरेखा तैयार की। इनके अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्र के नियंत्रण में राष्ट्रीय लोगों को राष्ट्रीय पद्धति से दी जाती है। यही कारण है कि ये शिक्षा को भारतीय भाषाओं के माध्यम से देने पर बल देते थे और उसे ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक जीवन

नोट

पर आधारित करना चाहते थे। इनका कहना था कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से ही उसे जन साधारण के लिए सुलभ किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य व्यवस्था और आध्यात्मिक जीवन तो हमारी संस्कृति की आत्मा है, उसे शिक्षा का आधार बनाने से भारतीयों में राष्ट्र की आत्मा का समावेश होगा। यहाँ हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि श्री अरविंद संकुचित राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते थे। ये मानवतावादी व्यक्ति थे, इसलिए इनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। ये अंतर्राष्ट्रीयता के हामी थे। श्री अरविंद आश्रम में देश-विदेश की भाषाओं और संस्कृतियों को स्थान देना इनकी इस भावना का प्रतीक है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. श्री अरविंद गीता के थे–
   (अ) अनन्य भक्त (ब) विरोधी
   (स) ज्ञाता (द) इनमें से कोई नहीं
4. श्री अरविंद के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों तत्वों में मूल तत्व है–
   (अ) शरीर (ब) ब्रह्म
   (स) आत्मा (द) प्रकृति
5. प्रयोग की दृष्टि से श्री अरविंद ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–
   (अ) द्रव्यमान और आत्मज्ञान (ब) आत्मा व परमात्मा
   (स) प्रकृति ज्ञान व अध्यात्म ज्ञान (द)इनमें से कोई नहीं
6. श्री अरविंद अधिक विख्यात हैं–
   (अ) आत्मज्ञानी के रूप में (ब) दार्शनिक के रूप में
   (स) वैज्ञानिक के रूप में (द) इनमें से कोई नहीं

15.4 श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन (Evaluation of Educational Thought of Shri Aurobindo)

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन कुछ निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है। यह विकास किस प्रकार का हो, यह समाज अथवा राष्ट्र विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों एवं भविष्य की आकांक्षाओं एवं संभावनाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह उपरोक्त दृष्टि से उचित शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है।

शिक्षा का संप्रत्यय

श्री अरविंद के अनुसार संपूर्ण शिक्षा वह है जो मनुष्य को अपने द्रव्य (भौतिक), प्राण (प्राणिक) एवं मानस (मानसिक) स्वरूप का ज्ञान कराए और उससे आगे के स्वरूप अतिमानस (अंतरात्मिक) एवं आनंद, चित्त और सत्त् (आध्यात्मिक) को समझने और प्राप्त करने में सहायक हो। उनके अपने शब्दों में–'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है और उसमें ज्ञान, संस्कृति और चरित्र को जागृत करती है'। (Education is the building of the power of the human mind and spirit. It is the evoking of knowledge, character and culture.)।

इस परिभाषा में दो दोष साफ नजर आते हैं–एक तो यह है कि इसमें शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है और दूसरा यह कि इसमें इसके कार्यों को भी अपने कुछ विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है जो मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

श्री अरविंद ने मनुष्य के विकास के सात सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अति मानस → आनंद → चित्त → सत्। श्री अरविंद ने शिक्षा के उद्देश्य इसी क्रम में निश्चित किए हैं–भौतिक विकास का उद्देश्य, प्राणिक विकास का उद्देश्य, मानसिक विकास का उद्देश्य, अंतरात्मिक विकास का उद्देश्य और आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य।

यूँ श्री अरविंद द्वारा निश्चित भौतिक विकास के उद्देश्य में शारीरिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक विकास के उद्देश्य निहित हैं, प्राणिक विकास के उद्देश्य में नैतिक एवं चारित्रिक विकास का उद्देश्य निहित है, मानसिक विकास के उद्देश्य में मानसिक शक्तियों के विकास पर बल है, अंतरात्मिक विकास के उद्देश्य में मन, बुद्धि, चित्त और अंतर्ज्ञान के विकास पर बल है और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य में योग क्रिया में प्रशिक्षण पर बल है और इस प्रकार इन उद्देश्यों में शिक्षा के सभी मूल उद्देश्य निहित हैं, परंतु सीधी-सच्ची बात को इतने उलझे हुए रूप में रखकर इन्होंने एक उलझन ही पैदा की है। आज की भाषा में हमें सीधे रूप में कहना चाहिए कि शिक्षा एक बहुउद्देशीय प्रक्रिया है, इसके द्वारा मनुष्यों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास किया जाता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

श्री अरविंद ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों का प्रतिपादन किया है, उनकी प्राप्ति के लिए एक विस्तृत पाठ्यचर्या भी प्रस्तुत की है। इन्होंने भौतिक विषयों में–मातृभाषा एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषाएँ, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, कृषि, उद्योग, वाणिज्य एवं कला को, भौतिक क्रियाओं में खेल-कूद, व्यायाम, उत्पादन कार्य एवं शिल्प को; आध्यात्मिक विषयों में वेद, उपनिषद्, गीता, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विभिन्न देशों के धर्म एवं दर्शन को और आध्यात्मिक क्रियाओं में–भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग को स्थान दिया है। और साथ ही शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या प्रस्तावित की है।

यदि श्री अरविंद द्वार प्रस्तावित पाठ्यचर्या को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि इन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या को बहुत विस्तृत रूप प्रदान किया है, उसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन और भारतीय एवं पाश्चात्य, सभी उपयोगी ज्ञान एवं क्रियाओं को स्थान दिया है। परंतु प्रारंभ से ही बच्चों को मातृभाषा के साथ अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा को पढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का तो बहुत कुछ है परंतु सामान्य व्यक्ति को उस सबको जानने की क्या आवश्यकता! फिर हर स्तर पर योग की क्रिया को स्थान देना भी वर्तमान परिस्थितियों में संभव नहीं है।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के संबंध में श्री अरविंद के विचार पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हैं, कहीं ये प्राचीन विधियों का समर्थन करते नजर आते हें और कहीं अर्वाचीन विधियों के प्रयोग पर बल देते हैं परंतु ये रटने के कट्टर विरोधी थे, इन्होंने रटने के स्थान पर समझने पर बल दिया है। योग की विधि को इन्होंने सीखने की उत्तम विधि माना है।

श्री अरविंद की इस बात से कौन असहमत होगा कि बच्चों को रटने के स्थान पर समझने की ओर अग्रसर करना चाहिए। उनका यह विचार भी अपने में सही है कि योग की विधि समझने की उत्तम विधि है परंतु वर्तमान में इस योग को मन की एकाग्रता के रूप में ही लिया जा सकता है, कर्म योग या ध्यान योग के रूप में नहीं।

अनुशासन

श्री अरविंद के अनुसार स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए श्री अरविंद ने दो बातों पर बल दिया है–एक यह कि शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श आचरण प्रस्तुत करना चाहिए और दूसरा यह कि यदि बच्चे फिर भी अन्यथा आचरण करें तो उन्हें प्रेम से समझाना चाहिए। इनका स्पष्ट मत था कि कठोरता से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। दंड को ये अमानवीय कृत्य मानते थे।

नोट

इसमें दो मत नहीं कि वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति के लिए विद्यालय की उच्च परिपाटी और शिक्षकों का आदर्श आचरण आवश्यक होता है परंतु यदि फिर भी बच्चे अनुशासनहीनता करें तो केवल प्रेम से काम नहीं चलता, कभी-कभी कुछ दंड भी देना आवश्यक होता है, परंतु यह दंड सीमित एवं प्रेम पर आधारित होना चाहिए।

शिक्षक

श्री अरविंद शिक्षक को न तो बच्चों को ज्ञान देने वाला मानते थे और न उनमें ज्ञान का विकास करने वाला मानते थे, ये तो शिक्षक को बच्चों के स्वतंत्र विकास में पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार करते थे। ये शिक्षकों से यह आशा करते थे कि ये बच्चों को भौतिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायता करने के साथ-साथ उनकी आत्मा का भी विकास करें। श्री अरविंद के अनुसार यह कार्य कर्मयोगी एवं ध्यानयोगी शिक्षक ही कर सकते हैं।

बच्चों के स्वतंत्र विकास की बात सुनने-समझने में बड़ी अच्छी लगती है परंतु वास्तव में इस रूप में औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती। शिक्षकों से योगी होने की अपेक्षा भी इस युग में संभव नहीं। वे अपने कर्तव्य का निष्ठा से पालन करें और बच्चों को जीवन के लिए तैयार करें, यही बहुत है।

टास्क श्री अरविंद के दार्शनिक चिंतन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

शिक्षार्थी

श्री अरविंद बालक के व्यष्टित्व का आदर करते थे। इनका स्पष्टीकरण था कि भौतिक दृष्टि से बच्चों में असमानता होती है और आध्यात्मिक (आत्मा की) दृष्टि से उनमें समानता होती है। अत: शिक्षकों को बच्चों का भौतिक विकास उनकी अपनी क्षमताओं के आधार पर करना चाहिए और उनका आध्यात्मिक विकास उनकी आत्मा की पूर्णता के आधार पर करना चाहिए। इन दोनों प्रकार के लिए ये बच्चों से ब्रह्मचर्य के पालन और सत्य ज्ञान की खोज के लिए साधना की अपेक्षा करते थे।

जहाँ तक शिक्षार्थियों को ब्रह्मचर्य पालन के उपदेश की बात है, यह अपने में एकदम उपयुक्त है परंतु बच्चों को प्रारंभ से ही वास्तविक सत्य की खोज के लिए योग साधना की बात आज के युग में व्यावहारिक नहीं है।

विद्यालय

श्री अरविंद मनुष्य-मनुष्य में जाति, धर्म, अर्थ आदि किसी भी आधार पर भेद नहीं करते थे। इन्होंने विद्यालयों में सभी बच्चों को अपनी योग्यतानुसार प्रवेश का अधिकार देने पर बल दिया है। इनकी दृष्टि से विद्यालयों में बच्चों के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के लिए सुविधाएँ होनी चाहिए, परंतु उन पर किसी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिए। उन्हें विषयों के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए, खेल-कूद एवं व्यायाम क्रियाओं के चयन की छूट होनी चाहिए और अपना कार्य अपनी गति से पूरा करने की छूट होनी चाहिए। इसे ये शिक्षा की मुक्त प्रणाली कहते थे।

श्री अरविंद की यह बात भले ही सभी को स्वीकार न हो कि विद्यालय योग साधना के केंद्र होने चाहिए, परंतु अपना मत तो यह है कि जब तक मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास में संतुलन नहीं किया जाता तब तक वह वास्तविक सुख एवं शांति की प्राप्ति नहीं कर सकता। विद्यालयों में प्रारंभ से ही बच्चों के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **धार्मिक शिक्षा**—श्री अरविंद शिक्षा को धर्म पर आधारित करना चाहते थे। श्री अरविंद का तर्क था कि संसार के सभी धर्म मनुष्य को अपने लिए, दूसरों के लिए और ईश्वर के लिए जीना सिखाते हैं। अत: किसी भी देश की शिक्षा उसके धर्म पर आधारित होनी चाहिए। परंतु वर्तमान लोकतंत्रीय धर्मनिरपेक्ष भारत

नोट

में शिक्षा को किसी धर्म विशेष या यहाँ प्रचलित समस्त धर्मों पर आधारित करना संभव नहीं है। वर्तमान की माँग तो सर्वधर्म समभाव अर्थात् धार्मिक सहिष्णुता के विकास की है। यदि हम बच्चों में सर्वधर्म सम्मत नैतिक नियमों का विकास कर सकें तो यह हमारी बहुत बड़ी सफलता होगी।

2. **राष्ट्रीय शिक्षा**–श्री अरविंद के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्र के नियंत्रण में, राष्ट्र के समस्त लोगों को, राष्ट्रीय पद्धति से दी जाती है। इन्होंने इस आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी योजना भी तैयार की थी। परंतु इन्होंने अपने पांडिचेरी आश्रम में जिस शिक्षा की व्यवस्था की थी वह योग साधना की दृष्टि से तो भारतीय थी परंतु अपनी पाठ्यचर्या की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय थी, उसमें देश-विदेश की अनेक भाषाओं एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन की व्यवस्था आज भी है। यदि हम पांडिचेरी के श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र की शिक्षा को ध्यानपूर्वक देखें-समझें तो स्पष्ट होता है कि वह संकुचित राष्ट्रीयता के दायरे से बाहर की शिक्षा है, वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा है, परंतु उसकी आत्मा योग शिक्षा ही है।

श्री अरविंद का प्रभाव

एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविंद ने भारतीय दर्शन को वैज्ञानिक बाना पहनाने का प्रयत्न किया है और कुछ लोग उनके विचारों से बड़े प्रभावित भी हुए हैं। ये स्थान, जाति, धर्म, अर्थ और रंग आदि किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे। ये विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे। इनके द्वारा स्थापित पांडिचेरी आश्रम में देश-विदेश के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न धर्मों को मानने वाले और विभिन्न आर्थिक स्तर से आए लोग रहते हैं, सभी शारीरिक श्रम करते हैं, सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार भौतिक जीवन को चलाने के लिए भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, उत्पादन करते हैं और सभी इस सबके साथ-साथ ध्यान योग करते हैं, भौतिक जीवन की रक्षा करते हुए आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते हैं। इससे भौतिकता प्रधान एवं धर्मप्रधान समाज एवं संस्कृतियों की दूरी कम हो रही है और समाज से वर्गभेद समाप्त हो रहा है।

श्री अरविंद का यह दर्शन केवल भारतीय सीमा तक सीमित नहीं है। पांडिचेरी आश्रम की शाखाएँ देश-विदेश में स्थापित हैं, जो पूरे संसार में भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच समन्वय स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील हैं, योग अब भूमंडलीय विषय हो गया है।

हाँ, शिक्षा के क्षेत्र में भी अरविंद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। प्रारंभ में इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन में भाग लिया जिसका प्रभाव कुछ ही वर्षों तक रहा। उसके बाद ये योग साधना की ओर प्रवृत्त हो गए और कुछ वर्ष बाद इन्होंने अपने आश्रम में एक शिक्षा संस्था स्थापित की। यह संस्था अब 'श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' के रूप में विकसित है परंतु इसमें शिक्षा की जो मुक्त प्रणाली है उसे सर्वसाधारण की शिक्षा में लागू नहीं किया जा सकता।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. इस जगत एवं मानव विकास का प्रथम सोपान द्रव्य (जड़) है।
8. मानव विकास का दूसरा सोपान है प्राण।
9. मानस अर्थात् मन मनुष्य के विकास का तीसरा सोपान है।
10. श्री अरविंद विकास सिद्धांत में विश्वास नहीं करते थे।

नोट

15.5 राधाकृष्णन् के शैक्षणिक विचार (Educational Thoughts of Radha Krishnan)

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1888-1975) एक अतिशय विख्यात भारतीय थे। वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक, वक्ता तथा धर्म और धर्मविद्या के आचार्य थे। वे आंध्र तथा बनारस विश्वविद्यालयों के कुलपति रहे। बाद में उन्होंने भारत के उपराष्ट्रपति पद पर कार्य किया और अंत में भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया। भारत के बुद्धिजीवियों में राधाकृष्णन् का प्रमुख स्थान है। वे शुद्ध शास्त्रीय अर्थ में सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धांतकार नहीं हैं। वे उच्चकोटि के दार्शनिक हैं जिन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार 'रिलीजन एंड सोसाइटी' (धर्म तथा समाज), 'एजूकेशन पौलिटिक्स एंड वार' (शिक्षा, राजनीति तथा युद्ध), 'कल्की एंड द फ्यूचर ऑव सिविलाइजेशन' (कल्की तथा सभ्यता का भविष्य), 'इंडिया एंड चाइना' (भारत तथा चीन), 'इज दिस पीस?' (क्या यह शांति है?) नामक ग्रंथों में तथा 'ईस्टर्न रिलीजंस एंड वेस्टर्न थॉट' (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिंतन) के अंतिम अध्याय में मिलते हैं।

राधाकृष्णन् का व्यक्तित्व निरपेक्ष आध्यात्मिक आदर्शवाद की परंपराओं से ओतप्रोत है। उन्हें उपनिषदों, शंकर, रामानुज (1055-1137), टैगोर, गाँधी, प्लेटो, प्लौटीनस, बर्गसाँ और ब्रेडले से प्रेरणा मिली है। शंकर का उन पर अत्यधिक गहरा प्रभाव है।

2. राधाकृष्णन् के चिंतन का तत्वशास्त्रीय आधार

(क) हिंदू जीवन दर्शन–राधाकृष्णन् ने नैतिक जीवन के औचित्य की हिंदुत्व के अनुसार व्याख्या करने का स्पष्ट संकल्प करके अपना बौद्धिक जीवन प्रारंभ किया था। उन्होंने इस आरोप का खंडन किया है कि हिंदुत्व तत्वशास्त्रीय स्तर पर अंतर्विरोधों से ओतप्रोत है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिंदुत्व की रहस्यवादी अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ निश्चित रूप से विश्व तथा जीवन का निषेध करने वाली नहीं हैं। हिंदुत्व के संस्थात्मक रूपों ने राजनीतिक तथा सामाजिक उतार-चढ़ाव के बीच अद्भुत जीवन-शक्ति का तथा अपना कायाकल्प करने की महान क्षमता का परिचय दिया है। हिंदुत्व ने एक श्रेष्ठ जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। जिस चिंतनधारा ने बुद्ध, शंकर और रामानुज जैसे पराक्रमी कर्मयोगियों तथा इस युग में गाँधी जैसी सृजनात्मक प्रतिभा को उत्पन्न किया है उसके विरुद्ध निस्तेजता का आरोप लगाना उपहासास्पद है। हिंदुत्व ने श्रेय तथा प्रेय दोनों को ही महत्त्व दिया है। फिर भी उसने यह स्वीकार किया है कि भौतिक जगत की आवश्यकताओं को ही पवित्र मान लेना जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है, बल्कि इस पृथ्वी पर आत्मा के आध्यात्मिक राज्य की स्थापना करना असली उद्देश्य है। पिछड़ी हुई जनजातियों को आत्मसात् करने तथा उन्हें उठाने की व्यापक क्षमता हिंदू सभ्यता की एक विशेषता है। हिंदुत्व ने विदेशी तथा असंगत तत्वों का नाश करने की अनुमति कभी नहीं दी है। उसने सदैव आचरण की शुद्धता और साधुता का उपदेश दिया है। उसने कभी इस बात पर बल नहीं दिया कि लोग कुछ आदर्शीकृत धर्मशास्त्रीय मतवादों को अनन्य भाव से अंगीकार कर लें। राधाकृष्णन् को हिंदू जीवन दर्शन में विश्वास है, जो मनुष्य को अपने उच्चतर व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। एक ऐतिहासिक धर्म के रूप में हिंदुत्व का अंतिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। वह तो एक विकासशील परंपरा है। राधाकृष्णन् लिखते हैं : ''हिंदुत्व गति है, न कि स्थिति; प्रक्रिया है, न कि परिणाम; एक विकाशील परंपरा है, न कि निश्चित ईश्वरीय ज्ञान। उसका गत इतिहास हमें यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित करता है कि भविष्य में चिंतन अथवा इतिहास के क्षेत्र में जब कभी कोई संकट की घड़ी आएगी तब वह उसका सामना करने में समर्थ होगा।'' हिंदुत्व ने निष्काम संन्यास का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उससे राधाकृष्णन् बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने हिंदुत्व में निहित भारत के आध्यात्मिक आदर्शों और आकांक्षाओं का ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया है। बहुलता और विविधता के बीच एकता का पाठ सिखाना हिंदुत्व की मुख्य विषय वस्तु है। उसका स्वरूप व्यापक है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि सत् की विविध व्याख्याएँ संभव हैं और वह हर प्रकार की

नोट

सांप्रदायिक दुर्भावनाओं और कट्टरपंथी असहिष्णुता का विरोध करता है। धार्मिक दर्शन में हिंदुत्व का दृष्टिकोण लोकतांत्रिक है। हिंदुत्व के आधारभूत तत्वों की प्रकृति आध्यात्मिक है। वे अत्यधिक अर्थगर्भित हैं और भारतीय जनता को शक्ति तथा जीवन प्रदान करने में उनका स्थायी महत्त्व है। किंतु राधाकृष्णन् संकीर्ण संप्रदायवादी नहीं हैं। उनका मानस बहुत ही उदार और सहिष्णु है। उन्होंने हिंदुत्व तथा संसार के धर्मों के बीच आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धांतों की एकरूपता ढूँढ़ निकाली है।

(ख) **परब्रह्म तथा ईश्वर**–राधाकृष्णन् एक आदि आध्यात्मिक शाश्वत तथा पूर्ण सत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर तथा ब्रह्म के प्रत्ययात्मक भेद को भी मानते हैं। निर्गुण तथा सगुण ईश्वर का भेद प्राचीन वेदांत ने स्वीकार किया है और उसका बीज हमें उपनिषदों में भी मिलता है। किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में 'उच्च' तथा 'निम्न' के सामान्य भेद की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मनुष्य की बुद्धि अनुभवातीत सत्ता के संबंध में भी सामंती तथा निरंकुशवादी समाज की धारणाओं का प्रयोग करने का दयनीय प्रयत्न कर रही है। यह कहना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर निम्नकोटि का और ब्रह्म उच्चकोटि का है। यद्यपि राधाकृष्णन् का यह मत अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ''विश्व के मूल्यों के संदर्भ में ब्रह्म का रूप निश्चित करना ही ईश्वर है'', किंतु आस्तिक लोगों को यह दृष्टिकोण भी बुरा लगेगा। परम सत् परम मूल्य भी है। राधाकृष्णन् को आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता और प्रामाणिकता में भी विश्वास है। उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता का प्रमाण उद्दालक, बुद्ध, शंकर, सुकरात, प्लेटो, मुहम्मद, संतपाल, प्लौटीनस, पौर्फीरी, अगस्टीन, दांते, एकहार्ट, क्लेयरफौक्स के संत बर्नार्ड, संत जॉन, स्पायनोजा, ब्लेक, रुईसब्रोक तथा अन्य ऋषियों और संतों के जीवन में मिलता है। ये महापुरुष भिन्न-भिन्न देशों और कालों में उत्पन्न हुए थे, फिर भी उन सबने एक स्वर से प्रमाणित किया है कि आध्यात्मिक अनुभूति जैसी वस्तु होती है और उस अनुभूति में हृदय को प्रदीप्त करने तथा चरित्र को रूपांतरित करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है। इन महापुरुषों का यह साक्ष्य इतना विशाल है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, बल्कि इससे प्रतीन होता है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक वस्तुगत तथ्य है।

(ग) **विश्व का घटनाचक्र**–राधाकृष्णन् का विश्वास है कि चूँकि यह विश्व परब्रह्म की शाश्वत सर्जनशीलता में निहित अगणित संभावनाओं में से एक का साक्षात्करण है, इसलिए उसमें जो कुछ हो रहा है उसके मूल में एक देदीप्यमान आध्यात्मिक प्रयोजन विद्यमान है। विश्व ब्रह्म की स्वतंत्र संकल्पशक्ति की अभिव्यक्ति है। विश्व के घटनाचक्र में निरंतर वृद्धिमान पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। विश्व को हम एक भ्रमोत्पादक मृगमरीचिका अथवा व्यामोह कहकर नहीं टाल सकते और न उसे अनन्त शून्य ही मानकर संतोष कर सकते हैं। वस्तुत: विश्व के मूल में तथा उसकी प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता निहित है। विश्व में जीवन, मन, चेतना तथा मूल्य-मीमांसा की क्षमता का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ है, उससे स्पष्ट है कि विश्व की यांत्रिक व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती। विश्व की प्रक्रिया के द्वारा एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक प्रयोजन का निरंतर साक्षात्कार हो रहा है। भौतिकवादी तथा जड़त्ववादी दृष्टिकोण विश्व की वास्तविक प्रकृति का उद्घाटन नहीं कर सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दार्शनिक एडिंगटन, जींस, आइंस्टाइन आदि भी अब कठोर, घनत्वपूर्ण तथा जटिल तत्वों के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। वौल्तेयर और कांट ने ईश्वरवाद के पक्ष में दिए गए तत्वशास्त्रीय और प्रयोजनवादी तर्कों का जो मखौल उड़ाया है, उसके बावजूद विश्व की प्रक्रिया में अंत: संबंध, प्रयोजन योजना और यहाँ तक कि नैतिक प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। ह्वाइटहैड द्वारा निरूपित सर्जनशीलता, शाश्वत तत्वों और अवयवी की धारणाओं ने तथा एजेक्जाण्डर और लॉयड मौर्गन के निर्गत विकास के सिद्धांत ने भौतिकीय ब्रह्मांडविद्या की कमियों को स्पष्ट कर दिया है। टौमसन, औलीवर लौज और स्मट्स भी यांत्रिक भौतिकी की कमियों का उद्घाटन करते हैं। राधाकृष्णन् आध्यात्मिक प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व की वास्तविकता से इंकार नहीं करते। वे विश्व को ईश्वर का निवास-स्थान मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में विविध प्रकार की सभी वस्तुएँ और प्राणी उसी मूल आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। विश्व के सभी पदार्थ उसी एक चेतना के विविध रूप हैं। इस परिवर्तमान जगत से परे जो आध्यात्मिक जगत है, उसी से ऐतिहासिक प्रक्रिया सार्थक होती है। विश्व न तो वस्तुओं का पुंज मात्र है और न कोई

नोट

मायाजाल है। वह एक गतिशील स्पंदनयुक्त आध्यात्मिक प्रवाह है। आध्यात्मिक जगत ही मनुष्य के नैतिक प्रयत्नों और आदर्शवादी योजनाओं की सफलता की गारंटी है। अत: राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्माण्ड के घटनाचक्र की सांगोपांग व्याख्या करने के लिए एक अनुभवातीत शक्ति की वास्तविकता को स्वीकार करना आवश्यक है। उसी के संदर्भ में इस ब्रह्माण्ड को समझा जा सकता है।

राधाकृष्णन् महायान संप्रदाय के सर्वमुक्ति (सामूहिक निर्वाण) के आदर्श को स्वीकार करते हैं। जब संपूर्ण विश्व की पाप तथा माया से मुक्ति हो जाती है तो उस समय प्रपंच जगत, उसकी संपूर्ण गतिशीलता विरोधी तत्व तथा सब प्रकार के अंतर्विरोध स्वत: समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म की सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ होता है समग्र ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंत हो जाना। जब ब्रह्मांड का चक्र सार्वभोम मुक्ति के द्वारा अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जाएगा तो संभव है कि उस समय परब्रह्म अपने को किसी अन्य रूप में व्यक्त करने की इच्छा करे। इस प्रकार ब्रह्म की अनंत सृजनशक्ति सर्वमुक्ति के उपरांत भी शाश्वत घटनाचक्र को पुन: उत्पन्न कर सकती है। सार्वभौम मुक्ति के सिद्धांत के बीज हमें संत पाल के विचारों तथा हिंदू पुराणों में भी मिलते हैं। इससे राधाकृष्णन् के दर्शन में परंपरावादी तथा पुनरुत्थानवादी तत्वों की विद्यमानता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धांत वस्तुत: विज्ञान तथा तर्कबुद्धि की परिधि से परे हैं और सतयुग तथा पारलौकिक होतव्यता की उस धारणा का पुन: प्रतिपादन है जो हमें प्राचीन हिंदुओं और यहूदियों के चिंतन में तथा रूसियों के विश्वदर्शन में देखने को मिलती है।

(घ) **अंतप्रज्ञा तथा बुद्धि**–प्लौटीनस तथा बर्गसाँ की भाँति राधाकृष्णन् भी अंत:प्रज्ञा को बुद्धि से ऊँची शक्ति मानते हैं। अंत:प्रज्ञा वास्तविकता को प्रकट करने का माध्यम है। वह संपूर्ण आध्यात्मिक तत्वशास्त्र तथा मनोविज्ञान का आधार है। दार्शनिक, कलाकार, रहस्यवादी और यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी अपनी-अपनी परिकल्पनाओं की खोज करते समय इसका सहारा लेते हैं, चाहे वे उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भले ही न करें। अंत:प्रज्ञा की क्रिया प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक होती है। वह किसी वस्तु पर बाहर से आक्रमण करने की अपेक्षा उसके भीतर मानो सहानुभूतिपूर्वक प्रवेश कर जाती है। अंत:प्रज्ञा संपूर्ण प्राणशक्ति को दीर्घकाल तक किसी वस्तु पर केंद्रित करने से उत्पन्न होती है। किंतु वह बुद्धि का विरोध नहीं करती। अपितु यह भी कहा जा सकता है कि अंत:प्रज्ञा बुद्धिहीनता नहीं बल्कि बुद्धि की चरम अवस्था है। यही नहीं, अंत:प्रज्ञा के साक्ष्य पर आधारित निष्कर्षों की बौद्धिक तर्कों द्वारा पुष्टि की जा सकती है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि अंत:प्रज्ञा का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। किंतु अबौद्धिक न होने पर भी वह अप्रत्यात्मक अवश्य है। वह चिंतन की प्रकृति में ही निहित है, बल्कि उसका आधार तथा पूर्वानुमान है। किंतु बुद्धि विश्लेषणात्मक तथा बहुमुखी होती है, उसके विपरीत अंत:प्रज्ञा संश्लेषणात्मक तथा अविभाज्य हुआ करती है। किंतु अंत:प्रज्ञा न तो भावनात्मक उद्रेक है और न संवेगात्मक अंत:सृष्टि। और न उसे सहजवृत्यात्मक (मूलप्रवृत्यात्मक) प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है। वह वास्तव में बुद्धि की पूर्णता है। राधाकृष्णन् ने उस प्रचलित दृष्टिकोण का खंडन करने का भरसक प्रयत्न किया है जिसके अनुसार अन्त:प्रज्ञा तथा बुद्धि को परस्पर विरोधी माना गया है। उनकी दृष्टि में अंत:प्रज्ञा का बुद्धि से वही संबंध है जो अंशी तथा अंश के बीच हुआ करता है। उनका कहना है कि अंत:प्रज्ञा का चिंतन के साथ गतिशील तथा अविच्छिन्न संबंध है। उनका यह भी कथन है कि अंत:प्रज्ञा स्वाध्याय तथा विश्लेषण की लंबी तथा अविश्रांत प्रक्रिया का परिणाम होती है। किंतु मुझे इसमें संदेह प्रतीत होता है कि कबीर, मीराबाई, टेरेसा आदि उन संतों ने जिन्हें अंत:प्रज्ञा की सिद्धि प्राप्त थी, कभी स्वाध्याय और विश्लेषण की दीर्घकालीन साधना की थी। मेरी समझ में धार्मिक तत्वशास्त्र की दृष्टि से अंत:प्रज्ञा के दो प्रकारों में भेद करना लाभदायक होगा। बौद्धिक शक्तियों की परिपक्वता अंत:प्रज्ञा का एक प्रकार है और परम सत् का साक्षात्कार करने की शक्ति दूसरा। ये दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। राधाकृष्णन् की धारणा है कि 'मन की समग्रता (अखंडता)' ही आत्मा है और मन की क्रिया मनुष्य को अंत:प्रज्ञा के सत्य तक पहुँचा सकती है तथा उस शक्ति को बुद्धि की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। मुझे इस बात में संदेह है कि राधाकृष्णन् की ये धारणाएँ मनुष्य के आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं जिसका वे समर्थन करते हैं।

3. राधाकृष्णन् का सभ्यता संबंधी दर्शन

नोट

रवींद्रनाथ की भाँति राधाकृष्णन् का भी विश्वास है कि सभ्यता की रक्षा के लिए नैतिक शक्ति की आवश्यकता है। भयंकर चुनौतियाँ आधुनिक सभ्यता के ढाँचे को क्षतविक्षत कर रही हैं, एक आध्यात्मिक मानवतावादी नैतिकता ही उसे सर्वनाश से बचा सकती है। वे लिखते हैं : ''विश्व ने अनेक ऐसी सभ्यताओं को देखा है जिन पर युगों की धूल जम चुकी है। हमने मान लिया था कि कैसे ही परिवर्तन और विकास क्यों न हों, पाश्चात्य सभ्यता का ठोस ढाँचा स्वयं में टिकाऊ तथा स्थायी है, किंतु अब हम देख रहे हैं कि वह कितने भयावह रूप में आरक्षित है। .....अनैतिक होना निरापद नहीं है। बुरी व्यवस्थाएँ अपने लोभ और अंहकार के कारण अपना विनाश कर लेती हैं। जो विजेता और शोषक नैतिक नियम की चट्टान से टकराते हैं, वे अंततोगत्वा अपने ही विनाश के खड्ड में जा गिरते हैं। अभी जब तक समय है–वैसे अब अधिक समय नहीं रह गया है–हमें चाहिए कि मनुष्य को, जो असहाय की भाँति अपने सर्वनाश की ओर दौड़ा जा रहा है, रोकने का यत्न करें।'' इस समय जब धर्म का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और नैतिक मूल्य संकट में हैं, यह नितांत आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता को नए सिरे से आध्यात्मिक उद्देश्य और नैतिक नियमों से अनुप्राणित करना है।

राधाकृष्णन् का स्वप्न है कि भविष्य में एक ऐसी मानव सभ्यता का उदय होगा जो सर्वात्मभाव की प्रवृत्ति पर आधारित होगी। आधुनिक जगत में औद्योगिकीय और आर्थिक क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता इतनी बढ़ गयी है और पूर्ण विनाश के साधन इतने अधिक घातक हो गए हैं कि अब क्षेत्रीय सभ्यताओं का गुणगान करना आत्मघाती होगा। जातिगत (नस्लगत) अहंकार, पतन की ओर ले जाने वाला अधिनायकत्व का सिद्धांत, सैनिक शक्ति की बर्बरतापूर्ण आराधना और पूँजी का संचय आदि संकीर्ण भक्ति के ही कलुषित परिणाम हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग के प्रारंभ में टौलमी के भूकेंद्रिक सिद्धांत को त्यागकर कोपर्नीकस के सूर्यकेंद्रिक सिद्धांत को अंगीकार किया गया वैसे ही आज सभ्यता के संबंध में जातिकेंद्रिक देशभक्ति के दृष्टिकोण को त्यागकर सार्वभौम दृष्टिकोण को अपनाना होगा। सार्वभौमवाद भविष्य की आदर्श सभ्यता का आधार होगा। किंतु सार्वभौमवादी दृष्टिकोण के विकास के लिए कोरा बौद्धिक मार्ग पर्याप्त नहीं है। अत: भविष्य की इस सभ्यता का निर्माण निरपेक्ष बौद्धिक उदारता अथवा सारसंग्रहवाद और उत्पादन के साधनों के अभिनवीकरण के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सभ्यता की सीमाओं को समझें और पराई सभ्यताओं के मूल्यों तथा गुणों को अधिक सचेत रूप से स्वीकार करें। अपनी सभ्यता के मापदंडों को दूसरों पर लादने के लिए संघर्ष करना फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है और उसकी विफलता निश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्व तथा पश्चिम के आधारभूत आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अधिक गहराई के साथ समझने का यत्न करें। मानव-जाति घोर कष्ट में है। इतिहास संकट में होकर गुजर रहा है। सभ्यता ने जिन विकट समस्याओं को जन्म दिया है, उनका एकमात्र हल यह है कि 'विश्व की अजन्मी आत्मा' प्रस्फुटित होकर स्पष्ट नैतिक तथा आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त कर ले। राधाकृष्णन् का कथन है कि भगवद्गीता भी मानव-भ्रातृत्व पर बल देती है। उन्होंने गीता की लोकसंग्रह की धारणा का अर्थ विश्व की एकता लगाया है।

4. राधाकृष्णन् का राजनीतिक दर्शन

गोपाल कृष्ण गोखले का आदर्श 'राजनीति का अध्यात्मीकरण' करना था। महात्मा गाँधी ने, जो गोखले को अपना गुरु मानते थे, राजनीति में नैतिक धर्म के मूल्यों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। राधाकृष्णन् के राजनीतिक विचारों पर गाँधीवाद का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी धार्मिक है। इसलिए वे लिखते हैं : ''राजनीति केवल व्यवहारिक धर्म है।'' आधुनिक जीवन जटिल और संकटपूर्ण परिस्थितियों में उलझा हुआ है। मनुष्य विविध प्रकार की मानसिक चिंताओं, द्वंद्वों, मनस्तापों और भंयकर अरक्षा की परिस्थितियों का शिकार है। धर्म विक्षुब्ध जीवन में पुन: संतुलन स्थापित करने का सबसे शक्तिशाली साधन है। धर्म का अर्थ है सत्य की खोज करना और सभी विद्यमान वस्तुओं में एकता का दर्शन करना। वह यांत्रिक पूजापाठ, कर्मकांडी परंपरावाद और तिकड़मबाज पुरोहित वर्ग से एकदम दूर है। राधाकृष्णन् का आग्रह है कि मनुष्य को धर्मशास्त्रियों के काल्पनिक तर्क-वितर्क और कट्टरतापूर्ण धार्मिक बारीकियों को छोड़कर अपने में धर्म परायणता तथा निवृत्ति की भावना का विकास करना चाहिए। जीवन के सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता की धार्मिक भावना, प्रेम तथा उदारता का चरण करना अत्यंत आवश्यक है। धर्म का अर्थ यह नहीं है कि पुरातन सामाजिक

नोट

रूढ़ियों और मूर्खतापूर्ण सामाजिक अत्याचारों को कायम रखा जाए, जैसा कि भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में मान लिया गया है। राधाकृष्णन् की दृष्टि में धर्म एक अत्यंत गंभीर और वैयक्तिक वस्तु है। धार्मिक अनुभूति स्वभावत: समन्वयात्मक होती है। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रकाश है जो दीर्घकाल की एकांत साधना और चिंतन से उपलब्ध होता है। संतों तथा महान आचार्यों के रूपांतरित पवित्र जीवन से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उससे संपूर्ण आत्मा इस प्रकार प्रकाशित हो उठती है कि चेतन और अचेतन का सामान्य भेद ही समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में धार्मिक अनुभूति संवेदनशील आत्मा की उस समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति सत्य, पवित्रता और सौंदर्य में होती है। धर्म इस बात पर बल देता है कि बाह्य प्रकृति तथा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की दुनिया के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित किया जाए। तब मनुष्य भलीभाँति समझ लेगा कि मानव चेतना आध्यात्मिक सत्ता के साथ अवयवी रूप में शृंखलाबद्ध है; और फिर वह एकाकीपन, निराशा और विफलता की भावना से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। परोपकारमूलक सेवा से भी धार्मिक चेतना की वृद्धि होती है। राधाकृष्णन् का कहना है : ''धर्म कोरी सनक नहीं है, और न वह कोई ऐतिहासिक दैवयोग, मनौवैज्ञानिक युक्ति अथवा पलायन की क्रियाविधि है। वह मानव संबंधों को स्निग्ध करने का कोई ऐसा आर्थिक साधन भी नहीं है जिसे उदासीन दुनिया से उत्पन्न कर दिया हो। वह मानव प्रकृति का अभिन्न अंग है, मनुष्य की होतव्यता का संदेश है, व्यक्ति के मूल्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है और इस बात की चेतनता है कि विश्व के भविष्य के लिए मनुष्य का निर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह मनुष्य की आत्मा का परिमार्जन है, विश्व के रहस्य के विषय में संवेदनशीलता है, अपने साथी मनुष्यों तथा निम्नकोटि के प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा की भावना है। जिस समाज के घटक धार्मिक व्यक्ति होते हैं उसके जीवन में भारी अंतर आ जाता है।'' धर्म मूल्यों का समन्वय और अनुभूतियों का संघटन है। उसका उद्देश्य मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है। जड़वादी नास्तिकता और बौद्धिक युक्तिवाद मनुष्य की मन:स्ताप और मानसिक विघटन से रक्षा नहीं कर सकते। इसके लिए समन्वय और एकीकरण की धार्मिक भावना की आवश्यकता है। धर्म ''समग्र मनुष्य की समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है।'' किंतु राधाकृष्णन् ने यह नहीं समझाया है कि मनुष्य की क्षमताओं और शक्तियों के समग्र रूप में क्रियाशील होने की प्रक्रिया और क्रियाविधि क्या है? उनके चिंतन के कट्टरपंथी तत्वों का उद्घाटन उनके इस कथन से होता है कि धार्मिक अनुभूति स्वयं-स्थापित, स्वयंसिद्ध और स्वयं-प्रकाशवान है। यदि उनके ये अतिशयोक्तिपूर्ण कथन सत्य मान लिए जाएँ तो यह बात बड़े आश्चर्य की जान पड़ती है कि सभी देशों और सभ्यताओं में करोड़ों लोग इस स्वयंसिद्ध अनुभूति का रसास्वादन किये बिना ही, इस जीवन से विदा हो गए। राधाकृष्णन् के धार्मिक मानवतावाद के पक्षपोषण में कठिनाई यह है कि उससे श्रद्धालु व्यक्ति का तो उत्साहवर्धन होता है, किंतु बुद्धिवादी उनके तर्कों से सहमत नहीं हो पाता। समग्र मनुष्य के क्रियाशील होने का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ समझ में नहीं आता कि मानव व्यक्तित्व के शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक, सौंदर्यात्मक तथा नैतिक तत्व एक साथ सक्रिय हों।

राधाकृष्णन् धार्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक हैं। पश्चिम में मानवतावाद का उदय वैज्ञानिक प्रकृतिवाद और देवशास्त्रीय धार्मिकतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। उसने सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा प्रदान की और मानव एकता का समर्थन किया। अत: उसका आदर्शवाद श्लाघ्य है। किंतु राधाकृष्णन् ने मानवतावाद के पाश्चात्य संप्रदायों में दो आधारभूत कमियाँ बतलायी हैं। प्रथम, वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य के जीवन तथा स्वभाव में जो नैतिक तथा प्राकृतिक तत्व हैं उनके बीच परस्पर तीव्र विरोध होता है। इससे नैतिक सामंजस्य की सम्यक् आचारनीति असंभव हो जाती है। नैतिक जीवन का सार इसमें है कि परस्पर संघर्षरत स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नैतिक शासन के अधीन रखा जाए। मानवतावाद की दूसरी कमी यह है कि उसने आध्यात्मिक अंत्य सत्ता की उपेक्षा की है। मानवतावादी आचारनीति की दो संकीर्ण व्याख्याएँ वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा रहस्यात्मक राष्ट्रवाद हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मानवतावाद सेवा तथा आत्मत्याग के जिस आदर्श का उत्साह के साथ समर्थन करता है उसके लिए वह आध्यात्मिक आधार प्रदान नहीं करता। उसके अंतर्गत जीवनातीत तथा जीवन को रूपांतरित करने वाली धार्मिकता के लिए स्थान नहीं है। इसके विपरीत राधाकृष्णन् नैतिक मूल्यों को आध्यात्मिक आधारों पर स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार **बैबिट** और **टामस मोर** के मानवतावाद के मुकाबले में राधाकृष्णन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पुन:स्थापना करने का समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्व के रहस्यात्मक धर्मों ने जिन नवृत्तिवादी गुणों पर बल दिया है उनसे सामाजिक स्थिरता को बल मिलता है। इसलिए उनका आग्रह है कि यूरोप के मानवतावादी चिंतन तथा एशिया के धार्मिक विश्व-दर्शन के बीच समन्वय स्थापित

नोट

किया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में मूलविहीन आधुनिक मानव को धर्म, विज्ञान तथा मानवतावाद के समन्वय की आवश्यकता है। उसी से उसको सांत्वना मिल सकती है और उसी के आधार पर वह निर्दोष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर सकता है।

राधाकृष्णन् पर गाँधीजी के अहिंसा तथा सत्याग्रह के दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्हें शक्ति, आक्रमण तथा साम्राज्यवाद के दानवी सिद्धांतों से घृणा है, इसलिए वे धर्म को राजनीति का आधार बनाना चाहते हैं। एक वास्तविक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक व्यवस्था सत्य, न्याय तथा समान स्वतंत्रता के आधार पर ही कायम की जा सकती है। हिंसा शत्रुओं को जन्म देती है और घृणा आक्रमण को। गाँधीजी के शिष्य होने के नाते राधाकृष्णन् को विश्वास है कि समूहगत तथा राष्ट्रगत तनावों को समाप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव स्वभाव की विकृतियों और पथभ्रष्टता को रोकने के लिए नैतिक प्रज्ञा तथा सामाजिक प्रेम के साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है। गाँधीवाद की शुद्ध भावना के अनुरूप राधाकृष्णन् को दृढ़ विश्वास है कि अंत में शक्ति, अत्याचार और आक्रमण की प्रवृत्तियों पर आत्मा की विजय अनिवार्य है।

राधाकृष्णन् ने स्वतंत्रता के एक व्यापक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार स्वतंत्रता मानव की सृजनशक्ति के विकास की कुंजी है। मनुष्य ईश्वरीय आत्मा है इसलिए आवश्यक है कि शरीर, मन तथा आत्मा की शक्तियों और गुणों का विकास किया जाए जिससे आध्यात्मिक व्यक्तित्व का साक्षात्कार किया जा सके। मनुष्य के अनंत कार्यकलाप के रूप में व्यक्त होने वाली आध्यात्मिक सर्जनशीलता ही सांस्कृतिक महानता का आधार है।

स्वतंत्रता के संबंध में दो मुख्य दृष्टिकोण हैं। व्यक्तिवादियों तथा उदारवादियों के अनुसार नियंत्रण से मुक्ति ही स्वतंत्रता है। **हॉब्स** ने अपनी पुस्तक 'लिवाइथन' में कहा है कि गति के मार्ग में बाधा का न होना ही स्वतंत्रता है। किंतु जर्मन प्रत्ययवादियों ने स्वतंत्रता की अधिक व्यापक परिभाषा दी है। **हेगेल** के अनुसार विश्वात्मा (ब्रह्म अथवा ईश्वर) ही स्वतंत्रता का पूर्ण रूप है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर सामाजिक विकास के लिए उपयोगी नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढाल सकने की क्षमता ही स्वतंत्रता है। चूँकि राधाकृष्णन् का बौद्धिक विकास पूर्णरूप से प्रत्ययवादी परंपराओं के अंतर्गत हुआ था, इसलिए वे स्वतंत्रता के संबंध में **हेगेल** की धारणा को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं : ''जिस स्वतंत्रता की कामना मनुष्य करते हैं; वह केवल नियंत्रण का अभाव नहीं है, इस प्रकार की स्वतंत्रता तो वास्तविक और निषेधात्मक होती है। अपनी जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का पूर्णरूप से प्रयोग करना ही वास्तविक तथा भावात्मक स्वतंत्रता है।'' चूँकि राधाकृष्णन् लोकतंत्र के समर्थक हैं, इसलिए यह अनुमान लगाना सर्वथा उचित था कि वे स्वतंत्रता की व्यक्तिवादी व्याख्या को स्वीकार करेंगे। किंतु उन्होंने **हेगेल** तथा **ग्रीन** की भाँति स्वतंत्रता की भावात्मक प्रत्ययवादी धारणा को अंगीकार किया है। एशियाई देशों में सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करने के लिए नियोजन की दिशा में जो प्रगति हो रही है उसके संदर्भ में समय की आवश्यकताओं और माँगों को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन् की स्वतंत्रता संबंधी भावात्मक धारणा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। किंतु राधाकृष्णन् पूर्ण हेगेलवादी नहीं हैं। उन्हें **कांट** और **स्पेंसर** की इस धारणा में भी विश्वास है कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग तभी तक कर सकता है जब तक वह दूसरों की समान स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं करता। उन्होंने लिखा है : ''स्वतंत्र समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र है, उसकी स्वतंत्रता पर केवल इतना ही प्रतिबंध हो सकता है कि वह दूसरों की समान स्वतंत्रता का अतिक्रमण न करे।''

लोकतंत्र राजनीतिक स्वतंत्रता का दर्शन तथा कार्यप्रणाली है। उसका लक्ष्य ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना है जिनके अंतर्गत मनुष्य की स्वतंत्रता को साक्षात्कृत किया जा सके। किंतु राजनीतिक लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य में कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास हो। लोकतंत्र बुनियादी तौर पर एक चित्तवृत्ति है, और मानव गरिमा तथा अधिकारों की स्वीकृति पर आधारित है। लोकतंत्र की सफलता के लिए सहिष्णुता की भावना, विनम्रता तथा जीवन में अपने को दूसरों की तुलना में पिछला स्थान देने की इच्छा अत्यंत आवश्यक है। लोकप्रभुत्व के आदर्श का साक्षात्कार करके लोकतंत्र व्यक्ति की स्वायत्तता तथा सामान्य कल्याण के आदर्श के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राधाकृष्णन् को लोकतंत्र के मूल्यों में विश्वास है और उनकी यह तीव्र इच्छा है कि उन मूल्यों को साक्षात्कृत किया जाए। वे लिखते हैं : ''सही अर्थ में लोकतंत्र समाज का

नोट

स्वशासन है। सबसे कम शासित होना सबसे अच्छे ढंग से शासित होना है। .....हर शासन स्वशासन का साधन है। लोकतंत्र के अंतर्गत सामान्य इच्छा प्रभु होती है, किंतु सामान्य इच्छा तकनीकि विषयों का निर्णय नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए शुल्क-पद्धति में सुधार और भारतीय संविधान की समस्याएँ। अनेक देशों में लोकतंत्र इसलिए असफल हो रहा है कि वह सच्चा लोकतंत्र नहीं है। अभी तक वह केवल एक आदर्श है। जब हम लोकतंत्र को एक व्यावहारिक सिद्धांत मान लेते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ अलंघनीय अधिकार हैं, जिनका हमें सब व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय सम्मान करना चाहिए, चाहे वे व्यक्ति किसी भी लिंग अथवा उद्यम के हों। व्यक्तित्व पवित्र है; अत: हर व्यक्ति को अपनी प्रकृति का पूर्ण विकास करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।.....लोकतंत्र का अर्थ यह नहीं है कि हम सब समान हैं। मनुष्य शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से असमान उत्पन्न होते हैं। हर काल में मनुष्य असमान रहेंगे।.....यह भी सत्य है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्ण समानता प्रदान नहीं कर सकती। सुअवसर से लाभ उठाना इस बात पर निर्भर होता है कि कोई मनुष्य किन सामाजिक परिस्थितियों में रह रहा है और उनके प्रति उसकी क्या प्रतिक्रया है। फिर भी अवसर की समानता एक अच्छा सामाजिक आदर्श है।.....लोकतंत्र कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है, वह एक आदर्श है जिसे उद्यम तथा शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।.....यदि मतदाताओं की बुद्धि विकसित हो और नेतागण ईमानदार हों तो लोकतंत्र अधिक सफल हो सकता है। लोकतंत्र पूर्ण आदर्श की तुलना में कितना ही घटिया क्यों न हो, फिर भी वह उदार निरंकुशवाद के कुछ उदाहरणों को छोड़कर अतीत की सभी शासन प्रणालियों से अच्छा है।'' लोकतंत्र विवाद, बौद्धिक तर्कवितर्क और समझौते के द्वारा प्रभावकारी सामाजिक, आर्थिक और प्रशासकीय परिवर्तन लाने की एक कार्यविधि है। वह क्रूर ढंग से विचारों को थोपने की सत्तावादी प्रणाली के विरुद्ध है। लोकतंत्र विरोधियों का विनाश करने की कभी अनुमति नहीं दे सकता। राज्य की वैध हिंसा के अलावा अन्य सभी प्रकार के बल-प्रयोग का परित्याग ही लोकतंत्र का आधार है। हिंसात्मक कार्यप्रणाली का लोकतांत्रिक चित्तवृत्ति के साथ मेल नहीं हो सकता। अत: राधाकृष्णन् उन लोकतांत्रिक देशों की कार्यप्रणाली के विरुद्ध है जहाँ चिंतन तथा कर्म की शैली को यांत्रिक ढंग से एक ही साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीतिक समानता आर्थिक सुविधाओं की आधारभूत समानता के बिना निरर्थक है। आर्थिक न्याय ही राजनीतिक स्वतंत्रता तथा विधिक समानता को सार्थकता प्रदान कर सकता है। अत: धार्मिक मानवतावादी होने के नाते राधाकृष्णन् ने ऐसी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अंतर्गत सभी को 'आधारभूत आर्थिक न्याय' उपलब्ध हो सके। वे सामाजिक लोकतंत्र के आदर्श को स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है : ''मैं समानतावादी समाज का पूर्णत: समर्थन करता हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था का श्रेष्ठतम धर्म के साथ कोई विरोध नहीं है, वास्तव में धर्म की माँग है कि इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाए। सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के सब प्रयत्न और संपत्ति तथा सुविधाओं के अधिक समान वितरण की सभी योजनाएँ धार्मिक भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति है।'' इसलिए समाजवादी न होते हुए भी राधाकृष्णन् संपत्ति पर लोकतांत्रिक पद्धति से सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के आदर्श को स्वीकार करते हैं। **टॉनी** और **लास्की** की भाँति वे भी मानते हैं कि किसी व्यक्ति का संपत्ति पर अधिकार उसके कार्य के मूल्य के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। वे लिखते हैं : ''संपत्ति तथा शक्ति के बड़े साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था नैतिक जीवन के लिए कम घातक होगी और उससे सामाजिक भाईचारे के विकास में अधिक सहायता मिलेगी। आर्थिक पुरस्कार सामाजिक सेवा से पृथक् नहीं होना चाहिए। धन प्राप्त करने का अधिकार सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर आधारित होना चाहिए। कुछ विशेष साधनों से होने वाला तथा निश्चित मात्रा से अधिक लाभ अवैध घोषित कर दिया जाए। भारी आय को करों के द्वारा सीमित किया जा सकता है। करारोपण लोकतांत्रिक है, किंतु संपत्ति का जब्त करना अत्याचारपूर्ण है।'' राधाकृष्णन् धन की अतिशय विषमता के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किंतु वे निजी संपत्ति के तात्कालिक समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते। फिर भी उनका पुनरुत्थानवादी होना उनके इस कथन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में अनुपाती न्याय का सिद्धांत प्रचलित था। वे लिखते हैं : ''प्राचीन भारत में अनुपाती न्याय का जो आदर्श प्रचलित था उसके अनुसार श्रमिकों और कृषकों को ही नहीं अपितु नाइयों, धोबियों, सफाई कर्मचारियों और पहरेदारों को भी खेत की उपज का भाग उपलब्ध होता था। उस आदर्श के सामान्य सिद्धांतों में वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जा सकता है।

नोट

चूँकि राधाकृष्णन् आध्यात्मिक मानवतावादी हैं, इसलिए उन्हें मार्क्सवाद की समाज को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति से घृणा है। यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के दार्शनिक आलोचक हैं। तनाव तथा संघर्ष के सिद्धांत के विपरीत के आध्यात्मिक सामंजस्य के मेल कराने वाले आदर्श का समर्थन करते हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भौतिक शक्तियों के अर्थ और औचित्य के विश्लेषण पर अनावश्यक बल देता है। अधिक से अधिक वह भौतिक प्रक्रिया का अभिकथन है, वह उसकी व्याख्या नहीं करता। इसके अतिरिक्त रूसी बोलशेविकवाद परंपरागत धर्मों का विरोधी होते हुए भी व्यवहार में एक रहस्यात्मक धर्म और पंथ बन गया है और वह भी प्रचार की परंपरागत प्रणाली का प्रयोग करता है।

जाति की समस्या आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के लिए सबसे अधिक उलझन और घबड़ाहट उत्पन्न करने वाली है। इस विषय में राधाकृष्णन् पुरातनवादी हैं, किंतु प्रतिक्रियावादी कभी नहीं हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय आधारों और मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि चूँकि वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करती है, इसलिए वह लोकतांत्रिक है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि चूँकि उसके अंतर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से अपने दायित्वों को स्वीकार करता है, इसलिए उससे व्यक्तित्व का परिवर्धन होता है। वर्ण-व्यवस्था समाज की प्रकृति की परमाणविक धारणा के विरुद्ध है और अवयवी धारणा को स्वीकार करती है। वह ज्ञान, प्रशासकीय साहस, उत्पादन-क्षमता तथा सामाजिक सेवा के बुद्धिसंगत सामंजस्य का समर्थन करती है। राधाकृष्णन् का कहना है कि वर्ण का समाजशास्त्र हर काम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानता है और सुअवसरों की व्यवस्था को ही सामाजिक न्याय समझता है। मुझे इसमें संदेह है कि राधाकृष्णन् वर्ण-व्यवस्था के सहकारी रूप की इस हेगेलवादी व्याख्या को अब भी स्वीकार करते हैं। अब वर्ण-व्यवस्था को लोकतांत्रिक सिद्धांतों के आधार पर समर्थन करना पुनरुत्थानवादी राजनीतिक दर्शन का एक बहुत रोचक रूप है। किंतु राधाकृष्णन् जाति-व्यवस्था की उस विघटनकारी प्रवृत्ति के आलोचक हैं जो हमें आज भारतीय समाज में देखने को मिलती है। आज वह फूट और कलह को प्रोत्साहन देती है और बुद्धिहीन अत्याचारों को बनाए रखने में सहायक है। उससे सामाजिक सहजता के मार्ग में बाधा पड़ती है। फिर भी वे समाज-व्यवस्था में कार्यमूलक समुदायों की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। सामाजिक उद्देश्य अगणित तरीकों से सिद्ध होता है, अत: हर व्यक्ति सामाजिक विकास में विशिष्ट योग दे सकता है।

आध्यात्मिक मानवतावाद का दर्शन विश्व-समाज के आदर्श को जन्म देता है। आत्मा के धर्म तथा राष्ट्र-पूजा के आदर्शों के बीच परस्पर उग्र विरोध है। भविष्य में उत्पन्न होने वाला मानव समाज विश्व-राज्य पर आधारित होना चाहिए। तलवार के न्याय के स्थान पर विवेक, न्याय तथा सामूहिक सुरक्षा की स्थापना होनी चाहिए। जातीय (नस्लगत) भ्रातृभाव की उपलब्धि तथा विश्व संस्कृति और विश्व अंत:करण का विकास परमावश्यक है। राष्ट्रों का पारस्परिक व्यवहार अंतर्राष्ट्रीय विधि पर आधारित होना चाहिए। प्रभु शक्ति को सीमित करना होगा। राधाकृष्णन् अंतर्राष्ट्रवादी हैं। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के समर्थक हैं। अपनी पुस्तक 'इज दिस पीस?' में उन्होंने एक प्रकार की विश्व सरकार का समर्थन किया है। वे चाहते थे कि एक संघ सरकार की स्थापना की जाए जो सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार हो। किंतु राजनीतिक अंतर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक मूल्यों का भी विकास हो। उनका विचार है कि धार्मिक आदर्शवाद ही वास्तविक भाईचारे तथा सहकारिता के लिए आधार तैयार कर सकता है। वे लिखते हैं : विश्व के इतिहास में धार्मिक आदर्शवाद ही शांति का सबसे शक्तिशाली और आशापूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। जब तक हम अधिकारों और कर्तव्यों को आधार मानकर चलते रहेंगे तब तक हम मनुष्य के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकेंगे। संधियाँ तथा राजनयिक समझौते हमारे आवेशों पर अंकुश लगा सकते हैं, किंतु वे हमारे भय को दूर नहीं कर सकते। विश्व में मानवजाति के लिए प्रेम का संचार करना है। हमें ऐसे धार्मिक वीरों की आवश्यकता है जो संपूर्ण विश्व के रूपांतर की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि जो आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन देकर भी 'एक पृथ्वी एक परिवार' के आदर्श को सिद्ध कर देंगे।

राधाकृष्णन् ने वास्तविक विश्व-शांति की स्थापना के तीन उपय बतलाए हैं :

(1) सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना;

नोट

(2) साम्राज्यवादी आधिपत्य तथा उपनिवेशवाद का उन्मूलन; और

(3) राष्ट्रीय राज्यों के प्रभुत्व पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण।

अपनी 'इण्डिया एंड चाइना' पुस्तक में उन्होंने न्यायपूर्ण विश्व-शांति के तीन आधारभूत सिद्धांत निर्धारित किए हैं–(1) जातिगत समानता, (2) विश्व राष्ट्रमंडल और (3) अंतर्राष्ट्रीय पुलिस।

गाँधी तथा अरविंद की भाँति राधाकृष्णन् भी मनुष्य के हृदय तथा मन में परिवर्तन के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। रोग गंभीर है। मानव संस्कृति लोभ, लंपटता और व्यापक स्वार्थपरता से उत्पन्न वेदनापूर्ण निराशा तथा मानसिक विकृति के दौर से गुजर रही है। संकट और संताप के इस युग में युद्ध स्वाभाविक घटना बन गए हैं। एक-दूसरे की देखादेखी निजी वासनाओं की अधिकाधिक तृप्ति करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है और यही समस्या की जड़ है। इसका अंत मनुष्य की चेतना में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है। मानव आत्मा की स्वाभाविक गंभीरता को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा की शक्ति और जीवनबल की खोज करके ही समस्या का हल निकाला जा सकता है; वर्तमान संशयवादी प्रवृत्ति तथा तात्कालिक कामचलाऊ उपायों की टटोल से काम नहीं चल सकता। इसके लिए आवश्यक है कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता के साक्षात्कार के हेतु समुचित शिक्षा की व्यवस्था की जाए। पुरुषों और स्त्रियों के जीवन का रूपांतर हो और उन्हें पाप, भ्रम और अज्ञान से मुक्ति मिले। यही मानव जाति की होतव्यता है।

5. निष्कर्ष

राधाकृष्णन् उच्चकोटि के धर्मशास्त्री और भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध निर्वचनकर्ता हैं। किंतु उन्हें मौलिक कोटि का रचनात्मक तत्वशास्त्री नहीं कहा जा सकता। उन्होंने एक व्यवस्थित ब्रह्माण्डविद्या की विशद रचना नहीं की है, उनकी शक्ति उनके व्यापक और गंभीर दार्शनिक पांडित्य में निहित है। उन्हें उच्चकोटि का सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता। एक सिद्धांतकार के रूप में उनका मुख्य प्रयोजन धर्म के प्रत्ययवादी दर्शन का निरूपण करना रहा है। उनकी रचनाओं से इस बात का साक्ष्य नहीं मिलता कि उनका आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मुख्य समुदायों से परिचय है। इसलिए उनके पास उन सैद्धांतिक उपकरणों का अभाव है जिनके द्वारा उन्नत सामाजिक और राजनीतिक चिंतन की व्यवस्था की रचना की जा सकती है। फिर भी वे इस बात के अधिकारी हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनकी गणना की जाए, क्योंकि उन्होंने लोकतंत्र, सामाजिक न्याय तथा विश्व-शांति के समर्थन में धार्मिक आदर्शवाद के सिद्धांत पर अधिक बल दिया है।

राधाकृष्णन् पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं। यद्यपि उनकी दार्शनिक रचनाएँ विवेकानंद और रामतीर्थ की रचनाओं एवं उपदेशों की भाँति उत्प्रेरित और वाक्चातुर्य से पूर्ण नहीं हैं। किंतु उनमें पांडित्य अधिक देखने को मिलता है। उन्होंने भारत की बहुमूल्य दार्शनिक विरासत को पश्चिम की अंग्रेजी जानने वाली जनता के लिए उपलब्ध करा दिया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक स्थलों पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के बीच तुलना की है, इससे भारतीय दार्शनिकों का तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में योगदान स्पष्ट हो जाता है। उपनिषदों की व्याख्या में उन्होंने **ब्रैडले** के सत्ता-क्रमवाद के सिद्धांत का उपयोग किया है। गीता और धम्मपद के जीवन-दर्शन की विवेचना संशयग्रस्त बुद्धिजीवियों को ध्यान में रखकर की गयी है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के पोषण में ह्वायतहेड, स्मट्स और एलेग्जेंडर की युक्तियों का उपयोग किय गया है। शंकर के तत्वज्ञान का परमोत्कर्ष बताते हुए राधाकृष्णन् ने स्पायनोजा और कांट से उनकी समकक्षता मानी है।

राधाकृष्णन् की विभिन्न रचनाएँ जो 1908 के उपरांत आधी शताब्दी से अधिक की दीर्घकालीन बौद्धिक सर्जनशीलता की उपज है, पश्चिम तथा पूर्व के बीच दार्शनिक सेतु का काम करती हैं। उन्होंने पाश्चात्य चिंतन की रहस्यात्मक, धार्मिक तथा आदर्शवादी धारणाओं को अधिक महत्त्व दिया है। रहस्यवाद तथा आध्यात्मिक चिंतन पर पूर्व का एकाधिकार नहीं है। पूर्व तथा पश्चिम के चिंतन में धार्मिक आदर्शवाद की जो समान प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, वे मानव जाति की दो धाराओं के बीच निरंतर वृद्धिमान सामंजस्य की संभावना की द्योतक हैं।

नोट

राजनीतिक चिंतन में राधाकृष्णन् का योगदान यह है कि इन्होंने मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए धार्मिक मार्ग का समर्थन किया है। उन्होंने एक नए मानवतावाद का उपदेश दिया है। उसका आधार यह मानता है कि जीवन में धार्मिक मूल्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किंतु राधाकृष्णन् संकीर्ण संप्रदायवादी नहीं हैं। धर्म से उनका अभिप्राय है बंधुत्व, साहचर्य, समवाय, उदारता तथा सहिष्णुता की भावना और इस बात की स्वीकृति कि मनुष्य में ईश्वरीय ज्योति विद्यमान है और वही उसकी आंतरिक प्रकृति है। राधाकृष्णन् उन लोगों में से हैं जिन्होंने धार्मिक चेतना की पुन:स्थापना करने का अत्यधिक ओजस्वी ढंग से समर्थन किया है।

राधाकृष्णन् के राजनीतिक चिंतन के विषय में कहा जा सकता है कि उसने 'व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद' की विचारधारा को पुष्ट किया है। वे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के पुनरुत्थान के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं, इस दृष्टि से वे व्यक्तिवादी हैं। वे इस अर्थ में भी व्यक्तिवादी हैं कि उन्होंने मनुष्य की आध्यात्मिक समानता पर बल दिया है और आग्रहपूर्वक कहा है कि मनुष्य को बौद्धिक शिक्षा की प्रणाली के द्वारा इतना ऊँचा उठाया जा सकता है कि वह स्वतंत्रता, बुद्धि, प्रगति और बंधुत्व के मूल्य को उत्तरोत्तर स्वीकार करता जाए। उनका विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा समूह के आचरण में भी विवेक तथा उदारता की वृद्धि की जा सकती है। राधाकृष्णन् बुद्धि, शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए उत्सुक हैं। इस दृष्टि से उनमें तथा दार्शनिक उग्रवादियों में बहुत कुछ समानता और सादृश्य है। किंतु राधाकृष्णन् पर **हेगेल**, **कांट** और **ब्रैडले** के प्रत्ययवाद का भी गहरा प्रभाव है। वे सामाजिक दायित्वों की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समाज के संबंध में अवयवी धारणा को भी स्वीकार किया है। एक अरस्तूवादी की भाँति उनका भी कथन है कि राज्य का काम मनुष्य जीवन को श्रेष्ठतर बनाना है। इस प्रकार राधाकृष्णन् व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद के संप्रदाय के अनुयायी हैं। आत्मा के मूल्यों की खोज करना ही उनके चिंतन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। वे बार-बार यही कहा करते हैं कि दयनीय और निराश्रित मानव आत्मा का एकमात्र अवलंब आध्यात्मिकता ही है।

15.6 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविंद ने भारत की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर जिस सर्वांग योग दर्शन का विकास किया है वह तो कुछ लोगों को बड़ा भाया है परंतु मानव विकास के क्रम को अवरोहण और आरोहण के रूप में प्रस्तुत करके उन्होंने एक उलझन भर पैदा की है। और शिक्षाशास्त्री के रूप में इन्होंने शिक्षा की जिस मुक्त प्रणाली का श्रीगणेश किया था, वह तो अपने में स्वीकार करने योग्य नहीं है। यूँ पांडिचेरी स्थित 'श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' में आज भी शिक्षा की मुक्त प्रणाली चल रही है–वहाँ किसी भी स्तर के छात्रों को किसी प्रकार के बंधन में नहीं रखा जाता, उन्हें अध्ययन विषयों एवं खेलकूद आदि क्रियाओं के चयन की पूरी छूट है, और साथ ही अपना अध्ययन कार्य अपनी गति से पूरा करने की छूट है परंतु इसे सर्वव्यापक तो नहीं बनाया जा सकता। औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था तो उसी दशा में की जा सकती है जब उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ, पढ़ने-पढ़ाने का समय आदि सभी कुछ निश्चित हों। इस सबके अभाव में किसी भी समाज में शिक्षा को व्यवस्थित रूप से नहीं चलाया जा सकता। साफ जाहिर है कि शिक्षा की मुक्त प्रणाली को जन शिक्षा का आधार नहीं बनाया जा सकता।

15.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **मानव मस्तिष्क** (Human Mind) : मनुष्य का मस्तिष्क
2. **आत्म-शक्ति** (Power of Spirit) : आत्मा की शक्ति

15.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. श्री अरविंद का जीवन परिचय लिखिए।

नोट

2. श्री अरविंद के दार्शनिक विचारों का विवरण दीजिए।
3. श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए
4. राधाकृष्णन के शैक्षणिक विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. सात सोपान	2. ईश्वर	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. सही	10. गलत		

15.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–16 : शिक्षा के सामाजिक आधार (Sociological Basis of Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
16.1 शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ (Meaning of Sociological Basis of Education)
16.2 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक परिदृश्य (Historical Aspect of Sociology)
16.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)
16.4 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject Matter of Sociology)
16.5 शैक्षिक समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Educational Sociology)
16.6 शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य (Aims of Educational Sociology)
16.7 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Educational Sociology)
16.8 शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्य (Functions of Educational Sociology)
16.9 शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of the Study of Educational Sociology)
16.10 शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव (Impact of Educational Sociology on Education)
16.11 शिक्षा का समाजशास्त्र (Sociology of Education)
16.12 सारांश (Summary)
16.13 शब्दकोश (Keywords)
16.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
16.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समाजशास्त्र का अर्थ जानने हेतु।
- शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य जानने हेतु।
- शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्य जानने हेतु।
- शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव जानने हेतु।
- शिक्षा का समाजशास्त्र जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा और जीवन अन्योन्याश्रित है। शिक्षा जीवन है और जीवन शिक्षा है। शिक्षा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन की आवश्यकताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है, एक व्यक्तिगत और दूसरी सामाजिक। व्यक्तिगत आवश्यकताओं में शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, चारित्रिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं में पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आवश्यकताएँ सम्मिलित हैं। शिक्षा व्यक्ति की इन सभी आवश्यकताओं को पूरा करती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से शिक्षा महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया कहा गया है, जिसका अर्थ है कि शिक्षा समाज में, समाज के लिए तथा समाज द्वारा संचालित एक प्रक्रिया है। समाज के अस्तित्व पर ही शिक्षा का अस्तित्व निर्भर करता है। शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा की प्रकृति, शिक्षा के उद्देश्य समाज के स्वरूप, समाज की प्रकृति और समाज के उद्देश्यों पर निर्भर करते हैं और इसलिए यह कहा जाता है कि शिक्षा और समाज को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मार्ग्रेट मीड ने कहा है कि शिक्षा वह सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रत्येक नवशिशु मानव समाज का पूर्ण सदस्य बनता है।

नोट्स प्लेटो ने कहा था कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार से व्यवहार करता है जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता हैं।

16.1 शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ (Meaning of Sociological Basis of Education)

शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ यह है कि शिक्षा की व्यवस्था समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और आदर्शों के आधार पर की जानी चाहिए। शिक्षा के द्वारा बालकों में ऐसे सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें, अधिकारों का उपयोग कर सकें और समाज तथा देश के योग्य, कुशल, जागरूक और समर्पित नागरिक बन सकें। शिक्षा के द्वारा उनमें समाज के साथ अनुकूलन करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण का आधार उस समाज का जीवन दर्शन, समाज की संरचना और उसकी धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थिति होनी चाहिए। इसी प्रकार पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं को सम्मिलित करना चाहिए, जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हों, जो बालकों में सामाजिकता की भावना तथा सामाजिक गुणों का विकास करें और जो व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करें। इस प्रकार शिक्षा का सामाजिक आधार इस बात पर बल देता है कि शिक्षा का आधार समाज हो। शिक्षा के द्वारा बालक का सर्वतोमुखी विकास हो, जिससे समाज का भी उत्तरोत्तर विकास हो सके।

शिक्षा प्रक्रिया के तीनों अंग–शिक्षार्थी, शिक्षक और पाठ्यक्रम–समाज के अंग हैं, इसीलिए शिक्षा को सामाजिक प्रक्रिया माना जाता है, जिसका अर्थ है–

1. शिक्षा प्रक्रिया के विभिन्न अंग सदैव ही समाज के स्वरूप से प्रभावित होते रहते हैं।
2. शिक्षा के उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं।
3. शिक्षा के पाठ्यक्रम में नए-नए विषयों का समावेश समाज की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है।
4. शिक्षा की शिक्षण विधियाँ समाज के स्वरूप पर ही निर्भर करती हैं।
5. अनुशासन में सामाजिक दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
6. शिक्षा की प्रक्रिया समाज की संस्कृति से नियंत्रित होती है।

नोट

7. शिक्षा पर खर्च होने वाला व्यय समाज से ही आता है।
8. शिक्षालय को समाज का वास्तविक रूप माना जाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में कहा गया है कि–

''हमारा देश आर्थिक और तकनीकी दृष्टि से उस मुकाम पर पहुँच गया है, जहाँ से हम अब तक के सिंचित साधनों का इस्तेमाल करते हुए समाज के हर वर्ग को फायदा पहुँचाने का प्रबल प्रयास करें। शिक्षा उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रबल साधन है।'' –अनुच्छेद 1.2

''नई चुनौतियों और सामाजिक आवश्यकताओं का तकाजा है कि सरकार एक नई नीति तैयार करे और उसको कार्यान्वित करे। इसके सिवा विकल्प नहीं है।'' –अनुच्छेद 1.15

उपरोक्त कथन यह स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा और समाज का पारस्परिक संबंध बहुत ही गहरा है। वस्तुत: किसी भी समाज की संरचना, आवश्यकताएँ और उसमें उपलब्ध अलग-अलग तरह के स्रोत ही उस समाज की शिक्षा की नीति की आधारभूमि निर्धारित करते हैं। कहा भी जाता है कि शिक्षा का स्वरूप वैसा ही होता है जैसा हमारा समाज है और जैसा समाज हम बनाना चाहते हैं। जैसे कोठारी आयोग (1964-66) ने भारतीय समाज की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का बहुत गइराई के साथ अध्ययन करके उस समय भारतीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए थे–

1. उत्पादन में वृद्धि,
2. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता का विकास,
3. प्रजातंत्र को सुदृढ़ करना,
4. सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास,
5. राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना।

इसी प्रकार 1986 में समाज की बदली हुई परिस्थितियों में जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गयी, उसके कुछ प्रमुख लक्ष्य थे–

1. समानता के लिए शिक्षा,
2. सबके लिए शिक्षा,
3. शिक्षा का प्रभावी प्रबंध,
4. शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाना।

इसके बाद 1990 में इसी राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति समिति गठित की गई। इस समिति के प्रतिवेदन का नाम ही **''एक प्रबुद्ध एवं मानवीय समाज की ओर''** था। इसका प्रमुख लक्ष्य भी **सबको शिक्षा देना** था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज की वर्तमान और भावी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ शिक्षा प्रक्रिया को लगातार प्रभावित करती रहती हैं। शिक्षा को अपना नया रूप समाज से ही मिलता है। समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति के कारण ही शिक्षा का रूप भी बदलता रहता है। यही शिक्षा का सामाजिक आधार है।

शैक्षिक समाजशास्त्र की विवेचन करने से पूर्व समाजशास्त्र के ऐतिहासिक परिदृश्य, उसके अर्थ, परिभाषा और विषय-वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शिक्षा और जीवन ..... है।
2. शिक्षालय को समाज का ..... रूप माना जाता है।

नोट

16.2 समाजशास्त्र का ऐतिहासिक परिदृश्य (Historical Aspect of Sociology)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यक्तियों के अभाव में समाज का कोई महत्त्व नहीं है और समाज के अभाव में व्यक्ति जिंदा नहीं रह सकता, अपना विकास नहीं कर सकता। समाज एक मूर्त संकल्पना है जिसका भवन व्यक्ति की नींव पर निर्मित होता है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति और समाज के संबंधों पर विचार किया जाता रहा है। प्लेटो (Plato) ने कहा था कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार से व्यवहार करता है, जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता है। व्यक्ति का व्यवहार उस समाज की उपज है, जिसमें वह जन्म लेता है और पलता है। अरस्तू (Aristotle) ने कहा था कि कोई भी व्यक्ति संपूर्ण संसार को अपना कहने से इंकार कर देगा, यदि उसे यह पता चल जाए कि उसे संसार में अकेला रहना होगा। व्यक्ति के सामाजिक या सामुदायिक जीवन के महत्त्व पर बल देते हुए उसने यह भी कहा कि वह व्यक्ति जो एक सामान्य जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है, अर्थात् जो दूसरों के साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकता, वह या तो मनुष्यता के निम्न स्तर पर है या उच्च स्तर पर अर्थात् या तो वह पशु है या भगवान्। लुक्रेटियस (Lucretius), सिसरो (Cicero), मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius), सेन्ट अगस्टाइन (St. Augustine), थामस एक्यूनस (Thomas Acquinas), दाँते (Dante), थॉमस हाब्स (Thomas Hobbes), जॉन लॉक (John Lock), रूसो (Rousseau), मांटेस्क्यू (Montesquieu) आदि विचारकों ने भी समाज और सामाजिक जीवन के विषय में अपने विचार व्यक्त किए। इस प्रकार अति प्राचीन काल से ही विचारकों का ध्यान व्यक्ति, समाज, व्यक्ति और समाज के संबंधों, सामाजिक घटनाओं और सामाजिक समस्याओं की ओर आकर्षित होता रहा है और उनके संबंध में विचार भी किया जाता रहा है क्योंकि कोई भी समय रहा हो, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, मानव समाज सामाजिक समस्याओं से न मुक्त रहा है और न है। अत: समाज शास्त्र का अस्तित्व चाहे वह लिखित हो या अलिखित, स्पष्ट हो या अस्पष्ट, वैज्ञानिक हो या अवैज्ञानिक, सदैव ही रहा है। जहाँ राबर्ट बीर स्टीट (Robert Bier Stedt) का यह कहना सच है कि, ''समाजशास्त्र का अतीत काफी प्राचीन या लंबा है।'' वहीं गिसबर्ट (Gisbert) का यह कथन भी यथार्थ है कि, ''यदि व्यक्ति स्वभाव से एक दार्शनिक है तो वह स्वभावत: ही एक समाजशास्त्री भी है।''

इस प्रकार समाजशास्त्र का अतीत तो लंबा है लेकिन इतिहास बहुत ही संक्षिप्त है। फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त काम्टे (August Comte) वह पहले विचारक हैं जिन्होंने एक नवीन समाज विज्ञान की कल्पना की और उसको सामाजिक भौतिकी (Social Physics) का नाम दिया, जिसे बदलकर 1938 में उन्होंने उसका नाम समाजशास्त्र (Sociology) रखा। चूँकि काम्टे ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन की सबसे पहले कल्पना की इसलिए उन्हें समाजशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र का उपयोग समाज के पुनर्निर्माण में होना चाहिए। काम्टे के बाद समाजशास्त्र के पृष्ठपोषक जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) और हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) हुए। ये दोनों अंग्रेज थे और इन्होंने समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर उसे एक पूर्ण शास्त्र की संज्ञा प्रदान की। समाजशास्त्र की सर्वाधिक प्रगति संयुक्त राज्य अमेरिका मे हुई। लेस्टर वार्ड (Lester Ward) ने समाजशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया–शुद्ध समाजशास्त्र और व्यावहारिक समाजशास्त्र। शुद्ध समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों अर्थात् जो चीजें जैसी हैं, वर्तमान स्थिति में उनका अध्ययन होता है और व्यावहारिक समाजशास्त्र के अंतर्गत इस बात का अध्ययन होता है कि आज जो स्थिति है उसमें सुधार किस प्रकार हो। फ्रांस में दर्शनिक दुर्खीम (Durkheim) ने भी समाजशास्त्र के विस्तार में बहुत योगदान दिया। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र के अंतर्गत हर चीज का अध्ययन सामाजिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। समाजशास्त्र के विकास में जिन अन्य दार्शनिकों ने सहयोग दिया, उनमें मान्टेन (Montaign), मॉस (Mauss), बकल (Buckle), राबर्टसन (Robertson), टॉनिज (Tonnies), रैजल (Ratzel), मेकाइबर (Maciver), सोरोकिन (Sorokin), पारसंस (Parsons), बार्न्स (Barns), कासर (Coser), पार्क (Park), बरगेस (Burgess), आदि प्रमुख हैं।

क्या आप जानते हैं मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

16.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)

नोट

हिंदी का समाजशास्त्र शब्द अंग्रेजी के 'सोशियोलॉजी' शब्द का रूपांतर है। अंग्रेजी का सोशियोलॉजी शब्द दो शब्दों 'सोशियो' (Socio) और लॉजी (logy) को मिलाकर बना है। सोशियो का अर्थ है समाज से संबंधित और लॉजी का अर्थ है ज्ञान अथवा विज्ञान। इस प्रकार सोशियोलॉजी का शाब्दिक अर्थ है समाज से संबंधित विज्ञान, जो समाज के विषय में अध्ययन करता है। समाज का अर्थ यहाँ मानव समाज से है। इस प्रकार समाजशास्त्र केवल मानव समाज का ही अध्ययन करता है। समाजशास्त्र के स्वरूप से पूर्णतया परिचित होने के लिए विभिन्न विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। कतिपय परिभाषाएँ निम्न प्रकार से हैं–

आगस्त काम्टे–''समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रगति का विज्ञान है।''

गिडिंग्स–''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का व्यवस्थित वर्णन और कारक है।''

मॉरिस गिन्सबर्ग–''समाजशास्त्र मनुष्यों की अंत:क्रियाओं और अंत:संबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

इमाइल दुर्खीम–''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।''

गिलिन एवं गिलिन–''व्यापक अर्थों में समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो मानव समूह के संयोग से उत्पन्न होने वाली अंत:क्रियाओं का अध्ययन करता है।''

मेकाइवर और पेज–''समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का व्यवस्थित अध्ययन है। सामाजिक संबंधों के जाल को हम समाज कहते हैं।''

सोरोकिन–''समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और अनेक प्रकार के अंत: संबंधों का सामान्य विज्ञान है।''

क्यूबर–''समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा कहा जा सकता है।''

मैक्स वेबर–''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषणात्मक बोध कराता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र व्यक्ति और समाज के वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय सभी प्रकार के संबधों की व्याख्या करता है और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है। इसके अंतर्गत उन सभी समूहों का अध्ययन किया जाता है, जिनका प्रभाव व्यक्ति और उसके व्यवहार पर अवश्य पड़ता है। इसके अंतर्गत परंपराओं, रीति-रिवाजों, लोक कथाओं, लोक व्यवहार, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि संस्थाओं, जातियों, अर्थव्यवस्था, आर्थिक, राजनीतिक, अपराध आदि से समस्याओं का अध्ययन होता है। कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समाज के जीवन और कार्य-कलापों का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की समस्याएँ होती हैं जिनका संबंध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों के जीवन से होता है।

16.4 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject Matter of Sociology)

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के संबंध में विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। कतिपय समाजशास्त्रियों के विचार इस प्रकार हैं–

दुर्खीम (Durkheim) ने समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु को तीन भागों में बाँटा है–

1. सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)
2. सामाजिक शरीरशास्त्र (Social Physiology)
3. सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)

जिन्सबर्ग (Ginsberg) ने इसे चार भागों में विभक्त किया है–

1. सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)

नोट

2. सामाजिक नियंत्रण (Social Control)
3. सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Processes)
4. सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)

मोटवानी (Motwani) के अनुसार समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु निम्नलिखित है–

1. समाजशास्त्र उन सिद्धांतों की खोज करता है, जिनके कारण सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्वों में सामंजस्य स्थापित होता है।
2. समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के विकास, प्रगति, कार्यों और अंत:संबंधों की व्याख्या करता है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक संगठन के उन तत्वों की ओर संकेत करता है, जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं।
4. समाजशास्त्र सामाजिक व्याधिकी और अव्यवस्था को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत करता है।
5. समाजशास्त्र उन सामाजिक शक्तियों और कारकों के समन्वय पर बल देता है, जो व्यक्ति और समूह की प्रगति में सहायक सिद्ध होते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. समाज के अस्तित्व पर ही शिक्षा का ..... निर्भर करता है।
   (अ) अस्तित्व (ब) भाग्य
   (स) स्तर (द) इनमें से कोई नहीं
4. शिक्षा और समाज का पारस्परिक संबंध है–
   (अ) कमजोर (ब) बहुत गहरा
   (स) परिस्थितिजन्य (द) इनमें से कोई नहीं
5. समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का है–
   (अ) विज्ञान (ब) शास्त्र
   (स) प्रतिनिधि (द) इनमें से कोई नहीं
6. दुर्खीम ने कहा था कि शिक्षा मूलत: अपने स्वरूप, उद्‌भव एवं प्रकार्य की दृष्टि से है–
   (अ) एक सामाजिक क्रिया (ब) एक असामाजिक क्रिया
   (स) एक सामान्य क्रिया (द) एक असामान्य क्रिया

16.5 शैक्षिक समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Educational Sociology)

शिक्षा और समाज के घनिष्ठ संबंधों ने शैक्षिक समाजशास्त्र को जन्म दिया। दुर्खीम ने कहा था कि शिक्षा मूलत: अपने स्वरूप, उद्‌भव एवं प्रकार्य की दृष्टि से एक सामाजिक क्रिया है। फलत: शिक्षा का सिद्धांत किसी अन्य विज्ञान की अपेक्षा समाजशास्त्र से स्पष्ट रूप से संबंधित होता है। शैक्षिक समाजशास्त्र में समाजशास्त्र के उन सभी सिद्धांतों को अपनाया जाता है जो शिक्षा के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रभावित करते हैं। शैक्षिक समाजशास्त्र पर व्यस्थित रूप से कार्य करने का श्रेय न्यूयार्क विश्वविद्यालय के शिक्षा विभागाध्यक्ष ई. जार्ज पेनी (E-George Payne) को है। 1923 ई. में उन्होंने अमेरिका में 'नेशनल सोसायटी फॉर दि स्टडी ऑफ सोसियोलॉजी' की स्थापना की, जिसने शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में बहुत योगदान दिया। सन् 1928 में जार्ज

नोट

पेनी की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ एजूकेशनल सोसियोलॉजी' (Principles of Educational Sociology) प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने कहा कि यह एक नवीन विज्ञान है, जो समाजशास्त्र व शिक्षा को जोड़ता है। उन्होंने शैक्षिक प्रक्रिया की व्याख्या समाजशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर की। अपनी इस व्याख्या में उन्होंने बताया कि किस प्रकार सामूहिक जीवन पर शिक्षा और समाज का प्रभाव पड़ता है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और इस रूप में वह समाज के उत्थान तथा पुनर्निर्माण का महान् कार्य करती है। सितंबर, 1928 से ही जनरल ऑफ एजूकेशनल सोसियोलॉजी (Journal of Educational Sociology) प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ, जिसने शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक ड्यूवी ने भी शिक्षा में सामाजिक प्रवृत्तियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों 'द स्कूल एंड सोसाइटी' (The School and Society) तथा 'डेमोक्रेसी एंड एजूकेशन' (Democracy and Education) में भी शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया माना, जो व्यक्ति के द्वारा जाति की सामाजिक चेतना में भाग लेने से विकसित होती है। इस दृष्टि से उचित शिक्षा के विधान के लिए सामाजिक चेतना का अध्ययन करना आवश्यक है। शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में जिन अन्य विचारकों ने सहयोग दिया, उनमें फ्रेडरिक लीप्ले (Fredric Leaplay), मूर (Moore), मैरिल (Merril), मेकाइवर (Maclver), कोल (Cole), डंकन (Duncon), ब्राउन (Brown), डेविस (Davis), डोलार्ड (Dollard), क्लार्क (Clark), ओटावे (Ottaway) आदि प्रमुख हैं। इन विचारकों ने कहा कि समाजशास्त्र गतिशील समाज में वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने में शैक्षिक प्रक्रिया के निर्देशन में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा और समाज का समन्वित रूप है। शैक्षिक समाजशास्त्र में व्यक्ति, समाज, सामाजिक समूहों, सामाजिक वर्गों, सामाजिक संस्थाओं आदि का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता है कि इनका व्यक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है और इस आधार पर शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाता है। शैक्षिक समाजशास्त्र के अंतर्गत उन समस्त सिद्धांतों को अपनाया जाता है जो शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रभावित करते हैं। शिक्षा के विभिन्न अंगों–उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, अनुशासन, शिक्षक, विद्यालय, प्रशासन आदि के स्वरूप को समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप शैक्षिक समाजशास्त्र ही निर्धारित करता है।

शैक्षिक समाजशास्त्र की परिभाषाएँ अनेक विचारकों ने दी हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ अग्र प्रकार हैं–

जार्ज पैनी–''शैक्षिक समाजशास्त्र से हमारा तात्पर्य उस विज्ञान से है, जो संस्थाओं, सामाजिक समूहों और सामाजिक प्रक्रियाओं अर्थात् उन सामाजिक संबंधों का, जिनमें अथवा जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अनुभवों को प्राप्त और संगठित करता है, का वर्णन और व्याख्या करता है।''

ब्राउन–''शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्ति तथा उसके सांस्कृतिक वातावरण के बीच होने वाली अंत:क्रिया का अध्ययन है।''

रोसेक–''शैक्षिक समाजशास्त्र समाजशास्त्र का वह पक्ष है, जो आधारभूत शैक्षिक समस्याओं को हल करता है।''

ओटावे–''शैक्षिक समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो शिक्षा और समाज के संबंधों का अध्ययन करता है। यह शिक्षा के उद्देश्यों, विधियों, संस्थाओं, प्रशासन और पाठ्यक्रम को उस समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा निर्धारित करता है, जिसमें उसे क्रियान्वित किया जाता है। व्यक्ति की शिक्षा पर व उसके व्यक्तित्व के विकास पर सामाजिक जीवन व सामाजिक संबंधों का प्रभाव पड़ता है।''

गुड–''शैक्षिक समाजशास्त्र इस बात का वैज्ञानिक अध्ययन करता है कि व्यक्ति सामाजिक समूहों में किस प्रकार रहते हैं, वे कैसी शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा इन सामाजिक समूहों में कुशलतापूर्वक रहने के लिए उनको किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।''

कार्टर–''शैक्षिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के उन तत्वों का अध्ययन करता है, जिनका शैक्षिक प्रक्रिया में महत्त्व है और विशेष रूप से उनका अध्ययन करता है, जो सीखने की महत्त्वपूर्ण योजना और सीखने की क्रिया के नियंत्रण की ओर संकेत करते हैं।''

नोट

16.6 शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य (Aims of Educational Sociology)

हेरिंगटन (Harington) ने शैक्षिक समाजशास्त्र के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. विद्यालय को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों का अध्ययन करना।
2. सामाजिक कारकों का अध्ययन करते हुए, व्यक्ति पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को समझना।
3. सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को समझते हुए शिक्षा के पाठ्यक्रम का सामाजिक दृष्टि से नियोजन करना।
4. समाज के संदर्भ में शिक्षक के कार्य का ज्ञान प्राप्त करना और सामाजिक प्रगति की दृष्टि से विद्यालय के कार्य का ज्ञान प्राप्त करना।
5. लोकतांत्रिक सिद्धांतों को समझना।
6. इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनुसंधान की विधियों का उपयोग करना।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. शिक्षा और समाज के घनिष्ठ संबंधों ने शैक्षिक समाजशास्त्र को जन्म दिया।
8. शिक्षा का कार्य बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है।
9. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से शिक्षा की अवधारणा को समझने में सहायता नहीं मिलती।
10. शिक्षा की प्रक्रिया समाज की संस्कृति से नियंत्रित होती है।

16.7 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Educational Sociology)

शैक्षिक समाजशास्त्र की परिभाषाओं और उद्देश्यों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसके अंतर्गत जिन विषयों का अध्ययन किया जाता है, उनमें प्रमुख विषय निम्न प्रकार हैं–

1. समाज की आवश्यकताओं, परिस्थितियों, समस्याओं और माँगों का अध्ययन करना।
2. सांस्कृतिक वातावरण के संदर्भ में व्यक्ति तथा समाज का अध्ययन करना।
3. विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
4. व्यक्ति और विद्यालय पर समाज के प्रभाव का अध्ययन करना।
5. समाज में शिक्षक के स्थान और महत्त्व का अध्ययन करना।
6. शिक्षक और शिक्षार्थियों के पारस्परिक संबंधों और उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन करना।
7. विद्यालय और स्थानीय सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
8. समाज पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करना।
9. विद्यालय में लोकतांत्रिक भावना का विकास करना।
10. व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन करना।
11. व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षण विधियों का निर्धारण करना।
12. सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संगठन, सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रगति आदि पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करना।
13. सामाजिक जीवन में समाचार-पत्र, रेडियो, टीवी, सिनेमा, पुस्तकालय आदि के स्थान और प्रभाव का अध्ययन करना।
14. व्यक्ति पर संस्कृति के समग्र प्रभावों का अध्ययन करना।

नोट

मारविन ब्रेसलर (Marvin Bressler) के अनुसार शैक्षिक समाजशास्त्र निम्नलिखित विषयों का अध्ययन करता है–

1. शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया पर बाह्य सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव का अध्ययन।
2. व्यापक व्यवस्था के रूप में विद्यालय का व्यवस्थित विश्लेषण करना।
3. शिक्षण कक्ष के अंदर होने वाली सामाजिक अंत:क्रियाओं का समाजिक सिद्धांतों और विधियों के संदर्भ में अध्ययन करना।
4. विद्यालय व अन्य आंतरिक संगठनों का समाज के अन्य साधनों के साथ संबंधों का अध्ययन करना।

शैक्षिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र की समीक्षा करते हुए डैन: डब्ल्यू. डोडसन ने लिखा है कि, ''शैक्षिक समाजशास्त्र की रुचि समस्त सांस्कृतिक समग्र है, जिसमें तथा जिसके द्वारा, व्यक्ति अनुभवों को अर्जित एवं संगठित करता है। विशिष्ट रूप से शैक्षिक समाजशास्त्र इस विषय में रुचि रखता है कि सुव्यक्तित्व विकास के लिए शैक्षिक प्रक्रियाओं का संचालन किस प्रकार किया जाए।''

16.8 शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्य (Functions of Educational Sociology)

1. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के सदस्यों के नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक उत्थान में सहयोग देता है।
2. शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्तियों के विचारों, मूल्यों तथा व्यवहारों को परिवर्तित कर समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करता है।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के उपयोगी रीति-रिवाजों, परंपराओं, धारणाओं और मूल्यों की रक्षा करता है और उनको स्थायी बनाता है तथा दोषपूर्ण कुप्रथाओं और व्यवहारों में संशोधन करता है।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज को गतिशीलता प्रदान करता है।
5. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज के सदस्यों का समाज के साथ समायोजन करने और समाज के आदर्शों तथा मान्यताओं के अनुरूप जीवन व्यतीत करने का प्रशिक्षण प्रदान करता है।
6. शैक्षिक समाजशास्त्र बालकों में समाज में रहने की क्षमता का विकास करता है और उनका सामाजीकरण करता है।
7. शैक्षिक समाजशास्त्र व्यक्तियों के समूहों को समझने, उनके निर्माण की क्रिया को समझने, सामूहिक जीवन को समझने की योग्यता का विकास करता है।
8. शैक्षिक समाजशास्त्र समाज की संस्कृति के संरक्षण तथा विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है।

टास्क शैक्षिक समाजशास्त्र के कार्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

16.9 शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of the Study of Educational Sociology)

शिक्षा का कार्य बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। यह विकास शून्य में नहीं हो सकता। विकास सदैव सामाजिक संबंधों से प्रभावित होता है। बालक के विकास पर उसके परिवार, विद्यालय, समुदाय, संस्कृति आदि का प्रभाव पड़ता है। शैक्षिक समाजशास्त्र में इन सभी का अध्ययन होता है। शैक्षिक समाजशास्त्र की आवश्यकता एवं महत्त्व को निम्नलिखित बिंदुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से समाज और उसके विभिन्न स्वरूपों की प्रकृति और शिक्षा पर उनके प्रभावों का ज्ञान प्राप्त होता है।

नोट

2. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से शिक्षा की अवधारणा को समझने में सहायता मिलती है।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन से समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करने में सहायता प्राप्त होती है।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के कारणों और परिणामों का विश्लेषण किया जाता है, उनके ज्ञान से शिक्षा के पाठ्यक्रम का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा के पाठ्यक्रम के निर्माण में सहायक होता है।
5. शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षण विधियों के निर्माण में सहायक होता है। यद्यपि शिक्षण विधियों के निर्माण का प्रमुख आधार शिक्षा मनोविज्ञान होता है तथापि मनुष्य और समाज के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखते हुए भी शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाता है।
6. शैक्षिक समाजशास्त्र अनुशासन की समस्या को नैतिक अपराध की पृष्ठ-भूमि में न देखकर बालक के सामाजिक वातावरण की पृष्ठ-भूमि में देखता है। इस दृष्टि से शिक्षा में अनुशासन की अवधारणा के स्पष्टीकरण के लिए शैक्षिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता है।
7. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से विद्यालयों के स्वरूप और उनके कार्यों का ज्ञान प्राप्त होता है।
8. शैक्षिक समाजशास्त्र के द्वारा शिक्षक के व्यक्तित्व पर भी सामाजिक दृष्टि से विस्तार किया जाता है। अत: शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक के महत्त्व और योगदान को जानने के लिए इस शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।
9. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से पिछड़े हुए बालकों और अपराधी बालकों की समस्याओं को उनकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया जाता है।
10. शैक्षिक समाजशास्त्र की सहायता से शिक्षा की अन्य समस्याओं का हल खोजने में सहायता प्राप्त होती है।

16.10 शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव (Impact of Educational Sociology on Education)

शैक्षिक समाजशास्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा में अनेक परिवर्तन हुए हैं–

1. जनतांत्रिक तथा लोक-कल्याणकारी शिक्षा के लिए आंदोलन प्रारंभ किया गया।
2. बालकों को अनिवार्य तथा नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रयत्न किए गए।
3. प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रयत्न प्रारंभ किए गए।
4. सरकार ने शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर अनेक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कदम उठाये।
5. विकलांग और मंद बुद्धि बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व भी सरकार ने ग्रहण किया।
6. शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना की गई।
7. शिशु शिक्षा तथा बाल मनोविज्ञान पर बल दिया गया।
8. शिक्षकों के अभाव में शिष्याध्यापक (मॉनीटर) प्रणाली को प्रारंभ किया गया।
9. शिशु सेवा आंदोलन प्रारंभ हुआ, जिससे बालकों को कारखानों आदि में कार्य करने से रोका जाने लगा।
10. राज्यों द्वारा व्यावसायिक, तकनीकी और कृषि शिक्षा की व्यवस्था की गई।
11. शिक्षा के समस्त अंगों–शिक्षा का अर्थ, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा का पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, अनुशासन आदि में भारी परिवर्तन हुए।

16.11 शिक्षा का समाजशास्त्र (Sociology of Education)

शिक्षा एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव है। शिक्षा हमारे संस्कृति की धरोहर है। सदियों से जीवत प्राक् ब्रिटिश भारत में भी वैज्ञानिक संस्कृति विद्यमान थी। इसका

नोट

अस्तित्व कृषि और हस्तशिल्प पर निर्भर था, जिनके लिए खगोलशास्त्र, कृषि विज्ञान, गणित और मशीन विज्ञान की जानकारी आवश्यक थी। प्राक् ब्रिटिश भारत का अपना औषधि विज्ञान भी था। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत का आर्थिक और वैज्ञानिक विकास बहुत कम हुआ था। विश्व के बहुत सारे राष्ट्र जब सभ्य जीव के पथ पर अग्रसर हुए उसके सदियों पहले भारतीयों ने गणित, रसायन और औषधि विज्ञान में पथप्रदर्शक का काम किया। लेकिन संभवत: इसीलिए समाज लगभग उसी पुराने आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर बहुत दिनों तक स्थिर रहा और भारतीय जनजीवन का समुचित विकास नहीं हो सका। भारतीयों ने इस लंबी अवधि में उपनिषद के आदर्शवादी दर्शन के अनेकानेक भाष्य प्रस्तुत किए। लेकिन प्रकृति विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में इसकी देन कुछ विशष नहीं रही। आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ कर अंग्रेज वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान के क्षेत्र में भारत को आधुनिक पाश्चात्य उपलब्धियों के संपर्क में लाए।

शिक्षा का शब्दकोशीय अर्थ है ''चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के विकास के लिए योजनाबद्ध शिक्षण।''

सभी मानव-समाजों में शिक्षा एक आधारमूलक गतिविधि है। शिक्षा जिसे अंग्रेजी भाषा में 'एजुकेशन' कहा जाता है, लैटिन शब्द 'एजुकेअर' से बना है जिसका अर्थ है 'पालन-पोषण करना।' शिक्षा का उद्देश्य ओछे ज्ञान से नहीं अपितु इसे सामाजिक नियंत्रण का औपचारिक साधन माना जाता है। शिक्षा समाजीकरण की एक प्रक्रिया है। यह बच्चे को सामाजिक जीवन के लिए तैयार करती है। यह बच्चों द्वारा गलत ढंग से पूर्व निर्मित विचारों को सुधारती है एवं पूर्वाग्रहों को दूर करती है। शिक्षा लोगों को अनुशासन, सामाजिक सहयोग, सहनशीलता एवं त्याग के सामाजिक मूल्यों का प्रशिक्षण देती है एवं सही सामाजिक मनोवृत्तियों का विकास करती है ताकि वे भविष्य का अच्छी प्रकार सामना कर सके। **प्लेटो** का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य शरीर एवं आत्मा में सभी पूर्णता एवं सौंदर्य का विकास करना है, जिसके वे योग्य हैं। **अरस्तू** के अनुसार, शिक्षा का अर्थ है, ''मनुष्य की क्षमताओं, विशेषतया उसकी मानसिक शक्तियों का विकास करना, ताकि वह सर्वोच्च सत्य, सौंदर्य एवं श्रेष्ठता की अनुभूति का आनंद प्राप्त कर सके।'' समनर के अनुसार, ''शिक्षा शिशु में समूह के लोकाचारों को हस्तांतरित करने का प्रयत्न है, ताकि वह सीख सके कि ''क्या आचरण स्वीकृत है अथवा क्या वर्जित; उसे किस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करना चाहिए, उसके विश्वास क्या होने चाहिए एवं क्या नहीं होने चाहिए।'' **ब्राउन** तथा **रूसेक** के अनुसार, ''शिक्षा अनुभव की वह संपूर्णता है जो किशोर और वयस्क दोनों की अभिवृत्तियों को प्रमाणित करती है तथा अनेक व्यवहारों का निर्धारण भी करती है।'' एंडरसन के अनुसार, ''शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति ऐसी बातें सीखता है जो उसे समाज के जीवन के प्रति स्वयं को समायोजित करने के योग्य बनाती हैं।'' **दुर्खीम** ने शिक्षा को 'किशोर पीढ़ी का समाजीकरण' बतलाया है। उसने लिखा है, ''यह वास्तव में शिशु के ऊपर सोचने, अनुभव करने, कार्य करने के ढंगों को आरोपित करने का निरंतर प्रयास है जिसे वह सहज रूप में नहीं सीख सकता था।''

अपने व्यापक अर्थ में शिक्षा को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा किसी समूह की सामाजिक विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है एवं शिशु सामाजिक व्यवहार के नियमों को सीखता है। यह वयस्क भूमिकाओं को बाद में अपनाने हेतु किशोर का सचेतन प्रशिक्षण है। यह समाजीकरण का समानार्थक है। यह भावी पीढ़ी के विकास को जीवन के सामाजिक आदर्शों के अनुरूप बनाता है। **गाँधी जी** के शब्दों में, ''शिक्षा से अभिप्राय है बालक अथवा मनुष्य में जो कुछ श्रेष्ठतम है, उसका संपूर्ण विकास करना, अर्थात् शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों का संपूर्ण विकास।''

'शिक्षा' शब्द का सीमित या विस्तृत दोनों अर्थों में इस्तेमाल किया जा सकता है। विस्तृत अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य एक प्रक्रिया से है जो जीवन भर चलती रहती है और जो जीवन के किसी भी अनुभव से आगे बढ़ सकती है। इस अर्थ में शिक्षण-सामग्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिलती है। अनुभव की कोई भी चीज छोड़ी नहीं जा सकती। इस व्याख्या के अनुसार जीवन जीने का मतलब सीखना है। अगर हम अपने भूतकाल की खोजबीन करें तो पाते हैं कि जीवन का सबसे बड़ा अनुभव हमने अप्रत्याशित जगहों में से पाया है। तात्पर्य यह कि हमने ऐसी शिक्षा पाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया है। ''यह जीवन की समस्याओं से, जिनसे हम जूझते हैं, प्रकृति के प्रभावों व सुझावों से, अपने लोगों से मिलने से और प्राय: अपनी असफलताओं और दु:खों से हमारे पास आती है।''

नोट

शिक्षा की यह अवधारणा मुख्यत: उस प्रक्रिया पर जोर देती है जिनसे व्यक्तित्व विकसित होता है और जिनसे हम मनुष्य और मनुष्य के बीच के संबंधों को तथा आदमी और ब्रह्मांड के संबंधों को पहचानते हैं।

संकीर्ण अर्थ में 'शिक्षा' का मतलब सचेतन रूप से निर्देशित क्रिया कलाप है जिससे हम अपनी शक्तियों को ''विकसित करते हैं।'' जो शिक्षा हम स्कूल और कालेज में पाते हैं वह इसके अंतर्गत आती है। शिक्षक अपने शिष्यों के समक्ष विचारों और बिंबों को रखता है ताकि एक खास दिशा में उनका मानसिक और मनोवैज्ञानिक विकास हो। विद्यार्थी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट होते हैं। **प्रोफेसर डेवी** ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एंड एजुकेशन' में 'अभिप्राय' का जिक्र इस अंतर को बताने के लिए किया है कि शिक्षा अचेतन रूप से आती है या इसका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

हम सामान्यत: शिक्षा शब्द का इस्तेमाल इसी संकीर्ण अर्थ में करते हैं। अभिप्राय यह है ''ये एक ऐसी प्रक्रिया है जो राज्य या परिवार या सत्ता के किसी अन्य रूप द्वारा सजगतापूर्वक नियोजित-निष्पादित होती है और इसका प्रयोजन युवजनों को महत्त्वपूर्ण समझे जानेवाले किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। यह एक ऐसा लक्ष्य अथवा साध्य है जिसके अंतर्गत व्यक्तित्व के सामान्य विकास का तत्व शामिल हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।''

पूर्वसाक्षर समाजों में शिक्षा प्राय: अनौपचारिक प्रकार की थी तथा वयस्क-संबंधी अनिवार्य समझे जाने वाले सामाजिक मूल्यों के हस्तांतरण में भाग लेते थे। पर्यवेक्षण एवं प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा बालक लोकरीतियों एवं लोकाचारों के ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रविधियों एवं कुशलताओं का प्रशिक्षण अर्जित कर लेता था। यद्यपि यह अधिकांशतया अनौपचारिक होती थी, तथापि यह औपचारिक तत्वों में पूर्णतया रहित नहीं थी। प्रशिक्षण के औपचारिक प्रकार में दीक्षा-संस्कार सम्मिलित थे। दीक्षा-संस्कार प्राय: विशुद्ध होते थे जिनमें शिक्षण, दिव्य परीक्षा एवं परीक्षण कार्य सम्मिलित होता था। **मारगरेट मौड** के अनुसार, कुछ आदिम समाजों, यथा माओरी में पुरोहितों के औपचारिक प्रशिक्षण-हेतु धार्मिक विद्यालय होते थे। उनमें शारीरिक दंड का नितांत अभाव था, तथापि अनुशासन अनुकरणीय होता था। वे आज्ञाकारी होते थे एवं बाह्य अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि औपचारिक प्रकार की शिक्षा का प्रागैतिहासिक समाजों में पूर्णतया अभाव नहीं मिलता, तथापि आधुनिक शिक्षा-प्रणली की भाँति विशाल शिक्षण-कक्ष, विशाल अध्यापक-वर्ग, परीक्षा-प्रणाली, प्रमाण-पत्र आदि की व्यवस्था नहीं होती थी। आधुनिक औपचारिक शिक्षा के विपरीत, उस समय शिक्षा का अभिप्राय था कि एक संतति का भावी संतति के साथ संपर्क स्थापित रखा जाए। कृषक के बालक को जमींदार अथवा जमींदार के बालक को वकील नहीं बना दिया जाता था।

मध्य युग–सभ्य समाजों में ही शिक्षा ने संस्थायीकृत रूप धारण किया। औपचारिकता की मात्रा, विषय-वस्तु एवं उद्देश्य सभ्यता में प्रकार के अनुसार विभिन्न थे। यूनान में, पाठ्यक्रम साहित्य, संगीत एवं व्यायाम पर आधारित था जिसमें गणित एवं इतिहास के विषय को जोड़ दिए गए। रोम में व्याकरण, साहित्य एवं अलंकारशास्त्र का अध्ययन उच्च शिक्षा का अंग था। मध्य युग में सात उदार कलाओं-व्याकरण, अलंकारशास्त्र, शास्त्रीय विषय गणित, रेखागणित, संगीत एवं ज्योतिष की शिक्षा मठों, ईसाई आश्रमों एवं गिरजाघरों के स्कूलों में दी जाती थी। सोलहवीं शताब्दी में ईसाई समाज के सदस्यों ने पाठ्क्रमों में इतिहास, भूगोल, पुरातत्वशास्त्र, पुरावशेष विद्या को जोड़ दिया। दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र उच्चतर अध्ययन की अंतिम अवस्था में सम्मिलित थे। भारत में विद्यार्थियों को जिन विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता था, उनमें छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार, साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म, गणित एवं ज्योतिष के विषय सम्मिलित थे। तक्षशिला के विख्यात विश्वविद्यालय में विज्ञान, कला एवं तीनों वेदों तथा अठारह कलाओं की शिक्षा का संपूर्ण पाठ्यक्रम प्रचलित था।

पाठ्यक्रम का अंतर विभिन्न लोगों की सामान्य सांस्कृतिक समाकृति में विभिन्नताओं के कारण था। शिक्षा अति अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित थी। अधिकांश लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं था। विद्यालयों की स्थापना प्रमुखतया धार्मिक संप्रदायों द्वारा की जाती थी।

धर्म-निरपेक्ष, शिक्षा-विज्ञान, वाणिज्य एवं उद्योग के विकास एवं पुनर्जागरण तथा प्रोटेस्टैंट सुधार आंदोलन के साथ-साथ शिक्षा का लौकिकीकरण आरंभ हुआ। परंतु इस प्रकार की धर्म-निरपेक्ष शिक्षा को उन्नीसवीं शताब्दी में ही स्वीकार किया गया। धर्म-निरपेक्ष के साथ-साथ शिक्षा लोकप्रिय भी हुई। यह अब केवल कुछेक लोगों

नोट

तक ही सीमित नहीं रही। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा के लौकिकीकरण एवं लोकप्रिय बनने के दो कारण थे–दृढ़ राष्ट्रीय राज्यों का विकास तथा प्रजातंत्र का प्रसार। प्रजातंत्र ने शिक्षा के उद्देश्यों को व्यापक बनाया। प्रजातंत्र के अस्तित्व के लिए सार्वलौकिक शिक्षा को अनिवार्य समझा गया। प्रजातंत्र का शिक्षा पर एक प्रभाव इसे जन-रूप प्रदान करना था। लोग जनशिक्षा के महत्त्व से परिचित हुए, जिसने बाद में अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा के विचार को जन्म दिया। शिक्षा-प्रणाली को बदलने में प्रजातंत्र की विशेष भूमिका रही है। इसके साथ ही प्रौद्योगिकी के विकास ने भी पाठ्यक्रम में अनेक परिवर्तनों को आवश्यक बना दिया। पूँजीवाद एवं इसकी प्रौद्योगिकी ने विविध प्रकार के कौशलों एवं अनुकूलनों की आवश्यकता को उत्पन्न किया जिसके लिए भूतकालीन व्यवस्था में कोई मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं था। अब शिक्षा विशिष्ट प्रशिक्षण बन गई है जिसमें उदार शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। इसे विकासशील एवं परंपरा-ध्वंसक अर्थ-व्यवस्था की नई माँगों को पूरा करने के लिए अनुकूलित किया जा रहा है। हमारे विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षक होते हैं, उनमें काफी धन लगा हुआ है तथा विद्यार्थियों का विशाल समूह होता है। उनका उद्देश्य केवल वर्तमान ज्ञान को संचरित करना ही नहीं है, अपितु नए ज्ञान की खोज करना भी है।

शिक्षा का सामाजिक पक्ष

शिक्षा का प्राथमिक कार्य बच्चे को अपना व्यक्तित्व विकसित करने और अपने अंदर अच्छी आदतें डालने की ओर प्रवृत्त करना तथा उसे बड़े समुदाय के जीवन में प्रवेश दिलाना है। इसलिए प्रत्येक समाज में बच्चे को सबसे पहले यह सिखाया जाता है कि समाज में कौन-सी चीज सबसे सरल और सबसे अच्छी है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही अरस्तू ने बच्चे की प्राथमिक शिक्षा में संगीत और परियों की कहानियों के इस्तेमाल पर जोर दिया। उनके अनुसार अच्छा संगीत दुनिया की अच्छाई को प्रतिबिंबित करता है। इसी से संगीत सुनने वाले को दुनिया के उद्देश्यों से जुड़ाव हो जाता है। सभी अच्छी कलाओं में संगीत सबसे प्रभावशाली साधन है जिसमें गुणों की साफ तस्वीर झलकती है। आधुनिक समय में किंडरगार्टन विद्यालयों एवं नर्सरी स्कूलों में संगीत शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल होता है। प्रारंभिक शिक्षा में दूसरे प्रभावशाली माध्यम प्रगीत, कविता और बच्चों की कहानियाँ हैं।'' ''सामाजिक दर्शन की रूपरेखा में जे.के. मैकरिज ने लिखा है कि कोई उत्कृष्ट विचार या गहरे अनुभव से भरी कोई कहानी या फिर किसी अमर मुहावरे में प्रयुक्त कोई बात आसानी से दिल में समा जाती है, देर तक याद रहती है, सदा के लिए खुशी के रूप में हृदय के किसी कोने में बैठ जाती है और पूरी जिंदगी भर एक प्रेरणास्त्रोत बनी रहती है।'' इस आलोक में संगीत, कविता और परियों की कहानियाँ कानून को लागू करने का आधार प्रदान करती हैं। कानून जनता की बेहतरीन परंपराओं को निश्चितता और स्थायित्व देता है परंतु इनकी क्षमता इस बात पर आधारित होती है कि किस हद तक जनता की परंपरा लोगों के दिलो-दिमाग में समाई हुई है।

बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय उनके लोगों की भाषा है, ''जिनमें ज्ञान, अंतर्दृष्टि, उद्देश्य और आदर्श, अहंकार और सीमाएँ आदि सब कुछ निहित होती है।'' इसके साथ ही प्रकृति का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है जो बच्चे का उसके पर्यावरण के साथ रिश्ते का अध्ययन है। **टैगोर** ने ऐसी शिक्षा पर जोर दिया क्योंकि उनके अनुसार यह दिमाग खोलने का सबसे अच्छा और प्रभावशाली तरीका है। यह देखने से शुरू होता है, परंतु जल्दी ही मनन-चिंतन इसका है और अंतत: यह मानव जीवन एक घटक हो जाता है।''

जब बच्चा काफी बड़ा हो जाता है, तब उसमें विवेचना-शक्ति आ जाती है। फिर वह व्याकरण, अंकगणित, रेखागणित और नैतिकता की साधारण धारणाओं और धर्म की मान्यताओं संबंधी अंतर्दृष्टि, जिनके जरिए आदमी ब्रह्मांड तथा इससे अपने संबंध की व्याख्या करता है और इससे संबंधित जीवन-मरण के अंतिम प्रश्नों को सीखने के लिए अभिप्रेरित हो जाता है।

इसलिए विद्यालय का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य नई पीढ़ी को सामाजिक बनाना, उन्हें मूल्यों और आदर्शों से लैस करना तथा समुदाय की परंपराओं से अवगत कराना है। परंतु समाजीकरण की यह प्रक्रिया एक समान 'पैटर्न' पर नहीं चलती। यह विभिन्न समाजों में विभिन्न रूप अख्तियार करती है। इस प्रकार प्राचीन भारत में औपचारिक शिक्षा ब्राह्मणों द्वारा दी जाती थी। ''वे ज्ञान के भंडार और हिंदू जीवन के निर्देशक थे।'' प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुसार एक बच्चा पाँच वर्ष की आयु में वर्णमाला सीखने से अपनी पढ़ाई शुरू करता था। शिक्षा पद्धति का जोर जीवन पर ज्यादा और शिक्षण पर कम था। इस प्रारंभिक शुरूआत के बाद विद्यार्थी को शारीरिक और

नोट

आध्यात्मिक अनुशासन से गुजरना होता था। टोल, विद्यालय और चतुस्पथी आगे आने वाली पीढ़ियों को धार्मिक व सांस्कृतिक परंपराओं की शिक्षा देने के लिए एजेंसी के रूप में काम करते थे। सभी समाजों में बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा की समान व्यवस्था थी। भिन्नता इतनी ही थी कि पश्चिमी, इस्लामी समाजों या चीन की अपेक्षा भारत में धार्मिक शिक्षा ज्यादा प्रभावशाली थी। यद्यपि साधारण समाजों में शिक्षा अलग क्रियाकलाप के रूप में संगठित नहीं थी। यह परिवार और दूसरे प्राथमिक समूहों द्वारा प्रदान की जाती थी या फिर पूरे समाज द्वारा ''जीवन के प्रत्येक दिन की चर्या'' में भाग लेने से मिलती थी।

शिक्षा बच्चे को अच्छे नागरिक का दायित्व सिखाती है। जो लोक शैक्षिक और मानसिक रूप से बुनियादी शिक्षा से आगे ज्ञान में वृद्धि के लिए यानी ज्ञान को सही समस्याओं में प्रयुक्त करने के लिए, जैसे कानून, दवाई, अभियांत्रिकी आदि की दृष्टि से पढ़ना चाहते हैं उन्हें यह सब कुछ कॉलेजों व विश्वविद्यालयों में मिलेंगे। महाविद्यालय विद्यार्थी को देने के लिए प्रस्तुत रहता है और उनके आगे बढ़ने का रास्ता प्रशस्त करता है। कालेज का मुख्य काम उच्च प्रकार की उदार शिक्षा देना है जो स्कूल से नहीं मिलती। यद्यपि कालेज की पढ़ाई स्कूल की पढ़ाई से ज्यादा विशिष्ट होती है, परंतु फिर भी ये अध्ययन सामान्य ज्ञान बढ़ाने को ज्यादा प्रवृत्त हैं न कि ज्ञान और कुशलता बढ़ाने के लिए। दूसरी तरफ विश्वविद्यालय में अध्ययन निस्संदेह विशिष्ट होता है और इस रूप में होता है कि विद्यार्थी उन विषयों का विशेष अध्ययन करें जिनके प्रति उसकी रुचि दिखाई दे। विश्वविद्यालय विशेष विभागों में शोध को भी प्रोत्साहित करता है। कालेजों और विश्वविद्यालयों के अलावा तकनीकी संस्थान हैं, जो ज्यादा तकनीकी ढंग का प्रशिक्षण देते हैं, और एक विद्यार्थि को विशिष्ट शिक्षा देते हैं जिसके लिए वह प्रकृति और अपनी योग्यता के लिहाज से उपयुक्त है।

प्राचीन समाज में, जब आधुनिक विज्ञान का उदय नहीं हुआ था, तकनीकी शिक्षा प्राय: परिवार और पेशेवर समूहों द्वारा अनौपचारिक तथा प्रायोगिक ढंग से दी जाती थी। उस समय आज की तरह शिक्षा देने के लिए विशेष संस्थान नहीं थे। उदाहरण के लिए बढ़ई या लुहार के घर में जन्मा एक बच्चा अपने पेशे की योग्यता अपने परिवार के सदस्यों से अनौपचारिक रूप से सीखता था। खासकर ग्रामीण भारत में आज भी तकनीकी शिक्षा का यही हाल है।

पूरे समाज के लिए शिक्षा के प्रकार्य

एमिल दुर्खीम के अनुसार शिक्षा का सबसे प्रमुख प्रकार्य समाज के नियमों व मूल्यों को परिवर्तित करना है। ''समाज केवल तभी जिंदा रह सकता है अगर इसके सदस्यों के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता हो। शिक्षा इस एकता को पैदा करती है और फिर इसे स्थापित करती है। यह बच्चों में शुरू से आवश्यक समानताएँ तय करती है जो सामूहिक जीवन की माँग है।'' हर समाज की प्रमुख जिम्मेदारी है कि सभी व्यक्तियों को सामूहिक रूप से एकताबद्ध करें। व्यक्तियों में समाज के प्रति अपनत्व की भावना होनी चाहिए। **दुर्खीम** कहते हैं कि शिक्षा व्यक्ति और समाज को मूल्यों और आदर्शों, समुदाय की परंपरा एवं चिंतन के बारे में बताकर उन्हें सिद्धांत से लैस करती है और व्यक्ति तथा समाज के बीच आवश्यक एकता प्रदान करती है।

दूसरे, दूर्खीम तर्क देते हैं कि विद्यालयों द्वारा जो औपचारिक शिक्षा दी जाती है वह परिवार या किसी सम्मानित समूह द्वारा नहीं दी जा सकती। परिवार वंशगत लोगों का समूह है, जो आपस में खून के रिश्ते से बँधे होते हैं। परिवारिक रिश्ते इसीलिए प्रेम और आत्मीयता, भावनाओं और अनुसूचियों के रंग होते हैं। एक व्यक्ति वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार अपने परिवार से आगे नहीं देखता और बड़े समाज में रहते हुए इसके आश्वासनों और इसकी समस्याओं से अवगत होता है। अच्छे भले लोग अपनी पसंद के होते हैं। स्वभावत: सम्मानित समूह की सदस्यता किसी व्यक्ति को बड़े समाज के लिए तैयार नहीं करती। दूसरी तरफ विद्यालय व्यवस्था कठोर व्यवस्था है जिसमें एक विद्यार्थी अपने स्कूल के दूसरे विद्यार्थियों के साथ कुछ निश्चित नियमों के अनुसार मिलते-जुलते हैं। **दुर्खीम** के शब्दों में–''विद्यालय के नियमों का सम्मान करने से ही बच्चा सामान्य नियमों का सम्मान करना सीखता है। वह आत्म नियंत्रण और आत्मसंयम की आदत विकसित करता है। कर्तव्य-पालन के लिए यह पहल है जो यह जताता है कि गंभीर जीवन अब शुरू हो गया है।'' टालकोट पार्सन्स के शब्दों में–एक परिवार या सम्मानित समूह विशेषीकृत नियमों को मानते हैं जबकि विद्यालय विश्वव्यापी नियमों का अनुपालन करते हैं। इस प्रकार विद्यालय को उनकी प्रौढ़ भूमिका के लिए तैयार करता है।

तीसरे, दुर्खीम तर्क देते हैं कि औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ सामान्य मूल्यों को सिखाने के अलावा जो सामाजिक

नोट

उत्तरजीविता के लिए आवश्यक एकरूपता विशिष्ट कौशलों का प्रसार भी करती है जो 'सामाजिक सहयोग के लिए आवश्यक विविधता' प्रदान करते हैं। पूर्व औद्योगिक समाजों में तकनीकी कुशलता मुख्य रूप से परिवार और पेशेवर समूह द्वारा अनौपचारिक और व्यावहारिक रूप से सिखाई जाती थी। इस प्रकार एक बच्चा, जो बढ़ई के घर पैदा होता था, अपने परिवार के सदस्यों द्वारा अनौपचारिक रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। औद्योगिक समाज बहुत ही विशिष्ट और जटिल हो गया है, जो उच्च कोटि की कुशलता की माँग करता है। श्रम का जटिल विभाजन, जो औद्योगिक समाज की एक पारिभाषिक विशेषता है, सामाजिक एकात्मता को निरंतर मजबूत करने की प्रवृत्ति जताता है। इसे वह सावयवी एकता कहते हैं। औद्योगिक समाज इस प्रकार मूल्य सहमति और श्रम विभाजन के विशेषीकरण के आधार पर संसक्तता व एकीभवन हासिल करता है। यह आपसी निर्भरता को जीवन की एक शर्त मानता है।

चौथे, शिक्षा का उद्देश्य, जैसा कि **दुर्खीम** कहते हैं, ''बच्चों में उन शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक स्तरों को जागृत करना है जो उसकी तकदीर के अनुसार विकास के लिए विशेष रूप से जरूरी हैं।'' दुर्खीम के इस कथन को व्यापक बनाने के लिए बॉटमोर कहते हैं–''शिक्षा का कार्य बच्चे को विशेष गुणों के आधार पर विशेष रूप से शिक्षित करना है। इसका परंपरागत अर्थ है–सामाजिक संस्तरण में उसे विशेष समूह की सदस्यता के लिए तैयार करना।'' लगभग सभी समाजों में सामाजिक विभाजन का अस्तित्व है। जहाँ कहीं भी सामाजिक वर्गीकरण की व्यवस्था है वहाँ शिक्षा पद्धति में भी उसी प्रकार को भिन्नता है। वर्ग विभाजन शिक्षा पद्धति में प्रतिबिंबित होता है सच तो यह है कि शिक्षा वर्गीय विशेषाधिकारों और स्वार्थों को बनाए रखने के लिए अभिकर्ता के रूप में इस्तेमाल होती है। इससे वर्ग-भेद बने रहते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत में उच्च जातियों के बच्चों की शिक्षा, बहुसंख्यक बच्चों की शिक्षा से काफी भिन्न थी। पहले वर्ग की शिक्षा पुश्तैनी पंडितों द्वारा होती थी, जिसमें बहुत हद तक धर्मनिरपेक्ष मूल्य उपस्थित होते थे और यह मुख्य रूप से धार्मिक तथा वैदिक पुस्तकों के अध्ययन से संबंधित थी। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ पुरानी शिक्षा-व्यवस्था का पतन हो गया। परंतु अंग्रेजी शिक्षा को लागू करने के निर्णय ने अंग्रेजी शिक्षा पाने वालों को पूरे समाज से अलग कर दिया। भारत की आजादी के छह दशकों के बाद भी विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूलों के कारण वर्ग-विभाजन है। इस प्रकार के शैक्षिक भेद सभी आधुनिक समाजों में हैं चाहे वे अत्याधुनिक सिद्धांतों के प्रति कितने भी प्रतिबद्ध क्यों न हों।

पाँचवीं शिक्षा का महत्त्व सामाजिक नियंत्रण की एक एजेंसी के रूप में है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। दुर्खीम के अनुसार इसका उद्देश्य बुजुर्ग पीढ़ी द्वारा समाज के मानदंडों व मूल्यों का उन लोगों के बीच स्थानांतरण करना है जो सामाजिक जीवन के लिए तैयार नहीं है। एक बार अगर कोई बच्चा बौद्धिक विवृत्ति या अंतर्दृष्टि पा लेता है तो उसके क्रियाकलाप और आचार-व्यवहार भी बौद्धिक हो जाते हैं। सामाजिक नियमों और मूल्यों के प्रति एकरूपता आसान और स्वत:स्फूर्त हो जाती है। एक तरफ समाज और दूसरी तरफ व्यक्ति के बीच दृढ़ता स्थापित हो जाती है। इस संदर्भ में देखने पर शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का बहुत ही प्रभावशाली और शक्तिशाली एजेंसी लगती है। समाजिक नियमन लागू करने का प्रश्न तभी उठता है जब लोक सामाजिक रूप से विपथगाामी हों या मानदंडों से विचलन लागू करने का प्रश्न तभी उठता है जब लोग सामाजिक रूप से विपथगामी हों या मानदंडों से विलिन की प्रवृत्ति रखते हों। सामाजिक निषेधों को लागू करना उस हाल में अनावश्यक है जब शिक्षण एजेंसियाँ प्रभावशाली ढंग से सामाजिक नियमों और मूल्यों को व्यक्तियों में जीवन के सीखने वाले समय में स्थानांतरित करें।

आधुनिक समय में कुछेक शर्तों की वजह से शिक्षा सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कम प्रभावशाली हो गई है। उदाहरण के लिए, प्रारंभिक समाज में साक्षरता का इतना महत्त्व था कि यह शक्ति और सम्मान का आधार थी। शिक्षक भी प्रतिष्ठा और सम्मान से स्वाभाविक रूप से खुश थे। इसलिए शिक्षकों के लिए सामाजिक परंपराओं और मूल्यों के अनुसार बच्चों के आचरण को ढालने और पढ़ाने में कठिनाई नहीं थी। औद्योगीकृत व्यवस्था की स्थापना के साथ मूल्यों के प्रतिमान बदल गए हैं। शिक्षा नहीं बल्कि धन आधुनिक औद्योगिक समाज में सम्मान का आधार हो गया है। इसने शिक्षकों के सम्मान को कुछ हद तक कम कर दिया है। इसके अलावा, आधुनिक दुनिया में जन-साक्षरता के प्रचार के कारण शिक्षकों के सम्मान में ह्रास हुआ है क्योंकि ''अब वह शिक्षित व्यक्ति के रूप में अलगाया नहीं जाता।'' इसी उद्देश्य को पूरा करने वाला एक और तथ्य है। आजकल

नोट

शिक्षकों द्वारा सिखाए जाने वाले मूल्य अधिकारिक नहीं हैं। उनका परिवार, धार्मिक समूह और संचार माध्यमों द्वारा प्रचारित मूल्यवोध से प्रतिस्पर्धा करनी होती है। इस प्रकार आधुनिक समाज में विभिन्न प्रकार के आचरण और विभिन्न एजेंसियों के सामाजिक नियंत्रण के बीच झगड़े की संभावना बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए भारत धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों का पालन करता है। इसलिए भारतीय विद्यालय कोई धार्मिक शिक्षा नहीं देते। इस परिस्थिति में एक लड़का या लड़की जो बहुत ही अनुदार परिवार से आता/आती हैं, जिसकी अपनी धार्मिक परंपरा है, राज्य शिक्षा के धर्म-निरपेक्ष चरित्र और परिवार के धार्मिक मूल्यों के अंतर्विरोध के द्वन्द्व में पड़ जाती है।

शिक्षा एवं समानता

इस युग में जब हम प्रजातंत्र के नाम पर कसमें खाते हैं, सबको एक समान शिक्षा देने का आदर्श प्रजातांत्रिक प्रक्रिया के एक घटक के रूप में स्वीकारा जाता है। सभी समाजों में शिक्षा की असमानता को धीरे-धीरे कम किया जा रहा है। लेकिन अनुभव बताता है कि फल की समानता शिक्षण संबंधी अवसर की समानता से तालमेल स्थापित नहीं कर पायी है। जनसंख्या के एक हिस्से की सांस्कृतिक वंचना या विहीनता समान फल की प्राप्ति के रास्ते में अनेक बाधाओं में से एक है। हम भारत के पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बच्चों के बारे में विचार करें। इस प्रकार के और भी बहुत सारे समूह हो सकते हैं, जिन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। सांस्कृतिक रूप से वंचित छात्र की विशेषता यह है कि उसका परिवेश आर्थिक अर्थ में गरीबी से युक्त होता है और साथ ही सांस्कृतिक अर्थ में भी निर्धन होता है। ''वह अपनी माँ की परंपरागत लोरी सुने बिना, नर्सरी प्रगीतों के ज्ञान के बिना, और अपने देश की लोक गाथाओं के ज्ञान के बिना स्कूल में पहुँचा हो सकता है।'' दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक रूप से वंचित एक बच्चा बौद्धिक स्रोतों के खुलेपन से प्रफुल्लित होकर अपने घर और परिवेश से स्कूल नहीं आता जिसे वह ठीक ढंग से जवाब दे सके।

सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के मामले शिक्षा में समानता के जनवादी आदर्श के समक्ष समस्या उत्पन्न करते हैं। शैक्षिक समानता के आदर्श के लिए अंतर्निहित सिद्धांत यह है कि सभी विद्यार्थियों को समान शिक्षा के अवसर देने से प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी योग्यता का उपयोग करने का पूरा अवसर मिलेगा। परंतु यह क्रमशः स्पष्ट हो गया है कि ''एक समान राज्य शिक्षा व्यवस्था प्रत्येक को समान अवसर नहीं देगी, क्योंकि बहुत सारे लोग इस व्यवस्था के गले में सांस्कृतिक विहीनता की चक्की लटका कर यात्रा करेंगे।''

इस समझदारी ने शैक्षिक समानता के अवसर के सिद्धांत को बदल दिया है। पहले यह समझा जाता था कि शिक्षा की समानता की जरूरत को तब हम पूरा कर लेते हैं जब शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश सबके लिए समान ढंग से सुलभ हो जाती है। अब यह तर्क दिया जाता है कि शैक्षिक समानता के अवसर तभी रह सकते हैं जब सभी सामाजिक समूहों द्वारा ग्रहण करने का स्तर समान होता है। तात्पर्य यह है कि अब सब कुछ अवसर की समानता से हटकर परीक्षाफल की समानता पर आ गया है।

अगला सवाल है कि परीक्षाफल की समानता को निश्चित कैसे किया जाए? यह सुझाव दिया गया है कि आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ों को कुछ क्षतिपूर्ति दी जाए। यह माना जाता है कि इस प्रकार क्षतिपूर्ति के उपाय सांस्कृतिक रूप से वंचितों को मुक्त रूप से सभी सुलभ अवसरों से लाभ उठाने का मौका देंगे अर्थात् जो लोग पिछड़ रहे हैं उनको सहायता देंगे जिससे वे लोग जो उतने अभाव में नहीं हैं उनकी प्रतिस्पर्धा समान रूप से कर सकें। सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के विरुद्ध भेदभाव बरतने के सिद्धांत के पीछे यही विचारधारा काम कर रही है। इसका मतलब यह है कि सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों के लिए अतिरिक्त शैक्षिक व्यवस्था होनी चाहिए।

पूरक शिक्षा कार्यक्रम राष्ट्रपति जॉनसन के गरीबी के खिलाफ युद्ध के हिस्से के रूप में अमेरिका में बहुत जोर-शोर से चलाया गया। अरबों डॉलर ''ऑपरेशन हेड स्टार्ट'' में झोंक दिए गए। संपूर्ण देश के निम्न आय वाले क्षेत्रों में विद्यालय पूर्व के शिक्षण कार्यक्रम बड़े पैमाने पर चलाए गए। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सांस्कृतिक रूप से वंचित बच्चों को शैक्षिक वातावरण प्रदान करना और उन्हें शिक्षा की समानता के अवसरों का पूरा लाभ उठाने के लिए प्रेरित करना था। यह रिपोर्ट आई कि परिणाम उत्साहजनक नहीं रहा। इंग्लैंड में कुछ चुनिंदा इलाकों में जिन्हें शैक्षिक प्राथमिक क्षेत्र कहते हैं, पूरक शिक्षा 1960 के अंत में शुरू हुई। पूरक शिक्षा के कार्यक्रम इन इलाकों में लागू किये गए हरालांबोस कहते हैं–''परिणामों का मूल्यांकन यद्यपि कठिन है, फिर भी प्राथमिकता

नोट

वाले क्षेत्रों से रपट निराशाजनक है।'' अमेरिका और इंग्लैंड में पूरक शिक्षा कार्यक्रम की असफलता के कारण हैं? यह संदेहास्पद है कि भारत में भी रक्षात्मक भेदभाव उपाय ने प्रत्याशित परिणाम दिए हैं। इसे कैसे समझा जाए?

यह तर्क दिया जाता है कि शैक्षिक संस्थानों में बच्चों पर सिर्फ ध्यान देने के बजाय परिवेश को सुधारने की दिशा में प्रयास होना चाहिए जिससे संपूर्ण समुदाय और परिवार गहरे रूप से प्रभावित हों। ''आप विद्यालय में कितना काम करते हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि घर की अनौपचारिक सहायता के बगैर आप कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकते।'' यह सुझाव दिया गया कि एक सामुदायिक विद्यालय, जो स्कूल और समुदाय से जुड़ा हो स्थापित किया जाए। आगे यह सुझाव दिया गया कि माता-पिता को बच्चों की मदद करने के लिए शिक्षित किया जाए। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय साक्षरता कार्यक्रम जो भारत सरकार द्वारा 1978 से चलाया जा रहा है, का उद्देश्य समुदाय के 15 से 35 वर्ष की आयु के प्रौढ़ लोगों को शिक्षित करना है, जिससे वे नौजवानों को उपलब्ध शिक्षा के अवसरों का सबसे अच्छा इस्तेमाल करने के लिए उत्प्रेरक सिद्ध हो सकें।

यद्यपि पूरक शिक्षा के विचार के अनेक समर्थक हैं, पर इसे आलोचक भी हैं जो इस विचार और इसके सैद्धांतिक आधार की आलोचना करते हैं। आलोचक तर्क देते हैं कि सांस्कृतिक वंचना का सिद्धांत दिखाबा है जो शैक्षिक वंचना को छिपाने के लिए प्रयुक्त होता है। यह कहा जाता है कि समस्या सामाजिक और आर्थिक है और इसे इसी रूप में हल किया जा सकता है। पूरक शिक्षा इस मूल समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता। आलोचक यहाँ तक कहते हैं कि–''पूरक शिक्षा एक सच्ची व्यावहारिक नीति से विचलन है'' और यह कभी भी सफल नहीं हो सकती जब तक कि सामाजिक असमानता और आर्थिक वंचना या विहीनता व्याप्त रहती है। दूसरे शब्दों में छोटे-मोटे उपागम को संपूर्ण उपागम में बदलकर इसे सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं को समेटने वाला बनाना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का अपार सामाजिक महत्त्व है। प्रारंभिकतम काल से दार्शनिकों ने इसके स्वरूप एवं उद्देश्यों को परिभाषित करने में पर्याप्त सोच-विचार किया है। आधुनिक समय में भी विख्यात शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षकों ने शिक्षा को अपनी कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

सत्रहवीं शताब्दी के चेकस्लोवाकिया के शिक्षा-विशारद **जोहान आमोस कामनियस** को आधुनिक समय का प्रथम महान शिक्षाशास्त्री समझा जाता है। उसने तर्क विद्या एवं शास्त्रीय विधाओं पर प्रचलित बल की आलोचना की और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा की विधि बालक के मानसिक विकास के अनुरूप तथा विषय-वस्तु उसकी रुचि के अनुसार होनी चाहिए। अंग्रेज दार्शनिक, **जान लाक** ने लिखा है कि 'शिक्षा का प्रयोजन मानसिक अनुशासन का विकास करना' होना चाहिए तथा 'यह धार्मिक न होकर धर्म-निरपेक्ष हो।' **रूसो** के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य बालक की प्राकृतिक प्रवृत्तियों को उसे उचित रूप से प्रशिक्षित करने हेतु बुद्धिमत्तापूर्वक निर्देशित करना है। रूसी ने जन-शिक्षा का भी समर्थन किया। फ्रोबेल जो किंडरगार्टन प्रणाली का प्रवर्तक था, का विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्णजीवन' है। **पेस्टालोजी** के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य सभी क्षमताओं को संतुलित विकास करना होना चाहिए। इसका अंतिम उद्देश्य जनता की दशा में उन्नति करना है। **जान डीवी** जो प्रगतिशील शिक्षा के आंदोलन का पिता था, का विचार था कि शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, अपितु जीवन का जीना है। **आगस्ट काम्टे**, समाजशास्त्र के पिता, का विचार है कि शिक्षा का उद्देश्य अपने साथियों के प्रति सद्भावना एवं सहानुभूति उत्पन्न करना होना चाहिए। **हर्बर्ट स्पेंसर** का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को समाज में समुचित जीवन के लिए तैयार करना था। **समनर** का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सुविकसित समालोचनात्मक क्षमता का विकास करना है जो उसे केवल सुझाव अथवा भावना के आधार पर कार्य करने एवं परंपरागत रीतियों का अंधानुकरण करने से रोकेगी तथा उसे तर्क एवं विवेक से निर्णय लेने के योग्य बनाएगी। परंतु वह शिक्षा को रामबाण औषधि नहीं समझता था। **गिडिंब्स** का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ''आत्म-विश्वास एवं आत्म-नियंत्रण उत्पन्न करना, उन्हें अंधविश्वासों एवं अज्ञानता से छुटकारा दिलाना, उनमें ज्ञान प्रदान करना, उन्हें वास्तविकतापूर्वक विचारने के योग्य बनाना तथा प्रबुद्ध नागरिक बनने में सहायता करना'' होना चाहिए। **दुर्खीम** के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य किशोर पीढ़ी का समाजीकरण है।

नोट

इस प्रकार लेखकों ने शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख विभिन्न प्रकार से किया है। **आर्नाल्ड** के अनुसार, हम इन उद्देश्यों को निम्नलिखित ढंग से वर्णित कर सकते हैं–

(1) **समाजीकरण-प्रक्रिया की पूर्ति करना**–शिक्षा का सर्वप्रमुख एवं प्रथम उद्देश्य समाजीकरण-प्रक्रिया की पूर्ति करना है। यद्यपि परिवार समाजीकरण का महान स्रोत है, तथापि आधुनिक युग में यह इस कर्तव्य को भली प्रकार नहीं निभा पा रहा है। परिवार बच्चों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने में असफल रहा है। इसका कारण एक समाजशास्त्री ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है–

''इस स्थिति का आंशिक कारण यह है कि हम नगरीय जीवन की ओर झुक गए हैं जिसे समाजशास्त्री समाज का गौण समूह-संगठन कहते हैं, अर्थात् ऐसा समाज जो घर एवं उद्यान के लोप, व्यावसायिक विशिष्टता के प्रभुत्व, मित्रों, धार्मिक जीवन एवं विनोद के प्रकारों के चयन में व्यक्तिवादिता; सामान्य प्रकार के औपचारिक संबंध अवैयक्तिक प्रकार के सामाजिक संपर्क से चिह्नित है। नगरों का जीवन, कुछ शताब्दियों पूर्व के ग्रामीण जीवन की तुलना में कृत्रिम-सा लगता है।''

विद्यालय ने रिक्त स्थान में प्रवेश किया है। अब यह अनुभव किया जाता है कि यह विद्यालय का दायित्व है कि वह बालक में ईमानदारी, न्याय, सहानुभूति, सही एवं गलत की भावना के विचारों का विकास करे। माता-पिता जिनका अपने किशोर बालकों पर नियंत्रण समाप्त हो गया है, अब विद्यालय से अपेक्षा करते हैं कि वह शिष्टाचार एवं नैतिकता को सिखलाने में परिवार की अपूर्णताओं को पूरा करे। अब विद्यालय पर समाजीकरण करने के लिए जो किसी समय परिवार का कार्य था, अत्यधिक दबाव डाला जा रहा है। नवयुवक के समाजीकरण के अतिरिक्त, विद्यालय सहयोग, श्रेष्ठ नागरिकता एवं कर्तव्य-पालन के विषयों पर भी पर्याप्त समय एवं शक्ति लगाता है। विद्यार्थियों में देश-भक्ति के गुणों का विकास किया जाता है।

(2) **सांस्कृतिक विरासत का संचरण**–द्वितीय, शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत का संचरण करना है। सांस्कृतिक विरासत से अभिप्राय है भूतकाल, इसकी कलाओं, इसके साहित्य, दर्शन, धर्म एवं संगीत का ज्ञान। इतिहास की पाठ्य पुस्तकों एवं देश-भक्ति से संबंधित समारोहों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से बालक को उसकी सांस्कृतिक बपौती से परिचित कराया जाता है। परंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न शिक्षा के उच्चतर स्तरों पर ही होते हैं।

(3) **मनोवृत्तियों का सुधार**–तृतीय, शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि वह बालक में पूर्वनिर्मित गलत प्रवृत्तियों का सुधार करे। परिवार में बालक अनेक प्रकार की मनोवृत्तियों, विश्वासों, भक्तियों एवं पूर्वाग्रहों को ग्रहण कर लेता है। इन विश्वासों एवं पूर्वाग्रहों को सुधारना शिक्षा का कार्य है। यद्यपि विद्यालय इस दिशा में अधिक नहीं कर सकता, क्योंकि विद्यालय में बालक की उपस्थिति अनियमित होती है, तथापि उसकी मनोवृत्ति के सुधार की ओर विद्यालय को सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(4) **व्यवसायिक स्थापन**–शिक्षा का उपयोगितावादी उद्देश्य भी है। इस नवयुवक को जीवन-यापन अर्जित करने योग्य बनाना चाहिए। शिक्षा उसे कोई उत्पादक कार्य करने के समर्थ बनाए जिससे वह स्वयं तथा अपने परिवार के लिए पर्याप्त धन अर्जित कर सके। युवक को समाज में उत्पादनात्मक भूमिका निभाने योग्य हो जाना चाहिए।

(5) **प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करना**–विद्यालय का प्रमुख बल वैयक्तिक प्रतियोगिता पर होता है। प्रत्येक विषय के अध्ययन में बालक की उसमें सहपाठियों के साथ प्राप्तांकों के आधार पर तुलना की जाती है। शिक्षक अच्छे विद्यार्थियों की प्रशंसा तथा हीन विद्यार्थियों की निंदा करता है। विद्यालय न केवल अपने सभी विद्यार्थियों को उनकी उपलब्धियों के अनुसार श्रेणीबद्ध करता है, अपितु बुद्धि एवं अध्यवसाय के आधार पर विद्यार्थियों की छँटनी भी, कुछ को उत्तीर्ण करके तथा अन्य को अनुत्तीर्ण करके, अलग कर देता है।

संभवत: शिक्षा के उद्देश्यों का सर्वोत्तम विवरण **कार्डीनल न्यूमैन** ने दिया है। यूनिवर्सिटी शिक्षा के बारे में उन्होंने कहा है–

'यूनिवर्सिटी शिक्षा एक महान परंतु साधारण लक्ष्य की प्राप्ति का एक महान परंतु साधारण साधन है। इसका उद्देश्य

नोट

है समाज के बौद्धिक स्तर को उन्नत करना, लोकचेतना की सृष्टि करना, राष्ट्रीय अभिरुचियों को परिष्कृत करना लोक-उत्साह के लिए सही सिद्धांतों एवं लोक-आकांक्षाओं के लिए निश्चित लक्ष्य प्रस्तुत करना, युगीन विचारों को औदार्य एवं गांभीर्य प्रदान करना, राजनीतिक शक्ति को सुलभ बनाना तथा व्यक्तिगत जीवन के समागम को सुसंस्कृत करना।''

भारत में यूनिवर्सिटी के बारे में **राधाकृष्णन् रिपोर्ट** में लिखित विचार इस प्रकार हैं–

''सभी शिक्षा का उद्देश्य, जिसे पूर्व एवं पश्चिम के विचारकों ने स्वीकार किया है, विश्व का समन्वित चित्र एवं जीवन की समेकित शैली का उपबंध करना है।''

वास्तव में, यदि शिक्षा इस उद्देश्य की सिद्धि कर ले तो शैक्षिक संस्थाओं का कोई भी विद्यार्थी जीवन में अपनी भूमिका को अच्छी प्रकार निभा सकेगा तथा श्रेष्ठ संसार के निर्माण में भी सहायता दे सकेगा।

शिक्षा को चुनौतियाँ

हमारी सभ्यता के संदर्भ में शिक्षा के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं–

(1) प्रथमतया, इसके सम्मुख पाठ्यक्रम तथा इसके क्रियान्वयन की समस्या है कि स्कूल एवं महाविद्यालय के स्तर पर क्या विषय पढ़ाये जाने चाहिए? विद्यार्थी को कितने और कौन से विषय लेने होंगे? प्रत्येक विषय की क्या विषय-सूची होगी? हम विश्वविद्यालयों एवं बोर्डों को प्राय: पाठ्यक्रम बदलते हुए देखते हैं जिसने शिक्षा के क्षेत्र में भ्रांति उत्पन्न कर दी है।

(2) द्वितीय शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? जैसा कि स्पष्ट है कि शिक्षा के उद्देश्यों को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी की केवल स्मरण-शक्ति को तेज करती है। यह उसकी शारीरिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं का विकास नहीं करती। शिक्षा तभी अर्थपूर्ण होगी जब यह शरीर, मन एवं हृदय का सर्वांगीण विकास करे।

(3) तृतीय, शिक्षा-विशारदों को निम्नलिखित विवादों का भी समाधान खोजना होगा–

   (*i*) औपचारिक शिक्षा सामाजिक शिक्षा आंदोलन के नेतृत्व का किस सीमा तक अनुसरण करेगी जिसके अंतर्गत आदर्श नियमों का सिद्धांत-बोधन एवं प्रचार के माध्यम द्वारा सिखाने का प्रयत्न किया जाता है।

   (*ii*) क्या औपचारिक शिक्षा में सहपठनीय अथवा अतिरिक्त पठनीय गतिविधियाँ सम्मिलित हैं?

   (*iii*) क्या औपचारिक शिक्षा से नैतिक शिक्षा को निकाला जा सकता है?

   (*iv*) क्या सोवियत रूस में शिक्षा-प्रणाली ने मन, शरीर एवं हृदय से समुचित विकास का सूत्र खोज लिया है?

(4) चतुर्थतया, कुछेक विषयों का ज्ञान बालक को बिल्कुल नहीं कराया जाता, क्योंकि ऐसे विषयों को उसकी ग्रहण-शक्ति से बाहर बतलाए जाते हैं। इन वर्जित विषयों को माध्यमिक अथवा महाविद्यालयीय स्तर पर पढ़ाया जाता है। जो बालक महाविद्यालय में प्रवेश नहीं लेता, उसके भविष्य का क्या होगा? क्या स्कूल के पाठ्यक्रम से कुछ विषयों का निकास बालक के पूर्ण मनुष्य के रूप में विकास को अवरुद्ध नहीं करता?

(5) पंचम, हमारी शिक्षा-प्रणाली में व्यावसायिक शिक्षा का क्या स्थान होना चाहिए? क्या शिक्षा का उद्देश्य कुशल कारीगरों का उत्पादन करना है अथवा चरित्र के विकास पर बल देना है?

(6) अंतिम, शिक्षा हमारी संस्कृति का संरक्षण, साथ ही नए मूल्यों की खोज में लोगों को किस प्रकार प्रशिक्षित कर सकती है?

(7) एक अन्य प्रश्न सामाजिक गतिशीलता से संबंधित है। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त नवयुवक देहातों को छोड़कर नगरों में प्रवाश कर रहे हैं जिससे देहातों के विकास मार्ग में बाधा उत्पन्न हुई है। अत: शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए ताकि शिक्षित नवयुवक नगरों की ओर आकर्षित न हों तथा देहातों में रहकर ही देहात की आर्थिक उन्नति में योगदान दें।

नोट

कभी-कभी शिक्षा को सिद्धांत बोधन हेतु प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार, साम्यवादी देशों में विद्यार्थियों को साम्यवाद की एवं मुस्लिम देशों में इस्लाम कट्टरवादिता की शिक्षा दी जाती है। भारत में यद्यपि सामाजिक संस्तरीकरण एक अर्थ में समाप्त हो गया है परंतु यह एक अन्य रूप में जन्म ले रहा है। तथाकथित 'पब्लिक स्कूल प्रणाली' ने एक नए वर्ग-उच्चवर्गीय बच्चों को जन्म दिया है जो निम्नवर्ग के बच्चों के साथ खेलना अथवा संपर्क रखना पसंद नहीं करते। समाज में बच्चों के 'अभिजन' वर्ग, जिसकी जीवन-शैली पाश्चात्य रंग में रंगी है, का जन्म हो गया है। अतएव भारतीय शिक्षा के सम्मुख यह भी प्रश्न है कि 'क्या पब्लिक स्कूल प्रणाली' को समाप्त किया जाना चाहिए?

सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा एक अभिकरण के रूप में

शिक्षा, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक, सामाजिक नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसीलिए, इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है जो व्यक्ति को सामाजिक आदर्शों के अनुकूल बनाए। शिक्षा एक प्रकार का समाजीकरण है और इसी प्रक्रिया में अपना नियंत्रक कार्य भी करती है। सही प्रकार का समाजीकरण होने से सदस्य सामाजिक नियमों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करते हैं और विचलनकारी व्यवहार नहीं करते।

शिक्षा व्यवस्था नैतिक विचारों को स्पष्ट कर और व्यक्ति का बौद्धिक विकास कर सामाजिक नियमन में योगदान देती है। शिक्षा द्वारा किए गए नियंत्रक कार्यों को हम निम्नलिखित रूप से रख सकते हैं।

(1) शिक्षा व्यक्ति को आत्मविश्लेषण की क्षमता देती है। इस क्षमता के कारण स्वत: ही सामाजिक नियमों का पालन करते हैं और इसमें किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नहीं होती।

(2) शिक्षा हमारे जीवन में आत्मज्ञान का संचार करती है, जिससे हम अनुचित और उचित व्यवहार के अंतरों को समझने लगते हैं। जब हम उचित को अनुचित से अलग कर लेते हैं तब स्वाभाविक रूप से हम उचित व्यवहार को चुनते हैं। इस तरह, हम ज्ञान के विकास के साथ उचित व्यवहार को समझते हैं और उसका पालन करते हैं। इससे सामाजिक नियंत्रण स्वत: ही बना रहता है।

(3) शिक्षा में संस्कृति को हस्तांतरित करने की क्षमता होती है। शिक्षा द्वारा हमें अपनी परंपराओं और पुरानी संस्कृति का ज्ञान होता है। एक पीढ़ी सारी संस्कृति का निर्माण नहीं करती। अत:, शिक्षा के संचार से ही नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी द्वारा मान्यता प्राप्त विधियों का ज्ञान होता है और उसका अनुसरण करती है। इसके कारण समाज नियंत्रण में बना रहता है।

(4) शिक्षा द्वारा परिवर्तनशील समाजों में स्तरीकरण की नई व्याख्या एवं नए मापदंड प्राप्त होते हैं। ग्रामीण या आदिवासी समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति जन्मगत आधारों पर निर्धारित होती है। इसके विपरीत गतिशील समाजों में, जहाँ नए मूल्यों का उदय हो रहा है, शिक्षा प्रस्थिति निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इस तरह, शिक्षा पुराने प्रस्थिति-निर्धारण के समाप्त होते हुए आधारों के विकल्प के रूप में नए आधार प्रस्तुत कर रही है। जन्मजात आधारों के समाप्त होने से जो संक्रमण की स्थिति उत्पन्न हो रही थी उसका हल देकर शिक्षा ने समाजीकरण की एक समस्या का समाधान कर दिया।

(5) यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा अभौतिक संस्कृति में आनेवाले तनावों का हल खोजती है। हम पहले ही बता चुके हैं कि अभौतिक संस्कृति समाज के उन तत्वों से संबद्ध है जिन्हें हम न स्पर्श कर सकते हैं और न देख सकते हैं। जैसे–जनरीतियाँ, ज्ञान, परंपराएँ आदि अभौतिक संस्कृति अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हमेशा नए विचारों से एक नए प्रकार का संघर्ष करती हैं। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा हमें तर्क एवं विवेक देती है और इसके आधार पर हम परंपराओं एवं जनरीतियों के उपयोगी पक्ष को चुन लेते हैं। इस प्रकार, शिक्षा परंपराओं के उपयोगी पक्ष एवं आधुनिक विचारों के बीच एक संतुलन पैदा कर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करती है।

(6) शिक्षा व्यक्तियों में अभियोजन पैदा करती है। एक शिक्षित व्यक्ति अपने व्यवहार में आमतौर पर कट्टर नहीं होता। अर्थात्, बदलती परिस्थितियों के अनुरूप एक शिक्षित व्यक्ति अपने व्यवहारों में कट्टर न होकर, परिवर्तन लाता है और यह उसके अभियोजन में सहायता करता है। इसी अभियोजन के फलस्वरूप समाज में अनुकूलन पैदा होता है। इसी अनुकूलन की अनुपस्थिति में सामाजिक तनाव पैदा होता है, जो

नोट

सामाजिक नियंत्रण की सबसे बड़ी समस्या है। मजदूर-प्रबंधक के बीच, छात्र-शिक्षक के बीच या पिता-पुत्र के बीच आज अनुकूलन की समस्या उठ खड़ी हुई है। शिक्षा क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

अंत में, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। नियंत्रण के सभी अभिकरण सभी स्थितियों में प्रभावकारी हों, यह आवश्यक नहीं है। शहरों में या शहरी मूल्यों से प्रभावित समाजों में धर्म या प्रथाएँ नियंत्रण में बहुत अधिक उपयोगी नहीं होती। इसके विपरीत, परंपरागत समाजों जैसे ग्रामीण, आदिवासी आदि में राज्य द्वारा पारित कानूनों की अपेक्षा धर्म और प्रथाएँ या प्रचलन अधिक प्रभावकारी होते हैं। सारांश यह है कि नियंत्रण के विभिन्न अभिकरण विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्था से जुड़े रहते हैं।

शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन

यह अनुभव किया गया कि हिंसक क्रांति के व्यापक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तनों को अर्जित करना है तो वह केवल शिक्षा के माध्यम से हो सकता है। शिक्षा जनसामान्य तक पहुँच सकती है। यह भी अनुभव किया गया कि शिक्षा को जनसामान्य तक पहुँचाना सरल नहीं है क्योंकि इसके लिए कठोर इच्छा एवं प्रतिबद्ध कार्यों की आवश्यकता होती है। शिक्षा इसके बावजूद विश्व के विभिन्न देशों में सामाजिक विकास हेतु परखा हुआ उपकरण है। भारत में भी यह तर्क सत्य है परंतु इसके लिए एक सुनिर्धारित योजना का होना अनिवार्य है।

यदि नागरिक प्रेरणा एवं उद्देश्य, कुशलता एवं संकल्प को व्यक्त करते हैं तब वे राष्ट्रीय विकास हेतु संघर्ष में सहभागिता कर सकते हैं। प्रेरणा एवं संकल्प समाज के विशिष्ट सदस्यों की आंतरिक विशेषताएँ हैं। राज्य एवं अन्य सभी उपव्यवस्थाएँ जो अधिकार एवं नियंत्रण से संबद्ध हैं, उन स्थितियों को उत्पन्न करती हैं जिनके द्वारा शिक्षा व्यवस्था संकल्प एवं कुशलता को उत्पन्न व विकसित करती है। इस प्रकार शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय विकास के लिए एक उपयोगी तत्व बन जाती है। शिक्षा उप-व्यवस्था से संबद्ध मनुष्यों का जहाँ तक संबंध है उनमें नीति-निर्धारक, शिक्षा नियोजक एवं प्रशासन सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही हम उन अधिकारियों की भी चर्चा कर सकते हैं जो कि संसाधनों को आवंटित करते हैं। इसके अतिरिक्त विषय संरचना को स्वरूप देने वाले नियोजक, संबद्ध प्रशासक, संबद्ध विषय की पुस्तक के लेखक, संस्था के प्रबंधक एवं शिक्षकों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन सभी व्यक्तियों में संकल्प एवं कुशलता का होना आवश्यक है। उन्हें कार्य के प्रति समर्पित एवं किसी भी प्रकार के बलिदान हेतु तत्पर होना चाहिए।

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक वर्ग से संबद्ध पद को स्थिरता/निरंतरता प्रदान की जा सकती है। शिक्षा संबंधी उपलब्धियों एवं व्यावसायिक उपलब्धियों के मध्य सदैव यह संबंध देखे जा सकते हैं। भारतीय स्थिति में जाति आधारित असमानता विभिन्न वर्गों पर भी अपना प्रभाव डालती है। अभी कुछ वर्षों पूर्व तक ब्राह्मण जाति का शिक्षा के अवसरों पर लगभग एकाधिकार था। यद्यपि वर्तमान शताब्दी में ब्राह्मणों का यह एकाधिकार काफी कम हुआ है। अब समस्या यह है कि किसी भी जाति के सदस्य को पब्लिक स्कूल में प्रवेश लेने से नहीं रोका जा सकता परंतु वित्तीय समस्याओं/बाधाओं एवं विद्यालयों के उपलब्ध न होने के कारण वे स्कूल में प्रवेश से वंचित हो जाते हैं।

यह परिवर्तन मुख्य रूप से औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए हैं। अत: आधुनिक समय में शिक्षा ने व्यावसायिक गतिशीलता की दर में आशातीत वृद्धि की है। शिक्षा को सबसे उच्च प्राथमिकता दी गयी है क्योंकि यह आधुनिक समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है तथा ''उच्चस्तरीय गतिशीलता'' में अर्थात् विकास के अवसरों की प्राप्ति में सहायक है। अत: यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक उपलब्धियों एवं अवसरों के साथ शिक्षा का उच्च सह संबंध है।

आधुनिकीकरण और शिक्षा

उपरोक्त परिवर्तन और विवाद आधुनिक शिक्षण संस्थानों के विषय में परिवर्तन के कारण हो रहे हैं। आधुनिक विद्यालय, कालेज और विश्वविद्यालय जीवन की शिक्षा देने में ज्यादा विश्वास नहीं रखते जैसा कि पहले की शिक्षा द्वारा होता था। यह इस वजह से था कि पारंपरिक शिक्षा एक स्थिर और अपरिवर्तनशील समाज के लिए था। यह एक ऐसा समाज था जो औद्योगीकरण द्वारा तीव्र परिवर्तन का सहभागी नहीं था। दूसरी तरफ आधुनिक

नोट

समाज बहुत तीव्र और विस्तृत परिवर्तनों से भरा है। इस प्रकार के परिवर्तनशील समाज में शिक्षा का उद्देश्य प्रौद्योगिकी विज्ञान और इस प्रकार के दूसरे विशेष ज्ञान को आधुनिक ढंग से संचारित-संप्रेषित करना है दूसरे शब्दों में परिवर्तनशील समाज की माँगों को देखते हुए शिक्षा की अंतर्वस्तु में तदनुरूपी परिवर्तन आवश्यक है।

शिक्षा के विषय और इसकी पद्धति में परिवर्तन के दूरगामी परिणाम सामने आए हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त विपुल अध्ययन सामग्री ने इस बात को सबसे पहले जरूरी बना दिया है कि शास्त्रीय भाषाओं और साहित्य का अध्ययन अत्यंत संक्षिप्त कर दिया जाए या समाप्त ही कर दिया जाए। इसका मतलब विद्यार्थियों के समुदाय का परंपरा और सांस्कृतिक विरासत से अलग होना है। यह तर्क दिया जाता है कि ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपनी जड़ों से कट जाएगा और उसकी सृजनात्मक क्षमता और खासतौर से उसकी भावनात्मक एवं आध्यात्मिक तीक्ष्णता पोषण के अभाव में मर जाएगी। यह आधुनिक मनुष्य के लिए एक पहेली है। भरण-पोषण के लिए वह विज्ञान और तकनीक को आवश्यक मानता है। परंतु तकनीकी शिक्षा प्राप्ति को महत्त्व देने से वह भूतकाल की समृद्ध परंपरा के भंडार से वंचित रह जाएगा। यह आसान नहीं है कि इस पहेली का हल निकाला जाए। दूसरे, आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अभाव में भूतकाल के बहुत सारे इच्छित मूल्य अपना पूर्ववर्ती महत्त्व खो चुके हैं। लोग बिना सवाल उठाए इनको मानने को तैयार नहीं हैं। दुर्भाग्यवश कोई नया मूल्य-बोध पुराने का स्थान नहीं ले पाया है। यह दो प्रकार के खतरों को जन्म देता है जिनमें से एक व्यक्ति के प्रति और दूसरे समाज के प्रति है। क्या सही है और क्या गलत है, क्या उचित है और क्या अनुचित है और क्या वांछित है क्या अवांछित है जैसे मूलभूत सवालों से समाज खतरे में पड़ जाता है। व्यक्ति के प्रति खतरा ऐसा सत्य निकलता है कि ''जटिल और चमत्कारी यंत्रों से घिरा रहने पर भी मनुष्य एक क्रूर और चालाक बंदर से थोड़ा ही अच्छा क्या है।'' तीसरे, यह हमें विज्ञान और तकनीक के एक पहलू के करीब लाता है, जिसे हम स्वयं के खतरे से अनदेखा कर सकते हैं। संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य प्राकृतिक विज्ञान में खोजों से अभिभूत था। **बंकन** ने बहुत सारे लोगों के विचारों को प्रतिध्वनित किया, जब उसने कहा-''ज्ञान ही शक्ति है।'' लेकिन आज बहुत सारे मशहूर वैज्ञानिक अन्यमनस्क ढंग से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ''ज्ञान की दुर्भाग्यवश शक्ति है।'' विज्ञान के इस पहलू पर **रॉबर्ट जंक** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्राइटर दैन ए थाऊजैंड संस' में निम्नलिखित टिप्पणी की है-''जिस युग का अंत सर्वशक्तिशाली शास्त्रों के विकास में हुआ है उसे विज्ञान और तकनीक के सर्वसम्मत विकास के साथ जाना जाता है।'' लेकिन आज सर्वमान्य भौतिकशास्त्री **हेसेनबर्ग** कहते हैं-''जिस अंतरिक्ष में मनुष्य बौद्धिक प्राणी के रूप में विकसित हुआ है उसमें एक आयाम वाली शताब्दियों से चली आ रही दिशा से ज्यादा आयाम हैं। यह नयी उदारता जो अमानवीय या परमाणवीय शास्त्रों जैसी हैं, परमाणविक शोध से उपजी हैं। परमाणु बम की शक्ति आधुनिक मनुष्य में उदारता के नए दर्शन की समान जड़ों से आती है और नाभिकीय शोध के अनुभवों से अभिप्रेरित हैं। यह शिक्षा की योजना बनाने के लिए पुनर्चिंतन और पुनर्मूल्यांकन की माँग करती है जो आधुनिकीकरण का हिस्सा है।

16.12 सारांश (Summary)

शैक्षिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र की समीक्षा करते हुए **डैनः डब्ल्यू. डोडसन** ने लिखा है कि, ''शैक्षिक समाजशास्त्र की रुचि समस्त सांस्कृतिक समग्र है, जिसमें तथा जिसके द्वारा, व्यक्ति अनुभवों को अर्जित एवं संगठित करता है। विशिष्ट रूप से शैक्षिक समाजशास्त्र इस विषय में रुचि रखता है कि सुव्यक्तित्व विकास के लिए शैक्षिक प्रक्रियाओं का संचालन किस प्रकार किया जाए।''

16.13 शब्दकोश (Keywords)

1. **लोकतंत्र** (Democracy)-जनतंत्र
2. **आवश्यकता** (Need)-जरूरत

16.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. शिक्षा के सामाजिक आधार का अर्थ बताइए।
2. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
3. शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य लिखिए।
4. शैक्षिक समाजशास्त्र का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है?
5. 'शिक्षा का समाजशास्त्र' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. अन्योन्याश्रित	2. वास्तविक	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

16.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–17 : सामाजिक-आर्थिक कारक और शिक्षा पर उनका प्रभाव (Socio-Economic Factors and Their Impact on Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
17.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)
17.2 समाज और शिक्षा में संबंध (Relation between Society and Education)
17.3 शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Economics of Education)
17.4 शिक्षा एक विनियोग के रूप में (Education as an Investment)
17.5 शिक्षा मानव मूलधन के रूप में (Education as Human Capital)
17.6 शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास (Education and Economic Development of a Nation)
17.7 सारांश (Summary)
17.8 शब्दकोश (Keywords)
17.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
17.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समाज का अर्थ एवं परिभाषा जानने हेतु।
- समाज और शिक्षा में संबंध जानने हेतु।
- शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ जानने हेतु।
- शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास के बारे में जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्येक समाज अपनी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। और समाज की मान्यताएँ एवं आवश्यकताएँ उसकी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। समाज में होने वाले परिवर्तन भी उसके स्वरूप एवं आवश्यकताओं को बदलते हैं और उनके अनुसार उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता रहता है।

17.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)

नोट

सामान्य रूप से व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। व्यक्तियों के इन समूह विशेषों का अध्ययन सभी सामाजिक विज्ञानों में किया जाता है। मानवशास्त्र में मनुष्यों के किसी भी समूह को समाज की संज्ञा दी जाती है, यहाँ तक कि आदिम समुदाय को भी समाज कहा जाता है। भूगोल में क्षेत्र विशेष के समान सभ्यता वाले लोगों के समुदाय को समाज कहते हैं; जैसे–भारतीय समाज, यूरोपीय समाज। धर्मशास्त्र में धर्म विशेष को मानने वालों के समुदाय को समाज कहते हैं; जैसे हिंदू समाज, ईसाई समाज और मुसलमान समाज। राजनीतिशास्त्र में राज्य विशेष के लोगों के समूह को समाज कहते हैं; जैसे–भारतीय समाज, ब्रिटिश समाज और अमेरिकी समाज। परंतु समाजशास्त्र में समाज का अर्थ इन सबसे भिन्न रूप में लिया जाता है।

नोट्स समाजशास्त्रीय अर्थ में व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं कहते अपितु समूह के व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों की व्यवस्था अथवा जाल को समाज कहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक संबंध क्या हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति सचेत होते हैं और एक-दूसरे के प्रति कुछ कार्य करते हैं तो हम कहते हैं कि उनके बीच सामाजिक संबंध स्थापित हो गए हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये संबंध मधुर और सहयोगात्मक ही हों, ये कटु और संघर्षात्मक भी हो सकते हैं। समाजशास्त्र में इन दोनों प्रकार के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

सभी समाजशास्त्री समाज को अमूर्त मानते हैं परंतु उसकी परिभाषा उन्होंने भिन्न-भिन्न रूप में की है। कुछ मुख्य परिभाषाएँ प्रस्तुत हैं। टालकॉट पार्सन्स के शब्दों में–

समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन तथा साध्य के संबंध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुए हैं, वे चाहे वास्तविक हों अथवा प्रतीकात्मक।

मैकाइवर और **पेज** ने समाज को थोड़े अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार–

समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों की, अधिकार तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और विभागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों और स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सतत् परिवर्तनशील व्यवस्था को हम समाज कहते हैं।

17.2 समाज और शिक्षा में संबंध (Relation between Society and Education)

समाज और शिक्षा में अन्योन्याश्रित संबंध है परंतु इससे पहले कि हम समाज और शिक्षा के इस आपसी संबंध के विषय में विचार करें, यह आवश्यक है कि हम शिक्षा के संदर्भ में समाज के वास्तविक अर्थ से परिचित हों। समाजशास्त्रीय भाषा में समाज एक अमूर्त संप्रत्यय है, सामाजिक संबंधों का जाल है, परंतु सामान्य प्रयोग में सामाजिक संबंधों से बने समाज विशेष को समाज कहते हैं। समाजशास्त्रीय भाषा में इसे एक समाज कहते हैं। आज संसार के प्राय: सभी राष्ट्रों में शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है और इस दृष्टि से राज्य विशेष की संपूर्ण जनता ही उस राज्य का समाज होती है। आज जब हम शिक्षा के संदर्भ में समाज की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य राज्य अथवा राष्ट्र विशेष की संपूर्ण जनता से ही होता है। जब हम इस प्रकार के किसी समाज का अध्ययन करते हैं तो उसके अंतर्गत उसके घटक व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह और समूह-समूह के सामाजिक संबंधों अथवा सामाजिक अंत:क्रियाओं का ही अध्ययन करते हैं। तथ्य यह है कि जैसा समाज होता है वैसी ही उसकी शिक्षा होती है और जैसी किसी समाज की शिक्षा होती है वैसा ही वह समाज बन जाता है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

समाज का शिक्षा पर प्रभाव

प्रत्येक समाज अपनी मान्यताओं एवं आवश्यकताओं के अनुकूल ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। और समाज की मान्यताएँ एवं आवश्यकताएँ उसकी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और

नोट

आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। समाज में होने वाले परिवर्तन भी उसके स्वरूप एवं आवश्यकताओं को बदलते हैं और उनके अनुसार उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता रहता है। यहाँ इस सबका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है।

1. **समाज की भौगोलिक स्थिति और शिक्षा**–किसी भी समाज का जीवन उसकी भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होता है। तब उसकी शिक्षा भी उससे प्रभावित होनी स्वाभाविक है। जिन समाजों की भौतिक स्थिति ऐसी होती है कि उनमें मनुष्य को जीवन रक्षा के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता है उनमें अधिकतर व्यक्तियों के पास शिक्षा के लिए न समय होता है और न धन, परिणामत: उनमें जन शिक्षा की व्यवस्था नहीं होती और शिक्षा का क्षेत्र भी सीमित होता है। इसके विपरीत जिन समाजों की भौगोलिक स्थिति मानव के अनुकूल होती है और प्राकृतिक संसाधन भरपूर होते हैं उनमें व्यक्तियों के पास शिक्षा के लिए समय एवं धन दोनों होते हैं, परिणामत: उनमें शिक्षा की उचित व्यवस्था होती है। यह तथ्य भी सर्वविदित है कि जिस देश में जैसे प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध होते हैं उसमें वैसे ही उद्योग धंधे पनपते हैं और उन्हीं के अनुकूल वहाँ शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। कृषिप्रधान देशों में कृषि शिक्षा और उद्योगप्रधान देशों में औद्योगिक शिक्षा पर बल रहता है।
2. **समाज की संरचना और शिक्षा**–भिन्न-भिन्न समाजों के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ समाजों में जातियाँ होती हैं और जाति-भेद भी, कुछ में जातियाँ होती हैं परंतु जाति-भेद नहीं होता और कुछ में जातियाँ ही नहीं होतीं। इसी प्रकार कुछ समाजों में कुलीन और निम्न वर्ग भेद होता है और कुछ समाजों में नहीं होतीं। समाज विशेष के इस स्वरूप का उसकी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। अपने भारतीय समाज को ही लीजिए; जब इसमें कठोर वर्ण व्यवस्था थी तब शूद्रों को उच्च शिक्षा से वंचित रखा जाता था और आज जब वर्ण भेद में विश्वास नहीं किया जाता तो समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए शिक्षा की समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने का नारा बुलंद है।
3. **समाज की संस्कृति और शिक्षा**–भिन्न-भिन्न अनुशासनों में संस्कृति को भिन्न-भिन्न अर्थ में देखा-समझा गया है परंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में किसी समाज की संस्कृति से तात्पर्य उसके रहन-सहन एवं खान-पान की विधियों, व्यवहार प्रतिमानों, आचार-विचार, रीति-रिवाज, कला-कौशल, संगीत-नृत्य, भाषा-साहित्य, धर्म-दर्शन, आदर्श-विश्वास और मूल्यों के उस विशिष्ट रूप से होता है जो उसकी अपनी पहचान होते हैं। किसी समाज की शिक्षा पर सर्वाधिक प्रभाव उसकी संस्कृति का ही होता है। किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य उसके धर्म-दर्शन, आदर्श-विश्वास और उसकी आकांक्षाओं के आधार पर ही निश्चित किए जाते हैं, उसकी शिक्षा की पाठ्यचर्या में सर्वाधिक महत्त्व उसके भाषा-साहित्य और धर्म-दर्शन को दिया जाता है और शिक्षा संस्थाओं में यथा व्यवहार प्रतिमानों को अपनाया जाता है।
4. **समाज की धार्मिक स्थिति और शिक्षा**–यूँ धर्म संस्कृति का अंग होता है परंतु यहाँ इसको अलग से इसलिए लिया गया है कि प्रारंभ से ही शिक्षा पर धर्म का सबसे अधिक प्रभाव रहा है। दूसरी बात यह है कि अब धर्म के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, कुछ उसे शिक्षा का आधार मानने के पक्ष में हैं और कुछ शिक्षा को धर्म से दूर रखने के पक्ष में हैं। धर्म की दृष्टि से समाजों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–एक वे जिनमें धर्म विशेष को माना जाता है और दूसरे वे जिनमें अनेक धर्मों का प्रचलन होता है। इन समाजों की शिक्षा व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है। धर्म विशेष को मानने वाले समाजों की शिक्षा में उनके अपने धर्म की शिक्षा को स्थान दिया जाता है; जैसे–मुस्लिम राष्ट्रों में। दूसरे प्रकार के समाजों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा देना संभव नहीं होता, उनमें उदार दृष्टिकोण अपनाया जाता है; जैसे अपने देश भारत में। कुछ समाजों में धर्म शिक्षा को स्थान ही नहीं दिया जाता; जैसे–रूस में।
5. **समाज की राजनीतिक स्थिति और शिक्षा**–समाज की राजनीतिक स्थिति भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, एकतंत्र शासन प्रणाली वाले देशों में शिक्षा के द्वारा अंधे राष्ट्रभक्त तैयार किए जाते हैं जबकि लोकतंत्र शासन प्रणाली वाले देशों में शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए तैयार किया जाता है। इसके साथ-साथ एक बात और है और वह यह कि जो समाज राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षित होता है उसकी शिक्षा के उद्देश्य व्यापक होते हैं और जिस समाज में राजनीतिक दृष्टि से असुरक्षा होती है वह केवल सैनिक शक्ति और उत्पादन बढ़ाने पर बल देता है।

नोट

6. **समाज की आर्थिक स्थिति और शिक्षा**–समाज की आर्थिक स्थिति भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करती है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न समाजों की शिक्षा बहुउद्देशीय होती है। वे अपने प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, जन शिक्षा का प्रसार करते हैं और इस सबके लिए अनेक साधन जुटाते हैं; जैसे–अमेरिका। प्रगतिशील समाज जन शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल देते हैं; जैसे–भारत। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े समाज न अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की बात सोच पाते हैं, न जन शिक्षा की और न व्यावसायिक शिक्षा की; जैसे–बांग्ला देश। समाज का अर्थतंत्र भी उसकी शिक्षा को प्रभावित करता है। कृषिप्रधान अर्थतंत्र में शिक्षा की संभावनाएँ कम होती हैं, वाणिज्यप्रधान में अपेक्षाकृत उससे अधिक और उद्योगप्रधान में सबसे अधिक।
7. **सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा**–हम जानते हैं कि समाज परिवर्तनशील है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज के साथ-साथ उसकी शिक्षा का स्वरूप भी बदलता है। अपने भारतीय समाज को ही लीजिए। प्राचीन काल में इसकी भौतिक आवश्यकताएँ कम थीं और आध्यात्मिक पक्ष प्रबल था इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में धर्म और नीतिशास्त्र की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था परंतु आज उसकी भौतिक आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं और आध्यात्मिक पक्ष निर्बल पड़ गया है इसलिए शिक्षा में विज्ञान एवं तकनीकी को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। कल तक नारियाँ केवल गृहिणी के रूप में रहती थीं इसलिए उन्हें केवल लिखने-पढ़ने एवं घरेलू कार्यों की शिक्षा दी जाती थी, आज वे पुरुष के साथ कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में कार्य करती हैं अत: उनके लिए पुरुषों की भाँति सभी प्रकार की शिक्षा सुलभ है। जब कभी सामाजिक क्रांति होती है तो वह शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन कर देती है।

शिक्षा का समाज पर प्रभाव

एक ओर यदि यह बात सत्य है कि समाज शिक्षा को प्रभावित करता है तो दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि शिक्षा समाज के स्वरूप को निश्चित करती है और उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती है। शिक्षा मानव समाज की आधारशिला है। वह समाज का निर्माण करती है, उसमें परिवर्तन करती है और उसका विकास करती है।

1. **शिक्षा और समाज की भौगोलिक स्थिति पर नियंत्रण**–एक युग था जब मनुष्य को भौगोलिक परिस्थितियों का दास कहा जाता था परंतु आज मनुष्य शिक्षा के द्वारा अपनी भौगोलिक परिस्थितियों पर नियंत्रण करने में सफल हो गया है। वे दिन गए जब नदी और पहाड़ हमारे मार्ग में बाधक होते थे। शिक्षा के द्वारा हवाई जहाजों का निर्माण संभव हुआ और हवाई जहाजों से उड़कर हम नदी और पहाड़ ही पार नहीं करते अपितु बहुत कम समय में अधिक दूरी तय करते हैं। शिक्षा के द्वारा हम हर भौगोलिक परिस्थिति पर नियंत्रण करने में सफल होते जा रहे हैं।
2. **शिक्षा और समाज का स्वरूप**–शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने, समाज के, संसार के और इस संपूर्ण ब्रह्मांड के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। इस ज्ञान के आधार पर ही वह अपने जीवन के उद्देश्य निश्चित करता है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वह भिन्न-भिन्न समाजों का निर्माण करता है। सच्चा वेदांती मनुष्य-मनुष्य में तो क्या, संसार की किन्हीं दो वस्तुओं में भी भेद नहीं करता, वह सबको ब्रह्ममय देखता है। लेकिन ईश्वर विमुख व्यक्ति भौतिक पैमाने पर ही सब कुछ कसता है और मनुष्य-मनुष्य में अनेक प्रकार के भेद करता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के व्यक्तियों के समाज का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। शिक्षा एक ओर समाज के स्वरूप की रक्षा करती है और दूसरी ओर उसमें आवश्यक परिवर्तन करती है।
3. **शिक्षा और समाज की संस्कृति**–प्रत्येक समाज अपने सदस्यों में अपनी संस्कृति का संक्रमण शिक्षा के द्वारा ही करता है। इस प्रकार शिक्षा किसी समाज की संस्कृति का संरक्षण करती है। जब मनुष्य शिक्षित हो जाता है तो वह अपने अनुभवों के आधार पर अपनी संस्कृति में परिवर्तन करता है। इस प्रकार शिक्षा समाज की संस्कृति में विकास करती है। शिक्षा के अभाव में संस्कृति के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती।

नोट

4. **शिक्षा और समाज की धार्मिक स्थिति**–हम यह देख रहे हैं कि कोई समाज अपनी शिक्षा में धर्म विशेष की शिक्षा का विधान करता है, कोई इस क्षेत्र में उदार दृष्टिकोण अपनाता है और संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों की शिक्षा का विधान करता है और कोई समाज अपनी शिक्षा में धर्म को स्थान ही नहीं देता। परिणामस्वरूप पहले प्रकार के समाजों में धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, दूसरे प्रकार के समाजों में धार्मिक उदारता पाई जाती है और तीसरे प्रकार के समाजों में अब एक ओर भौतिक विज्ञानों की शिक्षा से धार्मिक कूपमंडूकता एवं अंधविश्वासों का अंत होने लगा है और दूसरी ओर बढ़ती हुई सामाजिक अराजकता से मनुष्य अपनी शिक्षा को वास्तविक धर्म पर आधारित करने की ओर उन्मुख होने लगा है। शिक्षा के अभाव में लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ ही नहीं सकते।
5. **शिक्षा और समाज की राजनीतिक स्थिति**–शिक्षा से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती है और उसके आचरण को निश्चित दिशा दी जाती है। शिक्षा के द्वारा ही विचार करने एवं सत्य-असत्य में भेद करने की शक्ति का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही समाज में राजनीतिक जागरूकता आती है, व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्तव्यों से परिचित होता है। इसी के द्वारा उसमें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास किया जाता है। बिना उचित शिक्षा के विधान के व्यक्ति केवल राष्ट्र का अंधा भक्त बनाया जा सकता है, जागरूक नागरिक नहीं।
6. **शिक्षा और समाज की आर्थिक स्थिति**–एक युग था जब शिक्षा के द्वारा मनुष्य में केवल मानवीय गुणों का विकास किया जाता था, परंतु रोटी-कपड़े-मकान की समस्या को सुलझाने वाली शिक्षा उस समय नहीं दी जाती थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह तो हो सकता है कि उस समय इसके लिए उचित विद्यालयों की स्थापना न की गई हो परंतु परिवार और समुदायों में यह शिक्षा बराबर चलती रही होगी अन्यथा इस क्षेत्र में विकास कैसे होता! आज तो शिक्षा समाज की आर्थिक स्थिति का मूलाधार है। आज सभी समाज शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को किसी व्यवसाय अथवा उत्पादन कार्य में निपुण करने का प्रयत्न करते हैं। देखा यह जा रहा है कि जिस समाज में इस प्रकार की शिक्षा का जितना अच्छा प्रबंध है वह आर्थिक क्षेत्र में उतनी ही तेजी से बढ़ रहा है। बिना शिक्षा के हम आर्थिक क्षेत्र में विकास नहीं कर सकते।
7. **शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन**–एक ओर यदि यह बात सत्य है कि समाज शिक्षा में परिवर्तन करता है तो दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन होते हैं। शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी जाति की भाषा, रहन-सहन, खान-पान के तरीके और रीति-रिवाज सीखता है और उसके मूल्य एवं मान्यताओं से परिचित होता है। इससे उसका मानसिक विकास होता है और वह अपने, समाज के तथा इस ब्रह्मांड के बारे में सदैव सोचता रहता है। समाज में रहकर वह नए-नए अनुभव करता है और समाज की आवश्यकताओं एवं समस्याओं से परिचित होता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के हल के लिए वह विचार करता है और उनके हल खोजता है और इससे समाज को प्रभावित करता है। कभी-कभी एक व्यक्ति पूरे समाज को बदल देता है। शिक्षा के अभाव में यह सब संभव नहीं। सामाजिक क्रांति के लिए शिक्षा मूलभूत आवश्यकता होती है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि समाज और शिक्षा अन्योन्याश्रित होते हैं, जैसे किसी समाज की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति होती है वैसी ही उसकी शिक्षा होती है। इतना ही नहीं अपितु किसी समाज में सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ उसकी शिक्षा में भी परिवर्तन होते चलते हैं। और जिस समाज में जैसी शिक्षा की व्यवस्था की जाती है वैसे ही उस समाज की भौगोलिक स्थिति पर पकड़, और उसके स्वरूप एवं उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने लगता है। सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा आधारभूत भूमिका अदा करती है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. सामान्य रूप से व्यक्तियों के समूह को ..... कहते हैं।
2. समाज और शिक्षा में ..... संबंध है।

नोट

3. आर्थिक दृष्टि से संपन्न समाजों की शिक्षा ..... होती है।
4. ..... समाज की आर्थिक स्थिति का मूलाधार है।
5. सभी समाजशास्त्री समाज को ..... मानते हैं।

17.3 शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Economics of Education)

शिक्षा को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्वों में एक तत्व समाज की आर्थिक स्थिति भी है। यह देखा गया है कि जो समाज आर्थिक दृष्टि से जितना अधिक संपन्न होता है वह अपने बच्चों के लिए उतनी ही अच्छी शिक्षा की व्यवस्था कर पाता है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि जिस समाज में शिक्षा पर जितना अधिक धन और समय व्यय किया जाता है वह समाज आर्थिक दृष्टि से उतना ही अधिक संपन्न होता है। इस साक्ष्य ने शिक्षाशास्त्रीयों को समाज के आर्थिक स्रोतों एवं साधनों का अध्ययन करने एवं कम से कम व्यय से अधिक से अधिक अच्छी शिक्षा व्यवस्था की खोज की ओर प्रवृत्त किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब अनेक देश स्वतंत्र हुए तो उन्होंने अपने बहुमुखी विकास के लिए शिक्षा का विकास करना प्रारंभ किया।

शिक्षा के अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य समाज को उसके सीमित साधनों के समुचित प्रयोग करने तथा ऐसी शिक्षा व्यवस्था करने योग्य बनाना है जिससे राष्ट्र का उत्पादन बढ़े। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु शिक्षा के अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम समाज की आर्थिक व्यवस्थाओं एवं आर्थिक स्रोतों का अध्ययन करना पड़ता है। जिस समाज में जैसी आर्थिक व्यवस्था होती है उसमें शिक्षा का स्वरूप भी प्राय: वैसा ही होता है। दूसरी तरफ यह बात भी सत्य है कि जो समाज अपनी शिक्षा पर समुचित ढंग से जितना अधिक व्यय करता है उसे उतना ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है। इसके लिए शिक्षा के अर्थशास्त्र में किसी समाज की शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय और उसके प्रतिफल का अध्ययन किया जाता है। व्यय के अंतर्गत शिक्षा पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र द्वारा किए जाने वाले समस्त व्यय सम्मिलित होते हैं और प्रतिफल में शिक्षा द्वारा मनुष्य को होने वाले तत्कालीन लाभ एवं भविष्य में होने वाले लाभ सम्मिलित होते हैं। लाभ भी दो प्रकार के होते हैं–एक प्रत्यक्ष; जैसे–शारीरिक एवं व्यावसायिक विकास और दूसरा अप्रत्यक्ष; जैसे–मानसिक, चारित्रिक एवं नैतिक विकास। और चूँकि शिक्षा अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र के सीमित आर्थिक साधनों का उपयुक्ततम प्रयोग करके उत्पादनप्रधान शिक्षा की व्यवस्था करना होता है इसलिए वह दो तथ्यों का अध्ययन और करता है–पहला यह कि समाज में किस प्रकार की शिक्षा की माँग है और दूसरा राज्य के द्वारा शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय तथा उसके तरीके क्या-क्या हैं। इस संदर्भ में वह राज्य अनुदान प्रणाली का विस्तार से अध्ययन करता है और उसमें सुधार के सुझाव देता है। इसके साथ-साथ वह समाज के लिए शिक्षा का स्वरूप निश्चित करता है और इस शिक्षा की व्यवस्था के लिए राज्य की आय के स्रोतों एवं व्यय के क्षेत्र निश्चित करता है। इस प्रकार आज शिक्षा के अर्थशास्त्र का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए
(State whether the following statements are True/False)–

6. समाज अपरिवर्तनशील है।
7. शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती हो।
8. शिक्षा के द्वारा विचार करने एवं सत्य-असत्य में भेद करने की शक्ति का विकास होता हो।
9. शिक्षा को शीघ्र समाप्त होने वाला धन कहा जाता है।
10. शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय अपने में विनियोग है।

नोट

17.4 शिक्षा एक विनियोग के रूप में (Education as an Investment)

जब धन को किसी काम में इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि भविष्य में उससे और अधिक धन प्राप्त हो तो उसे निवेश अथवा विनियोग कहते हैं। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की धनोपार्जन की क्षमता में विकास होता है जिसका प्रयोग वह अपने भावी जीवन में करता है। इस दृष्टि से शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में एक विनियोग है।

यूँ तो मनुष्य की शिक्षा जीवन भर चलती है परंतु यहाँ शिक्षा से हमारा तात्पर्य केवल उस औपचारिक शिक्षा से है जिसका नियोजन राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु करते हैं। इसमें मुख्य रूप से सामान्य शिक्षा, विशिष्ट शिक्षा और सतत शिक्षा आती है। और हमारे देश भारत में 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए अनिवार्य सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न है। सामान्य शिक्षा के बाद विश्वविद्यालयी, प्रोफेशनल एवं तकनीकी शिक्षा का विकास करना होता है इस सब शिक्षा की व्यवस्था में राज्य पूर्ण अथवा अंश रूप में व्यय करते हैं। जन सहयोग से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है और शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को भी कुछ व्यय करना पड़ता है। इन तीनों द्वारा किए गए कुल व्यय को शिक्षा पर व्यय माना जाता है और शिक्षा प्राप्त करने के बारे में इन तीनों को होने वाले लाभ को प्रतिफल माना जाता है।

शिक्षा पर व्यय और उसके प्रतिफल पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। इन अध्ययनों से शिक्षा अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित तथ्यों की खोज की है।

(1) शिक्षा पर जो कुछ व्यय होता है उससे बालकों की तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है; जैसे–एक दूसरे से मिलने के अवसर प्राप्त होना, खेल के लिए अवसर प्राप्त होना, सामान्य व्यवहार करने के अवसर प्राप्त होना आदि। यह शिक्षा व्यय का उपभोगी तत्व कहलाता है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा पर किए गए व्यय का तुरंत प्रतिफल मिलता है। इसलिए शिक्षा अपने में विनियोग है।

(2) किसी भी व्यवसाय में अधिक पढ़ा-लिखा व्यक्ति कम पढ़े-लिखे व्यक्ति की तुलना में अधिक कुशलता से काम करता है और तद्नुकूल अधिक धनोपार्जन करता है। इस प्रकार व्यक्ति की शिक्षा पर जो कुछ भी व्यय होता है उसका उसे प्रतिफल प्राप्त होता है, जो व्यय की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए व्यक्ति की शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में विनियोग होता है।

(3) उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नए विचारों और साधनों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहता है। उसमें नए विचारों एवं साधनों को ग्रहण करने की शक्ति भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। परिणामत: वह निरंतर आर्थिक प्रगति करने में सक्षम होता है। इस दृष्टि से भी शिक्षा अपने में विनियोग है।

(4) इस शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई है। अर्थोपार्जन के किसी भी क्षेत्र से इस ज्ञान का सीधा संबंध है। कृषि से संबंधित ज्ञान प्राप्त व्यक्ति उस कृषक की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पादन करता है जिसने इस आधुनिक कृषि संबंधी ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है। इसी प्रकार वाणिज्य की उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आज के वाणिज्य क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सफल हो रहा है। उद्योग के क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा का उत्पादन दर से सीधा संबंध होता है। उद्योगों की सफलता प्रशिक्षित कर्मकारों, उच्च शिक्षा प्राप्त इंजीनियरों और उच्च शिक्षा प्राप्त प्रोडक्शन मैनेजरों तथा सैल्स मैनेजरों आदि पर निर्भर करती है। इस प्रकार कर्मकारों और इंजीनियरों आदि की शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में निवेश है।

(5) व्यक्ति की शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय से व्यक्ति की स्वयं की आय प्रभावित होती है। हम जानते हैं कि उद्योगों में साधारण प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति को कम वेतन मिलता है, डिप्लोमा प्राप्त व्यक्तियों को उनसे अधिक और अधिक समय तक अधिक धन व्यय कर इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को उनसे भी अधिक वेतन मिलता है। इस क्षेत्र में की गई शोधों से पता चलता है कि शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय अपने में विनियोग है।

क्या आप जानते हैं शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

नोट

(6) शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। जो राष्ट्र सामान्य, प्रोफेशनल और विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा पर जितना अधिक व्यय करता है उसकी राष्ट्रीय आय उतनी ही अधिक होती है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा पर किए जाने वाला व्यय विनियोग है।

(7) इस क्षेत्र की शोधों के परिणामों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जिन राष्ट्रों में शिक्षा का नियोजन करते समय समाज की माँग और उसके अनुकूल शिक्षा व्यवस्था करने का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है उनमें उतना ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है। इसमें भी यही स्पष्ट होता है कि शिक्षा अपने में विनियोग है।

17.5 शिक्षा मानव मूलधन के रूप में (Education as Human Capital)

बहुत पुरानी कहावत है–राजा देश में ही पूजा जाता है, विद्वान की पूजा सारे संसार में होती है। यह भी धारणा है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति कभी भूखा नहीं मरता। शिक्षा को कभी समाप्त न होने वाला धन कहा जाता है।

अंग्रेजी शब्द कैपीटल का अर्थ होता है–मुख्य। सामान्यत: इस शब्द का प्रयोग किसी देश के बड़े नगरों के लिए अथवा उनकी राजधानियों के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ मूलधन होता है। अर्थशास्त्र में मूलधन उस धन को कहते हैं जिसके विनियोग से कोई मनुष्य और अधिक धन अर्जित करता है। सामान्यत: कोई मनुष्य किसी उद्योग अथवा व्यवसाय में जितना अधिक मूलधन लगाता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा और उसके उचित विनियोग में निहित होती है। बस यही बात शिक्षा के साथ है। जो मनुष्य जितना अधिक शिक्षित होता है, उसके पास जितनी अधिक शैक्षिक उपाधियाँ होती हैं, जितनी अधिक उसमें योग्यता एवं क्षमता होती है और वह अपनी इन शैक्षिक उपाधियों और अपनी योग्यता का जितना अधिक प्रयोग करता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। और जिस प्रकार मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा तथा उसके विनियोग में निहित होती है ठीक उसी प्रकार शिक्षा की उपयोगिता भी उसकी सुरक्षा और उसके उचित प्रयोग में निहित होती है। इन दोनों में अंतर केवल इतना होता है कि धन बाह्य वस्तु होता है और शिक्षा मनुष्य का अपना गुण। इसी आधार पर शैक्षिक अर्थशास्त्र में शिक्षा को मानव मूलधन कहा जाता है।

शिक्षा से मनुष्य को सामान्यत: तीन प्रकार के लाभ होते हैं–पहला यह कि उससे उसे मानसिक संतोष मिलता है, दूसरा यह कि उससे उसे समाज में सम्मान मिलता है और तीसरा यह कि उससे उसे आर्थिक लाभ होता है। कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को केवल पहला लाभ मिलता है; जैसे–आध्यात्मिक ज्ञान। कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को पहले दो प्रकार के लाभ मिलते हैं; जैसे–किसी विषय विशेष में उच्च योग्यता प्राप्त करना, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना। और कुछ शिक्षा ऐसी होती हैं जिससे मनुष्य को तीनों प्रकार के लाभ होते हैं; जैसे–हाई स्कूल, इण्टर आदि शिक्षा के प्रमाणपत्र, स्नातक, परास्नातक एवं डॉक्ट्रेट की उपाधियाँ और न्याय, अध्यापन, इंजीनियरिंग, मेडीकल व प्रशासन संबंधी उपाधियाँ। इस शिक्षा से उन्हें मानसिक संतोष मिलता है, समाज में सम्मान मिलता है और आर्थिक लाभ मिलता है। शैक्षिक अर्थशास्त्र में यह तीसरे प्रकार की शिक्षा को ही मानव मूलधन कहा जाता है। देखा यह गया है कि जिस राष्ट्र के नागरिकों के पास जितना अधिक यह मानव मूलधन होता है वह राष्ट्र उतना ही अधिक आर्थिक विकास करता है। तभी आज के भौतिकवादी युग में सबसे अधिक बल उत्पादन एवं उद्योग संबंधी शिक्षा पर दिया जाता है।

टास्क समाज और शिक्षा में संबंध पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

17.6 शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास (Education and Economic Development of a Nation)

राष्ट्र के आर्थिक विकास से तात्पर्य सामान्यत: आय की उत्तरोत्तर वृद्धि से लिया जाता है। राष्ट्रीय आय साधारणत: सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन. पी.) से मापी जाती है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद से मशीन आदि की घिसावट घटाने

नोट

से विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (एन. एन. पी.) का पता चलता है। सामान्य व्यक्ति विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को ही राष्ट्रीय आय मानते हैं। परंतु आर्थिक विकास के लिए तो आर्थिक विकास किया नहीं जाता, उससे व्यक्तियों के जीवन स्तर में गुणात्मक वृद्धि होनी चाहिए। यह हो सकता है कि राष्ट्रीय आय बढ़ने पर भी राष्ट्र के नागरिकों का जीवन स्तर न उठे, उसमें गिरावट भी आ सकती है। यह तब होता है जब जनसंख्या में वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर से अधिक होती है। इसलिए अब राष्ट्र के आर्थिक विकास को राष्ट्रीय आय के स्थान पर राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय के रूप में मापा जाता है। राष्ट्रीय आय को राष्ट्र की कुल जनसंख्या से विभाजित करने पर राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है। लेकिन यह भी संभव है कि राष्ट्र में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने पर भी नागरिकों का जीवन स्तर न उठे। ऐसा तब होता है जब मुद्रा का अवमूल्य हो जाता है, मँहगाई बढ़ जाती है। अत: यह आवश्यक है कि प्रति व्यक्ति आय के साथ-साथ मुद्रा के तात्कालिक मूल्य को भी ध्यान में रखा जाए। इस प्रकार यदि किसी राष्ट्र में प्रति व्यक्ति आय में निरंतर वृद्धि होती है, इतनी वृद्धि की मुद्रा के अवमूल्यन के बाद भी उसके नागरिकों के जीवन स्तर में गुणात्मक विकास होता है तो उसे हम राष्ट्र का आर्थिक विकास कहेंगे।

किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास मूल रूप से उत्पादन और वितरण पर निर्भर करता है। इनमें से उत्पादन निर्भर करता है प्राकृतिक संसाधनों (भूमि, कच्चा माल, खनिज पदार्थ आदि) एवं मानवीय संसाधनों (पूँजी, यंत्र, श्रम, संगठन, प्रशासन और अनुसंधान आदि) पर। और वितरण निर्भर करता है केवल मानवीय संसाधनों पर। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास प्राकृतिक संसाधनों की अपेक्षा मानवीय संसाधनों पर अधिक निर्भर करता है। और मानवीय संसाधनों का विकास शिक्षा पर निर्भर करता है। तब कहना न होगा कि किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास में शिक्षा की अहम् भूमिका होती है। शिक्षा द्वारा किसी राष्ट्र के नागरिकों की क्षमता, योग्यता और निपुणता में जितना अधिक विकास किया जाएगा, उन्हें उत्पादन के प्रति जितना अधिक सचेत किया जाएगा और उत्पादन के क्रय-विक्रय में जितना अधिक चतुर किया जाएगा उतना ही अधिक उस राष्ट्र का आर्थिक विकास होगा।

अब प्रश्न उठता है कि आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार की शिक्षा आवश्यक है। सामान्यत: लोग यह सोचते हैं कि आर्थिक विकास के लिए केवल व्यावसायिक, तकनीकी एवं प्रबंध शिक्षा ही आवश्यक होती है परंतु वास्तविकता यह है कि आर्थिक विकास के लिए सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार की शिक्षा आवश्यक होती है।

सामान्य शिक्षा की भूमिका–सामान्य शिक्षा वह शिक्षा है जिसकी व्यवस्था कोई देश, राज्य अथवा राष्ट्र अनिवार्य एवं नि:शुल्क रूप से करता है। इसका उद्देश्य बच्चों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास करना होता है। इसमें भाषा ज्ञान, अभिव्यक्ति कौशल, समायोजन और परिवर्तनशीलता पर विशेष बल दिया जाता है। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि इन गुणों एवं क्षमताओं का उत्पादन एवं वितरण कुशलता पर लगभग उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना उत्पादन एवं वितरण संबंधी तथ्यों के ज्ञान एवं कौशल का पड़ता है। अत: विशिष्ट तकनीकी ज्ञान एवं कौशलों के प्रशिक्षण से पहले मनुष्य के लिए सामान्य शिक्षा की आवश्यकता होती है। हमारे देश भारत में 14 वर्ष तक बच्चों के लिए सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था है। इस आयु तक बच्चे कक्षा 8 ही उत्तीर्ण कर पाते हैं। हमारी दृष्टि से सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था बच्चों की आयु नहीं, शिक्षा स्तर होना चाहिए और यह शिक्षा स्तर 10 + 2 + 3 की राष्ट्रीय शिक्षा योजना के कक्षा 10 तक होना चाहिए। तब सामान्य शिक्षा द्वारा बच्चों में एक ओर तो भाषा ज्ञान, समायोजन क्षमता और परिवर्तनशीलता का विकास किया जा सकेगा और दूसरी ओर इससे निम्न वर्ग के कर्मचारी; जैसे–चौकीदार और दफ्तरी आदि और मध्यम वर्ग के कर्मचारी; जैसे–स्टोर कीपर और लिपिक आदि तैयार किए जा सकेंगे। जीवन के सामान्य कार्यों; जैसे–पोस्ट ऑफिस, बैंक और जीवन बीमा संबंधी कार्यों को भी ये कुशलतापूर्वक संपादित कर सकेंगे। भारत जैसे लोकतंत्रीय देश के नागरिक कम से कम इतने शिक्षित तो होने ही चाहिए।

विशिष्ट शिक्षा की भूमिका–विशिष्ट शिक्षा वह शिक्षा है जो मनुष्यों को विशिष्ट क्षेत्रों में कार्य करने के लिए तैयार करती है; जैसे– कृषि, कुटीर उद्योग, भारी उद्योग, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य और निर्माण आदि। इसका उद्देश्य इन विभिन्न क्षेत्रों के लिए कुशल कर्मकार, इंजीनियर, तकनीसियन, व्यवस्थापक एवं प्रशासक आदि का निर्माण करना होता है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा योजना 10 + 2 + 3 में यह कार्य + 2 तथा + 3 पर किया जाता है। +2

नोट

पर विभिन्न कुटीर उद्योगों को चलाने का प्रशिक्षण देने और भारी उद्योगों के लिए कुशल कर्मकार तैयार करने का सुझाव है। + 3 स्तर पर इंजीनियरों, डॉक्टरों, वकीलों, प्रशासकों आदि की शिक्षा के लिए पहले से ही व्यवस्था है। इंजीनियरिंग कॉलिजों, मेडिकल कॉलिजों और विश्वविद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में शोध कार्य की व्यवस्था भी है। इस शिक्षा से कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में उत्पादन बढ़ रहा है, वितरण की दशाओं में सुधार हो रहा है और राष्ट्रीय आय बढ़ रही है। परिणामत: राष्ट्र का आर्थिक विकास हो रहा है। साफ जाहिर है कि शिक्षा किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास का मूल साधन है।

17.7 सारांश (Summary)

अंग्रेजी शब्द कैपीटल का अर्थ होता है–मुख्य। सामान्यत: इस शब्द का प्रयोग किसी देश के बड़े नगरों के लिए अथवा उनकी राजधानियों के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ मूलधन होता है। अर्थशास्त्र में मूलधन उस धन को कहते हैं जिसके विनियोग से कोई मनुष्य और अधिक धन अर्जित करता है। सामान्यत: कोई मनुष्य किसी उद्योग अथवा व्यवसाय में जितना अधिक मूलधन लगाता है उसे उतना ही अधिक आर्थिक लाभ होता है। मूलधन की उपयोगिता उसकी सुरक्षा और उसके उचित विनियोग में निहित होती है। बस यही बात शिक्षा के साथ है।

17.8 शब्दकोश (Keywords)

1. **विनियोग** (Investment) पूँजीनिवेश
2. **मूलधन** (Capital) पूँजी, व्यापार शुरू करने के लिए आवश्यक धन की मात्रा

17.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. 'समाज' से आप क्या समझते हैं? इसके अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. 'समाज और शिक्षा में संबंध' का वर्णन कीजिए।
3. शिक्षा के अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा का उल्लेख कीजिए।
4. 'शिक्षा और राष्ट्र का आर्थिक विकास' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. समाज	2. अन्योन्याश्रित	3. बहुउद्देशीय	4. शिक्षा	5. अमूर्त
6. गलत	7. सही	8. सही	9. गलत	10. सही।

17.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।

❑❑❑

नोट

इकाई–18 : बालक का समाजीकरण (Socialization of the Child)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

18.1 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)

18.2 समाजीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Socialization)

18.3 समाजीकरण की प्रक्रिया (Process of Socialization)

18.4 बालक का समाजीकरण करने वाले तत्व या कारक (Factors Leading to the Socialization of the Child)

18.5 बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व (Factors Resisting Socialization of the Child)

18.6 समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक का उत्तरदायित्व (Role of Teacher in the Process of Socialization)

18.7 सारांश (Summary)

18.8 शब्दकोश (Keywords)

18.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

18.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समाजीकरण का अर्थ जानने हेतु।
- समाजीकरण की विशेषताएँ जानने हेतु।
- बालक के समाजीकरण में बाधक तत्वों को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

बालक के समाजीकरण में पड़ोस और संगी साथी भी सहायक होते हैं। परिवार से निकालकर वह अपने पड़ोस में रहने वाले व्यक्तियों और अपने समवयस्क बालकों के संपर्क में आता है। उनके साथ उठता-बैठता है, खेलता है, बातें करता है, कभी लड़ता-झगड़ता है और कभी प्यार करता है। पड़ोस ही उसको अच्छी या बुरी संगति प्रदान करता है। अच्छी संगति में उसका विकास होता है और बुरी संगति में वह बिगड़ भी सकता है। पड़ोस और संगी-साथी अच्छे, सभ्य और सुसंस्कृत हैं तो बालक का समाजीकरण उचित रूप में और तीव्र गति से होता है और यदि पड़ोस और संगी-साथी अच्छे नहीं हैं तो उसका समाजीकरण उचित दिशा में नहीं होता।

18.1 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)

नोट

अपने जन्म के समय बालक एक मनोशारीरिक प्राणी (Psychophysical Animal) होता है। वह न तो सामाजिक होता है और न असामाजिक। लेकिन धीरे-धीरे वह सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है। उसमें सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होनी आरंभ हो जाती है। वह समाज में प्रचलित परंपराओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति का अनुपालन करने लगता है और उनके प्रभाव में आकर उनके ही अनुसार व्यवहार करने लगता है। यही समाजीकरण कहलाता है। इस प्रकार समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में रहकर उसके मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों और जीवन शैली को सीखता है और उसे अपने व्यक्तित्व का अंग बनाता है।

समाजीकरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

किंबाल यंग के अनुसार, ''समाजीकरण का अर्थ यह है कि व्यक्ति जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, अपनी संस्कृति के अन्य लक्षणों, कुशलताओं और अन्य आवश्यक आदतों को सीखता है, जो समाज का क्रियाशील सदस्य बनने में सहायता देती हैं। वह अपने आपको, अपने परिवार, पड़ोस और वर्ग के अनुकूल बनाना सीखता है। सारांशत: समाजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया अंत:क्रिया या सामाजिक कार्य के अंतर्गत आती है।''

बोगार्डस के शब्दों में, ''एक साथ मिलकर कार्य करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने, अन्य व्यक्तियों की कल्याण संबंधी आवश्यकताओं को सामने रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को समाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं।''

हैविघर्स्ट एवं **न्यूगार्टन** के शब्दों में, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से बालक अपने समाज के स्वीकृत ढंगों को सीखते हैं तथा इन ढंगों को अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना लेते हैं।''

गिलिन एवं **गिलिन** के अनुसार, ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का एक क्रियात्मक सदस्य बनता है तथा उसी के स्तर के अनुसार कार्य करता है। उसके लोकाचार, परंपरा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना समन्वय स्थापित करता है।''

ग्रीन के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक विशेषताएँ, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।''

नोट्स बालक के समाजीकरण में पुरस्कार और दंड भी बहुत सहायक होते हैं।

18.2 समाजीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Socialization)

बालक के समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. समाजीकरण की प्रक्रिया तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों–जीव रचना, व्यक्ति तथा समाज पर आधारित है।
2. समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। सामाजिक मूल्यों, आदर्शों और प्रतिमानों को सीखना ही समाजीकरण है।
3. समाजीकरण के द्वारा एक जैविकीय व्यक्ति सामाजिक प्राणी बन जाता है।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।
5. समाजीकरण प्रक्रिया के द्वारा बालक समाज का कार्यात्मक सदस्य बन जाता है।

नोट

6. समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के 'आत्म' के विकास (Development of self) करने में सहायक होती है।
7. समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों, मानकों और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है और संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक तत्वों को आत्मसात करता है।
8. समाजीकरण की प्रक्रिया अनुकूलन करना सिखाती है।
9. समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संस्कृति जीवित रहती है और समाज अपनी निरंतरता बनाए रखता है। समाजीकरण की प्रक्रिया ही संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करती रहती है।
10. समाजीकरण प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बन जाता है।
11. समाजीकरण की प्रक्रिया अत्यंत व्यापक होती है।
12. समाजीकरण सापेक्षिक क्रिया है। समय और स्थान के अनुसार इसका रूप बदला हुआ हो सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. सामाजीकरण की प्रक्रिया ..... चलने वाली प्रक्रिया है।
2. सामाजीकरण की प्रक्रिया में ..... का विशेष महत्त्व है।

18.3 समाजीकरण की प्रक्रिया (Process of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है–

1. वैयक्तिक दृष्टि से।
2. वस्तुनिष्ठ दृष्टि से।

वैयक्तिक दृष्टि से समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जो समाज के सदस्यों में आंतरिक रूप से उस समय तक चलती रहती है जब तक कि वे अपने वातावरण के साथ समायोजन करने में समर्थ नहीं हो जाते। इस दृष्टि से व्यक्ति उस समाज के नियमों, परंपराओं और मूल्यों को अपना लेता है, जिसमें वह रहता है। समाजीकरण की यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है। इस दृष्टि से यह प्रक्रिया समाज के सदस्यों को उन सामाजिक कार्यों की शिक्षा प्रदान करती है, जिनको उन्हें करना चाहिए।

समाजीकरण की प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण कारक हैं–

1. **पालन-पोषण** (Child Rearing)–समाजीकरण के लिए यह आवश्यक है कि बालक का पालन-पोषण समुचित ढंग से किया जाए। ऐसा होने पर ही वह समाज के मूल्यों और आदर्शों के अनुसार आचरण करना सीखता है।
2. **अनुसरण** (Imitation)–बालक केवल अपने माता-पिता का ही अनुसरण नहीं करता अपितु अपने भाई-बहनों, परिवारों के अन्य सदस्यों, पड़ोसियों और समुदाय के अन्य सदस्यों को भी अनुसरण करता है। बालक अपने से बड़ों के कार्यों को देखकर समाज की परंपराओं और आदर्शों को अपनाता है। इस प्रकार अनुसरण समाजीकरण का आधारभूत तत्व है।
3. **निर्देश** (Suggestion)–निर्देशों या सुझावों का बालक के समाजीकरण से गहरा संबंध है। बालक वही कार्य करता है जिसको करने के लिए दूसरे व्यक्तियों द्वारा उसको कहा जाता है या उसको निर्देश दिया जाता है। इस प्रकार निर्देश सामाजिक व्यवहार की दिशा को निर्धारित करते हैं।

नोट

4. **सहानुभूति** (Sympathy)–समाजीकरण की प्रक्रिया में सहानुभूति का भी विशेष महत्त्व है। बालक को अपने जीवन में सहानुभूति की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। सहानुभूति के द्वारा बालक में अपनत्व की भावना का विकास होता है। बालक उन लोगों के साथ विशेष लगाव रखता है, उनसे अधिक प्रेम करता है, उनकी बातों को सहज में ही स्वीकार कर लेता है, जो उससे सहानुभूति रखते हैं।
5. **सहयोग** (Co-operation)–समाज ही बालक को सामाजिक प्राणी बनाता है। सामाजिक गुणों का प्रादुर्भाव उसमें समाज के द्वारा ही होता है। जैसे-जैसे बालक समाज के अन्य व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त करता है; वैसे-वैसे वह उनको अपना सहयोग देना भी आरंभ कर देता है। इससे उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ संगठित होती हैं।
6. **आत्मीयता** (Identification)–आत्मीयता पारस्परिक विश्वास और सम्मान का व्यक्तिगत संबंध है। परिवार, पड़ोस और समुदाय के प्रेमपूर्ण व्यवहार और सहानुभूति से बालक में आत्मीयता की भावना पैदा होती है, जो व्यक्ति बालक से प्यार करते हैं, उसके साथ सहयोग और सहानुभूति का व्यवहार करते हैं, बालक भी उनको अपना समझने लगता है और उनके व्यवहार, आचरण, रहन-सहन, भाषा, आदर्शों आदि को अपनाने का प्रयत्न करता है।
7. **पुरस्कार और दंड** (Reward and Punishment)–बालक के समाजीकरण में पुरस्कार और दंड भी बहुत सहायक होते हैं। जब बालक अच्छे कार्य करता है, समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करता है, तो उसको प्रशंसा मिलती है या पुरस्कार मिलता है। लेकिन जब बालक समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं के विपरीत कार्य करता है अथवा असामाजिक कार्य करता है तो उसको दंड मिलता है। इससे बालक के समाजीकृत होने में बहत सहायता मिलती है।

क्या आप जानते हैं समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. समाज ही बालक को बनाता है–
   (अ) सामाजिक प्राणी (ब) असामाजिक प्राणी
   (स) पूर्ण पुरुष (द) इनमें से कोई नहीं
4. सामाजिक गुणों का प्रादुर्भाव होता है–
   (अ) व्यक्ति द्वारा (ब) समाज के द्वारा
   (स) बालक के द्वारा (द) इनमें से कोई नहीं
5. बालक के समाजीकरण का सबसे प्रमुख एवं सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है–
   (अ) परिवार (ब) समाज
   (स) देश (द) इनमें से कोई नहीं
6. बालक के समाजीकरण का एक प्रमुख साधन है–
   (अ) माता–पिता (ब) जाति
   (स) देश (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

18.4 बालक का समाजीकरण करने वाले तत्व या कारक (Factors Leading to the Socialization of the Child)

समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। अत: इसमें समाज की अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। बालक के समाजीकरण में सहायता प्रदान करने वाले प्रमुख तत्व अग्र प्रकार हैं–

1. **परिवार** (Family)–बालक के समाजीकरण का सबसे प्रमुख और सबसे महत्त्वपूर्ण कारक परिवार है। **किंबाल यंग** के शब्दों में–''समाज के अंदर समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।'' बालक का जन्म परिवार में होता है और वहीं पर उसका विकास होता है। परिवार में ही वह खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, वस्त्र पहनना, पूजापाठ करना आदि कार्यों को करना सीखता है। परिवार में ही वह समाज के नियमों का प्रारंभिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। परिवार में ही वह प्रेम, सहयोग, सहकारिता, सहानुभूति, दया, क्षमा, त्याग, सद्भाव, सहनशीलता और कर्तव्यपरायणता आदि सामाजिक गुणों को सीखता है। व्यक्ति आजीवन परिवार में रहता है। अत: परिवार समाजीकरण का सबसे अधिक स्थायी साधन है। माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई आदि परिवार के सभी सदस्य बालक के समाजीकरण में सक्रिय रहते हैं। परिवार के सदस्य ही बालक को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, सही-गलत, वांछनीय-अवांछनीय, न्यायसंगत-अन्यायसंगत आदि का ज्ञान कराते हैं। परिवार के सहयोगी और भावात्मक वातावरण का बालक के समाजीकरण पर अनकूल प्रभाव पड़ता है और अपराधी विकृत, विघटित परिवारों को बालक के समाजीकरण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
2. **विद्यालय** (School)–बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों में परिवार के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व विद्यालय है। विद्यालय बालक के समाजीकरण का औपचारिक साधन है। विद्यालय में बालक को उसकी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराया जाता है, उसे समाज के मूल्य और मान्यताओं के विषय में जानकारी दी जाती है और उसे उनके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित किया जाता है। विद्यालय में बालक का समुचित समाजीकरण करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए–
    1. विद्यालयों में सामूहिक कार्यों; जैसे–वाद-विवाद, पत्र-पठन, नाटक, पर्यटन आदि का आयोजन किया जाना चाहिए।
    2. विद्यालय में सामाजिक उत्सवों का आयोजन किया जाना चाहिए।
    3. विद्यालय में खेल-कूद, साहित्यिक सांस्कृतिक आदि पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए।
    4. विद्यालय में बालकों को सामूहिक अंत:क्रिया के अधिकाधिक अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।
    5. सामाजिक अनुभवों और सामाजिक कौशलों जैसे पत्र-लेखन, सहभोज, दूरभाष का प्रयोग आदि की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए।
    6. विद्यालय का वातावरण प्रेम, सहयोग और सद्भाव से पूर्ण होना चाहिए।
    7. विद्यालय का जीवन अनुशासनपूर्ण होना चाहिए बालकों में आत्मानुशासन की भावना का विकास किया जाना चाहिए।
    8. सामाजिक रीतियों, परंपराओं और कुप्रथाओं के निराकरण के विषय में बालकों को बताया जाना चाहिए।
    9. बालकों में पुरस्कार और दंड के रूप में सामाजिक प्रतिष्ठा और तिरस्कार की स्वस्थ भावना का विकास किया जाना चाहिए।
    10. विद्यालय को लघु समुदाय का रूप दिया जाना चाहिए।
3. **पड़ोस और संगी साथी** (Neighbourhood and Peer-Group)–बालक के समाजीकरण में पड़ोस और संगी साथी भी सहायक होते हैं। परिवार से निकालकर वह अपने पड़ोस में रहने वाले व्यक्तियों और

नोट

अपने समवयस्क बालकों के संपर्क में आता है। उनके साथ उठता-बैठता है, खेलता है, बातें करता है, कभी लड़ता-झगड़ता है और कभी प्यार करता है। पड़ोस ही उसको अच्छी या बुरी संगति प्रदान करता है। अच्छी संगति में उसका विकास होता है और बुरी संगति में वह बिगड़ भी सकता है। पड़ोस और संगी-साथी अच्छे, सभ्य और सुसंस्कृत हैं तो बालक का समाजीकरण उचित रूप में और तीव्र गति से होता है और यदि पड़ोस और संगी-साथी अच्छे नहीं हैं तो उसका समाजीकरण उचित दिशा में नहीं होता।

4. **जाति** (Caste)–बालक के समाजीकरण का एक प्रमुख साधन जाति है। प्रत्येक जाति की अपनी रीतियाँ, परंपराएँ, मूल्य और आदर्श होते हैं और बालक अपनी जाति की इन्हीं रीतियों, परंपराओं, मूल्यों और आदर्शों को अपनाता है। इसी कारण प्रत्येक जाति के बालकों का समाजीकरण भी अलग-अलग होता है। यद्यपि हमारे देश में संविधान के अनुसार कोई वर्ग भेद नहीं है, कोई छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं है लेकिन व्यावहारिक रूप से कुछ जातियाँ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि अपने को ऊँचा और श्रेष्ठ समझती हैं जिसके परिणामस्वरूप इन जातियों के बालकों के अंदर अहम् और अभिमान की भावना पैदा हो जाती है तथा दूसरी जातियों के बालक हीनता के शिकार रहते हैं। इन बातों का सीधा प्रभाव उनके समाजीकरण पर पड़ता है।

5. **समुदाय** (Community)–बालक के समाजीकरण में समुदाय का विशेष योगदान है। समुदाय अपनी संस्कृति, कला, साहित्य, इतिहास, प्रथाओं, परंपराओं, पूर्व धारणाओं, मनोरंजन के साधनों, शिक्षा के अभिकरणों, सुविधाओं, सामाजिक और धार्मिक उत्सवों और त्योहारों के द्वारा बालक के समाजीकरण को प्रभावित करता हैं। समुदाय की सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने से भी बालक के समाजीकरण में सहायता मिलती है। समुदाय का संगठन और उसकी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति भी बालक के समाजीकरण को प्रभावित करती है।

6. **धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संस्थाएँ** (Religious, Economic, Cultural and Political Institutions)–बालक के समाजीकरण पर समाज की धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संस्थाओं का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज धार्मिक रूप से कट्टर है अथवा उदार, आर्थिक रूप से पूँजीवादी है अथवा समाजवादी, राजनीतिक रूप से राजतंत्रवादी है, प्रजातंत्रवादी है या अधिनायकवादी है, आदि बातें बालक के समाजीकरण पर प्रभाव डालती हैं। समाज की सांस्कृतिक संस्थाएँ बालक को समाज के रीति-रिवाजों, परंपराओं और सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित कराती हैं। भिन्न-भिन्न संस्थाओं के संपर्क में आने वाले बालकों के समाजीकरण में अंतर पाया जाता है।

7. **खेलकूद** (Games and Sports)–खेलकूद बालक के समाजीकरण में बहुत योगदान देते हैं। बालक की रुचि खेलकूद में बहुत अधिक होती है। वह खेलते समय जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच और अन्य सभी प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर दूसरे बालकों के साथ आनंद प्राप्त करता है। खेल-कूद में बालक की सामाजिक अंत:क्रिया का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन होता है। खेलकूद में बालक में प्रेम, सहयोग, सहनशीलता, वफादारी, सहानुभूति, नियम-पालन और टीम भावना आदि अनेक गुणों का विकास सहज ही हो जाता है।

8. **स्काउटिंग एवं गर्ल गाइडिंग** (Scouting and Girl Guiding)–बालक के समाजीकरण करने वाले तत्वों में स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग का भी विशेष स्थान है। स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, धनवान-निर्धन के भेद तथा संकुचित राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करती है। वह समस्याएँ बालक के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं, उनको सामूहिक कार्य करने के अवसर प्रदान करती हैं और उनमें नि:स्वार्थ भाव से सेवा करने की भावना का विकास करती हैं। इन संस्थाओं की गतिविधियों में भाग लेने से बालक में प्रेम, सहयोग, सहकारिता, परोपकार, अपनेपन की भावना, ईमानदारी, निष्ठा आदि गुणों का विकास होता है, जो समाजीकरण में बहुत सहायक हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों में परिवार के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व विद्यालय है।
8. अपने जन्म के समय बालक एक मनोशारीरिक प्राणी होता है।
9. समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया नहीं है।
10. समाजीकरण के द्वारा एक जैविकीय व्यक्ति सामाजिक प्राणी बन जाता है।

18.5 बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व (Factors Resisting Socialization of the Child)

मैसलो (Maslow) के अनुसार बालक के समाजीकरण में बाधक तत्व निम्न प्रकार हैं–

1. **बाल्यकालीन परिस्थितियाँ**–जैसे माता-पिता से प्यार न मिलना, माता-पिता के मध्य कलह और संघर्ष, विधवा माँ, माता-पिता का पक्षपातपूर्ण व्यवहार, अनुचित दंड, असुरक्षा, एकाकीपन आदि।
2. **सांस्कृतिक परिस्थितियाँ**–जैसे धर्म, जाति, वर्ग आदि से संबंधित पूर्व धारणाएँ और पूर्वाग्रह आदि।
3. **तत्कालीन परिस्थितियाँ**–जैसे–अन्याय, अपमान, निराशा, ईर्ष्या, कठोरता आदि।
4. **अन्य परिस्थितियाँ**–जैसे–शारीरिक हीनता, आत्मविश्वास का अभाव, शारीरिक दोष, शिक्षा का अभाव, आत्मनिर्भरता का अभाव, बेरोजगारी, असफलताएँ आदि।

टास्क बालक के समाजीकरण में बाधक तत्वों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

18.6 समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक का उत्तरदायित्व (Role of Teacher in the Process of Socialization)

बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया में माता-पिता या परिवार के बाद शिक्षक का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षक को निम्नलिखित कार्य करने चाहिए।

1. **संस्कृति का हस्तांतरण** (Transmission of Culture)–संस्कृति व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करती है। पाशविक शक्तियों पर नियंत्रण और समाजोपयोगी तत्वों का विकास संस्कृति की सहायता से ही होता है। शिक्षक को बालकों को समाज की संस्कृति से परिचित कराना चाहिए और उसके मन में उसके प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। इससे बालक के समाजीकरण में सहायता मिलेगी।
2. **सामूहिक कार्यों को प्रोत्साहन** (Encouragement of group Work)–बालक के समाजीकरण में सहायता प्रदान करने के लिए शिक्षक को विद्यालय में सामूहिक क्रियाओं का आयोजन करना चाहिए और उनमें भाग लेने के लिए बालकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे उनमें सामूहिक भावना का उदय होगा।
3. **सामाजिक वातावरण का निर्माण** (to form the Social Environment)–बालक के उचित समाजीकरण के लिए शिक्षक को विद्यार्थियों के साथ मधुर संबंध स्थापित करने चाहिए और अधिक से अधिक संपर्क स्थापित करना चाहिए। शिक्षक को विद्यालय में उच्च सामाजिक वातावरण का निर्माण करना चाहिए। प्रधानाचार्य, शिक्षकों, विद्यार्थियों, अधिकारियों और कर्मचारियों को मतभेदों, गुटबंदी और

नोट

गंदी राजनीति से दूर रहना चाहिए। उन्हें परस्पर प्रेमपूर्ण, सहयोगपूर्ण, सहानुभूति और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

4. **अंतर सांस्कृतिक भावना का विकास** (Development of Intercultural Feeling)–विद्यालय के अंदर अलग-अलग संस्कृतियों के बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। शिक्षक को बालकों में इस प्रकार की भावना का विकास करना चाहिए कि वे दूसरों की संस्कृतियों के प्रति आदर का भाव रखें, उनका सम्मान करें, उनके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठें।
5. **सामाजिक आदर्शों का प्रस्तुतीकरण** (Presentation of Social Ideals)–शिक्षकों के अपने कथनों और विभिन्न क्रियाओं द्वारा बालकों के समक्ष उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करना चाहिए जिससे बालक उनका अनुकरण कर उच्च सामाजिक आचरण करना सीख सकें। इससे बालक के समाजीकरण में सहायता मिलेगी।
6. **स्वस्थ मानवीय संबंध** (Healthy Human Relations)–समाजीकरण के लिए स्वस्थ मानवीय संबंधों का होना आवश्यक है। अत: शिक्षक का उत्तरदायित्व है कि वह विद्यालय में स्वस्थ मानवीय संबंधों का निर्माण करे। विद्यालय में छात्र-छात्र में, शिक्षक-शिक्षक में, छात्र-शिक्षक में, छात्र-प्रधानाचार्य में, शिक्षक-प्रधानाचार्य में, मधुर संबंध स्थापित किए जाने चाहिए। विद्यालय का वातावरण अच्छे और स्वस्थ मानवीय संबंधों से ओत-प्रोत होना चाहिए।
7. **विद्यालय परंपराएँ** (School Traditions)–विद्यालय की परंपराओं का बालक के समाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यालय में सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ और उपयोगी परंपराओं का विकास करे, उन परंपराओं में बालकों का विश्वास उत्पन्न करे और उन्हीं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करें।
8. **स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना** (Feeling of Healthy Competition)–बालक के समाजीकरण में स्वस्थ प्रतियोगिता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अत: शिक्षक को बालकों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करना चाहिए।
9. **विद्यालय सामुदायिक केंद्र के रूप में** (School Should be a Community Centre)–विद्यालय स्वयं में एक सामुदायिक केंद्र होना चाहिए। वहाँ पर ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन और व्यवस्था की जानी चाहिए जिनका सीधा संबंध समुदाय में होने वाले कार्यों से हो। यदि विद्यालय परिवार के सदस्य, समुदाय के सदस्यों के साथ और समुदाय के सदस्य विद्यालय परिवार के सदस्यों के साथ सहयोग करेंगे तो बालकों का समाजीकरण समुचित रूप से स्थायी रूप में हो सकेगा।
10. **पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन** (Organizing Co-curricular Activities)–बालक के समाजीकरण के विकास में पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक द्वारा बालकों में सामाजिक गुणों का विकास करने के लिए खेलकूद, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों, स्काउटिंग, एन. सी. सी., राष्ट्रीय सेवा योजना आदि का आयोजन व्यापक स्तर पर किया जाना चाहिए। इन कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने, इनका आयोजन करने और इनका मूल्यांकन करने से अधिक से अधिक अवसर बालकों को दिए जाने चाहिए।

18.7 सारांश (Summary)

बालक के समाजीकरण करने वाले तत्वों में स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग का भी विशेष स्थान है। स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, धनवान-निर्धन के भेद तथा संकुचित राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करती है। वह समस्याएँ बालक के दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं, उनको सामूहिक कार्य करने के अवसर प्रदान करती हैं और उनमें नि:स्वार्थ भाव से सेवा करने की भावना का विकास करती हैं। इन संस्थाओं की गतिविधियों में भाग लेने से बालक में प्रेम, सहयोग, सहकारिता, परोपकार, अपनेपन की भावना, ईमानदारी, निष्ठा आदि गुणों का विकास होता है, जो समाजीकरण में बहुत सहायक हैं।

नोट

18.8 शब्दकोश (Keywords)

1. **विशेषताएँ** (Characteristics) : विशिष्टताएँ
2. **प्रक्रिया** (Process) : विधि

18.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. समाजीकरण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. बालक का समाजीकरण करने वाले तत्वों का विवरण दीजिए।
4. बालक के समाजीकरण में बाधक तत्वों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर–स्व-मूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. आजीवन	2. सहानुभूति	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

18.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–19 : सामाजिक परिवर्तन एवं शिक्षा (Social Change and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

19.1 समाजिक परिवर्तन का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Social Change)

19.2 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Social Change)

19.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत (Theories of Social Change)

19.4 सामाजिक परिवर्तन के रूप (Forms of Social Change)

19.5 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors Affecting Social Change in India)

19.6 सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्व (Factors Resisting Social Change)

19.7 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन (Education and Social Change)

19.8 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है (Education is the Instrument for Social Change)

19.9 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है (Education follows Social Change)

19.10 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in Social Change)

19.11 सारांश (Summary)

19.12 शब्दकोश (Keywords)

19.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

19.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ जानने हेतु।
- सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ जानने हेतु।
- सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्व जानने हेतु।
- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन का संबंध जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। संसार की प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन जड़ और चेतन सभी में दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति में यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। कभी दिन तो कभी रात, कभी

नोट

सर्दी, कभी गर्मी तो कभी वर्षा, कभी बाढ़ तो कभी सूखा, कभी भूकंप तो कभी तूफान। बीज का भूमि में पोषण होने से अंकुरन होता है, पौधा बनता है, पौधे से वृक्ष और पूर्णता के पश्चात् उसका अंत। प्रकृति के इस परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। जब जड़ प्रकृति में परिवर्तन होता है तो मनुष्य तो चेतन है। उसमें, उसके द्वारा निर्मित सामान में, उसकी व्यवस्था में, उसके क्रिया-कलापों में भला परिवर्तन कैसे नहीं होगा? मनुष्य का जीवन एक स्तर से दूसरे स्तर तक परिवर्तित होता रहता है–पहले बचपन, फिर युवावस्था, फिर वृद्धावस्था और अंत में मृत्यु। मनुष्य की भाषा, विचार, आवश्यकताएँ, जीवन, उद्देश्य, मूल्य, संस्कृति और सभी किसी न किसी रूप में बदलती रहती हैं। कहा जाता है कि समय और संसार स्थिर नहीं रहते। परिवर्तन जीवन का नियम है। वे जो केवल अपने अतीत एवं वर्तमान को ही देखते रहते हैं, निश्चित रूप से अपने भविष्य को खो देते हैं। समाज मानव जीवन के प्रारंभ से ही मनुष्य के साथ है और तब से लेकर आज तक समाज या सामाजिक जीवन में, उसके स्वरूप, संरचना, व्यवस्था, संगठन, आदर्श, मूल्य सभी में परिवर्तन की निरंतर और अवश्यंभावी प्रक्रिया में कभी भी अवरोध नहीं आया। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, जो पूर्णत: स्थिर हो। परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होगा ही। अपरिवर्तनशील समाज का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। इस परिवर्तन का ही परिणाम है कि पाषाण युग का वह आदिमानव आज अंतरिक्ष तक पहुँच गया है और भविष्य में पता नहीं कहाँ तक पहुँचेगा। अस्तु समाज के संदर्भ में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

समाज निरंतर गतिशील रहता है। समाज की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों में निंरतर परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तनशीलता का ही परिणाम है कि आज हमारे समाज की रचना और स्वरूप में भारी परिवर्तन आ गया है। आज का समाज आज से एक सौ वर्ष पूर्व के समाज से भिन्न है तथा वह एक हजार वर्ष पूर्व के समाज से बहुत भिन्न था। इस अंतराल में जो परिवर्तन हुए हैं उससे आज के समाज और उस समय के समाज में जमीन-आसमान का अंतर आ गया है। इस प्रकार समाज में निरंतर परिवर्तन होते रहते है। हाँ यह बात अवश्य है कि किसी समाज में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से होते हैं और किसी समाज में बहुत मंद गति से। समाज की विशेषता यह भी है कि सामान्यत: वह आगे की ओर ही बढ़ता है। इसमें हुआ परिवर्तन प्रगति का ही सूचक होता है।

नोट्स सामाजिक परिवर्तन निरंतर चलने वाली ऐसी प्रक्रिया है, जो अनेक कारकों से प्रभावित होती है।

19.1 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन दो शब्दों से मिलकर बना है–समाज और परिवर्तन। समाज का अर्थ केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है। समूह में रहते वाले व्यक्तियों के आपस में जो संबंध हैं, उन संबंधों के संगठित रूप को ही समाज कहते हैं। समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। परिवर्तन का अर्थ है–बदलाव अर्थात् पहले की स्थिति में बदलाव। पहले की स्थिति और आज की स्थिति में आने वाला अंतर या बदलाव ही परिवर्तन है। इस प्रकार समाज की पहले की स्थिति और बाद की स्थिति में अंतर आ जाना ही सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक संगठन, सामाजिक ढाँचे, सामाजिक संबंधों या समाज के रहन-सहन के ढंग, रीति-रिवाजों, मूल्यों और विश्वासों आदि में जो अंतर आ जाता है, वह सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन की कतिपय परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

के. डेविस–(K. Davis)–''सामाजिक परिवर्तन में केवल वे ही परिवर्तन समझे जाते हैं, जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और कार्यों में घटित होते हैं।''

जोंस (Jones)–''सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है, जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंत:क्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में अंतर या रूपांतरण को वर्णित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।''

नोट

जॉन्सन (Johnson)–''व्यक्तियों के कार्य करने एवं विचार करने के ढँगों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

डासन तथा गेटिस (Dauson and Gatis)–'' सांस्कृतिक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

मैकाइवर तथा पेज (Maciver and Page)–''सामाजिक ढाँचे में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।''

गिलिन तथा गिलिन (Gillin and Gillin)–''सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं। चाहे वे परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों से या जनसंख्या की रचना या सिद्धांतों के परिवर्तन से या प्रसार से या समूह के अंदर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हैं।''

कुप्पूस्वामी (Kuppuswami)–''जब हम सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य सामाजिक व्यवहार तथा सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तन से होता है।''

19.2 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं–

1. यह परिवर्तन पूरे सामाजिक ढाँचे में भी हो सकता है तथा उसके किसी एक संगठन में भी हो सकता है।
2. जब हमारी भौतिक अथवा अभौतिक संस्कृति बदलती है तो सामाजिक परिवर्तन होता है।
3. शिक्षा आदि के द्वारा जब व्यक्ति के विचार-जगत में क्रांति होती है तो उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आ जाता है।
4. खुले समाज में परिवर्तन की गति तीव्र होती है और बंद समाज में परिवर्तन की गति बहुत मंद होती है।
5. सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन की गति सामाजिक कार्यों में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा बहुत धीमी होती है।
6. जब सामाजिक परिवर्तन की गति मंद हो जाती है तो क्रांतियों की संभावना बढ़ जाती है और इस क्रांति के द्वारा एकाएक व्यापक परिवर्तन होते हैं।
7. यह आवश्यक नहीं है कि सभी परिवर्तन स्थायी ही हों। आज जो परिवर्तन दिखायी दे रहा है, भविष्य में उनके स्वरूप में भी परिवर्तन हो सकता है।
8. यह आवश्यक नहीं है कि समाज में होने वाले परिवर्तन उसे सदैव विकास की ओर ही ले जाएँ। कभी-कभी कुछ परिवर्तन समाज को अवनति की ओर भी ले जाते हैं।
9. सामाजिक परिवर्तन नियोजित भी हो सकता है और अनियोजित भी हो सकता है।
10. पहले की अपेक्षाा आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक होता है और उन परिवर्तनों को आज हम अधिक स्पष्ट रूप से देख भी सकते हैं।
11. स्वाभाविक ढँग से और सामान्य गति से होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर पड़ता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. परिवर्तन प्रकृति का ..... नियम है।
2. सांस्कृतिक परिवर्तन ही ..... परिवर्तन है।

नोट

19.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत (Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के मुख्यत: तीन सिद्धांत हैं–

1. **प्राविधिक सिद्धांत** (Technological Theory)–इस सिद्धांत का प्रतिपादन ऑगबर्न ने किया। उन्होंने सभी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन का आधार तकनीकी क्षेत्र में होने वाले विकास को बताया और सामाजिक परिवर्तन तथा आविष्कारों के मध्य संबंध स्थापित किया। उन्होंने कहा कि नवीन आविष्कारों का अर्थ है–नवीन सांस्कृतिक गुणों व तत्वों की खोज। यह खोज वर्तमान संस्कृति में हेर-फेर भी हो सकती है और पूरी तरह से नवीन भी हो सकती है। जब समाज इसको अपनाने लगता है तब समाज में परिवर्तन आ जाता है।
2. **रेखीय सिद्धांत** (Linear Theory)–इस सिद्धांत के प्रतिपादक काम्टे, स्पेन्सर और कार्ल मार्क्स को माना जाता है। इन्होंने समाज के विकास के क्रम को ऐतिहासिक बताया और एक ऐसे समाज की कल्पना की, जहाँ परिवर्तन चक्र स्थिर होकर रह जाएगा। काम्टे ने सामाजिक परिवर्तन से बौद्धिक विकास का परिणाम बताया है और बौद्धिक विकास की तीन अवस्थाएँ बतायीं–(अ) धार्मिक अवस्था (ब) तात्विक अवस्था और (स) वैज्ञानिक अवस्था।
3. **चक्रीय सिद्धांत** (Cyclical Theory)–इस सिद्धांत के प्रतिपादक स्पेंगलर, सोरोकिन और टायनवी माने जाते हैं। टायनवी के अनुसार समाज में परिवर्तन व्यक्ति की आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति के कारण आता है। सोरोकिन के अनुसार समाज की तीन श्रेणियाँ हैं–विचारात्मक, संवेदनात्मक और आदर्शात्मक–जो समाज में समयानुसार परिवर्तन लाती हैं। स्पेंगलर ने सामाजिक घटनाओं के तीन चरण बताए हैं–जन्म, परिपक्वता और अंत, जो समाज में परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी हैं।

19.4 सामाजिक परिवर्तन के रूप (Forms of Social Change)

समाज में होने वाले परिवर्तन के निम्नलिखित तीन रूप होते हैं–

1. **विकासात्मक परिवर्तन** (Evolutionary Change)–समाज में परिवर्तन अचानक न होकर पहले से विद्यमान परिस्थितियों के आधार पर होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एकदम नहीं होते, वरन् धीरे-धीरे होते हैं, लेकिन आभास ऐसा होता है, जैसे यह परिवर्तन अचानक हुए हों। विकासात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। किसी भी समाज में शैक्षिक, तकनीकी, चिकित्सा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों को देखों तो हम यह पाएँगे कि आज उसने जो स्वरूप प्राप्त किया है, उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है।
2. **लहरदार परिवर्तन** (Wave like change)–यह वह परिवर्तन है, जिनमें लहरों के समान उतार-चढ़ाव होता है। जिस प्रकार पानी में लहरें कभी ऊपर की ओर उठती हैं तो कभी नीचे की ओर गिरती हैं, इसी प्रकार समाज कभी बहुत तेजी के साथ प्रगति की ओर जाता है और कभी अवनति की ओर।
3. **चक्रीय परिवर्तन** (Cyclic order change)–चक्र के समान होने वाले परिवर्तन चक्रिक क्रम से होने वाले परिवर्तन कहलाते हैं। इस परिवर्तन में समाज में पूर्व में होने वाली घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है। जैसे रोजगार योजनाओं के द्वारा बेरोजगारी कम की जाती है, परंतु जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ पुन: बेरोजगारी में समस्या में वृद्धि होती है और समाज में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार फैशन में होने वाला परिवर्तन भी इसी प्रकार का परिवर्तन है। कभी तंग मोहरी की पेंट का प्रचलन होता है, कभी चौड़ी मोहरी की पेंट का और कुछ समय बाद वही पुरानी तंग मोहरी की पेंट का प्रचलन होने लगता है। इस प्रकार के परिवर्तन में घटनाओं का चक्र निरंतर घूमता रहता है।

क्या आप जानते हैं समाज निरंतर गतिशील रहता है।

19.5 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors Affecting Social Change in India)

नोट

सामाजिक परिवर्तन निरंतर चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनेक कारकों से प्रभावित होती है। विभिन्न विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक बताए हैं। भारतीय संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं–

1. **प्राकृतिक कारक** (Natural Factors)–प्रकृति परिवर्तन का प्रमुख आधार है। धरती की सतह सदैव एक ही स्थिति में नहीं रहती। इस पर बराबर ही कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकंप एवं महामारी के फलस्वरूप समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए व्यवस्था में परिवर्तन करना होता है, जिसका सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारतीय अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है। सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग खेती करते हैं। प्रकृति का यह रौद्र रूप उनको बुरी तरह से प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त जब किसी स्थान की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है, पानी आदि की सुविधाओं का अभाव हो जाता है या किसी स्थान पर खनिज पदार्थ समाप्त हो जाते हैं और लोगों की आजीविका का साधन समाप्त हो जाता है तो लोग उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों की ओर चले जाते हैं और वहाँ बस कर नए सामाजिक संबंधों की स्थापना करते हैं। इससे उनकी जीवन शैली में परिवर्तन आ जाता है।
2. **जैवकीय कारक** (Biological Factors)–सामाजिक परिवर्तन अनेक जैवकीय कारकों से भी हो सकता है। जैवकीय कारक जनसंख्या के प्रकार को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए यदि वंश परंपरा के द्वारा जनसंख्या को अधिक दुर्बल संतान प्राप्त हो रही है अर्थात् यदि किसी समाज में स्वास्थ्य स्तर नीचा है तो उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ेगा। जिन समाजों में स्त्री और पुरुष का अनुपात समान नहीं होगा। पुरुष अधिक और स्त्रियाँ कम होने से बहुपति प्रथा का प्रचलन होगा और अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा होंगी। आजकल जातीय और प्रांतीय बंधन धीरे-धीरे शिथिल होते जा रहे हैं। भारतीय दूसरे प्रदेशों की स्त्रियों से ही नहीं, विदेशियों से और दूसरे धर्म व संप्रदाय की स्त्रियों से विवाह संबंध बना रहे हैं, जिससे समाज में परिवर्तन आ रहा है।
3. **जनसंख्यात्मक कारक** (Demographic Factors)–जनसंख्यात्मक कारक भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनसंख्या के आकार और घनत्व के घटने-बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन हो जाने की संभावना होती है। जन्म दर के घटने और मृत्युदर बढ़ने से जनसंख्या घटती है, जिससे समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी होती है और उपलब्ध समस्त प्राकृतिक साधनों में भरपूर उपयोग नहीं हो पाता। इससे देश की आर्थिक दशा गिरती है, परिवारों का आकार घटता है और इसके फलस्वरूप सामाजिक और पारिवारिक संबंधों में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार जन्म दर के बढ़ने और मृत्यु दर के घटने से जनसंख्या बढ़ती है और उस बढ़ी हुई जनसंख्या के पालन-पोषण के लिए नए-नए ढंग आविष्कृत किए जाते हैं। अन्न की पूर्ति के लिए गहन कृषि तथा नयी भूमि पर कृषि आरंभ हो जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है, जिससे लोगों का जीवन स्तर गिरा है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत कर रहा है, बेरोजगारी बढ़ रही है, अपराध बढ़ रहे हैं, प्रदूषण बढ़ रहा है और देश के सामने भयंकर समस्याएँ खड़ी हो रही हैं।
4. **प्रौद्योगिकीय कारक** (Technological Factors)–प्रौद्योगिकीय कारक सामाजिक परिवर्तन का एक अति महत्त्वपूर्ण कारक है। आज का युग प्रौद्योगिकी का युग है। कोई भी नयी मशीन या यंत्र का जैसे ही आविष्कार होता है, उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ता है।

   ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के कारण उत्पन्न होने वाले 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है। मशीनों के आविष्कार से बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हुआ, श्रम विभाजन और विशेषीकरण की आवश्यकता हुई, व्यापार और वाणिज्य में उन्नति हुई, जीवन स्तर ऊँचा हुआ, नगरों का विकास तेजी से होने लगा, आर्थिक

नोट

संकट तथा बेकारी पैदा हुई, प्रौद्योगिक विवाद, बीमारियाँ और दुर्घटनाएँ बढ़ी गाँवों का नगरीकरण प्रारंभ हुआ, धर्म का प्रभाव घटा, संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ, स्त्रियों का घर से बाहर कार्य करना प्रारंभ हुआ और उनकी स्थिति में उन्नति हुई, निवास स्थान की कमी, गंदी बस्तियों का विकास हुआ, अपराध, व्याभिचार, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा बढ़ी, जीवन प्रकृति से दूर हो गया और ऐसे ही अनेकानेक परिवर्तन समाज में हुए। भारतीय समाज में इस प्रौद्योगिकी के कारणों ने बहुत बड़े परिवर्तन किए हैं।

5. **सांस्कृतिक कारक** (Cultural Factors)–मैक्स वेबर, सोरोकिन और मेकाइवर आदि विद्वानों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का मूल स्रोत सांस्कृतिक परिवर्तन है, क्योंकि मनुष्य के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, दृष्टिकोणों तथा परंपराओं और समाज के संबंधों एवं संस्थाओं में गहन संबद्धता पायी जाती है। डासन और गेटिस तो सांस्कृतिक परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन का नाम देते हैं। वस्तुतः हमारा सामाजिक जीवन धर्म, परंपराओं, संस्थाओं, विश्वासों, मूल्यों आदि पर निर्भर है और इस कारण इनमें कोई भी परिवर्तन हमारे सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन लाता है। उदाहरण के लिए पहले विवाह का एक धार्मिक आधार होता था, जिसके कारण लोग विवाह बंधन को तोड़ने की बात सोचते ही नहीं थे, लेकिन आज विवाह का आदर्श बदल गया है और आज लोग विवाह यौन संबधी संतुष्टि तथा व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, जिसके कारण विवाह संबंध की स्थिरता भी घट गयी है अनेक विवाहों का अंत विवाह विच्छेद में हो रहा है। इस प्रकार से परिवार के टूटने का प्रभाव न केवल व्यक्ति के जीवन में ही अनेक परिवर्तन लाता है वरन् सामाजिक जीवन में भी अनेक परिवर्तनों का कारण बनता है। भारत में सांस्कृतिक परिवर्तनों के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीय समाज में जहाँ भौतिकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है, लोगों में रूढ़िवादिता कम हुई है, उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है, स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ी हैं, सामाजिक बुराइयाँ कम हुई हैं, वहाँ लोगों में आध्यात्मिकता के प्रति कमी आयी है, उनकी वेशभूषा और खान-पान में भारी परिवर्तन हुआ है, हाथ से काम करने की प्रवृत्ति कम हुई है और स्वार्थ भावना व केवल अपने तक सीमित रहने की भावना प्रबल हुई है।

6. **नए आविष्कारों के कारण सामाजिक परिवर्तन** (Social changes by new Inventions)–आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने अपने आविष्कारों से, अपने चमत्कारों से सारे संसार को चमत्कृत किया है और इन नए आविष्कारों ने समाज को बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तित किया है। रेल, मोटरकार, वायुयान, टी.वी., रेडियो, वाशिंग मशीन, सिनेमा, टेलीफोन आदि विज्ञान के आविष्कारों ने मानव के जीवन को इतना अधिक बदल दिया है कि आश्चर्य होता है। चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले आविष्कारों से असाध्य समझे जाने वाले रोगों की चिकित्सा संभव हो गई है। संचार एवं संवादवाहन के क्षेत्र में अपनायी जाने वाली नई तकनीकी से और कम्प्यूटर क्रांति ने मनुष्य के सामाजिक जीवन में अविश्वसनीय परिवर्तन पैदा किया है। भारत में पिछले कुछ वर्षों में टेलीविजन, टेलीफोन और कम्प्यूटर ने सामाजिक परिवर्तन लाने में अहम भूमिका निभायी है।

7. **युद्ध** (War Factor)–ऑगबर्न ने युद्ध को सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक माना है। युद्ध के कारण अनेक नवीन आविष्कार होते हैं, नवीन व्यवस्थाएँ जन्म लेती हैं। युद्ध को सामाजिक विघटन का एक विकृत रूप माना गया है। इसके कारण जन-धन की अपार हानि होती है, आर्थिक साधन नष्ट हो जाते हैं, अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैलती हैं, जनसंख्या कम हो जाती है, लोगों के नैतिक स्तर में गिरावट आती है। पराजित राष्ट्र को शर्तों को, सामाजिक और राजनीतिक मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ता है। इन सब बातों से समाज में भारी परिवर्तन आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में चीन और पाकिस्तान के साथ हुए युद्धों ने भारतीयों के जीवन को बहुत प्रभावित किया।

8. **धर्म** (Religion Factor)–चार्ल्स एलवुड के अनुसार धर्म सामाजिक परिवर्तन का एक कारक है। समाज और मनुष्य पर सदैव ही धर्म का शक्तिशाली नियंत्रण होता है। भारतीय समाज में धर्म की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज जैसे धार्मिक आंदोलनों ने भारतीय जीवन में बहुत परिवर्तन किए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता को अपना आदर्श माना है और

नोट

इसका प्रभाव लोगों पर पड़ा है। आजकल भारत में आये दिन होने वाले धार्मिक सत्संगों और धार्मिक संत, महात्माओं, साध्वियों के प्रवचनों ने भी भारतवासियों के विचारों में भारी परिवर्तन किया है।

9. **कानून** (Law Factor)–सरकार द्वारा बनाए गए कानून जहाँ एक ओर सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में सहायक होते हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक परिवर्तन में भी सहायक होते हैं। कानून के द्वारा समाज के नियमों की रक्षा होती है और व्यक्ति नियमों का पालन करना सीखते हैं तथा जो लोग कानून का पालन नहीं करते, समाज विरोधी कार्य करते हैं, उनको दंडित किया जाता है, इससे समाज में व्यवस्था बनती है। भारतवर्ष में कानून के द्वारा जमींदारी प्रथा का अंत करके, प्रिवि पर्स को समाप्त करके, दासता और शोषण को समाप्त करके, लड़के-लड़कियों की विवाह की आयु निश्चित करके, बाल विवाह, बहु विवाह, सती प्रथा को दंडनीय अपराध घोषित करके, छुआछूत को समाप्त करके देश के सामाजिक जीवन में बहुत व्यापक परिवर्तन लाए गए हैं। कानून के द्वारा दल-बदल पर रोक लगाकर और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए लोकपालों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है, इससे कुछ परिवर्तन तो परिलक्षित हो ही रहा है। वस्तुत: यदि लोगों से यों ही नवीन परिवर्तन स्वीकार करने के लिए कहा जाए तो वे उसे स्वीकार नहीं करते, लेकिन यदि वही परिवर्तन कानून बनाकर लागू किया जाए तो वे उसे मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसलिए कानून भी किसी समाज में परिवर्तन लाने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

10. **राजनीतिक कारक** (Political Factors)–मानव समाज का इतिहास अधिकांशत: राजनीतिक उथल-पुथल का इतिहास है। समाज में अधिकतर परिवर्तन राजनीतिक कारणों से होते हैं। राजनीतिक स्थिरता से समाज में निरंतरता और स्थायित्व आता है, जबकि अस्थिरता सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती है। हिटलर के अधिनायकवाद, साम्यवादी क्रांति, बंगलादेश का जन्म भारत का विभाजन, अमेरिका पर आतंकवादी आक्रमण आदि राजनीतिक घटनाओं ने समाज को गहरे रूप में प्रभावित किया है। स्वतंत्र भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस व्यवस्था ने भारतीयों के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है। आज भारतीयों में जागरूकता आयी है, वे अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति बहुत अधिक सजग हुए हैं। चुनावों में उनकी रुचि बढ़ी है और वे राष्ट्रीय समस्याओं को समझने लगे हैं। राजनीति ने शिक्षा संस्थाओं में भी प्रवेश पा लिया है। जहाँ इससे लाभ हुआ है, वहाँ हानि भी कम नहीं हो रही हैं। इस प्रकार भारत में राजनीतिक कारकों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. संसार की प्रत्येक वस्तु में होता है–
   (अ) परिवर्तन (ब) अपरिवर्तन
   (स) अंतर (द) इनमें से कोई नहीं
4. समाज निरंतर रहता है–
   (अ) गतिशील (ब) श्रमशील
   (स) विद्यमान (द) इनमें से कोई नहीं
5. चक्र के समान होने वाले परिवर्तन कहलाते हैं–
   (अ) सर्वतोमुखी (ब) चक्रीय
   (स) जैविकीय (द) इनमें से कोई नहीं
6. ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के कारण उत्पन्न होने वाले ..... परिवर्तनों का उल्लेख किया हो?
   (अ) 150 (ब) 160
   (स) 170 (द) 180

नोट

19.6 सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्व (Factors Resisting Social Change)

समाज में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन को रोका भी नहीं जा सकता, लेकिन कुछ ऐसे तत्व हैं, जो सामाजिक परिवर्तन के रास्ते में अनेक प्रकार की बाधाएँ प्रस्तुत करते हैं, वे बाधक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. **नवीनता का भय** (Fear of New Things)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपनी और समाज की वर्तमान स्थिति से पूरी तरह संतुष्ट होते हैं, उसी में आस्था रखते हैं और उसी में अपनी सुरक्षा मानते हैं। वे सोचते हैं कि यदि उन्होंने किसी नवीन वस्तु या विचार को अपनाया तो उससे उनका अनिष्ट हो सकता है, इसलिए वे समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में नवीनताएँ समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं कर सकतीं।
2. **सांस्कृतिक जड़ता** (Cultural Inertia)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो यह मानते हैं कि जो बातें, जो विचार और जो विश्वास हमारे पूर्वजों के हैं, वे बिल्कुल ठीक हैं, हमें उन्हें ही स्वीकार करना चाहिए। सांस्कृतिक जड़ता का अर्थ पूर्वजों से प्राप्त उन मूल्यों, विश्वासों और परंपराओं से है, जिनके कुछ लोग दास बन जाते हैं और किसी भी हालत में वे उनको छोड़ना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में सामाजिक परिवर्तन होना किसी भी दृष्टि से संभव नहीं है।
3. **निहित स्वार्थ** (Vested Interests)–समाज में ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो उन्हीं कार्यों को करते हैं, जिनसे उनकी स्वार्थ सिद्धि होती हैं। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहते, जो उनकी स्वार्थ पूर्ति में बाधा डालता हो। ऐसे व्यक्तियों के लिए समाज का हित कुछ नहीं होता, अपना स्वार्थ ही प्रमुख होता है। उदाहरण के लिए हमारे देश में प्रिवी पर्स समाप्ति का विरोध राजाओं द्वारा किया गया, और जमींदारी उन्मूलन का विरोध जमीदारों द्वारा किया गया। आरक्षण चाहे वह नौकरियों में हो और चाहे महिलाओं के संबंध में हो, निहित स्वार्थों द्वारा उनका विरोध किया जा रहा है। इस प्रकार के निहित स्वार्थ सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की बाधा है।
4. **पृथकता की भावना** (Degree of Isolation)–समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपने अस्तित्व को दूसरों से अलग रखना चाहते हैं। वे यह चाहते हैं कि उनकी संस्कृति सुरक्षित रहे और इसी कारण वे अन्य संस्कृतियों से कोई संपर्क नहीं रखना चाहते। जिस समाज में यह भावना होगी, जिस समाज के लोग अलगाव की भावना से ग्रस्त होंगे, उस समाज में परिवर्तन आना संभव नहीं है। इसलिए यह भी सामाजिक परिवर्तन का एक बाधक तत्व है।

19.7 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन (Education and Social Change)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन में बहुत घनिष्ठ संबंध है। चूँकि शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है, इसलिए वह समाज में होने वाले परिवर्तन को स्वीकार करती हुई आगे बढ़ती है और बदलते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यक्ति की सहायता करती है। इस प्रकार शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध को निम्नलिखित दो रूपों में रखा जा सकता है–

1. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है।
2. शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है।

19.8 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है (Education is the Instrument for Social Change)

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण और सशक्त साधन है। डॉ. राधा कृष्णन ने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का साधन मानते हुए कहा है कि, ''शिक्षा परिवर्तन का साधन है। जो कार्य साधारणतया समाज में परिवार, धर्म, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है, वही आज शिक्षा संस्थाओं के द्वारा किया

नोट

जाता है।'' शिक्षा के द्वारा ही हम समाज के लोगों के विचारों में बदलाव ला सकते हैं और समाज की उन्नति कर सकते हैं। ड्यूवी के शब्दों में, ''शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जो किसी भी समाज को प्रगति की ओर ले जा सकता है।'' ब्रूबेकर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षा संस्थाएँ दो प्रकार का कार्य करती हैं–एक यथास्थिति की आलोचना करना अर्थात् शिक्षा के माध्यम से लोगों को यह बताना कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में क्या दोष हैं और उन दोषों को दूर करने का क्या लाभ होगा तथा दूसरा सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रयास करना अर्थात् शिक्षा के माध्यम से नवीन परिवर्तनों के लिए भूमिका तैयार करना और लोगों से उन परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार करना। कोठारी आयोग ने भी इस बात पर बल दिया कि आज के युग में शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से व्यापक सामाजिक परिवर्तन लाए जा सकते हैं। उसके शब्दों में, ''यदि बिना किसी हिंसक क्रांति के बड़े पैमाने पर परिवर्तन करना है तो केवल एक ही साधन है, जिसका प्रयोग किया जा सकता है और वह है शिक्षा। शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा एक शक्तिशाली साधन है। इसी कारण हर विकासशील देश शैक्षिक व्यवस्था से अधिकाधिक कुशल, प्रभावी और योजना बनाने का प्रयास करता है सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा अग्रलिखित कार्य करती है–

1. **परिवर्तन के लिए मानसिक रूप से तैयार करना**–शिक्षा का सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य लोगों को किसी भी नए परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से तैयार करना होता है। प्राय: यह देखा जाता है कि लोग किसी भी नए परिवर्तन को सहज ही स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। उन्हें इस बात का भय सताता रहता है कि इस नए परिवर्तन को स्वीकार करने से उनका अहित न हो जाए। कभी-कभी संकुचित स्वार्थों के कारण भी लोग परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। शिक्षा का कार्य इन परिवर्तनों से होने वाले लाभों से लोगों को परिचित करना और उनकी मानसिकता को बदलना होता है।
2. **पूर्वाग्रहों को बदलना और नवीनता की प्रेरणा देना**–समाज में कुछ लोग अत्यधिक रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और पुरातनपंथी होते हैं। उनके अपने पूर्वाग्रह होते हैं और वे उनसे टस से मस नहीं होना चाहते। शिक्षा उनके सोचने-विचारने के ढंग में परिवर्तन करती हैं, उनके पूर्वाग्रहों को दूर करती है और उनके अंदर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करती है, जिससे वे आज के वैज्ञानिक तकनीकी की ओर गतिशील होने वाली परिवर्तनों का समर्थन कर सकें।
3. **नवीन परिवर्तनों को प्रोत्साहित करना**–शिक्षा मनुष्य को चिंतनशील प्राणी बनाती है। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक समाचार पर गहराई के साथ विचार करने की प्रेरणा देती है। संसार के विभिन्न देशों में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाली प्रगति और विकास से परिचित कराती है। नए परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इससे लोगों को उनसे प्रेरणा मिलती है।
4. **परिवर्तनों के मूल्यांकन में सहायता करना**–सामान्यत: समाज में होने वाले अधिकांश परिवर्तन प्रगतिशील होते हैं, वे समाज को आगे बढ़ाने में सहायता करते हैं, लेकिन कतिपय परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो समाज को पीछे की ओर ले जाते हैं, जिनको स्वीकार करने से समाज की हानि हो सकती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा ही लोगों में सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन करने की क्षमता उत्पन्न करती है और उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे उनके गुणों या अवगुणों पर विचार कर सकें तथा यह निर्णय कर सकें कि कौन-से परिवर्तन उनके लिए उपयोगी होंगे और कौन से नहीं।
5. **शाश्वत मूल्यों को स्थायी करना**–प्रत्येक समाज के कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं, जो उस समाज को स्थायित्व प्रदान करते हैं। यही शाश्वत मूल्य उस समाज की विशेषता समझे जाते हैं। राल्फ लिटन का कहना है कि जब कभी सामाजिक परिवर्तन के कारण इन मूल्यों में दुर्बलता आने लगती है तो समाज पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। ऐसे समय में शिक्षा ही इन शाश्वत मूल्यों की रक्षा करती है और सामाजिक परिवर्तन के बुरे प्रभावों से बचाती है और लोगों को इनके संबंध में ऐसा ज्ञान देती है कि उनका विश्वास इन मूल्यों में बना रहे और वे सामाजिक परिवर्तनों को भी स्वीकारते रहें।
6. **ज्ञान में वृद्धि करना**–परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पुराने ज्ञान में कुछ नया ज्ञान जुड़ता रहे अर्थात् हमारे ज्ञान में निरंतर वृद्धि होती रहे। ज्ञान के विस्तार के द्वारा ही नवीन परिवर्तनों के विषय

नोट

में जानकारी प्राप्त हो सकती है। शिक्षा के द्वारा नए-नए शोध किया जाना संभव होता है, जिससे ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का विकास होता है। इस प्रकार ज्ञान में वृद्धि कर शिक्षा सामाजिक परिवर्तनों को प्रोत्साहित करती है।

7. **संस्कृति का हस्तांतरण ही नहीं उसमें परिवर्तन और सुधार करना**–शिक्षा के द्वारा समाज की संस्कृति का हस्तांतरण नई पीढ़ी को किया जाता है, जिससे समाज में स्थायित्व और निरंतरता आती है। लेकिन शिक्षा का कार्य ज्ञान, संस्कृति का हस्तांतरण ही नहीं है, अपितु उसमें वांछनीय परिवर्तन और सुधार लाना भी है। इस प्रकार शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की जन्मदाता, प्रवर्तक और निर्देशक है।
8. **एकता तथा समग्रता उत्पन्न करना**–आपसी तनाव, मतभेद और विवाद होने के कारण जब समाज के विभिन्न वर्गों में संघर्ष होने लगता है तो शिक्षा लोगों के मन में ऐसे विचारों और भावों को उत्पन्न करती है, जिससे उनमें एकता और समग्रता की भावना पैदा होती है। भारतवर्ष में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा और प्रांतवाद के आधार पर, आए दिन संघर्ष होते रहते हैं, शिक्षा के माध्यम से इनको दूर किया जा सकता है।
9. **मानवीय तथा सामाजिक संबंधों की प्रस्थापना करना**–आज के वैज्ञानिक, औद्योगिक और नगरीकरण के युग में जहाँ समाज ने उन्नति और विकास के क्षेत्र में बहुत लंबी यात्रा की है, वहाँ अनेक सामाजिक संस्थाओं को भी उत्पन्न किया है। इन समस्याओं में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या मानवीय और सामाजिक संबंधों की छिन्न-भिन्न होने की है। इस प्रगति और विकास ने मानवीय गुणों के प्रति लोगों को संवेदनशून्य बना दिया है। शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह इस भौतिकवादी युग में हुए सामाजिक परिवर्तनों में मानवीय और सामाजिक संबंधों की प्रस्थापना में सहयोग करे और लोगों को संवेदनशील बनाए।
10. **सामाजिक परिवर्तन में कुशल नेतृत्त्व प्रदान करने में सहायता करना**–सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य योग्य और कुशल नेतृत्व प्रदान करने में सहायता करना है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान तिलक, महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू, सुभाष चंद्र बोस ने समाज को जो नेतृत्व दिया,परिवर्तन की जो प्रेरणा दी, उसका सुखद परिणाम हुआ। किसी भी समाज के व्यक्ति कितने ही योग्य और प्रतिभावान क्यों न हों, जब तक उनका पथ प्रदर्शन करने वाला कुशल नेतृत्व नहीं होगा, तब तक वे न सही निर्णय कर सकेंगे और न ही सही कार्य कर सकेंगे। योग्य और कुशल नेतृत्व मिलते ही लोगों को सही दिशा मिल जाएगी, जिससे समाज में नए परिवर्तन हो सकेंगे।

टास्क 'शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है'–इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

19.9 शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है (Education follows Social Change)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध का दूसरा रूप है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है। इसका अर्थ है कि सामाजिक परिवर्तन पहले होते हैं और शिक्षा तो केवल उनका अनुसरण करती है, उनके पीछे-पीछे चलती है। जब मूल्यों, आवश्यकताओं और प्रविधियों में परिवर्तन होने लगता है तो शिक्षा भी अपने आपको उन्हीं के अनुसार बना लेती है। सामाजिक परिवर्तनों के अनुसार शिक्षा के स्वरूप, उसके उद्देश्यों, उसके पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों आदि में परिवर्तन होता है। ओटावे इस संदर्भ में कहते हैं कि ''कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। इसके विपरीत अधिक सत्य है–शैक्षिक परिवर्तन अन्य सामाजिक परिवर्तनों को आरंभ करने की अपेक्षा इनका अनुसरण करता है।'' वास्तव में, प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ही अपनी शिक्षा की व्यवस्था करता है। जैसा समाज का स्वरूप होता है, वैसा ही शिक्षा का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक या राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन

नोट

आता है, जीवन मूल्यों में बदलाव आता है, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है तो उसी के अनुसार शिक्षा का स्वरूप ही बदल जाता है। निम्नलिखित तथ्यों के कारण शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है–

1. **सामाजिक शक्तियों के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–प्रत्येक समाज की कुछ शक्तियाँ होती हैं, जैसे समाज के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समूह, समाज के आदर्श और मूल्य, समाज की आवश्यकताएँ और आकांक्षा में समाज को आचरण और व्यवहार प्रतिमान आदि। जब किसी कारण से इन शक्तियों में परिवर्तन होता है तो शिक्षा में भी उनके अनुरूप परिवर्तन हो जाता है।
2. **सामाजिक आवश्यकताओं के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–प्रत्येक समाज की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। जैसे-जैसे समाज की आवश्यकताएँ बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे वहाँ की शिक्षा में परिवर्तन आ जाता है। हमारे देश में आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। हमने प्रजातांत्रिक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष गणराज्य की स्थापना की है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, विकलांगों की शिक्षा, अल्पसंख्यकों, निर्बल वर्गों, अनुसूचित जाति तथा जनजाति के बालकों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध किए गए हैं।
3. **सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण शैक्षिक परिवर्तन**–सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण भी शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन होते हैं, जैसा कि ओटावे ने कहा है–''शिक्षा सांस्कृति के दो रूप होते हैं–एक भौतिक संस्कृति और दूसरी अभौतिक संस्कृति। पहले भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है, उसके बाद अभौतिक संस्कृति में। जब भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है तो उसके साथ समायोजन करने के लिए शिक्षा में भी परिवर्तन हो जाते हैं। आज रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि को शिक्षा का अंग बना दिया गया है।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. प्राविधिक सिद्धांत का प्रतिपादन ऑगबर्न ने किया है।
8. काम्टे ने बौद्धिक विकास की तीन अवस्थाँए बताई हैं–धार्मिक अवस्था, तात्विक अवस्था और वैज्ञानिक अवस्था।
9. स्पेंगलर ने सामाजिक घटनाओं के तीन चरण बताए हैं– जन्म, परिपक्वता और अंत।
10. प्रकृति परिवर्तन का प्रमुख आधार नहीं है।

19.10 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज के इस संक्रमण काल में शिक्षक ही लोगों के अंदर व्याप्त अज्ञान के अंधकार को दूर कर उन्हें प्रगति पथ की नई राह दिखा सकता है। वही परिवर्तनों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके नए परिवर्तनों में आस्था पैदा कर सकता है और नए परिवर्तनों को लाने में समाज का नेतृत्व भी कर सकता है। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षक एक मित्र, पथ-प्रदर्शक और दार्शनिक के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व सिद्ध हो सकता है। शिक्षक की भूमिका के संदर्भ में अग्रलिखित बातें दृष्टव्य हैं–

शिक्षक की भूमिका

1. शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन को सुनियोजित दिशा व गति प्रदान करनी चाहिए।

नोट

2. शिक्षक को प्रजातांत्रिक जीवन-मार्ग अपनाना चाहिए।
3. शिक्षक का व्यवहार निष्पक्ष और सभी के लिए समान होना चाहिए।
4. शिक्षक को समाज में व्याप्त संकीर्णता और पिछड़ेपन को दूर करके आदर्शों व मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।
5. शिक्षक को बालकों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण उनमें उच्चता और निम्नता की भावना को पनपने नहीं देना चाहिए।
6. शिक्षक को समाज की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति के विकास में सक्रिय योगदान देना चाहिए।
7. शिक्षक को लोगों के मन में सांस्कृतिक जड़ता की भावना को दूर करके उन्हें नवीन परिवर्तन के लिए तैयार करना चाहिए।
8. शिक्षक बुद्धिजीवी होता है। उसे ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों की व्यापक जानकारी होती है। अपने इस उच्च ज्ञान के आधार पर उसे नए परिवर्तनों के लिए भूमिका तैयार करनी चाहिए। उन्हें प्रारंभ करना चाहिए और उनको नियंत्रित करना चाहिए, जिससे ये परिवर्तन सही दिशा की ओर हो सकें।
9. शिक्षक को समाज में होने वाले नवीन परिवर्तन की जानकारी देनी चाहिए, जिससे सभी लोग उन परिवर्तनों को लाने में सहयोग करें।
10. शिक्षक को बालकों के समक्ष अपने को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे विद्यार्थी उसका अनुकरण करके अपने विचारों को प्रगतिशील बना सके।
11. शिक्षक को पाठयक्रम में वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों को महत्त्व देना चाहिए, जिससे समाज वैज्ञानिक और तकनीकी की दृष्टि से विकास कर सकें।
12. शिक्षक को बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहिए, जिससे वे नए समाज की संरचना में अपना सहयोग दे सकें।
13. शिक्षक को समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों और समस्याओं से अवगत होना चाहिए तथा इनका समाधान करके समाज में प्रगतिशील मूल्य स्थापित करने चाहिए।
14. शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए कभी-कभी बालकों को कक्षा की सीमा के बाहर भी शिक्षण कार्य करना चाहिए और विविध प्रकार की जानकारी प्रदान करनी चाहिए।
15. शिक्षक को समाज की गतिविधियों और क्रियाकलापों का पूर्ण परिज्ञान होना चाहिए, जिससे वह समाज को विचार और क्रिया में नेतृत्व प्रदार कर सके।

19.11 सारांश (Summary)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के संबंध का दूसरा रूप है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का अनुसरण करती है। इसका अर्थ है कि सामाजिक परिवर्तन पहले होते हैं और शिक्षा तो केवल उनका अनुसरण करती है, उनके पीछे-पीछे चलती है। जब मूल्यों, आवश्यकताओं और प्रविधियों में परिवर्तन होने लगता है तो शिक्षा भी अपने आपको उन्हीं के अनुसार बना लेती है। सामाजिक परिवर्तनों के अनुसार शिक्षा के स्वरूप, उसके उद्देश्यों, उसके पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों आदि में परिवर्तन होता है। ओटावे इस संदर्भ में कहते हैं कि ''कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। इसके विपरीत अधिक सत्य है। शैक्षिक परिवर्तन अन्य सामाजिक परिवर्तनों को आरंभ करने की अपेक्षा इनका अनुसरण करता है।''

19.12 शब्दकोश (Keywords)

1. **कारक** (Factors) : तत्व
2. **परिवर्तन** (Change) : बदलाव

19.13 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. सामाजिक परिवर्तन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. 'शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का साधन है' पर टिप्पणी लिखिए।
3. सामाजिक परिवर्तन में बाधक तत्वों का उल्लेख कीजिए।
4. भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को उल्लेख कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. शाश्वत	2. सामाजिक	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. सही	10. गलत		

19.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–20 : भारत में सामाजिक परिवर्तन व उसके कारक (Social Change in India and its Factors)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
20.1 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change in India)
20.2 सारांश (Summary)
20.3 शब्दकोश (Keywords)
20.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
20.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक जानने हेतु।
- औद्योगीकरण, नगरीकरण व संस्कृतिकरण जानने हेतु।
- सामाजिक विधान जानने हेतु।
- बढ़ती हुई जनसंख्या के बारे में जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय समाज व संस्कृति का इतिहास अति प्राचीन है। पर प्राचीनता के साथ-साथ भारतीय समाज व संस्कृति में निरंतरता भी देखने को मिलती है। यूनान, रोम, मिस्र और सुमेर की प्राचीन संस्कृतियाँ समय के प्रवाह में बह चुकी हैं, आज वहाँ निवास करने वाले लोगों के जीवन में उस प्राचीन संस्कृति का कोई सूत्र नहीं रह गया है। पर प्राचीन भारतीय संस्कृति, उसकी समाज व संस्थाएँ आज भी जीवित हैं और उसकी परंपराएँ आज भी भारतीय जीवन में विद्यमान हैं। अर्थात् प्राय: 5000 वर्ष से भारतीय समाज व संस्कृति की निरंतरता बराबर बनी हुई है।

पर इस निरंतरता का अर्थ जड़ता अथवा गतिशीलता का अभाव नहीं है। यदि भारतीय समाज व संस्कृति में निरंतरता है, तो परिवर्तनशीलता या गतिशीलता भी है। भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का इतिहास अनेक चढ़ाव-उतार, अनेक उत्थान-पतन अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन और अनेक लेन-देन का इतिहास है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है और उस नियम से भारतीय समाज भी अछूता नहीं रह पाया है। यही कारण है कि वैदिक युग के समाज और आधुनिक भारतीय समाज में जमीन-आसमान का फर्क है। परंतु इससे पूर्व कि हम इस संबंध में और कुछ विवेचना करें, यह उचित होगा कि हम भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को समझ लें।

नोट

नोट्स भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सरकार द्वारा पारित सामाजिक विधानों का सराहनीय सहयोग रहा है।

20.1 भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change in India)

भारत एक विशाल देश है और यहाँ विभिन्न प्रकार के खान-पान, रहन-सहन, जलवायु, राजनैतिक पार्टियाँ, भाषा आदि देखने को मिलती है। फिर भी इन भिन्नताओं के बीच इस देश में कुछ समानताएँ व एकता भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि इस देश में सामाजिक परिवर्तन के कुछ सामान्य कारणों को भी ढूँढ़ा जा सकता है। वे कारण इस प्रकार हैं–

1. **पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति** (Western civilization and culture)–भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रभावशाली शक्ति पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति है। आधुनिक भारत में रहन-सहन, पोशाक, खान-पान, गीत, नृत्य, अभिवादन के ढंग, मकानों के डिजाइन, मकान सजाने के ढंग आदि असंख्य विषयों में जो परिवर्तन हो गये हैं या हो रहे हैं वे सभी पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के कारण ही काफी सीमा तक प्रभावित हुए हैं। उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा संबंध दुनिया के अन्य समाज के साथ जोड़ दिया है। उस पारस्परिक संपर्क के कारण भी भारतीय समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। 'हिप्पी संस्कृति' आज भारतीय समाज में कितना अधिक छाया हुआ है और किस सीमा तक भारतीय नवयुवक व युवतियों के जीवन-प्रतिमान (life pattern) में परिवर्तन लाता जा रहा है, इस सत्य को हम सभी लोग जानते हैं। डॉ. एम. एन. श्रीनिवास का विचार है कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना से लेकर अब तक इस समाज में पश्चिमीकरण (westernization) की जो प्रक्रिया चल पड़ी है उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। डॉ. श्रीनिवास ने लिखा है, ''अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए। यह काल भारतीय इतिहास के पिछले सभी कालों से भिन्न था क्योंकि अंग्रेज अपने साथ नई औद्योगिकी, संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य (values) लेकर आए थे। नई औद्योगिकी और उसके कारण संचार साधनों में होने वाली क्रांति की सहायता से अंग्रेजों ने देश का ऐसा एकीकरण किया जैसा पहले उसके इतिहास में कभी नहीं हुआ था।''
2. **औद्योगीकरण व नगरीकरण** (Industrialization and urbanization)–अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद से भारत में औद्योगीकरण नगरीकरण को जो लहर आई है उसके कारण भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। औद्योगीकरण ने यदि एक ओर बड़े पैमाने में उत्पादन कार्य को आरंभ करके इस देश में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का श्रीगणेश किया है तो दूसरी ओर गंदी बस्ती (slums), औद्योगिक झगड़े व तनाव, श्रमिक संघ, बीमारी, बेकारी व गृह-उद्योगों का विनाश आदि परिणामों व परिवर्तनों को भी उत्पन्न किया है। नगर व उद्योग-धंधे अपने अनेक आकर्षणों व प्रलोभनों द्वारा गाँव के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं जिसके फलस्वरूप गाँव के घरेलू उद्योग व संयुक्त परिवार टूटता है। साथ ही गाँव का संपर्क नगरों से घनिष्ठ हो जाने के कारण गाँव का जीवन-प्रतिमान भी तेजी से परिवर्तित हो जाता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केंद्रों में घनी आबादी होने के कारण व होटल, जलपान-गृह, कैंटीन आदि में साथ-साथ बैठकर खाने-पीने के कारण जाति-प्रथा के खान-पान, विवाह, पेशा आदि से संबंधित नियमों व प्रतिबंधों में अनेक परिवर्तन हो जाते है और हो भी गये हैं। परंपरागत भारतीय सामाजिक संगठन के तीन आधार-स्तंभों जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार व पंचायत-में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में औद्योगीकरण व नगरीकरण की प्रक्रिया ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में ..... भी एक उल्लेखनीय कारण है।
2. भारत के लोगों का मुख्य व्यवसाय ..... है।

3. **संस्कृतीकरण** (Culturization)–डॉ. एम. एन. श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने भारतीय समाज में, विशेषकर जातीय संरचना में होने वाले अनेक परिवर्तनों का कारण संस्कृतीकरण माना है। संस्कृतीकरण की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है, ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्नस्तरीय हिंदू-जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्चस्तरीय और प्रायः 'द्विज' जाति का अनुकरण करता हुआ अपने रीति-रिवाज, कर्मकांड, विचारधारा और जीवनपद्धति को बदलता है। आम-तौर पर ऐसे परिवर्तनों के बाद वह जाति अपने परंपरागत जातीय स्थान से ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक और वास्तव में एक-दो पीढ़ियों तक दावा किए जाने के बाद उच्चस्थान की स्वीकृति मिलती है।'' संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया द्वारा निम्न जाति के लोगों की केवल जातीय स्थिति, प्रथाओं व आदतों में ही नहीं अपितु विचारों व मूल्यों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार, डॉ. श्रीनिवास के अनुसार, आधुनिक भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निम्न जातियों में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन होते जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप एक ओर उनमें नये विचारों, मूल्यों व आदतों का श्रीगणेश हो रहा है और दूसरी ओर उनके मन से हीनता की भावना का भी लोप होता जा रहा है।

क्या आप जानते हैं भारत गाँव का देश है और यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है।

4. **कल्याण राज्य की स्थापना** (Establishment of Welfare State)–स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में कल्याण राज्य की स्थापना की दिशा में निरंतर प्रयास चल रहा है जिसके फलस्वरूप राज्य का कार्य क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को अधिक गति (speed) प्राप्त होती जा रही है। भारत में केंद्रीय तथा राज्य सरकार इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि सामान्य हितों की वृद्धि के लिए व्यापारियों से उपभोक्ता की, पूँजीवादी से श्रमिकों की और बड़े उद्योगों से छोटे व गृह-उद्योगों की रक्षा की जाए, स्वस्थ वैज्ञानिक साधनों को काम में लाकर जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सुधार किया जाए, प्राकृतिक साधनों की रक्षा करते हुए उनके उचित प्रयोग के साधनों की व्यवस्था की जाए, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में आम जनता के लिए अधिकतम सुविधाओं को सुलभ बनाया जाए, संस्कृति के विकास के लिए राष्ट्रीय संग्रहालयों की स्थापना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान व शोधकार्य की सहायता की जाए, सब वर्गों विशेषकर पिछड़े वर्गों के हितों को ध्यान रखकर कृषि, उद्योग तथा व्यापार की उन्नति व आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण किया जाए तथा राष्ट्रीय धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाए। स्वतंत्रता प्राप्ति से अब तक इस 25 वर्ष की अवधि में इन सब क्षेत्रों में सरकार की उपलब्धियाँ वास्तव में बहुत कम हैं, फिर भी प्रयत्न जारी है और उन प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में सामाजिक परिवर्तन भी हो रहे हैं।

5. **कृषि व्यवसाय का मशीनीकरण व आधुनिकीकरण** (Mechanization and modernization of agriculture)–भारत गाँव का देश है और यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। मशीनों के आविष्कार होने तथा शहरों के निकट संपर्क में आने एवं कृषि के संबंध में नवीनतम खोजों से धीरे-धीरे परिचित होने के फलस्वरूप भारतीय गाँवों में कृषि व्यवसाय का उत्तरोत्तर मशीनीकरण व आधुनिकीकरण होता जा रहा है। फलतः यह देश अनेक वर्षों तक खाद्यान्न आदि के विषय में विदेशों पर निर्भरशील रहने के बाद अब धीरे-धीरे आत्म-निर्भर की स्थिति पर पहुँच गया है। भारतीय आर्थिक जीवन में यह एक

नोट

उल्लेखनीय परिवर्तन व उपलब्धि है। इस मशीनीकरण व आधुनिकीकरण के फलस्वरूप भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है और साथ ही उनके विचार, मूल्य, आदर्श व रहन-सहन भी बदला है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. भारतीय समाज में परिवर्तन की एक प्रभावशाली शक्ति है–
   (अ) पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति (ब) आधुनिकता
   (स) विज्ञान (द) इनमें से कोई नहीं
4. अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में परिवर्तन हुए–
   (अ) स्थायी (ब) बुनियादी और स्थायी
   (स) बुनियादी (द) इनमें से कोई नहीं
5. भारतीय समाज व संस्कृति का इतिहास है–
   (अ) अति प्राचीन (ब) नवीन
   (स) मध्यकालीन (द) उत्तरकालीन
6. भारतीय लोगों का मुख्य व्यवसाय है–
   (अ) पशुपालन (ब) कृषि
   (स) मत्स्यपालन (द) मधुमक्खीपालन

6. **राजनैतिक संगठन** (Political organization)–भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में विभिन्न राजनैतिक पार्टियों ने भी अपनी भूमिका अदा की है। पहले भारतीय जनता में राजनैतिक चेतनता का अत्यंत अभाव था। अपने अधिकारों के संबंध में, सामाजिक कर्तव्यों के संबंध में एवं समाज की विविध समस्याओं के संबंध में वे अधिक जागरूक नहीं थे। राजनैतिक पार्टियों ने अपने-अपने आदर्शों व उद्देश्यों के अनुसार अपने-अपने ढंग के प्रचार द्वारा जनता में राजनैतिक व सामाजिक जागृति लाने में सफल हुए हैं। इन्हीं राजनैतिक दलों के क्रिया-कलापों व प्रचारों के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। चुनाव में अधिक दिलचस्पी, ग्रामीण जनता में एक विशेष राजनैतिक पार्टी को अच्छा मानने की प्रवृत्ति, युवा पीढ़ी के द्वारा देश के नेतृत्व में उत्तरोत्तर प्रवेश, महिलाओं का राजनैतिक व सामजिक क्षेत्र में कार्य करना व नेतृत्व करना आदि महत्त्वपूर्ण परिवर्तन राजनैतिक दलों के क्रियाकलापों व विचारों का ही परिणाम है।

7. **महिला शिक्षा** (Female education)–भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में महिला शिक्षा भी एक उल्लेखनीय कारण है। महिलाएँ भारतीय समाज की अत्यंत पिछड़ी व रूढ़िवादी अंग रही हैं और उनका जीवन परिवार की चार दीवारों के अंदर खाना बनाने, बच्चों को जन्म देने व पति एवं बच्चों की देखरेख करते हुए ही बीत जाता था, पर आज उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की जो सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं, उसके कारण उनमें एक नवीन जागृति आ गई है और वे अपने अधिकार व कर्तव्यों के संबंध में पहले से अब कहीं ज्यादा जागरूक हो गई हैं। महिला शिक्षा ने उनकी रूढ़िवादिता को बहुत कम कर दिया है, वे अब घर से बाहर निकलकर न केवल नौकरी करती हैं, अपितु पार्टी व क्लब जाती हैं, पिकनिक पर निकलती हैं, महिला संगठनों को बनातीं हैं, समाज-सेविका के रूप में कार्य करती हैं, राजनीति में भी खुलकर हिस्सा लेती हैं और कोर्ट में जाकर 'लव मैरिज' (Love marriage) करके जाति-पाँति के भेदभाव को चुनौती देती हैं। ये सभी परिवर्तन काफी हद तक महिला शिक्षा के विस्तार के कारण ही संभव हुए हैं। क्योंकि अन्य कारकों की क्रियाशीलता भी शिक्षा के स्तर पर ही निर्भर करती है।

नोट

8. **सामाजिक विधान** (Social legislation)–भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सरकार द्वारा पारित सामाजिक विधानों का सराहनीय सहयोग रहा है। कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' ने जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करके अंतर्जातीय विवाह (Intercaste marriage) के द्वार को खोल दिया है, जबकि 'हिंदू विवाह अधिनियम 1955' एक विवाह को अनिवार्य करते हुए कुछ निश्चित अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान करता है जो कि हिंदू समाज में इससे पहले कदापि संभव न था। इसी प्रकार 'बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929' विवाह की आयु में परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध हुआ है और 'दहेज निरोधक अधिनियम, 1991' के पास हो जाने से वर-मूल्य प्रथा की कटुता में परिवर्तन होने की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1959' के पास हो जाने के बाद न केवल पत्नी व माता को बल्कि पुत्री को भी परिवार की संपत्ति पर अधिकार प्राप्त हो गया है जो कि हिंदू लड़कियों के आर्थिक अधिकार के क्षेत्र में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इसी प्रकार 'हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856' के द्वारा जो अधिकार पुनर्विवाह करने के संबंध में विधवाओं को मिला है उससे विधवाओं की स्थिति में परिवर्तन आ गया है। इतना ही नहीं, 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' के पास हो जाने के बाद हरिजनों पर परंपरागत रूप में हजारों वर्षों से लादे गये खाने-पीने सामाजिक सहवास, पेशों के चुनाव तथा छुआछूत संबंधी प्रतिबंधों में अनेक परिवर्तन आज देखने को मिलते हैं। अत: स्पष्ट है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक सामाजिक विधान है।

9. **बढ़ती हुई जनसंख्या** (Increasing population)–भारतीय समाज में बढ़ती हुई जनसंख्या भी अनेक परिवर्तन का कारण बनती है। सन् 1991 में जो जनसंख्या 84.6 करोड़ थी, वह सन् 2001 में बढ़कर 102. 7 करोड़ हो गई है। इस दस साल की अवधि में भारत की आबादी में 18.10 करोड़ की बढ़ोतरी हुई है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या प्रक्षेपण के अनुसार सन् 2035 तक भारत की जनसंख्या 1.6 अरब हो जाएगी और भारत विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश बन जाएगा भारत में शिशु मृत्युदर सन् 1991 में 146 प्रति एक हजार जीवित जन्म थी जो 2000 में घटकर 68 प्रति एक हजार जीवित जन्म अनुमानित की गई। अंतिम आँकड़ो के अनुसार भारत की जनसंख्या विश्व की कुल संख्या का 16.87 प्रतिशत है। जनसंख्या के इस विस्फोट के कारण ही पिछले पचास वर्षों में राष्ट्रीय आय बढ़कर पाँच गुनी हो जाने पर भी प्रति व्यक्ति आय मूल्य-वृद्धि को देखते हुए केवल दुगनी ही बढ़ी है। इस स्थिति से निपटने के लिए दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) के अंतर्गत परिवार कल्याण से संबंधित सभी जरूरतों को पूरा करने का लक्ष्य रखा गया है। इसी जनसंख्या के विस्फोट के कारण देश में बेरोजगारी की संख्या प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में 80 लाख से बढ़कर आठवीं योजना के अंत तक 650 लाख हो जाने का अनुमान था। अत्यधिक जनसंख्या के कारण ही इस देश में प्रति व्यक्ति दवाइयों पर केवल 4 रुपये खर्च किए जाते हैं। जबकि अमेरिका में 193 रुपये, फ्रांस में 197 रुपये और जापान में 117 रुपये खर्च किए जाते हैं। आजादी के समय देश में केवल छह करोड़ लोग लिखना-पढ़ना जानते थे। सन् 1991 में इनकी संख्या बढ़कर लगभग 44 करोड़ तक जा पहुँची। परंतु जनसंख्या के अनुपात में शिक्षा का प्रतिशत अभी 30 से ज्यादा नहीं है। भारत में कपड़े के उत्पादन में भी अत्यधिक वृद्धि हुई है; फिर भी लोग नंगे क्यों? इस प्रश्न का उत्तर भी बढ़ती हुई जनसंख्या में ही ढूँढ़ा जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ही इस देश में नौवीं योजना शुरू होने से पूर्व 310 लाख आवासीय इकाइयों की कमी होगी। औद्योगिक शहरों में सामान्य आदमी के लिए गंदी बस्तियाँ, झोपड़े और फुटपाथ ही नसीब होते हैं। हर साल 20 लाख मकानों की दर से इस कमी में और वृद्धि होती है। जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही इस देश में निर्धनता, बेरोजगारी, गंभीर प्रकार के रोग, भुखमरी आदि की समस्याएँ एक दयनीय स्थिति पर पहुँच गई हैं। अत: स्पष्ट है कि भारत में अनेक सामाजिक परिवर्तन जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण हुए हैं।

टास्क पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

10. **नियोजन** (Planning)–भारतीय समाज में कुछ पूर्व निश्चित परिवर्तनों को लाने में सरकार द्वारा बनाए गए नियोजन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संपूर्ण समाज के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को किस रूप से परिवर्तित किया जाए कि उन परिवर्तनों से आम जनता का अधिकतम कल्याण संभव हो एवं समाज प्रगति की ओर बढ़े, यह नियोजन द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) ने लिखा है, ''नियोजन वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने साधनों को संगठित करने तथा उपयोग में लाने की पद्धति है।'' इसी प्रकार का नियोजन हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाएँ हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा मुख्यत: आर्थिक जीवन में और सामान्य रूप में सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में नियोजित परिवर्तन लाने के प्रयत्न किए जाते हैं। कृषि उत्पादन, बड़े उद्योग-धंधे, व्यापार वाणिज्य, यातायात व संचार, ग्रामीण, उद्योग, आवास, श्रम कल्याण, पिछड़ी जातियों, जनजातियों तथा वर्गों का कल्याण आदि क्षेत्रों में जो परिवर्तन आज हमें देखने को मिलते हैं, उनकी रूपरेखा पंचवर्षीय योजनाओं में ही निर्धारित की गई है। उसी प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं के द्वारा भारतीय ग्रामीण जीवन में बहुमुखी परिवर्तन लाया गया है। इसका भी लेखा-जोखा हमें पंचवर्षीय योजनाओं में देखने को मिलता है। परंतु इन योजनाओं के अतिरिक्त एक और नियोजन-परिवार नियोजन (Family planning) के द्वारा भातरवर्ष में जन्मदर को परिवर्तित करने अर्थात् जन्मदर को घटाने का प्रयास किया गया है और उसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है। परिवार नियोजन की वार्षिक जन्मदर जो 1961 में 41.7 प्रति हजार थी, को घटाकर सातवीं योजना तक 30 प्रति हजार और 1990-95 तक 29 प्रति हजार है।

    सरकारी अनुमान के अनुसार यदि आगे भी यह प्रवृत्तियाँ बनी रहीं तथा परिवार नियोजन कार्यक्रमों को अपेक्षित सफलताएँ मिलती रहीं तो भारत में बीसवीं शताब्दी के अंत तक जन्म दर 24 प्रति हजार तक नीचे चले जाने की आशा है। इससे पता चलता है कि परिवार नियोजन को प्रभाव अनुमान से अधिक हुआ है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा संबंध दुनिया के अन्य समाज के साथ जोड़ दिया है।
8. महिलाएँ भारतीय समाज का अत्यंत समृद्ध अंग रही हैं।
9. भारतीय समाज में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सरकार द्वारा पारित सामाजिक विधानों का सराहनीय सहयोग रहा है।
10. 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' ने जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करके अंतर्जातीय विवाह के द्वार को खोल दिया है।

20.2 सारांश (Summary)

भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में विभिन्न राजनैतिक पार्टियों ने भी अपनी भूमिका अदा की है। पहले भारतीय जनता में राजनैतिक चेतनता का अत्यंत अभाव था। अपने अधिकारों के संबंध में, सामाजिक कर्तव्यों के संबंध में एवं समाज की विविध समस्याओं के संबंध में वे अधिक जागरूक नहीं थे। राजनैतिक पार्टियों ने अपने-अपने आदर्शों व उद्देश्यों के अनुसार अपने-अपने ढंग के प्रचार द्वारा जनता में राजनैतिक व सामाजिक जागृति लाने में सफल हुए हैं। इन्हीं राजनैतिक दलों के क्रिया-कलापों व प्रचारों के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

नोट

20.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **सामाजिक परिवर्तन** (Social change) : सामाजिक बदलाव
2. **पाश्चात्य सभ्यता** (Western civilization) : पश्चिमी सभ्यता

20.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख कीजिए।
2. 'महिला शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
3. भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. नियोजन से क्या तात्पर्य है? बताइए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. महिला शिक्षा	2. कृषि	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

20.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–21 : सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के साधन के रूप में शिक्षा एवं मानव संसाधन विकास (Education As mode of Social and Economic Change and HRD)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
21.1 आर्थिक आवश्यकताएँ (Economic Needs)
21.2 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा (Education in Social Change)
21.3 शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन (Socially Change by Education)
21.4 मानव संसाधन विकास (Human Resource Development)
21.5 मानव शक्ति नियोजन (Man Power Planning)
21.6 मानव संसाधन विकास के साधन (Means of Human Resources Development)
21.7 मानव शक्ति नियोजन में शिक्षा की भूमिका (Role of Education in Man Power Planning)
21.8 शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन (Necessary Change in Education)
21.9 सारांश (Summary)
21.10 शब्दकोश (Keywords)
21.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
21.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- उत्पादोन्मुख शिक्षा जानने हेतु।
- शिक्षा का व्यवसायीकरण जानने हेतु।
- समान स्कूल व शिक्षा प्रणाली जानने हेतु।
- मानव शक्ति नियोजन जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय आर्थिक समस्याओं के सैद्धांतिक हल के लिये हमारे राष्ट्र-निर्माताओं ने संविधान-निर्माण के समय उनका समावेश अनुच्छेद 16, 19, 23, 24, 39, 41, 42, 46, 49 के माध्यम से संविधान में कर दिया, किंतु आज तक हम आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में सफल नहीं हो पाये हैं। सैद्धांतिक हलों से समस्या का समाधान

नोट

नहीं होता। इनका क्रियात्मक हल ढूँढ़ना होगा। इसकी क्रियान्विति का सशक्त साधन ढूँढ़ना होगा। किसी परंपरागत समाज में परिवर्तन लाना है तो शिक्षा ही उस परिवर्तन का सशक्त साधन हो सकता है। इस मान्यता की पुष्टि करते हुये शिक्षा आयोग (1965-66) ने लिखा है, ''यदि बिना किसी हिंसात्मक क्रान्ति (इस तरह की क्रांति की स्थिति में भी उसकी आवश्यकता होगी) के बड़े पैमाने पर यह परिवर्तन करना है तो केवल एक ही साधन है, जिसका प्रयोग किया जा सकता है और वह है शिक्षा। अन्य बातें भी इसमें सहायता कर सकती हैं और वास्तव में कभी-कभी तो उनका असर ऊपरी तौर पर अधिक भी जान पड़ सकता है। मगर शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली ही एक ऐसा साधन है, जो सभी लोगों तक पहुँच सकता है।''

शिक्षा को हमारे मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में एक सशक्त साधन के रूप में लिया जा सकता है। यह तभी संभव है जब कि हमारी शिक्षा के उद्देश्य यथार्थ के धरातल पर आधारित हों।

21.1 आर्थिक आवश्यकताएँ (Economic Needs)

उपर्युक्त समस्याओं के प्रकाश में यदि आज की आर्थिक आवश्यकताओं की गणना की जाये तो निम्नांकित हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के रूप में उभरकर आयेंगी–

(1) कुशल जनशक्ति में वृद्धि

(2) भौतिक संसाधनों का विकास

(3) उत्पादन में वृद्धि

(4) कृषि एवं पशुपालन की स्थिति में सुधार

(5) राष्ट्रीय आय का समान वितरण

(6) बेरोजगारी की समाप्ति

उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति का हमारा लक्ष्य आर्थिक विकास है, जो कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्रधान लक्ष्य है। अत: आधुनिक भारत की शिक्षा का प्रथम उद्देश्य 'आर्थिक विकास' होना चाहिये। इसमें निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं–

राष्ट्रीय आर्थिक विकास का उद्देश्य (Aims of National Economic Development)

भारत एक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज-व्यवस्था में रूपांतरित होने का प्रयास कर रहा है। यह तभी संभव है, जबकि समाज के सभी वर्गों को उत्पादकता में वृद्धि करने वाली शिक्षा, सुलभ कराई जाये। उत्पादन-वृद्धि से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि से राष्ट्रीय आर्थिक विकास होगा। राष्ट्र में बेरोजगारी कम होगी। सभी को आजीविका के अधिकाधिक एवं उत्तम अवसर मिलेंगे। हमारे मानवीय एवं भौतिक संसाधनों में वृद्धि होगी। भारत के प्रमुख उद्योग–कृषि एवं पशुपालन का विकास होगा। इस दृष्टि से शिक्षा उत्पादनोन्मुख होनी चाहिये।

नोट्स भारत एक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज-व्यवस्था में रूपांतरित होने का प्रयास कर रहा है।

उत्पादनोन्मुख शिक्षा (Production Oriented)

उत्पादन में वृद्धि आर्थिक विकास का मूलाधार है। जब तक शिक्षा को जन-जन तक पहुँचने वाले साधन-उत्पादकता से नहीं जोड़ा जाता, तब तक हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। अत: शिक्षा का पहला उत्पादकता से जुड़ना है। उत्पादकता से जोड़ने की दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र में निम्नांकित कदम उठाने होंगे–

नोट

शिक्षा में शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा (Inclusion of Physical Labour in Education)

अंग्रेजी शासनकाल में शिक्षा को नौकरी से जोड़कर शिक्षितों के मन में शारीरिक श्रम के प्रति हीनता की भावना पैदा कर दी, जिसका भयंकर दुष्परिणाम हुआ, शिक्षा का उत्पादकता से दूर हो जाना।

महात्मा गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में इस कमी को पहचाना और बुनियादी शिक्षा में श्रम की प्रतिष्ठा कर शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने का प्रयास किया। यूरोप के समाजवादी देशों के शैक्षिक पाठ्यक्रम में शारीरिक कार्य, कार्यानुभव आदि विभिन्न नामों से, इस विषय को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाता है। शिक्षा आयोग ने इसे 'कार्यानुभव' (Work Experience) नाम देकर सामान्य शिक्षा के अंतिम अंग के रूप में मानने की सिफारिश की है। कार्यानुभव का अर्थ स्कूल, घर, कारखाने, खेत, फैक्ट्री या अन्य किसी भी उत्पादक स्थिति में उत्पादक काम में भाग लेना है, जिससे कि शिक्षा और कार्य का एकीकरण हो सके और शिक्षित जनशक्ति, कुशल जनशक्ति में परिणित होकर उत्पादन का महत्त्वपूर्ण साधन बन सके।

ईश्वर भाई पटेल समिति ने इसे समाजोपयोगी उत्पादक कार्य (Socially Useful Productive Work) (SUPW) के नाम से अभिहित किया। इन्होंने शारीरिक श्रम के इस कार्यक्रम के साथ समाजोपयोगिता (Social usefulness) तथा उत्पादकता (Productivity) दो शब्द जोड़कर इसकी दिशा को स्पष्ट किया।

माध्यमिक स्तर तक समाजोपयोगी उत्पादक शारीरिक कार्य को अनिवार्य अंग के रूप में अपनाना (Adopt the Socially Useful Productive Physical Work as an Essential Part till Medium Stage)

अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप काम की दुनिया और अध्ययन-अध्यापन की दुनिया के बीच एक चौड़ी खाई बन गयी, जिससे कि शारीरिक कार्य को हल्का समझकर हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। परिणामत: एक ओर जहाँ देश के कुटीर एवं गृह-उद्योग नष्ट हो गये, वहाँ दूसरी ओर बेरोजगारी की बाढ़ आ गयी, जिससे कि उत्पादन में ह्रास हो गया और आर्थिक विकास मंद पड़ गया। अत: आर्थिक विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिये पहली जरूरत, उत्पादक कार्यों में प्रशिक्षण द्वारा शारीरिक श्रम के प्रति निष्ठा पैदा करना है। शिक्षा कार्यक्रम में इसके समावेश करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिये–

(*i*) इसके क्रियान्वयन में यर्थाथवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

(*ii*) इसे कृषि तथा अन्य लघु उद्योगों से, जिनमें विज्ञान एवं तकनीकी के माध्यम से उत्पादन क्रियायें होती हैं, संबद्ध किया जाना चाहिए।

(*iii*) इसका उद्देश्य कुछ न कुछ कमाना होना चाहिए, जिससे 'सीखो और कमाओ' के सिद्धांत पर शिक्षा आगे बढ़े।

(*iv*) शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं मानी जाए, जब तक कि वह किसी न किसी प्रकार के ऐसे उत्पादक कार्य में भाग लेकर कुछ कमा न ले।

(*v*) इसके द्वारा छात्रों में निम्नांकित मूल्यों का विकास करना चाहिए–

(अ) शारीरिक श्रम के प्रति निष्ठा

(ब) उत्पादन-कार्य में आस्था

(स) कठोर श्रम और मितव्ययिता के लिए तत्परता।

प्रभावकारी शैक्षिक साधन होने के अतिरिक्त समाजोपयोगी उत्पादक कार्य निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा–

(*i*) बौद्धिक और शारीरिक कार्य के अंतर और उस पर आधारित सामाजिक स्तर के निर्माण की तीव्रता को कम करना।

(*ii*) युवकों को कर्म-क्षेत्र में प्रवेश दिलाना।

(*iii*) रोजगार की समस्या को आसान बनाना।

नोट

(*iv*) राष्ट्रीय उत्पादन वृद्धि में योगदान करना–उत्पादन-क्रियाओं तथा विज्ञान के उपयोग के लिये छात्रों में अंतर्दृष्टि का विकास करके तथा उनमें विकास करके तथा उनमें कठिन एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने की आदत डालकर।

(*v*) सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण में योगदान करना–व्यक्ति एवं समुदाय के बीच संबंध सुदृढ़ बनाकर तथा शिक्षित व्यक्तियों एवं सामान्य जनता में एक-दूसरे को समझने की सूझ उत्पन्न करके।

क्या आप जानते हैं उत्पादन में वृद्धि आर्थिक विकास का मूलाधार है।

विज्ञान को शिक्षा के मूलाधार के रूप में अपनाना
(Adopt the Science as a Root of Education)

भारत एक परंपरागत समाज से आधुनिक समाज की ओर बढ़ रहा है। आधुनिक समाज विज्ञान आधारित टेक्नोलोजी का उपयोग और विकास करता है जिससे कृषि के आधुनिकीकरण और उद्योगों के विकास से अपना आर्थिक विकास करता है। भारत को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में आर्थिक विकास के सशक्त साधन 'शिक्षा' को विज्ञान आधारित बनाना होगा। आर्थिक विकास क्षेत्र में हुए अनुसंधान इस बात की पुष्टि करते हैं कि शिक्षा, विज्ञान एवं टेक्नोलोजी का आर्थिक विकास में 50% तक योगदान है। इस निष्कर्ष के आधार पर बहुत से देश अपना राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने में संपन्न हुए हैं। अत: हमें 'विज्ञान' को विद्यालयी शिक्षा का अभिन्न अंग बनाना होगा। विश्वविद्यालय स्तर पर मानविकी एवं समाज विज्ञान के पाठ्यक्रमों में विज्ञान को भी शामिल करना होगा।

विज्ञान-शिक्षण के उद्देश्य विज्ञान की विषय-वस्तु एवं उसके जीवन में उपयोग से होने चाहिए, जिससे हमारे राष्ट्रीय विकास में गति आये, क्योंकि विज्ञान के अध्ययन से निम्न लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है–

(*i*) मूल सिद्धांतों को उत्तरोत्तर गंभीर रूप से समझने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना।

(*ii*) समस्याओं को सुलझाने वाले विश्लेषणात्मक कौशल का विकास।

(*iii*) विश्लेषणात्मक कौशल का सामाजिक जीवन एवं भौतिक वातावरण की समस्याओं को सुलझाने में उपयोग।

(*iv*) जिज्ञासा और प्रयोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन।

(*v*) कर्त्तव्य तथा दायित्व के रूप में सत्य के अनुसंधान के प्रति वचनबद्धता का विकास।

(*vi*) मताग्रह के बंधन को शिथिल करना।

(*vii*) अंध-विश्वास, भाग्यवाद, धर्मांधता और निश्चेष्ट, आत्म-समर्पण को दूर करना।

(*viii*) वैचारिक तनावों में कमी, प्राकृतिक वातावरण के रहस्यों को समझने में सहायता।

(*ix*) अपने तथा विश्व में अपने स्थान को समझने में सहायता।

कृषि एवं संबद्ध विज्ञानों की शिक्षा एवं अनुसंधान पर बल
(Give an Importance on Education and Research of Agriculture and Related Science)

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की 70% जनता कृषि एवं कृषि से संबंधित उद्योगों से अपना जीवन निर्वाह करती है। कृषि एवं कृषि-संबद्ध उद्योगों के आधुनिकीरण एवं विकास से ही हमारी अर्थव्यवस्था में सुधार संभव है। कृषि की शिक्षा, संबंध उद्योगों की शिक्षा एवं तत्संबंधित अनुसंधान पर सर्वाधिक बल दिया जाना चाहिये। अधिकाधिक छात्रों को इसी दिशा में अध्ययन एवं अनुसंधान हेतु प्रेरित करना चाहिये।

शिक्षा का व्यावसायीकरण (Vocationalisation of Education)

नोट

भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में 7-8 वर्ष की सामान्य शिक्षा की अनिवार्यता उपयोगी है, किंतु उच्च एवं उच्चतर शिक्षा को उपयोगी नहीं कहा जा सकता। यहाँ सामान्य शिक्षा के बाद व्यावसायिक शिक्षा उपयोगी हो सकती है। अत: वर्ष की सामान्य शिक्षा के बाद 2-3 वर्ष की व्यवसाय की शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे कि एक ओर युवक-युवतियों को जीवन में प्रवेश के लिये तैयार कर सकें तो दूसरी ओर राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि में योगदान कर राष्ट्रीय-आर्थिक विकास कर सकें। इसके माध्यम से हम शिक्षा को उत्पादकता से भी जोड़ सकेंगे।

व्यावसायिक शिक्षा के अंतर्गत उन्हीं व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जो या तो कृषि से संबद्ध हो या जिन क्षेत्रों में प्रशिक्षित कुशल जनशक्ति का अभाव हो। कृषि टेक्नोलोजी को प्रधानता दी जानी चाहिये।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. भारत की अर्थव्यवस्था ..... अर्थव्यवस्था है।
2. भारत एक ..... देश है।

21.2 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा (Education in Social Change)

भारत एक प्राचीन देश है। यहाँ वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था का विकास हुआ था, किंतु धीरे-धीरे यह व्यवस्था विकृति की ओर बढ़ती गयी। वर्ण का निर्धारण गुण एवं कर्म के स्थान पर जन्म से होने लगा। वर्णों के अंतर्गत अनेकानेक जातियों का जन्म हुआ। सामाजिक ऊँच-नीच का भेद बढ़ता चला गया। यह भेद अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच गया। जहाँ स्त्रियों की पूजा की जाती थी, वे स्त्रियाँ समाज में द्वितीय श्रेणी की नागरिक हो गईं। उन्हें क्रय-विक्रय की वस्तु समझा जाने लगा। हमारे सामाजिक संबंधों के आधार खिसकने लगे। हम सामाजिक विघटन की ओर अग्रसर हुए, जिससे आज परिवार, विवाह आदि सामाजिक संस्थाएँ विघटित हो रही हैं।

आज जातिवाद, वंश-परंपरा और मूल्यहीन सामाजिक जीवन के कारण सामाजिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। दहेज अपना मुँह फैलाये है। बलात्कार, स्त्रियों द्वारा आत्महत्या, उन्हें जलाकर मार देना आदि भारतीय समाज पर कलंक है।

शिक्षा का उद्देश्य निम्नांकित बाधाओं को दूर करके समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का विकास करना होना चाहिए–

1. जातिवाद
2. वंश परंपरा
3. अस्पृश्यता
4. ऊँच-नीच की भावना
5. स्त्रियों का समाज में हीन स्थान
6. स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार
7. उन्नत एवं पिछड़े वर्गों की बढ़ती खाई
8. सामाजिक मूल्यों का ह्रास
9. परिवार का विघटित स्वरूप
10. विवाह का विकृत रूप (दहेज प्रथा)

नोट

21.3 शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन (Socially Change by Education)

शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक विकास (Aims of Education : Social Development)

शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन लाने, उनकी पुष्टि करने, उनको आगे बढ़ाने का सामाजिक क्रांति करने का सशक्त साधन है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में सामाजिक विकास के इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सर्वप्रथम सामाजिक मूल्यों का विकास करना होगा, जिनके अभाव में ही उपरिवर्णित बाधायें उपस्थित हुई हैं।

सामाजिक मूल्यों का विकास (Development of Social Values)

मैकाइवर, पेज आदि समाज-शास्त्रियों के अनुसार समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। इन सामाजिक संबंधों का आधार सामाजिक है। इस सामाजिक मूल्यों के निर्देश में ही सामाजिक नियम (Social norms) बनते हैं, जोकि हमारे सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। व्यक्ति के अस्तित्व का आदर, व्यक्ति-व्यक्ति में समानता का भाव, परस्पर सद्भाव, प्रेम, त्याग, सेवा, आत्म-नियंत्रण सहनशीलता के आधार पर ही समाज बना रह सकता है। बड़ों का आदर, आज्ञा-पालन, निष्ठा, आस्था, ईमानदारी के बिना समाज नहीं चल सकता। अत: शिक्षालयों के क्रिया-कलापों में इन गुणों के विकास का भरसक प्रयास करना होगा। समाज सेवा के सघन कार्यक्रम हमारी शिक्षा के अभिन्न अंग बनने से ही मूल्यों का विकास हो सकेगा।

स्कूल एवं कॉलेजों को सामुदायिक जीवन का केंद्र बनाना (Make the Centre of Social Life of School & Collages)

सामाजिक भावना के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हमारे स्कूल एवं कॉलेजों को सामुदायिक क्रिया-कलापों का केंद्र बनाया जाये। हमारी शिक्षा सस्थायें सामुदायिक शिक्षालयों का स्वरूप ग्रहण कर लें, जिसमें कि वे सामुदायिक जीवन को अधिकाधिक उन्नत बना सकें। इससे सहयोग, छात्र/छात्राओं की सेवा, सहिष्णुता आदि की भावनाओं का विकास होगा, जिससे कि इससे किशोरावस्था में ही इस विकास की नींव पड़ जायेगी।

समाज-सेवा कार्यक्रमों को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाना

साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अंत। अत: शिक्षा को ज्ञानात्मक पक्ष तक ही सीमित न रखकर व्यवहार रूपांतरण की क्रियात्मक शिक्षा पर बल देना होगा। इसके लिये विशेषतया समुदाय के पिछड़े वर्गों, दीन-हीनों की बस्तियों में, विद्यालय द्वारा विभिन्न सेवा कार्यक्रम चलाये जाने चाहिए।

सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों में भाग लेने की आनिवार्यता (Necessity to Participate in the Programmes of Communal Development)

शिक्षा संस्थाओं को अभिन्न अंग के रूप में सामुदायिक सेवा-कार्यक्रमों को अपनाना होगा। समुदाय की प्रकृति के अनुसार तथा विद्यालय के छात्र/छात्राओं अवस्थानुसार ये कार्यक्रम भिन्न-भिन्न प्रकार के होंगे किंतु इन कार्यक्रमों में भाग लेना अनिवार्य बनाना होगा। यह निश्चित करना होगा कि जिस छात्र/छात्रा ने कम-से-कम 30 दिन तक इन कार्यक्रमों में भाग नहीं लिया है, उसे सर्टिफिकेट/डिग्री नहीं दी जाएगी । इस प्रकार के कुछ कार्यक्रम निम्नलिखित हैं–

(*i*) स्वास्थ्य सेवा कार्यक्रम–

(अ) सामान्य स्वास्थ्य सेवा शिविर

(ब) विटामिन, दवाइयाँ वितरण-शिविर

(स) महामारी में परिचर्या कार्य

(द) विभिन्न रोग-निवारण हेतु शिविर

(*ii*) प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम–

(अ) व्यावहारिक/उत्पादकता आधारित साक्षरता-शिविर

नोट

(ब) संस्कृति प्रसार शिविर

(स) सामान्य ज्ञान शिविर

(*iii*) व्यावसायिक/औद्योगिक विकास कार्यक्रम–

(अ) कृषि प्रशिक्षण शिविर

(ब) कृषि आधारित उद्योग शिविर

(स) खाद, कीटनाशक, दवाइयाँ वितरण-कार्यक्रम सेवा

(*iv*) बाढ़-अकाल राहत कार्यक्रम–

(अ) बाढ़ सहायता शिविर

(ब) राहत कार्यक्रम

ये कार्यक्रम NSS (राष्ट्रीय समाज सेवा कार्यक्रम) आदि के माध्यम से प्रभावी बनाये जा सकते हैं। इस हेतु अन्य संगठनों को भी तैयार किया जा सकता है। ये कार्यक्रम पूर्णकालिक, अंशकालिक दोनों तरह के हो सकते हैं। एक वर्ष में कम से कम 20 दिन का पूर्णकालिक तथा 1½ महीने का अंशकालिक कार्यक्रम रखा जाना चाहिये।

6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए समान अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा (Similar Necessary and Free Education for Children up to 6-14 years)

वर्ण, जाति, वंश, लिंग, स्थान, धर्म आदि के भेद के बिना 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए समान अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर शिक्षा के क्षेत्र में फैली असमानता को दूर कर सामाजिक असमानता को दूर करना होगा, जिससे कि सभी वर्गों, वर्णों, जातियों, वंशों, लिंगों एवं स्थानों के बालक साथ-साथ पढ़कर विभेदों से दूर रह सकें।

समान-स्कूल व शिक्षा-प्रणाली (Similar School and Education System)

भारत में कॉमन स्कूल, पब्लिक स्कूल, कान्वेंट स्कूल, गुरुकुल आदि अनेक प्रकार के विद्यालय हैं, जो कि समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के नाम पर विसंगति के द्योतक है। इससे वर्ग-भेद की खाई चौड़ी हो रही है और वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन मिल रहा है। अत: देश में इस प्रकार के समान विद्यालयों को प्रोत्साहन मिल रहा है, जोकि धर्म, जाति, वर्ण, वंश के भेद से भरे हैं। शिक्षा आयोग ने लोक-शिक्षा की निम्नलिखित समान स्कूल-पद्धति की बात की है–

(*i*) जो जाति, संप्रदाय, समाज, धर्म, आर्थिक परिस्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा का विचार किये बिना सभी बच्चों को सुलभ हो।

(*ii*) जिसमें अच्छी शिक्षा का अवसर प्राप्त करना, धन या वर्ग पर निर्भर न कर प्रतिभा पर निर्भर करे

(*iii*) जो सभी स्कूलों में एक समुचित स्तर बनाये रखेगी तथा कम से कम एक युक्तिसंगत संख्या में अच्छे स्तर की संस्थायें सुलभ करायेगी।

(*iv*) जिसमें पढ़ाई की कोई फीस नहीं ली जायेगी

(*v*) जो एक औसत पिता की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी ताकि उसे इस प्रणाली से बाहर के खर्चीले स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने की आवश्यकता साधारणत: अनुभव नहीं होगी।

स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन (Encourage the Women-Education)

जब तक किसी समाज में स्त्री को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिलता, तब तक वह समाज प्रगति नहीं कर सकता। भारत में स्त्री, समाज के कमजोर वर्ग में है। इन्हें समाज में उचित स्थान दिलाने की दृष्टि से शिक्षा के सभी स्तरों पर महिलाओं की शिक्षा की विशेष व्यवस्था करनी होगी। उस पर अधिकाधिक खर्चा करना होगा। यह शिक्षा

नोट

उनकी प्रकृति, रुचियों, क्षमताओं तथा अभिवृत्तियों के अनुकूल भी होनी चाहिये। अभी इस दिशा में बहुत प्रयास करने की आवश्यकता है। विद्यालय, छात्रावास, अध्ययन सुविधाओं, छात्रवृत्तियों आदि का प्रावधान आवश्यक है।

पिछड़े वर्गों की शिक्षा (Education of Backword Classes)

भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा पिछड़े वर्ग के क्षेत्रों में आता है। इनके उत्थान की दृष्टि से शिक्षा-क्षेत्र में निम्नांकित व्यवस्थाएँ अभी और चलानी होंगी–

(*i*) पिछड़े वर्ग को शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रवेश में आरक्षण

(*ii*) पिछड़े वर्ग को नि:शुल्क शिक्षा

(*iii*) पिछड़े वर्ग के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ

(*iv*) पिछड़े वर्ग को छात्रावास आदि की सुविधाएँ

(*v*) पिछड़े वर्ग के छात्रों को भोजन, पाठन-लेखन सामग्री की मुफ्त व्यवस्था।

पाठ्यक्रम में सुधार (Reformation Curriculum)

हमें पाठ्यक्रम के सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक पक्ष को इस तरह से परिवर्तित/संशोधित करना होगा कि उसके परिणामस्वरूप शिक्षित व्यक्तियों के व्यवहार में निम्नांकित परिवर्तन आ जायें–

(*i*) वर्णवाद/जातिवाद कि प्रति अनास्था

(*ii*) वंश परंपरा के स्थान पर कर्म एवं गुण को महत्व देना

(*iii*) सामाजिक समानता में आस्था

(*iv*) अस्पृश्यता से घृणा

(*v*) स्त्रियों के प्रति समानता का भाव

(*vi*) समाज के पिछड़े वर्गों के प्रति सम्मान एवं सद्भाव

(*vii*) सामाजिक मूल्यों का व्यवहार में समावेश

(*viii*) दहेज आदि कुरीतियों के प्रति घृणा

(*xi*) अंध-विश्वास, कुरीतियों से छुटकारा,

(*x*) देश की सामाजिक संस्कृति के प्रति आस्था

(*xi*) प्राचीन मूल्यों एवं अर्वाचीन में समन्वय का प्रयास

राष्ट्रीय आवश्यकता तथा आकांक्षा के अनुरूप शैक्षिक लक्ष्य (Educational Aims for National Necessity and Need)

राष्ट्रीय दृष्टि से आज राष्ट्रीय एकता हमारी सर्वोपरि आवश्यकता है–हमारी आकांक्षा एक सबल, सुदृढ़ एवं संपन्न भारत राष्ट्र है। असम में विदेशी नागरिकों की समस्या, पंजाब में खालिस्तान की माँग, कश्मीर में पुनर्वास की समस्या, आंध्र में तेलगुदेशम का आंदोलन, तमिलनाडु में हिंदी विरोध, इस आवश्यकता की पूर्ति में बाधाएँ हैं। प्रतिवाद और क्षेत्रीयता, तीव्रता से फैलकर राष्ट्र के शरीर को मृतप्राय: कर रहे हैं। प्रबल भाषायी संकीर्णता दक्षिण, उत्तर को दो भागों में विभाजित करना चाहती है। सांप्रदायिकता की आग रह-रहकर कभी पश्चिम में, गुजरात में, कभी अलीगढ़ में, कभी मुरादाबाद में, कभी पूर्व में, कभी असम में सुलग जाती है। अत: आधुनिक भारत में शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय एकीकरण है–इसमें प्रबल बाधायें निम्नांकित हैं–

(*i*) प्रांतवाद

(*ii*) क्षेत्रीयता

(*iii*) भाषावाद

नोट

(*iv*) सांप्रदायिकता

(*v*) मूल्यहीन सत्ता के लिये दौड़/सत्तावाद

(*vi*) त्यागपूर्ण नेतृत्व का अभाव

(*vii*) कर्तव्य के स्थान पर अधिकार को प्रमुखता।

उपरोक्त बाधाओं के हटने पर ही राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शिक्षा के निम्नांकित उद्देश्य होने चाहिए–

(अ) राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देना–विभिन्न प्रदेशों, भाषाओं, उपसंस्कृतियों संप्रदायों की विविधताओं में एकता का अनुभव कराकर मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की उस भावना को अक्षुण्ण बनाये रखना, जिसका विकास हमने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान किया था, हमारी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये, जिससे हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, परंपराओं, भाषाओं पर गर्व कर सकें। कोठारी आयोग ने इस हेतु निम्नांकित दो कार्यक्रमों को शिक्षा-क्षेत्र में अपनाने ही सलाह दी है–

1. **हमारी सांस्कृतिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन तथा उसे सही ढंग से समझना–**इस उद्देश्य की प्राप्ति निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है–
   (*i*) भारतीय भाषा, साहित्य, दर्शन, धर्म तथा इतिहास का सुनियोजित अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था कराना।
   (*ii*) भारतीय वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला में संगीत-नृत्य तथा नाट्य-कला को अनिवार्य पाठ्यक्रम में शामिल कर परिचय कराना।
   (*iii*) भारत एवं उसके विभिन्न प्राकृतिक एवं राजनैतिक भागों की विशेषताओं को पाठ्य-चर्चा में शामिल करना।
   (*vi*) विभिन्न क्षेत्रों के शिक्षकों का परस्पर आदान-प्रदान करना।
   (*v*) अवकाशकालीन शिविरों, ग्रीष्मकालीन शिविरों को राष्ट्रीयसार पर आयोजन करना।
   (*vi*) अखिल भारतवर्षीय/राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना करना, जिनमें राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन हो सकें।
2. **हमारे भविष्य के प्रति दृढ़ प्रेरणापूर्ण निष्ठा का विकास करना–**इस लक्ष्य की प्राप्ति निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है–
   (*i*) नागरिकता संबंधी पाठ्यक्रम में छात्रों को संविधान के सिद्धांतों–उसकी प्रस्तावना, उसमें उल्लिखित लोकतांत्रिक मूल्यों का बोध कराकर।
   (*ii*) लोकतांत्रिक समाजवादी समाज, जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं, उसके स्वरूप को छात्रों को समझाकर।
   (*iii*) राष्ट्रीय विकास की पंचवर्षीय योजनाओं आदि का विभिन्न स्तरों पर स्तरवाद पर ध्यान कराकर।
3. **सघन प्रयास–**राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निम्नांकित दिशा में सघन एवं सुदृढ़ प्रयास करना होगा–
   (*i*) सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान देना।
   (*ii*) आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम एवं विचार-विनिमय के माध्यम के रूप में अपनाना।
   (*iii*) भाषा-अध्ययन की दृष्टि से त्रिभाषा-सूत्र को अपनाना (इसका वर्णन पहले किया जा चुका है)।
   (*iv*) शिक्षा का माध्यम रूप में मातृ-भाषा/क्षेत्रीय भाषा संपर्क भाषा को अपनाना।
   (*v*) संघीय भाषा हिंदी को संपर्क एवं राष्ट्र-भाषा-रूप में विकसित करना।
   (*vi*) राष्ट्रीय सेवा कार्यक्रमों को सघन रूप में सारे देश में अनिवार्य रूप से लागू करना।

नोट

राजनीतिक विकास (Political Development)

राष्ट्रीय एकीकरण के सभी प्रयास तब तक विफल रहेंगे जब तक हमारा राजनीतिक विकास, लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल न हों। इस चुनौती के निम्नलिखित पक्ष हैं–

(अ) नागरिकों के व्यवहार में लोकतांत्रिक मूल्यों का समावेश–ये मूल्य हैं–

(*i*) व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर

(*ii*) उदारतापूर्ण सहनशीलता

(*iii*) आत्म-नियंत्रण

(*iv*) पारस्परिक सद्भाव

(*v*) पारस्परिक सहयोग

(*vi*) त्याग एवं सेवा

(*vii*) आपसी आदान-प्रदान आदि-आदि।

(*viii*) अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों के प्रति जागृति का विकास।

(*ix*) आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र को आत्म-निर्भर बनाना।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण से लक्ष्य की प्राप्ति तभी संभव है, जबकि हम शिक्षा द्वारा छात्रों का–

(*i*) सामाजिक विकास कर सकें

(*ii*) राजनीतिक विकास कर सकें

(*iii*) लोकतंत्र की जीवनशैली के रूप में अपना लें

सर्वधर्म सद्भाव की भावना का विकास
(Produce the Feelings of All Religious Good will)

भारत एक बहुधर्मी देश है। हमने धर्म-निरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना की है। हमारी संवैधानिक व्यवस्थाओं ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आस्था के अनुसार उपासना आदि करने की स्वतंत्रता दी है। अपनी धार्मिक संस्थाओं के प्रबंध की स्वतंत्रता दी है। शिक्षा के माध्यम से ही धार्मिक स्वतंत्रता के इस अधिकार का सदुपयोग संभव है। हम किसी धर्म विशेष की शिक्षा नहीं दे सकते। सभी धर्मों के बारे में शिक्षा दे सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा-संस्थाओं को निम्नांकित क्रियायें करनी होंगी–

(*i*) विद्यालय/कॉलेज का प्रारंभ सर्व-धर्म प्रार्थना से किया जाये।

(*ii*) प्रार्थना-सभा में सभी धर्मों के पवित्र ग्रंथों के अंश सुनाये जायें या उनका पाठ किया जाये।

(*iii*) सभी धर्मों के प्रवर्त्तकों के जन्म-दिवस, पुण्यतिथि आदि मनाई जाए।

(*iv*) सभी धर्मों के त्योहार, उत्सव विद्यालय/महाविद्यालय में मनाए जाएँ।

(*v*) विभिन्न धर्मावलंबी संतों के भाषण आदि रखे जाएँ।

(*vi*) स्तरवाद पाठ्यवाद बनाकर विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों, प्रर्वतकों आदि के बारे में जानकारी दी जाये। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर पर भाषा एवं सामाजिक अध्ययन विषयों के माध्यम से तथा उच्च स्तर पर पृथक् विषय के रूप में।

(*vii*) उच्च स्तर पर विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाये।

उपर्युक्त तथा अन्य उपर्युक्त कार्यक्रमों के पाठ्यक्रम के माध्यम से हम सर्व-धर्म सद्भाव की भावना का विकास करने में सफल हो सकेंगे।

नोट

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिये शिक्षा (Education for International Goodwill)

भारत 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया' तथा 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की परंपरा वाला देश है। विश्व में बढ़ते तनाव आतंक, हथियारों की दौड़, छोटे राष्ट्रों की संप्रभुता को चुनौती आदि की स्थिति में उपर्युक्त भावना का विकास अत्यावश्यक हो गया है। विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी का उपयोग शांतिपूर्ण एवं विकासात्मक कार्यों के लिये हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का वातावरण तैयार किया जाये। स्वतंत्र भारत में भी हमने पंचशील, तटस्थता आदि के सिद्धांतों को देकर इस क्षेत्र में योगदान किया है। इस भावना को जन-जन में विकास की दृष्टि से शिक्षा को अपने लक्ष्यों में इसको शामिल करना होगा।

हमें विश्व नागरिक बनने में सहायता के लिये मानविकी एवं समाज-विज्ञानों एवं विज्ञानों का हमारा अध्ययन निम्न प्रकार का हो–

(*i*) पाठ्यक्रम में पड़ोसी राष्ट्रों तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों की विशेषताओं की जानकारी दी जाये, जिससे कि उनको समझने एवं उनका ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिले।

(*ii*) यह ज्ञान पूर्वाग्रह पूर्णता से मुक्त तटस्थ रूप से दिया जाये।

(*iii*) विभिन्न देशों से आदान-प्रदान की योजनाओं को सशक्त बनाया जाये।

(*vi*) संयुक्त राष्ट्र संघ एवं उसकी विभिन्न संस्थाओं द्वारा निर्धारित उद्देश्यों एवं इस हेतु अपनाये गये कार्यक्रमों को हमारे शैक्षिक कार्यक्रमों में महत्त्व दिया जाये।

प्राचीनता एवं आधुनिकता का समन्वय (Coordination of Antiquity and Modernity)

अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिये यह भी आवश्यक होगा कि हम पाश्चात्य देशों की विज्ञान एवं शिक्षा-विज्ञान पर आधारित आधुनिकता से सामंजस्य बैठायें। भारतीय समाज एक परंपरागत समाज है, जब तक हम अपनी प्राचीनता का पाश्चात्यों की आधुनिकता से सामंजस्य नहीं बिठायेंगे, तब तक अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास नहीं हो पायेगा। अतः शिक्षा-प्रणाली प्राचीनता एवं आधुनिकता का समन्वय करना होगा।

प्राचीनता के रूप में भारत ने महान्, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य विरासत में पाये हैं। ये वे मानवीय मूल्य हैं, जो शाश्वत एवं सार्वभौम हैं, जिनके बल पर यह प्राचीनकाल में दुनिया का मसीहा, अगुआ एवं गुरु रहा है। इन मूल्यों की आज की दुनिया में बहुत आवश्यकता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सबसे शक्तिशाली साधन विज्ञान एवं शिल्प-विज्ञान हैं, जो कि मानवता को भूसंहार की ओर ले जा रहे हैं। विश्व में वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों की होड़ बढ़ रही है। इनके प्रयोग का परिणाम हम पिछले दो विश्व-युद्धों में देख चुके हैं, जिनमें कि अभूतपूर्व नरसंहार हुआ था। हम पर आधुनिकता का साधन विज्ञान हावी न हो। वह हमारा स्वामी न बन जाये, बल्कि हम उसके स्वामी बनकर उसका उपयोग मानवता के लिये करें। मूल्याधारित प्राचीनता तथा विज्ञानाधारित आधुनिकता का समन्वय हमारा लक्ष्य होना चाहिये। स्व. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था–''क्या हम विज्ञान और शिक्षा-विज्ञान की इन तरक्की का मेल मन और रूह की तरक्की से भी नहीं बिठा सकते? हम विज्ञान को भी नहीं झुठला सकते हैं, क्योंकि आज तो वह जिंदगी की बुनियादी चीज है और पिछले जमाने में भारत जिन जरूरी सिद्धांतों पर अमल करता आ रहा है, उनको तो हम और भी कम झुठला सकते हैं। इसलिये हम अपनी पूरी ताकत और मशक्कत के साथ उद्योग-धंधों के अपने रास्ते पर चलते रहें, मगर उनके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखें कि सहनशीलता, दया और बुद्धिमानी के बिना भौतिक दौलत धूल और राख भी हो सकती है।'' प्राचीनता एवं आधुनिकता के इस समन्वय से ही हम एक ऐसे भारतीय का निर्माण कर सकेंगे जो अनाशक्ति अपरिग्रह, सहिष्णुता, उदारता, दया, शांतिप्रियता आदि मूल्यों पर चलकर सांसारिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करेगा। ऐसा होने पर ही शिक्षा अपने उद्देश्यों में सफल कही जा सकेगी।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. भारत की 70% जनता कृषि एवं कृषि से संबंधित उद्योगों से अपना करती है–

नोट

(अ) जीवन निर्वाह (ब) कार्य

(स) व्यवसाय (द) इनमें से कोई नहीं

4. भारत की अर्थव्यवस्था है–

(अ) कृषि-प्रधान (ब) जन्म-प्रधान

(स) कर्म-प्रधान (द) सुदृढ़

5. भारत में स्त्री है–

(अ) समाज के सुदृढ़ वर्ग में (ब) समाज के कमजोर वर्ग में

(स) समाज के उच्च वर्ग में (द) समाज के निम्न वर्ग में

6. भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा आता है–

(अ) पिछड़े वर्ग के क्षेत्रों में (ब) उच्च वर्ग के क्षेत्रों में

(स) समृद्ध वर्ग के क्षेत्रों में (द) इनमें से कोई नहीं।

21.4 मानव संसाधन विकास (Human Resource Development)

'ज्ञान-ज्ञान के लिए है' या 'शिक्षा-शिक्षा के लिए है' का नारा सर्वमान्य सिद्धांत बना हुआ था। बालक के चारित्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा देने की परंपरा थी। शिक्षा को अनुत्पादक क्रिया माना जाता था।

जब शिक्षा का प्रसार हुआ, नामांकन संख्या बढ़ने लगी, व्यय में वृद्धि होने लगी और राज्य को शिक्षा पर अधिक धन खर्च करना पड़ा तो शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान शिक्षा के आर्थिक पक्ष की ओर गया।

अर्थशास्त्र की वर्तमान धारणा में मनुष्य की उन क्रियाओं के अध्ययन को प्रमुखता दी गई है जिसका संबंध धन से हो। इसमें मानव की धन-संबंधी सामाजिक क्रियाओं की प्रधानता है। मनुष्य समाज में रहता है और समाज में रहने के कारण उसकी अनेक आर्थिक समस्याएँ होती हैं। इन आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण अर्थशास्त्र में होता है। **डा. सीगर** के अनुसार, ''अर्थशास्त्र वह समाज विज्ञान है, जिसमें मानवीय प्रयासों के उस अंश की विवेचना होती है, जिसका संबंध जीविकोपार्जन से होता है।'' प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **मार्शल** कहते हैं कि ''अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन में व्यापार संबंधी क्रियाओं का अध्ययन करता है। इससे इस बात का पता लगता है कि वह किस प्रकार धनोपार्जन करता है तथा उसका उपयोग करता है। अत: यह एक ओर धन का अध्ययन करता है तो दूसरी ओर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष व्यक्ति का अध्ययन करता है।'' **प्रोफेसर जे. के. मेहता** के अनुसार ''अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उन मानव व्यवहारों का अध्ययन करता है, जो आवश्यकता विहीनता की दशा की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं।''

अस्तु, अब अर्थशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। अब इसे केवल धन का शास्त्र न मानकर धन, मनुष्य तथा मानव कल्याण से संबद्ध शास्त्र माना जाता है। इस दृष्टि से उसका संबंध शिक्षाशास्त्र से भी हो जाता है। शिक्षाशास्त्र में बालक के कल्याण का ध्यान रखा जाता है। इसमें व्यक्ति व समाज के नैतिक आदर्शों की विवेचना होती है। इसमें समाज-कल्याण व व्यक्ति-कल्याण की कल्पना को मूर्तरूप दिया जाता है। शिक्षाशास्त्र का यह कार्य विद्यालयों की स्थापना, शिक्षकों की नियुक्ति, भवन-निर्माण, क्रीड़ांगण व्यवस्था, परीक्षा-व्यवस्था एवं अन्य शैक्षिक कार्यकलाप द्वारा संपन्न होता है। इस कार्य में धन की आवश्यकता होती है। धन की व्यवस्था व प्रबंधन में अर्थशास्त्र से सहायता मिलती है। अत: आजकल शिक्षा के अर्थशास्त्र का विकास हो रहा है। आर्थिक परिस्थितियों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है और शिक्षा की योजना बनाने में प्रभाव पड़ता है। अमेरिका में शिक्षा के अर्थशास्त्र का विशेष रूप में विकास हुआ है। प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री थ्योडर शूल्ज ने इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। रूस में भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया गया और श्री एस. जी. स्टूमिलिन का योगदान अति महत्त्वपूर्ण है। इंग्लैण्ड में जान वेजी और फ्रांस में माइकेल डेवानेश आदि विद्वानों ने इस शाखा का विकास किया।

नोट

एडम स्मिथ ने स्थिर पूँजी में समाज के सदस्यों की लाभदायक योग्यताओं को सम्मिलित करके और टामस आर. माल्थस ने सामाजिक सामंजस्य और आर्थिक शांति के लिए श्रमिकों की शिक्षा और साक्षरता पर बल देकर शैक्षिक अर्थशास्त्र के विकास के लिए उर्वर भूमि तैयार कर दी थी। **अल्फ्रेड मार्शल** ने कहा था ''सबसे अधिक मूल्यवान् पूँजी वह है जिसका विनियोग मनुष्य पर किया जाता है।'' कार्ल मार्क्स ने श्रमिक के तकनीकी कौशल को बढ़ाने पर बल दिया था। मार्शल ने शिक्षा के व्यावसायिक पक्ष पर बल दिया था और शिक्षा को आर्थिक विकास से जोड़ने का समर्थन किया था।

21.5 मानव शक्ति नियोजन (Man Power Planning)

अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य एक पूँजी है। देश के आर्थिक विकास के लिए जैसे धन-दौलत की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानव-शक्ति की जरूरत होती है। कारखानों में श्रमिक कार्य करते हैं। यदि श्रमिक शिक्षित है तो उसके कार्य का परिणाम अच्छा होगा। कारखाने में उत्पादन भी बढ़ेगा। शिक्षित किसान खेत में अधिक अन्न उपजायेगा क्योंकि उसे बीज, खाद, उपकरण आदि का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से मानव को शिक्षित करना पूँजी निवेश है। मानव-शक्ति का नियोजन करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की कार्य क्षमता को बढ़ाना, उसे नई तकनीकों की जानकारी देना, उसे देश-विदेश में कृषि एवं उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों से परिचित कराना आवश्यक है।

मनुष्य में असीम शक्ति है। मानव स्वयं एक शक्ति है। यहाँ पर शक्ति का तात्पर्य कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। आर्थिक दृष्टि से, पूँजी के रूप में, आर्थिक समृद्धि के सबल साधन के रूप में मानव-शक्ति है। वह एक साधन है, कल-कारखानों का एक सशक्त पुर्जा है।

आर्थिक विकास में मानवीय साधन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसी के द्वारा आर्थिक विकास को गति मिलती है और देश उन्नति करता है। अतएव जितना योग्य यह साधन होगा उतना ही अधिक आर्थिक विकास संभव बनेगा। उसकी क्षमता, योग्यता और निपुणता को बढ़ाना आवश्यक है। मानव की इन शक्तियों को बढ़ाने का कार्य शिक्षा का है। इसीलिए शिक्षा आर्थिक विकास से संबद्ध हो जाती है। आर्थिक विकास श्रमिकों की कार्य कुशलता पर निर्भर करता है। श्रमिकों की कार्य कुशलता उनकी शिक्षा-दीक्षा पर निर्भर करती है। इस प्रकार शिक्षा आर्थिक विकास का अभिन्न अंग बन जाती है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल आर्थिक विकास नहीं है। जहाँ एक ओर शिक्षा आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर वह जीवन का आनंद प्राप्त करने के लिए भी अपरिहार्य है। अच्छा आदमी बनने के लिए समन्वित व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए, चरित्र-निर्माण के लिए तथा संपन्न जीवनयापन के लिये शिक्षा अनिवार्य है। आत्म-परिचय तथा आत्म-संतुष्टि के लिये शिक्षा आवश्यक होती है, जिससे कि मानव व्यक्तित्व को संपूर्णता प्राप्त हो सके, शिक्षा की इस दुहरी प्रवृत्ति को समझ लेने पर ही आर्थिक उन्नति में उसका योगदान का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

आर्थिक विकास का प्रयोजन मनुष्य के जीवन स्तर को ऊँचा करना है। भारत जैसे देश में दरिद्रता का उन्मूलन और जन जीवन का उन्नयन ही उसकी कसौटी है। इसके लिये प्रकृति पर आश्रित न रहकर व्यक्तियों में आधुनिक तकनीकी शक्ति और कौशलों के आधार पर आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत करनी है। उसमें भाग्यवादी होने, दैव-दैव पुकारने, नि:सहाय अनुभव करने की प्रवृत्तियाँ समाप्त होंगी, जिससे उसकी शक्ति का ह्रास, पहलकदमी का नाश और उत्तरदायित्व भावना का विनाश न हो। आर्थिक विकास के लिये उसमें आत्मविश्वास, प्रकृति-व्यापार समझने की शक्ति और उसका सामना करने की योग्यता उत्पन्न करके समाज में एक नये पर्यावरण का निर्माण करने के लिए एक निम्नतम आधारभूत शिक्षा आवश्यक होगी, जिसका प्रयोग आधुनिक विज्ञान और तकनीक को समझने और अपनी तार्किक शक्ति बढ़ाने में हो सके।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. भारत एक बहुधर्मी देश है।
8. अर्थशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य एक पूँजी नहीं है।
9. वयस्क शिक्षा की आर्थिक विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है।
10. प्राथमिक शिक्षा से शिक्षा का आधार तैयार होता है।

21.6 मानव संसाधन विकास के साधन (Means of Human Resources Development)

प्रौढ़ शिक्षा (Adult Education)

वयस्क शिक्षा की आर्थिक विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है। हमारे देश में 63 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं। भारत का विकास इन्हीं निरक्षर वयस्कों पर निर्भर करता है। अतएव साक्षरता एवं समाज शिक्षा के सघन प्रयत्नों द्वारा उन्हें इस योग्य बनाना होगा कि वे कृषि तथा उद्योग-धंधों संबंधी साहित्य पढ़-समझ सकें और उसके आधार पर कृषि तथा व्यवसाय में प्रगति कर सकें। शिक्षा से तकनीकी ज्ञान, विवेक एवं साहस में वृद्धि होती है, जिससे आर्थिक क्रियाओं का विस्तार होता है, साधनों का विवेकीकृत उपयोग संभव बनता है तथा उत्पादन बढ़ता है जिससे आर्थिक प्रगति होती है।

प्राथमिक शिक्षा (Primary Education)

प्राथमिक शिक्षा से शिक्षा का आधार तैयार होता है। इससे साक्षरता आती है, प्रारंभिक कुशलता मिलती है और उचित मनोवृत्ति निर्मित होती है। पढ़ने-लिखने-गिनने की योग्यता प्राप्त कर वे अपने कार्य से संबंधित साहित्य से लाभ उठा लेते हैं। अपने आस-पास के पर्यावरण की जानकारी प्राप्त कर लेने से वे अंधविश्वास और अविवेक के चक्कर में नहीं फँसते, जिससे उनके विकासात्मक प्रयासों में अवरोध नहीं आ पाता। नई तकनीकी पद्धतियों, कार्यानुभव और यंत्रों के प्रयोग के प्रति उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है, जो उन्हें आधुनिक युग की उत्पादन क्रियाओं से समायोजन करने में सहायक होता है। इस शिक्षा काल में उनकी मनोवृत्तियाँ भी परिष्कृत होती हैं। उनमें सहानुभूति, भ्रातृत्व, सहिष्णुता, मानवता, सहकारिता आदि की भावनायें उत्पन्न करती हैं, जो उन्हें राष्ट्र, समाज तथा कार्यशाला का उपयोगी सदस्य बनाने में सहायक होती हैं।

माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)

माध्यमिक शिक्षा अधिकांश छात्रों के लिए अंतिम शिक्षा स्तर होता है, जिसके बाद वे किसी आर्थिक क्रिया में लग जाते हैं। यह क्रिया या तो उनका स्वयं कोई रोजगार धंधा हो या मध्यम वर्ग के कर्मचारी की हैसियत से किसी कार्यालय या कारखाने में कार्य करें। वे खेती, दस्तकारी या शिल्पकर्म करते हैं अथवा लिपिक, यांत्रिक या श्रमिक के रूप में नौकरी करते हैं। चाहे वे सीधे उत्पादन के कारखानों में काम करें अथवा प्रशासन संगठन आदि के कार्यालयों में रहें, वे आर्थिक विकास में सहायक होते हैं। माध्यमिक शिक्षा सबसे अधिक संख्या में निपुण अथवा अर्द्ध निपुण श्रमिकों का निर्माण करती है। माध्यमिक शिक्षा उत्तीर्ण कर छात्र उच्च शिक्षा में प्रवेश पाते हैं। सामान्य या विशिष्ट उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे अधिक निपुण मानव शक्ति के रूप में उत्पादन, संगठन तथा प्रशासन कार्यों के लिये उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा की आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

भारतवर्ष बहुउद्देशीय विद्यालयों के विविधीकृत पाठ्यक्रम निपुण श्रमिक निर्माण करने में असफल रहे हैं। कनिष्ठ तकनीकी विद्यालयों की अपेक्षित निवुणता में प्रशिक्षण देने में कृतकार्य नहीं हो पाये हैं। केवल औद्योगिक प्रशिक्षण

नोट

संस्थायें ही इस दिशा में कुछ कर सकी हैं, किंतु वे श्रम विभाग कि द्वारा संचालित हैं। भारत का सबसे बड़ा उद्योग कृषि है। उसके निमित्त कुशल श्रमिक तैयार करने वाले विद्यालयों का सर्वथा अभाव है। माध्यमिक विद्यालयों से निकलकर उच्च शिक्षा में प्रविष्ट होने वाले छात्रों का ज्ञान एवं योग्यता इतनी निम्न स्तर की होती है कि वे उच्च शिक्षा का पूरा लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं। हमारी माध्यमिक शालायें न रोजगार का प्रशिक्षण और न उच्चाध्ययन की क्षमता ही दे पाती हैं।

उच्च शिक्षा (Higher Education)

शिक्षा उच्च वर्ग के कर्मचारियों का निर्माण करती है। यह या तो बड़े-बड़े कारखानों को सँभालते या कार्यालयों को चलाते हैं। इनके विवेकपूर्ण निर्णय एवं संचालन पर ही उत्पादन की प्रगति निर्भर करती है। उच्च शिक्षा दो प्रकार की होती है–एक सामान्य और दूसरी विशिष्ट। सामान्य शिक्षा से प्रशासन एवं संगठन के लिए लोग विशिष्ट शिक्षा से उच्च यांत्रिक एवं कर्मचारी प्राप्त होते हैं। आर्थिक विकास के लिए प्राय: दूसरे प्रकार की शिक्षा पर बल दिया जाता है, किंतु विशिष्टीकरण से व्यक्ति का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। विज्ञान और तकनीकी की द्रुत प्रगति के कारण प्रविधियों में शीघ्रता से परिवर्तन होता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ती जाती है, जो परिवर्तित परिस्थितियों से शीघ्रता के साथ समायोजन कर सकें। इसके लिए अच्छी सामान्य शिक्षा होना आवश्यक समझा जाता है।

21.7 मानव शक्ति नियोजन में शिक्षा की भूमिका (Role of Education in Man Power Planning)

भारतीय संविधान–भारतीय संविधान के प्रारंभ में जो प्रस्तावना दी गई है, उसमें राष्ट्र के नये मूल्यों का विचारपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। उसके पीछे राष्ट्र की नई विचारधारा और नये निर्णय का समावेश है। यदि हम संविधान को राष्ट्र के जीवन में अंकित करना चाहते हैं तो हमारे शैक्षिक नियोजकों को संविधानानुसार शिक्षा-व्यवस्था करनी होगी। संविधान के आदर्शों और मूल्यों का शिक्षा द्वारा ही संचार करना होगा।

संविधान का संपूर्ण राष्ट्र-जीवन से घनिष्ठ संबंध है। संविधान का जनतंत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमे ही राष्ट्र को मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है। उसके सिद्धांतानुसार ही कार्य-पूर्ति होनी चाहिए अन्यथा लिखित संविधान का होना न होना एक समान है। संविधान में राष्ट्र-जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर उल्लेख या आदेश होता है। उन आदेशों को व्यवहृत करना सरकार और समाज का कर्त्तव्य है।

शिक्षा संबंधी संकेत–भारतीय संविधान में शिक्षा-संबंधी संकेत निम्नलिखित हैं–

1. **प्रथम संकेत** संविधान की 'प्रस्तावना' से मिलता है, जिसके अनुसार सभी नागरिकों को हर प्रकार का न्याय, विचार तथा वाणी-स्वातंत्र्य, समानता और भ्रातृभाव प्राप्त होगा। नियोजन में शिक्षा की इस भूमिका को ध्यान में रखना है।
2. **दूसरा संकेत** 'मौलिक अधिकार' वाले अध्याय से मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं और विशेषत: सांस्कृतिक तथा शैक्षिक विकास का नागरिकों को पूरा अधिकार है। शिक्षा नियोजन में इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
3. **तीसरा संकेत** 'राज्यों के लिए नीति निर्देशक तत्वों,' से मिलता है, जिसमें दिया हुआ है कि 14 वर्ष की आयु तक सभी बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायेगी।

टास्क शिक्षा के व्यवसायीकरण पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

21.8 शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन (Important Change in Education)

यदि भारत में जनतंत्र का सच्चा स्वरूप व्यापक करना है तो शिक्षा-क्षेत्र में कुछ आधारभूत परिवर्तन करने होंगे।

1. वर्तमान भारत में सभी नागरिकों को शिक्षा का समान अवसर और अधिकार प्राप्त हैं। इसलिये शिक्षा-क्षेत्र में जातीय, धार्मिक तथा वर्गीय अंतर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार अपना विकास कर सके, इस प्रकार की शिक्षा उसे प्राप्त हो। पुरातन भारत की प्रणाली के अंतर्गत केवल उच्च वर्गों के लिए ही शिक्षा का अधिकार सुरक्षित था, परंतु अब सामान्य जनसमूह और भिन्न-भिन्न वर्गों के बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार सुरक्षित है। इसलिए राज्यों को पर्याप्त संख्या में पाठशालाएँ स्थापित करनी होंगी और उनमें विविध कार्यक्रमों का आयोजन करना होगा ताकि भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों से आये हुए बच्चे विद्या का पूरा लाभ ले सकें और उत्तरदायी नागरिक बन सकें।
2. भारतीय समाज में न केवल सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं वरन् सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ भी हैं। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत ये असमानताएँ और अधिक हुई हैं। धनवान वर्ग अधिक धनी और गरीब वर्ग अधिक दरिद्र बन गया है। यदि हम देश में सार्थक प्रजातंत्र का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें शिक्षा-प्रणाली का ऐसा आयोजन करना होगा, जिससे शिक्षित वर्गों में सामाजिक और आर्थिक अंतर घटे और समानता बढ़े। उनके वेतन, वातावरण और अन्य सुविधाओं में अधिक भिन्नता न रहे। किसी एक व्यवसाय को उच्च स्थान न दिया जाये अर्थात् शिक्षक, इंजीनियर, डॉक्टर आदि को समकक्ष शिक्षा के अनुसार लगभग समान वेतन और एक से लाभ मिलने चाहिए।
3. वर्तमान यांत्रिक और व्यावहारिक शिक्षा-प्रणाली में विचार और वाणी की मुक्ति का पूरा अभाव है। पाठशालाओं में जो अभ्यास-क्रम शिक्षा-अधिकारी से नियोजित होकर आता है, उसे परीक्षा हेतु पढ़ाया जाता है और उसमें बच्चों को वाद-विवाद तथा स्वचिंतन या स्वाध्याय का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता। मुक्त चर्चा विचार तथा आत्मिक विकास के लिये इन परीक्षाबद्ध पाठशालाओं में समय ही नहीं। केवल पुस्तकीय ज्ञान-स्मरण में ही विद्यार्थियों की शक्ति लगी रहती है। आज के स्वतंत्र भारत में यदि हमें स्वाधीनताप्रिय, विचारशील और स्वावलंबी नागरिक चाहिये तो पाठशालाओं के पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। यदि वर्तमान शिक्षा नये राष्ट्र-जीवन का प्रतिबिंब है तो पाठशालाओं के नये मूल्यों के अनुसार बच्चों का चरित्र-गठन होना चाहिये। जब तक बच्चों को जनतंत्रात्मक जीवन का पाठशालाओं में ज्ञान नहीं कराया जायेगा। तब तक उनका प्रजातंत्र में अटूट विश्वास नहीं बँध सकेगा और वे भावी राष्ट्र का निर्माण उस राज्य-प्रणाली पर सफलता से नहीं कर पायेंगे। वे वैज्ञानिक वृत्ति वाले नहीं बन सकेंगे। वे मुक्त-मानव का विकास करने में समर्थ न होंगे। भारत के रूढ़ियुक्त समाज को बदलने के लिए यह अनिवार्य है कि देश के भावी नागरिक मन, वाणी और विचार से स्वाधीन प्राणी हों।
4. शिक्षा द्वारा परस्पर सहानुभूति और प्रेम का आयोजन होना जरूरी है। नागरिकों में एक भाषा, एक भाव और एक राष्ट्र की अनुभूति होनी चाहिए। संविधान के अनुसार एक संपर्क भाषा हिंदी का सारे देश में संचार हो और उसमें ही सभी राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ हों ताकि देश के भिन्न-भिन्न भाषावादी लोगों में सरलता से व्यवहार हो सके और प्रचलित जातीय अंतर कम हो सके। यह सत्य है कि एक भाषा के अभाव में पारस्परिक भेदभाव और अविश्वास विशाल रूप धारण करते हैं और एक माध्यम न होने से गलतफहमी और झगड़े बढ़ते हैं। इसलिये पाठशालाओं का यह कर्तव्य है कि वे एक भाषा का निरंतर प्रचार करती रहें और नई पीढ़ी को नया मार्गदर्शन देती रहें।

   1953 में मुदालियर कमीशन ने कई सुझाव रखे थे और 12 वर्ष के बाद कोठारी कमीशन ने नये सुझाव प्रस्तुत किये, परंतु उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। यदि पाठशाला-प्रबंधक, शिक्षा अधिकारी और समाज

नोट

शिक्षा के नये मूल्यों से सचेत रहें, संविधान के सूत्रों से भली-भाँति परिचित बनें और प्रगति-मार्ग अपनायें तो शिक्षा-क्षेत्र में आंदोलन आ सकता है। शैक्षिक नियोजन समाज का आधार है, जिससे सभी सामाजिक प्रवृत्तियों को प्रेरणा मिलती है। शिक्षा-क्षेत्र में तो नियोजन के सिद्धांतों का विशेष स्थान है।

5. शैक्षिक नियोजन में शिक्षा की भूमिका स्वतंत्र भारत के परिप्रेक्ष्य में और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। पहले चंदा, धर्मादा, मंदिरों व मठों की आय से शिक्षा का काम सुचारु रूप से चल रहा था, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा का प्रचार-प्रसार अधिक आवश्यक होने के बावजूद शैक्षिक आय के अन्य स्रोतों–दान, चंदा, धर्मादा आदि से आय बहुत कम हो गई है। नि:शुल्क शिक्षा के अभियान के कारण फीस के स्रोत से प्राप्तियाँ बहुत घट गई हैं। स्थानीय निकायों की स्थिति भी दयनीय हो गई है, जिससे उसकी सहायता अब शिक्षा को उस अनुपात में नहीं मिल पाती, जिसमें स्वतंत्रता पूर्व के काल में मिलती थी। इन सबका यह प्रभाव हुआ कि शिक्षा व्यय का अधिकाधिक भार शासन पर पड़ने लगा है। आज वह शिक्षा के व्यय का तीन-चौथाई से अधिक वहन कर रहा है।

शैक्षिक अर्थशास्त्र के विकास के साथ-साथ शैक्षिक उद्देश्यों में परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन का एक कारण सार्वभौमिक शिक्षा है। जब यह माना जाने लगा कि शिक्षित युवक-युवती अशिक्षितों से अच्छे नागरिक व श्रमिक होते हैं तो राज्यों ने अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा की नीति अपनायी। इससे व्यय बढ़ने लगा और प्रतिफल की बात लोग सोचने लगे। उधर विज्ञान और उद्योगों का विकास हो रहा था और इनमें कार्य करने के लिए कुशल श्रमिकों की माँग बढ़ती जा रही है। इन सबका एक अच्छा प्रभाव यह है कि शिक्षा के अर्थशास्त्र का तीव्र गति से विकास हो रहा है।

21.9 सारांश (Summary)

महात्मा गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में इस कमी को पहचाना और बुनियादी शिक्षा में श्रम की प्रतिष्ठा कर शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने का प्रयास किया। यूरोप के समाजवादी देशों के शैक्षिक पाठ्यक्रम में शारीरिक कार्य, कार्यानुभव आदि विभिन्न नामों से, इस विषय को अनिवार्य रूप से शामिल किया जाता है। शिक्षा आयोग ने इसे 'कार्यानुभव' (Work Experience) नाम देकर सामान्य शिक्षा के अंतिम अंग के रूप में मानने की सिफारिश की है। कार्यानुभव का अर्थ स्कूल, घर, कारखाने, खेत, फैक्ट्री या अन्य किसी भी उत्पादक स्थिति में उत्पादक काम में भाग लेना है, जिसमें कि शिक्षा और कार्य का एकीकरण हो सके और शिक्षित जनशक्ति, कुशल जनशक्ति में परिणित होकर उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन बन सके।

21.10 शब्दकोश (Keywords)

1. **समाजोपयोगी** (Socially Useful) : समाज के लिए उपयोगी
2. **अपनाना** (Adopt) : स्वीकारना

21.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. राष्ट्रीय आर्थिक विकास से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. शिक्षा में शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा का उल्लेख कीजिए।
3. 'शिक्षा का व्यवसायीकरण' पर टिप्पणी लिखिए।
4. समान स्कूल व शिक्षा-प्रणाली को परिभाषित कीजिए।
5. मानव संसाधन विकास के साधनों का उल्लेख कीजिए।

नोट

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. कृषि-प्रधान	2. प्राचीन	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

21.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–22 : शिक्षा : सामाजिक संस्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता (Education : Social Stratification and Social Mobility

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
22.1 सामाजिक संस्तरीकरण (Social Stratification)
22.2 सामाजिक संस्तरीकरण की परिभाषाएँ (Definitions of Social Stratification)
22.3 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रारूप (Forms of Social Stratification)
22.4 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रकार (Types of Social Stratification)
22.5 सामाजिक संस्तरीकरण के आधार (Basis of Social Stratification)
22.6 शिक्षा एवं सामाजिक संस्तरीकरण (Education and Social Stratification)
22.7 सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)
22.8 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएँ (Definitions of Social Mobility)
22.9 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार (Types of Social Mobility)
22.10 सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Social Mobility)
22.11 शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता (Education and Social Mobility)
22.12 सारांश (Summary)
22.13 शब्दकोष (Keywords)
22.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
22.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक गतिशीलता जानने हेतु।
- सामाजिक संस्तरीकरण जानने हेतु।
- सामाजिक संस्तरीकरण के आधार जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा का संस्तरीकरण से गहरा संबंध है। समाज में प्राय: निम्न वर्ग अथवा मध्यम वर्ग का बालक शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है जिससे शिक्षित होकर वह अपना वर्ग ऊँचा कर सके जबकि उच्च वर्ग शिक्षा इस कारण

नोट

ग्रहण करता है कि वह अपने पद व सम्मान को स्वामित्व प्रदान कर सके। सामाजिक गतिशीलता क्या है, इसकी चर्चा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है। इस संबंध में उब्ल्यू.सी. हेडरिक का कहना है कि, ''सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्तियों का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में चला जाना।''

22.1 सामाजिक संस्तरीकरण (Social Stratification)

भारतीय समाज के अंतर्गत भारतवर्ष के समाजवादी स्वरूप की बात कही गई है और इस बात का पूर्ण प्रयास किया गया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक व आर्थिक आधार पर समान समझा जाये। परंतु समानता स्थापित करते हुए भी हम विभिन्नता की उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि हम प्रकृति की ओर भी दृष्टि डालें तो शारीरिक दृष्टि से कोई गोरा, कोई काला, कोई पतला, कोई मोटा, कोई लंबा व कोई नाटा है अर्थात् व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे से भिन्नता या असमानता लिये हुए है। इसी कारण मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि व्यक्तिगत भिन्नता एक वांछनीय गुण है जिसे हमें स्वीकार करना चाहिए। यही स्थिति समाज में भी पायी जाती है। सामाजिक असमानता भी हमें प्रत्येक स्तर पर दृष्टिगोचर होती है। समाज की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित स्थिति व कार्य प्रदान करना आवश्यक है और जैसे ही हम स्थिति की कल्पना करते हैं, उसमें व्यक्ति या समूह का उत्क्रम या प्रतिष्ठा स्वत: ही निहित हो जाता है और इस उत्क्रम को ही सामाजिक संस्तरीकरण (Social Stratification) के नाम से जानते हैं।

सामाजिक संस्तरीकरण समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर देता है। इसी कारण हम उसी समाज को संस्तरीकृत समाज (Stratified Society) कहते हैं जो विभिन्न समूहों में विभाजित होता है। सामाजिक संस्तरीकरण हमारे समाज में बहुत पहले से चला आ रहा है। समाज की व्यवस्था हेतु जब 4 वर्गों में उसे विभाजित किया गया, वह भी इसी स्तरीकरण का उदाहरण है। इस संस्तरीकरण को हम रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

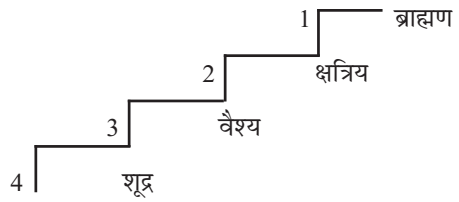

22.2 सामाजिक संस्तरीकरण की परिभाषाएँ (Definitions of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण के संबध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रगट किये गये विचार इस प्रकार हैं–

1. **एच. पी. फेयरचाइल्ड** (H. P. Fairchild)–''सामाजिक संस्तरीकरण से अभिप्राय है समाज के तत्वों को विभिन्न क्षैतिजीय स्तरों पर समूहों में व्यवस्थित करना तथा प्रत्येक को एक स्थिति प्रदान करते हुए उनकी उच्चता व निम्नता निर्धारित करना।''

   (Social stratification is the arrangement of societal elements into groups on different horizontal levels (and) the establishment of status on terms of variying superiority and inferiority.)

2. **विलहेलम अबर्ट** (Vilhelum Aubert)–लंबवतीय सिद्धांत के अनुसार, ''सामाजिक संस्तरीकरण समाज को व्यवस्थित करने की व्याख्या करता है। यह कार्य समाज के व्यक्तियों को या कार्यों को एक-दूसरे से ऊपर या नीचे निर्धारित करता है।''

   (Social stratification refers an ordering of society according to vertical principles the task consists in locating individuals or roles above and below each other.)

नोट

3. **पी. गिलबर्ट** (P. Gilbert)–''सामाजिक संस्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों अथवा वर्गों में विभाजन से है जो परस्पर श्रेष्ठता एवं अधीनता के संबंधों द्वारा एक-दूसरे से बँधे हों।''
(Social stratification is the division of society in permanent groups or categories linked with each other by the relationship of superiority and subordination.)

22.3 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रारूप (Forms of Social Stratification)

समाजशास्त्री सामाजिक संस्तरीकरण के निम्नलिखित प्रारूप बताते हैं–

1. गुलामी (Slavery), 2. भू-संपदा (Estate), 3. जाति (Caste), 4. वर्ग (Class)।

टास्क शिक्षा के सामाजिक परिवर्तन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. सामाजिक संस्तरीकरण समाज को व्यवस्थित करने की ..... करता है।
2. बंद संस्तरीकरण में कोई ..... नहीं लाया जा सकता।
3. सामाजिक गतिशीलता का आशय है ..... का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में चला जाना।
4. अधोक्रम गतिशीलता उपक्रम गतिशीलता के बिल्कुल ..... है।

22.4 सामाजिक संस्तरीकरण के प्रकार (Types of Social Stratification)

1. **बंद संस्तरीकरण** (Closed stratification)–यह वह संस्तरीकरण है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। व्यक्ति को एक बार जो स्थिति प्रदान कर दी जाती है, जीवन पर्यंत वह उसमें संलग्न रहता है।
2. **मुक्त संस्तरीकरण** (Open stratification)–इसमें व्यक्ति को अपनी स्थिति के अंदर परिवर्तन करने की स्वतंत्रता होती है। वह उस स्थिति से ऊपर व नीचे दोनों ही ओर उन्मुख हो सकता है।

22.5 सामाजिक संस्तरीकरण के आधार (Basis of Social Stratification)

आयु Age	लिंग Sex	धर्म Religion
राजनीति Politics	संस्तरीकरण के आधार	जाति Caste
व्यवसाय Occupation	निवास स्थान Locality	सामाजिक वर्ग Social Class

नोट

नोट्स भारतीय समाज में बहुत परिवर्तन आ गया है और इसके प्रमुख कारण हैं–संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, नगरीकरण व औद्योगिकीकरण।

22.6 शिक्षा एवं सामाजिक संस्तरीकरण (Education of Social Stratification)

शिक्षा का संस्तरीकरण से गहरा संबंध है। समाज में प्राय: निम्न वर्ग अथवा मध्यम वर्ग का बालक शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है जिससे शिक्षित होकर वह अपना वर्ग ऊँचा कर सके जबकि उच्च वर्ग शिक्षा इस कारण ग्रहण करता है कि वह अपने पद व सम्मान को स्थायित्व प्रदान कर सके। कोई भी देश प्रौद्योगिकी व तकनीकी शिक्षा में विकास इसलिए करना चाहता है जिससे वह अपने स्तर को ऊँचा उठा सके। बढ़ती हुई प्रौद्योगिकी शिक्षा द्वारा शिक्षा का विकास हो रहा है और शिक्षा के नये-नये आयाम खुल रहे हैं। यही नये आयाम नये संस्तरीकरण को जन्म देते हैं। शिक्षा के द्वारा ही बालक के अंदर वर्ग चेतना (Class Consciousness) उत्पन्न की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि बालक अपनी सामर्थ्य का विकास करते हुए उच्च वर्ग प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है। इसके साथ ही हम कह सकते हैं कि सामाजिक संस्तरीकरण का प्रभाव हमारी शिक्षा के ऊपर भी है। समाज में विभिन्न प्रकार के विद्यालय ही विभिन्न वर्गों के लिए बने हैं। इसमें उच्च वर्ग की शिक्षा संस्थाएँ निम्न वर्ग की शिक्षा संस्थाओं की तुलना में अच्छी शिक्षा प्रदान करना चाहती हैं जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा में भी संस्तरीकरण आ रहा है। संस्तरीकरण को मनोवैज्ञानिकों ने वांछनीय गुण माना है चूँकि बौद्धिक संस्तरीकरण हमें विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों की संरचना की ओर प्रेरित करता है। इस कारण हम यह मानते हैं कि सामाजिक संस्तरीकरण और शिक्षा में घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक संस्तरीकरण की आवश्यकता को हम निम्न पंक्तियों में स्पष्ट करेंगे–

1. समाज में विभिन्न कार्य करने हेतु अलग-अलग स्तरों के व्यक्तियों को उपलब्ध कराती है।
2. संस्तरीकरण से कार्य का विकेंद्रीकरण होता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता है।
3. संस्तरीकरण के अनुकूल व्यक्तियों को विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित करके उनकी उत्पादन कुशलता को बढ़ाना संभव होता है।
4. इसके आधार पर श्रम-विभाजन करने में सुविधा होती है।
5. इसके द्वारा समाज में व्यक्तियों को उनकी क्षमता अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन करके समाज व्यवस्था बनाए रखने में मदद मिलती है।
6. यह सुरक्षा रखने एवं पारस्परिक संघर्षों को दूर करने में भी सहयोग देती है।

22.7 सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)

प्राचीन भारत के समाज पर यदि हम दृष्टिपात करें तो यह पायेंगे कि समाज प्रमुख रूप से जातियों में विभक्त किया गया था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। यह जातियाँ कार्य के आधार पर बनाई गई थीं परंतु धीरे-धीरे इन्होंने जन्म का आधार ग्रहण कर लिया और व्यक्तियों को यह स्वतंत्रता नहीं दी गई थी कि वह जाति के घेरे से बाहर निकल सकें। परंतु आज के भारतीय समाज में बहुत परिवर्तन आ गया है और इसके प्रमुख कारण हैं–संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, नगरीकरण व औद्योगिकीकरण। संवैधानिक स्तर पर हम सामाजिक समानता, स्वतंत्रता व न्याय की कल्पना कर रहे हैं तो दूसरी ओर हम ऐसी शिक्षा की संरचना की कल्पना भी कर रहे हैं जिसमें सामाजिक-आर्थिक स्तर पर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाये। हर स्तर पर हमारा प्रयास यह रहा है कि हम सामाजिक भेदभाव को मिटाकर विभिन्न समूहों को एक दूसरे के करीब लाने की चेष्टा कर रहे हैं और यह समीपता तब तक संभव नहीं है जब तक कि हम समूह को गतिशीलता के अवसर प्रदान न करें। सामाजिक गतिशीलता क्या है, इसकी चर्चा विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है जिसकी विवेचना हम निम्न रूप में कर रहे हैं–

22.8 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएँ (Definitions of Social Mobility)

नोट

1. **पी. सोरोकिन** (P. Sorokin)–''सामाजिक गतिशीलता का अर्थ–सामाजिक समूहों तथा स्तरों में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में पहुँच जाना है।''

   (By social mobility we meant–any transition of an individual from one position to another in a constellation of social group and strata.)

2. **डब्ल्यू. सी. हेडरिक** (W. C. Headrick)–''सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्तियों का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह में चला जाना।''

   (Social mobility is the movement of persons from one social group to another social group.)

   अत: हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्ति का सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से अपने स्थान में परिवर्तन करना और इस परिवर्तन में स्थायित्व का होना आवश्यक है।

क्या आप जानते हैं सामाजिक संस्तरीकरण समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर देता है।

22.9 सामाजिक गतिशीलता के प्रकार (Types of Social Mobility)

हेडरिक ने सामाजिक गतिशीलता के दो रूप बताये हैं–

1. क्षैतिजीय गतिशीलता (Horizontal Mobility),
2. लंबीय गतिशीलता (Vertical Mobility)।

1. क्षैतिजीय गतिशीलता या समतल गतिशीलता का अभिप्राय है व्यक्ति अथवा समूह का एक ही स्तर पर अपने सामाजिक समूह के पद से दूसरे सामाजिक समूह में उसी स्तर व पद पर जाना (Movement of the individual at the same level, no change in social status, he change his affiliation.)। उदाहरणार्थ–यदि हम आगरा विश्वविद्यालय में प्रवक्ता हैं और हम कानपुर विश्वविद्यालय चले जायें तो उसे क्षैतिजीय गतिशीलता कहेंगे। इसे हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं।

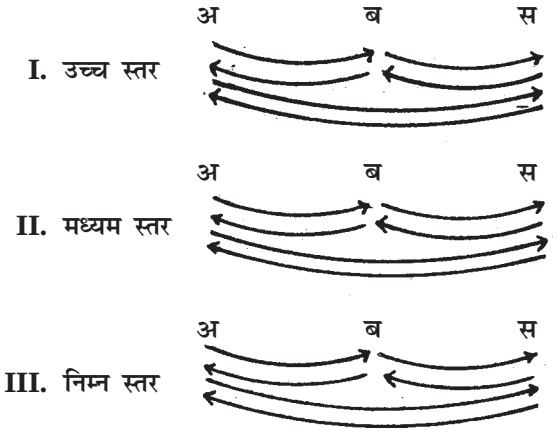

2. लंबीय या उदग्र गतिशीलता से अभिप्राय है व्यक्ति का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद पर जाना (When individual moved upward in his social position, is known as vertical mobility)। जैसे–यदि हम आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं और हमारी लॉटरी निकल आये तो हम उच्च

नोट

आर्थिक वर्ग में आ जायेंगे। इस प्रकार की गतिशीलता क्षैतिजीय गतिशीलता है जिसे हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं–

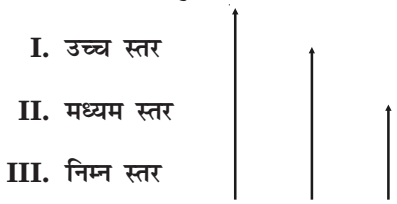

हेडरिक द्वारा दिये गये इस विचार में थोड़ा परिवर्तन **हेविगर्स्ट** तथा **न्यूगरटेन** (Havigorust and Neugarten) ने किया। इन्होंने सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार बताये–

1. उपक्रम सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility)
2. अधोक्रम सामाजिक गतिशीलता (Downward Social Mobility)।

1. उपक्रम गतिशीलता लंबीय गतिशीलता के अनुरूप है इसमें व्यक्ति जहाँ पर स्थिर है, वहाँ से अपने स्तर को ऊँचा उठाता है और तत्पश्चात जिस नवीन समूह में प्रवेश करता है, उसकी संस्कृति को सीखता है व उसके अनुरूप अपने व्यवहार को ढालता है।
2. अधोक्रम गतिशीलता उपक्रम गतिशीलता के बिल्कुल विपरीत है इसमें व्यक्ति जिस स्तर पर स्थिर है, वहाँ से नीचे चला जाता है। जैसे एक व्यक्ति बहुत बड़ा व्यापारी है। परंतु व्यापार में घाटा होते ही उसका दिवाला निकल जाता है तो वह उच्च आर्थिक स्तर से निम्न आर्थिक स्तर पर आ जाता है। इस गतिशीलता को हम रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

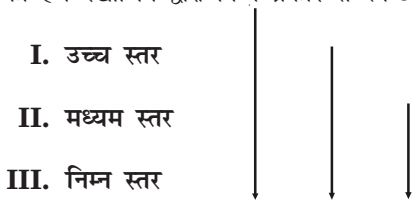

22.10. सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक (Factors Affecting Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक अधोलिखित हैं–

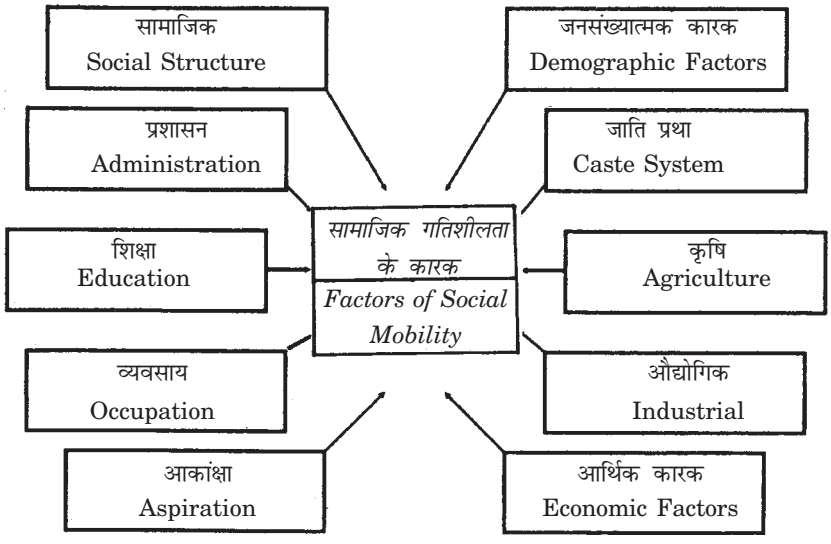

नोट

उपरोक्त जितने भी कारक हैं, उनमें से किसी में भी उन्नति या अवनति हेतु परिवर्तन आता है, उसका प्रभाव सामाजिक गतिशीलता पर पड़ता है। यदि समाज की संरचना जाति के आधार पर की गई है और जाति के स्वरूप में परिवर्तन आ जाये तो समाज गतिशीलता की ओर उन्मुख होने लगेगा या शिक्षा में विकास हो तो भी समाज में गतिशीलता आयेगी।

22.11 शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता (Education and Social Mobility)

भारतीय संविधान में शैक्षिक अवसरों की समानता की चर्चा की गई है जिसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा के विकास द्वारा हम विभिन्न वर्गों में विद्यमान अंतराल को दूर करना चाहते हैं और साथ ही शिक्षा के विकास द्वारा हम व्यक्ति के स्तर व रहन-सहन में सुधार लाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षा जन्म पर आधारित वर्ग-भेद को समाप्त करती है तथा समाज में विद्यमान दृढ़ संस्तरण (Rigid Stratification) को नष्ट करती है। शिक्षा की प्रक्रिया में संलग्न अध्यापक व छात्रों का भी सामाजिक गतिशीलता से सकारात्मक संबंध होता है। कोई भी अध्यापक व्यवसाय-प्राप्ति के बाद जब अपने पद की वृद्धि की ओर उन्मुख होता है तो इसका अभिप्राय है कि गतिशीलता को स्वीकार करता है। साथ ही छात्र भी शिक्षा का उपयोग समाज में उच्च स्तर प्राप्ति हेतु करते हैं अर्थात् शिक्षा छात्र एवं अध्यापक दोनों को ही उपरिमुखी सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility) की ओर उन्मुख करती है। यह गतिशीलता एक वांछनीय प्रक्रिया है जिसका अवसर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं आकांक्षा के आधार पर मिलना चाहिए। यह प्रक्रिया भारतीय समाज में पाश्चात्य समाजों की तुलना में कम है परंतु विकास की प्रक्रिया में संलग्न भारतीय समाज सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख एवं प्रयासशील अवश्य है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

5. आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष रूप से शैक्षिक विकास से संबंध रखती है–
6. सामाजिक गतिशीलता का आशय है व्यक्तियों का एक सामाजिक समूह से दूसरे सामाजिक समूह से अलग होना।
7. प्राचीन भारत में समाज प्रमुख रूप से चार जातियों में विभक्त था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।
8. भारतीय संविधान में शैक्षिक अवसरों की समानता की चर्चा की गई है।

22.12 सारांश (Summary)

शिक्षा की प्रक्रिया में संलग्न अध्यापक व छात्रों का भी सामाजिक गतिशीलता से सकारात्मक संबंध होता है। कोई भी अध्यापक व्यवसाय-प्राप्ति के बाद जब अपने पद की वृद्धि की ओर उन्मुख होता है तो इसका अभिप्राय है कि गतिशीलता को स्वीकार करता है। साथ ही छात्र भी शिक्षा का उपयोग समाज में उच्च स्तर प्राप्ति हेतु करते हैं अर्थात् शिक्षा छात्र एवं अध्यापक दोनों को ही उपरिमुखी सामाजिक गतिशीलता (Upward Social Mobility) की ओर उन्मुख करती है। यह गतिशीलता एक वांछनीय प्रक्रिया है जिसका अवसर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं आकांक्षा के आधार पर मिलना चाहिए। यह प्रक्रिया भारतीय समाज में पाश्चात्य समाजों की तुलना में कम है परंतु विकास की प्रक्रिया में संलग्न भारतीय समाज सामाजिक गतिशीलता की ओर उन्मुख एवं प्रयासशील अवश्य है।

नोट

22.13 शब्दकोश (Keywords)

1. **सामाजिक परिवर्तन** (Social Change) : समाज में होने वाला बदलाव
2. **सामाजिक गतिशीलता** (Social Mobility) : समाज की गति, नए सुधार, बदलाव।

22.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन के कारक बताइए।
2. सामाजिक गतिशीलता से क्या तात्पर्य है? बताइए।
3. सामाजिक संस्तरीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. शिक्षा एवं संस्तरीकरण पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. व्याख्या	2. परिवर्तन	3. व्यक्तियों	4. विपरीत
5. सही	6. गलत	7. सही	8. सही

22.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–23 : प्रजातंत्र और शिक्षा (Democracy and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
23.1 प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Education in Democracy)
23.2 शिक्षा में प्रजातंत्र (Democracy in Education)
23.3 प्रजातंत्र और शिक्षा का अर्थ (Democracy and Meaning of Education)
23.4 प्रजातंत्र और शिक्षा के उद्देश्य (Democracy and Aims of Education)
23.5 हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Democratic Education According to Henderson)
23.6 प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम (Democracy and Curriculum)
23.7 प्रजातंत्र और शिक्षण विधियाँ (Democracy and Methods of Teaching)
23.8 प्रजातंत्र और अनुशासन (Democracy and Discipline)
23.9 प्रजातंत्र और शिक्षक (Democracy and Teacher)
23.10 प्रजातंत्र और विद्यालय का प्रशासन (Democracy and School Administration)
23.11 भारत में प्रजातंत्र और शिक्षा (Democracy and Education in India)
23.12 भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति (Equalization of Educational Opportunity in India)
23.13 सारांश (Summary)
23.14 शब्दकोश (Keywords)
23.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
23.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता जानने हेतु।
- प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम को जानने हेतु।
- प्रजातंत्र और अनुशासन जानने हेतु।
- भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति के संबंध में जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

प्रजातंत्र और शिक्षा के संबंध में जानने से पूर्व प्रजातंत्र के अर्थ को समझना बहुत आवश्यक है। प्रजातंत्र के लिए अंग्रेजी शब्द है डेमोक्रेसी। डेमोक्रेसी (Democracy) शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' (Demos) और 'क्रेटिक' (Cratic) से मिलकर बना है। डेमोस का अर्थ है जनता और क्रेटिक का अर्थ है शासन। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में डेमोक्रेसी का अर्थ है 'जनता का शासन'। **अब्राहम लिंकन** ने प्रजातंत्र को परिभाषित करते हुए कहा है–''प्रजातंत्र जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन है।'' **ब्राइस** ने प्रजातंत्र के विषय में लिखा है कि, ''प्रजातंत्र ऐसी सरकार है, जिसमें शासन करने की शक्ति किसी व्यक्ति अथवा वर्ग के हाथों में न रहकर समस्त जनता के हाथों में सामूहिक रूप से होती है।''

आधुनिक युग में प्रजातंत्र की ये परिभाषाएँ संकीर्ण मानी जाती हैं, क्योंकि इन परिभाषाओं के अनुसार प्रजातंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक है। इनके अनुसार प्रजातंत्र का अर्थ केवल शासन व्यवस्था से लगाया जाता है। वस्तुत: आज प्रजातंत्र का अर्थ अत्यंत व्यापक है। आज प्रजातंत्र का अर्थ केवल शासन व्यवस्था से नहीं है वरन् यह जीवन यापन का एक ढंग भी है, जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों का विकास करने के लिए स्वतंत्रता तथा जीवनयापन करने के लिए समान अवसर उपलब्ध होते हैं। **बॉयड** के अनुसार–''प्रजातंत्र जीवनयापन का एक अंग है और जीवन यापन का अर्थ है–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को भली-भाँति प्रभावित करना।''

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में इस विचार का समर्थन करते हुए कहा गया है कि ''प्रजातंत्र राजनीतिक व्यवस्था नहीं है वरन् जीवनयापन का एक ढंग भी है। प्रजातंत्र समान अधिकार और समान स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित रहता है। ये सिद्धांत किसी विशेष जाति, धर्म, लिंग तथा आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति के लिए नहीं वरन् सभी के लिए होते हैं।

आज के युग में प्रजातंत्रीय भावना एवं सिद्धांतों का प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी किया जाता है। सामाजिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ उस सामाजिक व्यवस्था से है, जिसमें समाज के सभी सदस्यों को रंग, रूप, जाति धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण एवं लिंग आदि के भेदभाव के बिना समान अधिकार प्रदान किए जाते हैं। सामाजिक प्रजातंत्र के अंतर्गत सभी नागरिकों को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार अपना कार्य करने और अपना पूर्ण विकास करने की स्वतंत्रता होती है। राज्य अथवा समाज द्वारा सबको समान सुविधाएँ और समान अवसर प्रदान किए जाते हैं। इस संबंध में **ड्यूई** का कहना है कि प्रजातंत्र में सार्वजनिक हितों का ध्यान रखा जाता है और व्यक्तिगत स्वार्थों को सामाजिक नियंत्रण द्वारा अनुशासित किया जाता है। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को धन कमाने और धन का उपयोग करने के समान अवसर प्रदान किए जाते हैं। आर्थिक प्रजातंत्र में सभी नागरिकों को समान रूप से उच्च स्तर का रहन-सहन प्राप्त करने के अवसर प्राप्त होते हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक शक्ति कुछ धनी लोगों के हाथों में केंद्रित न होकर देश की जनता के हाथों में होती है, जिससे धन का उपयोग जनता की भलाई के लिए किया जा सके और नागरिक सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। आर्थिक प्रजातंत्र पूँजीवाद का विरोध करता है, सहकारिता में विश्वास करता है और धन के उत्पादन तथा वितरण में सभी का अधिकार मानता है। **भाटिया** के शब्दों में–'आर्थिक प्रजातंत्र का अर्थ आर्थिक शक्ति का सब लोगों के हाथों में होना है न कि कुछ पूँजीपतियों या विशेष वर्ग के हाथों में'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में प्रजातंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं है वरन् यह एक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था भी है। यह जीवन की एक विधि है। शैक्षिक अर्थ में प्रजातंत्र का अर्थ है समाज के सभी लोगों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध होना। **ई. जे. पावर** के शब्दों में–''शिक्षा में प्रजातंत्र की व्यवस्था इस अर्थ में की जाती है कि सभी लोगों के सभी बालकों को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिलेंगे और वे विद्यालयों में नियमित रूप से जा सकेंगे। इसके लिए उनसे कोई भी सामाजिक भेदभाव नहीं रखे जाएँगे, जो शैक्षिक क्षेत्र में बाधा उपस्थित करते हैं।

23.1 प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Education in Democracy)

नोट

प्रजातंत्र में शासन की सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में केंद्रित न होकर जनता के चुने प्रतिनिधियों में केंद्रित होती है। जनता द्वारा चुने हुए ये प्रतिनिधि जनहित के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और ऐसे कार्यों का संपादन करते हैं, जिनसे जनता का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सके। जब ये प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगते हैं तो जनता उनके शासन करने के अधिकार को छीन लेती है और उनके स्थान पर दूसरे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन देती है। इस प्रकार प्रजातंत्रीय राज्य में स्वशासन की व्यवस्था होती है। स्वशासन के लिए जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। प्रजातंत्र में जब जनता को अपना शासक चुनने का अधिकार है तो उसे इतना ज्ञान और विवेक भी होना चाहिए कि वह उपयुक्त शासकों को चुन सके। ऐसे शासकों को चुन सके, जो जनकल्याण के लिए कार्यरत हो सकें। आवश्यक ज्ञान और विवेक के अभाव में जनता देशद्रोही, स्वार्थी और भ्रष्टाचारी लोगों की बातों मे आकर ऐसे अनुपयुक्त व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुन लेगी, जो शासन करने के योग्य नहीं है और अयोग्य शासकों के अंतर्गत राज्य और समाज की उन्नति नहीं हो सकेगी। अत: यह आवश्यक है कि प्रजातंत्र में जनता को शिक्षित किया जाए और उसे राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाया जाए। शिक्षित जनता के बिना प्रजातंत्र की सफलता असंभव है। इस प्रकार शिक्षा प्रजातंत्र की रीढ़ है, उसका आधार है।

प्रजातंत्र में शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व मुख्यत: निम्न कारणों से है–

1. **योग्य नागरिकों का निर्माण करने के लिए**–प्रजातंत्र की सफलता ऐसे नागरिकों पर निर्भर करती है, जो योग्य हों, कार्य कुशल हों, उत्तम चरित्र वाले हों, स्वतंत्रता, समानता और न्याय के महत्त्व को समझने वाले हों, जातीयता, साम्प्रदायिकता और ऊँच-नीच की संकीर्ण भावना से परे हों। ऐसे उत्तम नागरिकों का निर्माण केवल मात्र शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए प्रजातांत्रिक राज्य में योग्य और उत्तम नागरिकों के निर्माण के लिए शिक्षा आवश्यक है।
2. **कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान कराने के लिए**–प्रजातंत्र शासन में नागरिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने कर्तव्य और अधिकारों से न केवल भलीभाँति परिचित हों वरन् अपने कर्तव्य का उचित ढंग से पालन भी करें और अपने अधिकारों का सही प्रकार से उपयोग करें। राज्य की व्यवस्था तभी सुचारू से चल सकती है, जब सभी नागरिक अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति सचेत हों और यह कार्य शिक्षा द्वारा ही पूर्ण हो सकता है। शिक्षा प्रजातंत्र का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र है, क्योंकि शिक्षित नागरिक ही प्रजातंत्र की रक्षा कर सकता है।
3. **देशप्रेम की भावना का विकास करने के लिए**–प्रजातंत्र की रक्षा और उन्नति का उत्तरदायित्व देशवासियों पर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि उनमें देशप्रेम की भावना है। उनमें त्याग की ऐसी भावना हो कि देश के हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों की परवाह न करके अपना सब कुछ अर्पित करने को तैयार रहें। उनमें ऐसी भावना हो कि यह देश मेरा है, इस देश की उन्नति मेरी उन्नति है, इसलिए इसकी रक्षा के लिए हमें प्राणों का भी मोह नहीं करना चाहिए। देशवासियों में इस प्रकार की भावना का विकास शिक्षा द्वारा ही संभव है।
4. **राजनीतिक जागरूकता के लिए**–प्रजातंत्र में नागरिक देश के शासन का संचालन करने के लिए अपने प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से चुनते हैं। अत: उन्हें मतदान के महत्त्व से भलीभाँति परिचित होना चाहिए। उन्हें शासन व्यवस्था की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि उनके प्रतिनिधि किस प्रकार से शासन का संचालन करते हैं और किस प्रकार अपने वायदों को पूरा कर रहे हैं तथा किस सीमा तक जनहित के कार्यों को कर रहे हैं। यह कार्य शिक्षा का है। शिक्षा ही व्यक्ति को मतदान का महत्त्व बतलाती है, शासन व्यवस्था की जानकारी देती है, और उनमें राजनीतिक जागरूकता पैदा करके उनमें इन कार्यों में भाग लेने की रुचि भी पैदा करती है। इस प्रकार हम कर सकते हैं कि प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था का संचालन शिक्षित जनता पर ही निर्भर है।

नोट

5. **प्रजातांत्रिक आदर्शों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए**–प्रजातंत्र के कुछ अपने आदर्श और मूल्य होते हैं। प्रजातंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके नागरिक इन आदर्शों और मूल्यों में विश्वास करते हों और इनके अनुसार आचरण करते हों। इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा ही इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करती है। शिक्षा ही नागरिकों में इन आदर्शों और मूल्यों के प्रति विश्वास उत्पन्न करती है और उसके अनुसार आचरण करने की आदत विकसित करती है।
6. **मानवीय गुणों का विकास करने के लिए**–प्रजातंत्र के लिए ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है, जो मानवीय गुणों से युक्त हों। उनमें प्रेम, सहयोग, सहकारिता, सद्भावना, सहानुभूति, धैर्य, परोपकार और त्याग आदि गुण हों। ऐसे मानवीय गुणों से युक्त नागरिक ही प्रजातंत्र की आधारशिला हैं। ऐसे नागरिक पर ही प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है। शिक्षा द्वारा ही व्यक्तियों में इन गुणों का विकास किया जाता है। अत: प्रजातंत्र में शिक्षा महत्त्वपूर्ण है।
7. **संस्कृति के संरक्षण और हस्तांतरण के लिए**–प्रजातंत्र में यह आवश्यक है कि सभी नागरिक अपनी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान आदि गुणों से परिचित हों और उनके विकास में आपना योगदान दें। यह कार्य शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है, क्योंकि शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हमारी संस्कृति और हमारी सामाजिक धरोहर (Social Heritage) का संरक्षण और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण किया जा सकता है।

स्पष्ट है कि सफलता के लिए शिक्षा अति आवश्यक है। यदि हम प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली सफल बनाना चहते हैं तो हमें नागरिकों को शिक्षित करना चाहिए। **हैदरिंगटन** (Hatherington) ने ठीक ही कहा है– ''प्रजातंत्रीय सरकार की माँग शिक्षित जनता है'' (Democratic government demands an educated people)।

नोट्स प्रजातंत्र में शासन की सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में केंद्रित न होकर जनता के चुने प्रतिनिधियों में केंद्रित होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शिक्षा ही व्यक्ति को ..... का महत्त्व बतलाती है।
2. शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का ..... है।

23.2 शिक्षा में प्रजातंत्र (Democracy in Education)

शिक्षा में प्रजातंत्र (Democracy in Education) या प्रजातंत्र शिक्षा (Democratic Education) का अर्थ है शिक्षा में प्रजातंत्र की विचारधारा का प्रभाव। यह प्रभाव निम्न प्रकार से पड़ा है–

1. **सार्वभौमिक तथा अनिवार्य शिक्षा** (Universal and Compulsory Education)–प्रजातंत्र में यह माना जाता है कि शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। देश के किसी भी व्यक्ति का चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, वर्ण, प्रांत आदि का हो उसे शिक्षा प्राप्त करने से वंचित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रजातंत्रीय देशों में एक निश्चित अवधि तक सभी बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। भारत में 14 वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा का प्रावधान किया गया है।

नोट

2. **नि:शुल्क शिक्षा** (Free Education)–प्रजातंत्र में सभी बालक-बालिकाओं को अपनी उन्नति और विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होते हैं। इसके लिए सरकार सभी बालक-बालिकाओं को एक निश्चित स्तर तक नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करती है, जिससे निर्धन बालक भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। दुनिया के सभी प्रजातंत्रीय देशों में किसी-न-किसी स्तर तक नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। **प्रो. हुमायूँ कबीर** ने इस विषय में लिखा है–''यदि प्रजातंत्र को सचमुच प्रभावशाली होना है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास की गारंटी प्राप्त करनी है तो शिक्षा को सार्वभौमिक और नि:शुल्क होना चाहिए।''
3. **प्रौढ़ शिक्षा व स्त्री शिक्षा** (Provision of Adult and Women Education)–**प्रो. एस. एन. मुकर्जी** ने लिखा है कि, ''यदि बालकों की शिक्षा राज्य के भावी कल्याण के लिए आवश्यक है तो प्रौढ़ों की शिक्षा प्रजातंत्र के वर्तमान अस्तित्व के लिए आवश्यक है।'' प्रजातांत्रिक विचारधारा के अनुसार विभिन्न देशों में प्रौढ़ शिक्षा, स्त्री शिक्षा और विकलाँगों की शिक्षा पर बल दिया जा रहा है।
4. **बाल केंद्रित शिक्षा** (Child-Centred Education)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के अनुसार शिक्षा में बालक केंद्र माना जा रहा है और उसकी रुचियों, अभिरुचियों, योग्यताओं और क्षमताओं के आधार पर दी जा रही है। शिक्षा द्वारा ऐसे पर्यावरण का निर्माण किया जाता है, जिसमें बालक का चहुँमुखी विकास हो सके।
5. **व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल पाठ्यक्रम** (Curriculum)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम का संगठन व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल किया जा रहा है। प्रजातंत्रीय देशों में ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जा रहा है, जिससे सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति संभव हो सके और बालक को कुशल नागरिक बनाया जा सके।
6. **सक्रिय शिक्षण की विधियाँ** (Method of Teaching)–प्रजातंत्रीय शिक्षा में ऐसी शिक्षण विधियों पर बल दिया जा रहा है, जो बालक के ऊपर कोई दबाव नहीं डालतीं। उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं ज्ञान की खोज करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं और क्रिया द्वारा करने (Learning by Doing) पर बल देती हैं।
7. **शिक्षक के व्यक्तित्व का सम्मान** (Importance of Teacher)–प्रजातंत्रीय विचारधारा के प्रभावस्वरूप शिक्षक के व्यक्तित्व को बहुत सम्मान दिया जा रहा है। प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षक को शिक्षण कार्य से अधिक स्वतंत्रता प्रदान की जा रही है। उसे शिक्षण विधियों में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता दी जा रही है। पाठ्यक्रम के निर्माण और पाठ्य-पुस्तकों के चयन में उसका सहयोग लिया जा रहा है।
8. **स्वशासन पर बल** (Emphasis on Self-Discipline)–प्रजातंत्रीय आदर्शों के अनुसार विद्यार्थियों में स्वशासन की क्षमता पैदा के लिए छात्र-संघ (Students Union), छात्रावास। (Hostel life), कल्याण परिषद् (Welfare-Society), आदि की स्थापना की जा रही है, जिनकी व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व विद्यार्थियों पर ही होता है। वे स्वयं ही नियम बनाते हैं और उनका पालन करते हैं। इससे उनमें स्वानुशासन की भावना पैदा होती है।
9. **पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन** (Organisation of Co-curricular Activities)–विचारों एवं लेखन की अभिव्यक्ति के लिए तथा उत्तरदायित्व की भावना का अनुभव करने के लिए प्रजातंत्रीय देशों में विद्यालयों में खेल-कूद, वाद-विवाद, काव्य गोष्ठी, सांस्कृतिक कार्यक्रम, संगीत सम्मेलन, पर्यटन आदि आयोजित किए जाते हैं। इन कार्यक्रमों का आयोजन विद्यार्थी स्वयं करते हैं, जिससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है और वे अच्छे वक्ता और लेखक बनते हैं।
10. **शिक्षा के समस्त साधनों में सहयोग** (Relation Between Various Agencies of Education)–प्रजातंत्रीय भावना के प्रभाव से समस्त साधनों विद्यालय, परिवार, समुदाय, धर्म तथा राज्य आदि में सहयोग स्थापित करने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिससे बालक को अधिक से अधिक लाभ मिल सके।

नोट

11. **विद्यालय समाज का लघु रूप है** (School is a Miniature of Society)–प्रजातंत्र में विद्यालय को समाज का लघु रूप माना जा रहा है, जहाँ पर बालक नागरिकता की शिक्षा के साथ-साथ विश्वबंधुत्व की शिक्षा भी प्राप्त करता है।

दुनिया के अनेक प्रजातंत्रीय देशों ने इन विचारों को अपनी शिक्षा प्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अमेरिका इनमें सबसे आगे है। भारत में भी इन विचारों को स्थान दिया जा रहा है। जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली में इनको पूरी तरह से स्थान नहीं दिया जाता, तब तक हमारे देश में प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता।

क्या आप जानते हैं प्रजातंत्र की रक्षा और उन्नति का उत्तरदायित्व देशवासियों पर होता है।

23.3 प्रजातंत्र और शिक्षा का अर्थ (Democracy and Meaning of Education)

प्रजातंत्रीय दृष्टि से शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास किया जाता है और उनका समाजीकरण किया जाता है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का ही लाभ होता है। **ड्यूवी** ने प्रजातंत्र में शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, ''प्रजातंत्र में ऐसी शिक्षा होनी चाहिए, जो सामाजिक कार्यों तथा संबंधों में व्यक्तित्व रुचि उत्पन्न कर सके और उनमें ऐसी मानसिक आदतों का निर्माण कर सके, जो बिना कोई, अव्यवस्था उत्पन्न किए सामाजिक परिवर्तन कर सकें।''

प्रजातंत्र में व्यक्ति और समाज दोनों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। व्यक्ति समाज का निर्माण करता है और समाज व्यक्ति के हित के लिए कार्य करता है और कार्य शिक्षा के द्वारा ही किया जाता है। इस संबंध में **प्रो. हुमायूँ कबीर** ने कहा है कि, ''प्रजातंत्र सामाजिक संयोग और सामाजिक प्रगति के लिए पाशविक शक्ति को अनुनय में बदलने का प्रयास करता है। शक्ति की अपेक्षा विवेक को समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्धांत बताने का अर्थ यह है कि शिक्षा व्यक्तियों को समाज के रचनात्मक सदस्यों के रूप में तैयार करे।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. शिक्षा प्रजातंत्र की है–
   (अ) रीढ़ और आधार (ब) आवश्यकता (स) उपयोगिता (द) इनमें से कोई नहीं
4. प्रजातंत्र के लिए ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है, जो युक्त हों–
   (अ) मानवीय गुणों से (ब) अमानवीय गुणों से (स) दैवीय गुणों से (द) इनमें से कोई नहीं
5. प्रजातंत्र में नागरिक देश के शासन का संचालन करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से चुनते हैं–
   (अ) नेताओं को (ब) प्रतिनिधियों को (स) संतों को (द) इनमें से कोई नहीं
6. प्रजातंत्रीय दृष्टि से शिक्षा है–
   (अ) एक न्यायिक प्रक्रिया (ब) एक सामाजिक प्रक्रिया
   (स) एक राजनैतिक प्रक्रिया (द) इनमें से कोई नहीं

23.4 प्रजातंत्र और शिक्षा के उद्देश्य (Democracy and Aims of Education)

यद्यपि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य बदलते रहते हैं, लेकिन फिर भी प्रजातंत्र की आकांक्षाओं और मान्यताओं के आधार पर प्रजातंत्र में शिक्षक के कुछ उद्देश्य निश्चित किए गए हैं, जिनमें से प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

नोट

1. **व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास** (Harmonious Development of personality)–प्रजातंत्र में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है। जिस देश के नागरिक जितने बलवान, ज्ञानवान और चरित्रवान होंगे वह देश उतना ही उन्नतिशील होगा। जग तक किसी देश के नागरिक शारीरिक रूप से स्वस्थ नहीं होंगे तब तक देश की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकेगी। जब तक किसी देश के नागरिकों की चिंता, तर्क, कल्पना, निर्णय आदि मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होगा, तब तक देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ नहीं सुलझायी जा सकेंगी और जब तक किसी देश के नागरिकों का व्यवहार, आचरण और चरित्र अच्छा नहीं होगा तब तक उस देश की सामाजिक व्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं हो सकेगी। अत: प्रजातंत्र में शिक्षा को व्यक्ति का शारीरिक मानसिक, चारित्रिक और सभी प्रकार का विकास करना चाहिए, जिससे वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करके देश और समाज का हित कर सके।
2. **प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास** (Development of Democratic Values)–प्रजातंत्र में प्रत्येक नागरिक के लिए परम आवश्यक है कि वह प्रजातंत्र के मूल्यों और आदर्शों को जाने, उनमें विश्वास रखे और उनके अनुसार आचरण करे। ऐसा होने पर ही प्रजातंत्र सफल हो सकता है। अत: प्रजातंत्रीय शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों में प्रजातांत्रिक मूल्यों और आदर्शों का विकास करना है। इसके लिए उनको प्रजातंत्रीय ढंग से रहने के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। विद्यालयों का संपूर्ण पर्यावरण प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुसार होना चाहिए।
3. **व्यावसायिक कुशलता का विकास** (Development of Vocational Efficiency)–कहा गया है कि आर्थिक प्रजातंत्र में बिना राजनीतिक प्रजातंत्र अधूरा है। प्रजातंत्र की सफलता उस देश के नागरिकों की आर्थिक उन्नति तथा देश की आर्थिक समृद्धि और संपन्नता पर निर्भर करती है। अत: प्रजातंत्रीय शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य नागरिकों में व्यावसायिक कुशलता का विकास करना है, जिससे वे आत्मनिर्भर हो सकें और अपनी आर्थिक उन्नति कर सकें तथा राष्ट्र की संपत्ति में वृद्धि करके उसकी आर्थिक समृद्धि और संपन्नता बढ़ाने में सहायक हो सकें।
4. **अच्छी आदतों और रुचियों का विकास** (Development of Good Habits and Interests)–अच्छी आदतें और रुचियाँ अच्छे कार्यों की नींव डालते हैं और चारित्रिक विकास करती हैं, समय और शक्ति का सदुपयोग करना सिखाती हैं तथा जीवन को संपन्नता प्रदान करती है। प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य बालकों में उत्तम और बहुमुखी रुचियों और अच्छी आदतों का विकास करना है, जिससे वे अपने समय और ज्ञान का सदुपयोग करके, अपना नैतिक व चारित्रिक विकास करके अच्छे नागरिक बन सकें और दिशा तथा समाज का भला कर सकें।
5. **सामाजिक दृष्टिकोण का विकास** (Development of Social Outlook)–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है और समाज से ही प्रेरणा प्राप्त करता है, अत: प्रजातांत्रिक शिक्षा का एक उद्देश्य व्यक्ति में सामाजिक दृष्टिकोण या सामाजिकता की भावना का विकास करना है, जिससे वह समाज के हितों के लिए अपने हितों का बलिदान कर सके। वह यह समझे कि वह समाज का है और उसका संपूर्ण जीवन समाज के लिए है। उसे जो भी विचार करना है और जो भी कार्य करना है, समाज के हित में करना है। समाज का हित उसका हित है। इसके लिए शिक्षा में ऐसी क्रियाओं पर बल दिया जाना चाहिए, जो बालकों में सामाजिक गुणों को पैदा कर सकें और सामाजिक जीवन तथा सामाजिक सेवा का ज्ञान दे सकें।
6. **नागरिकता के गुणों का विकास** (Development of Civic Qualities)–प्रजातंत्र की सफलता योग्य और आदर्श नागरिकों पर निर्भर करती है। अत: प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य योग्य और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है, जो राजनैतिक दृष्टि से जागरूक हों और मानवीय गुणों से युक्त हों, जो देश की राजनीतिक समस्याओं को समझने और सुलझाने की योग्यता

नोट

रखते हों, जो अपने मत का सही प्रयोग कर सकते हों, जो अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति सतर्क हों, जिनमें उत्तरदायित्व के निर्वहन की क्षमता हो और जो प्रेम, सहयोग, अनुशासन, परोपकार आदि गुणों से युक्त हों।

7. **राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास** (Development of National and International Understanding)–प्रजातंत्र शांति और सह अस्तित्व में विश्वास करता है। इसलिए प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भावना का विकास करना है। राष्ट्रीयता या देश प्रेम की भावना पर बल देने के कारण प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का विकास करना तो है ही, लेकिन चूँकि आज के युग में कोई राष्ट्र अकेला उन्नति नहीं कर सकता, उसे अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों से सहयोग लेना पड़ता है, इसीलिए प्रजातंत्र में शिक्षा का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीयता का विकास करना भी है।
8. **नेतृत्व के गुणों का विकास** (Development of Leadership)–प्रजातांत्रिक शिक्षा का उद्देश्य बालकों में नेतृत्व के गुणों का विकास करना है। आज के बालक ही कल के नागरिक होंगे। इसलिए शिक्षा के द्वारा ऐसे नेता, पथ-प्रदर्शक, दिशा-निर्देशक तैयार किए जाने चाहिए, जो केवल तकनीकी, चिकित्सा, समाज सेवा आदि क्षेत्रों में भी कुशल नेतृत्व दे सकें, जिससे राष्ट्र और समाज की उन्नति हो सके।

23.5 हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Democratic Education According to Henderson)

हैंडरसन ने प्रजातंत्रीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. विद्यार्थियों में मानवीय व्यक्तित्व के लिए सम्मान और श्रद्धा के भाव उत्पन्न करना।
2. विद्यार्थियों के सीखने के साधनों तथा उनके समय और क्षमता के अनुसार सामाजिक धरोहर पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता करना।
3. आत्मानुशासन की जटिल कला के शिक्षण तथा सामान्य हित में रुचि जाग्रत करना।
4. प्रजातांत्रिक सत्य के अनुकूल आत्महित के लिए चिंतन की क्षमता विकसित करना।
5. विद्यार्थियों को प्रजातंत्र को समझने और जीवन में सामाजिक उन्नति को अपना लक्ष्य बनाने में सहयोग देना।

23.6 प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम (Democracy and Curriculum)

प्रजातंत्र में ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाता है, जो प्रजातंत्रीय आदर्शों और मूल्यों को प्राप्त करने में सहायक हों और जो बालकों को इस योग्य बना दे कि वे प्रजातंत्रीय समाज में सफल जीवन व्यतीत कर सकें। इस दृष्टि से प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण निम्नलिखित सिद्धांतों के आधार पर किया जाना चाहिए–

1. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम लचीला, विस्तृत और बहुमुखी होना चाहिए। इसमें उन सभी विषयों और क्रियाओं का समावेश होना चाहिए, जो बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक हों और उन्हें सफल जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दे सकें।
2. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में इतनी विविधता और लचीलापन होना चाहिए कि विद्यार्थी अपनी रुचि, अभिरुचि, योग्यता, क्षमता, बुद्धि और आवश्यकता के अनुसार विषयों और क्रियाओं का चयन कर सकें।
3. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण स्थानीय साधनों और आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए।
4. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों और क्रियाओं का समावेश किया जाना चाहिए, जो बालकों को अवकाश के समय के लिए शिक्षा प्रदान करें।
5. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम में सामाजिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम ऐसा होना

नोट

चाहिए, जो बालकों में सामाजिक भावना पैदा करे और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो।

6. प्रजातंत्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण बालकों की व्यावसायिक आवश्यकताओं के आधार पर किया जाना चाहिए।

23.7 प्रजातंत्र और शिक्षण विधियाँ (Democracy and Methods of Teaching)

प्रजातंत्र में शिक्षण विधियों का चयन भी प्रजातांत्रिक सिद्धांतों और आदर्शों के अनुरूप किया जाता है। प्रजातंत्र का मूल सिद्धांत स्वतंत्रता, क्रियाशीलता और प्रगतिशीलता है। अत: कठोर परंपरावादी और निष्क्रिय शिक्षण विधियों का प्रजातंत्र में कोई स्थान नहीं है। प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए–

1. प्रजातंत्रीय शिक्षण द्वारा बालकों में करके सीखने (Learning by Doing) की आदत डालनी चाहिए। बालकों को कक्षा में एक निष्क्रिय श्रोता की तरह न बैठकर सक्रिय रहकर सिद्धांतों और सत्यों की खोज करके निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।
2. प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों द्वारा बालकों को अपने अनुभव से सीखने की स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए। बालकों पर कोई दबाव नहीं डाला जाना चाहिए। उनको प्रश्न पूछने, विचार-विमर्श करने, वाद-विवाद करने और अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
3. प्रजातंत्रीय शिक्षा में सहयोग के आधार पर शिक्षा की प्रक्रिया चलनी चाहिए। कक्षा के समस्त कार्य, शिक्षण और शिक्षार्थी के सहयोग से होने चाहिए। शिक्षक को एक सहायक और मार्गदर्शक के रूप में ही कार्य करना चाहिए और उन्हें बालक को शिक्षा प्राप्त करने में केवल सहयोग देना चाहिए।
4. प्रजातंत्रीय शिक्षण विधियों में चिंतन, तर्क, कल्पना आदि मानसिक शक्तियों के विकास पर विशेष बल दिया जाना चाहिए और इसके निरीक्षण विधि को अपनाना चाहिए तथा विषय का व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए प्रयोग और कर्मशाला विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए।

23.8 प्रजातंत्र और अनुशासन (Democracy and Discipline)

प्रजातंत्र में अनुशासन का बहुत महत्त्व होता है। बिना अनुशासन प्रजातांत्रिक व्यवस्था सफल नहीं हो सकती, लेकिन प्रजातंत्र दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में नहीं है। वह दमनात्मक अनुशासन का विरोध करके स्वानुशासन पर बल देता है। प्रजातंत्र में वही अनुशासन अच्छा समझा जाता है, जिसमें बालक स्वयं अनुशासन बनाए रखते हैं, जहाँ बालक शारीरिक दंड या अन्य किसी भय या दबाव के आधार पर नहीं वरन् अपनी अंत:प्रेरणा से अनुशासित रहते हैं। प्रजातंत्र में विद्यालय में स्वानुशासन की भावना का विकास करने के लिए निम्नलिखित कार्य किए जाने चाहिए।

1. विद्यालय का वातावरण सरल, शांत, प्रभावपूर्ण और भयरहित होना चाहिए, जिससे बालकों को अपने विकास के अवसर मिल सकें।
2. विद्यालय में ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए, जिनसे उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास हो सके। छात्र-संघ, क्रीड़ा-संघ आदि को संगठित करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जिससे उनमें स्वयं अपने द्वारा बनाए गए नियमों का पालन करने की भावना पैदा हो सके।
3. विद्यालय में ऐसी सामाजिक क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए, जिससे उनमें सामाजिक नियंत्रण की भावना विकसित हो सके।
4. विद्यार्थियों को अपने कर्तव्यों और अधिकारों को समझने के अवसर दिए जाने चाहिए।
5. शिक्षकों को विद्यार्थियों के साथ प्रेमपूर्वक और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने विद्यार्थियों की पग-पग पर सहायता करनी चाहिए।

नोट

23.9 प्रजातंत्र और शिक्षक (Democracy and Teacher)

प्रजातंत्र में शिक्षक का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। योग्य, परिश्रमी और गुणी शिक्षक ही देश को अच्छे इंजीनियर, डाक्टर, मैकेनिक, नेता, शिक्षक, वकील और प्रशासक दे सकते हैं। प्रजातंत्र में शिक्षक में ऐसी क्षमता और योग्यता होनी चाहिए कि वह समाज में उचित परिवर्तन लाकर उसे प्रगति की ओर ले जाए। प्रजातंत्र में शिक्षक ही वह व्यक्ति है, जो अपने विद्यार्थियों में प्रजातंत्र के आदर्शों के प्रति आस्था और प्रेम पैदा कर सकता है। प्रजातंत्र में शिक्षक में अनेक गुण होने चाहिए, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं–

1. शिक्षक को उत्तम चरित्र वाला होना चाहिए।
2. शिक्षक का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक होना चाहिए।
3. शिक्षक को अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक होना चाहिए।
4. शिक्षक को प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, सहनशीलता, दया, धर्म और कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।
5. शिक्षक को न्यायपूर्ण होना चाहिए। उसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों की श्रद्धा उसके प्रति पैदा हो सके।

23.10 प्रजातंत्र और विद्यालय का प्रशासन (Democracy and School Administration)

प्रजातंत्र में विद्यालय प्रजातंत्रीय सिद्धांतों और आदर्शों पर आधारित होता है। प्रजातंत्र में विद्यालय का प्रशासन प्रधानाचार्य, शिक्षकों और विद्यार्थियों के सहयोग से प्रजातांत्रिक आधार पर चलता है। ये सभी मिल-जुलकर विद्यालय की नीतियों का निर्माण करते हैं, पाठ्यक्रम बनाते हैं, शिक्षण विधियों का निर्धारण करते हैं, पाठ्य-पुस्तकों का चयन करते हैं, कक्षा कार्यों की योजनाएँ बनाते हैं और अन्य सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था करते हैं। प्रजातंत्र में प्रशासक और प्रधानाचार्य अपनी योजनाओं को शिक्षकों और विद्यार्थियों पर बलपूर्वक थोपते नहीं है वरन् उनकी सहमति और सहयोग से कार्य करते हैं। इस व्यवस्था में प्रधानाचार्य और विद्यार्थियों, शिक्षकों और अधिकारियों, शिक्षकों और अभिभावकों, विद्यार्थियों और प्रधानाचार्य, अधिकारियों और अभिभावकों व प्रधानाचार्य और शिक्षकों के आपसी संबंध प्रजातंत्रीय भावना पर आधारित होते हैं। इससे अनेक लाभ होते हैं, जैसे प्रधानाचार्य को विद्यालय प्रशासन में शिक्षकों का पूर्ण सहयोग मिलता है, शिक्षकों के व्यावसायिक कार्य में अधिक कुशलता आती है और विद्यार्थियों में प्रजातंत्रीय भावना का विकास होता है।

टास्क शिक्षा में प्रजातंत्र पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

23.11 भारत में प्रजातंत्र और शिक्षा (Democracy and Education in India)

जनसंख्या की दृष्टि से भारत दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। दुनिया का यह महान प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जब राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षित हों और उनको शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हों। भारतीय संविधान ने सरकार को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया है कि 14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। सरकार उसके लिए प्रयत्नशील है और आठवीं पंचवर्षीय योजना में इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके अतिरिक्त सरकार माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्नशील है। सरकार ने देश में भारी संख्या में माध्यमिक विद्यालय खोले हैं और विश्वविद्यालयों की संख्या में आजादी के बाद काफी बढ़ोतरी हुई है। तकनीकी शिक्षा

नोट

संस्थानों का देश में जाल बिछाया जा रहा है। गूँगे, बहरे, लंगड़े, अंधे और अन्य प्रकार विशिष्ट बालकों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए अथक प्रयास किए जा रहे हैं, उनके लिए हर स्तर की शिक्षा संस्थाएँ खोली जा रही हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा का व्यापक कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा रहा है। पिछड़ी हुई और परिगणित जातियों के विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधाएँ दी जा रही हैं। पिछड़े हुए क्षेत्रों जैसे पर्वतीय क्षेत्रों, पूर्वांचल आदि में शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जा रही हैं। इस प्रकार हमारी प्रजातंत्रीय सरकार देश के सभी बालक और बालिकाओं, युवकों और युवतियों, प्रौढ़ पुरुषों और प्रौढ़ स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के समान अधिकार, समान अवसर और समान सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था कर रही है। हमारी सरकार देश से अज्ञान और अशिक्षा को दूर करने के लिए वचनबद्ध है और वह इसके लिए सतत् प्रयत्नशील है। वह इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि देश के सभी लोगों का बौद्धिक विकास हो, वे कर्तव्य और अधिकारों को समझें, अपने मत का उचित प्रयोग करें और अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन उचित ढंग से करें।

यद्यपि भारत की प्रजातंत्रीय सरकार देश में प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील है, लेकिन दुर्भाग्य से उसको अभी तक इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली है। चूँकि हमारे देश में प्रजातंत्रीय आदर्शों, मूल्यों की जड़ें अभी तक जम नहीं पायी हैं, इसीलिए हमारे यहाँ प्रजातंत्र को जितना सफल होना चाहिए था, नहीं हो पा रहा है। भारत में जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता, भाषावाद, सामाजिक विषमता, निर्धनता, अज्ञानता, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि ऐसे अनेक कारण हैं, जो प्रजातंत्र की सफलता में बाधा डाल रहे हैं। अशिक्षित होने के कारण भारत की अधिकांश जनता मत के महत्त्व को नहीं समझ पाती और प्रजातंत्र के अर्थ को नहीं समझती। भारत के अधिकतर निवासी इतने गरीब हैं कि वे रोटी, कपड़ा और मकान की समस्याओं को हल करने में ही लगे रहते हैं, उनको राजनीतिक या दूसरी बातों पर विचार करने का समय ही नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षा प्रणाली इतनी दोषपूर्ण है कि वह भारत की प्रजातांत्रिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पूर्णतया असमर्थ है। हमारे देश में प्रजातंत्रीय सिद्धांतों के अनुसार न पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाता है और न शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता है। हमारे यहाँ न विद्यालय प्रशासन को प्रजातांत्रिक आदर्शों और मूल्यों के अनुरूप बनाया जाता है। हमारे देश में शिक्षकों, अभिभावकों, विद्यार्थियों, प्रधानाचार्यों और प्रशासनिक अधिकारियों के संबंधों में प्रजातांत्रिक भावना का पूर्ण अभाव है। हमारे प्रजातंत्र में आए दिनों विद्यार्थियों द्वारा आंदोलन किए जाते हैं और शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा हड़तालें की जाती हैं। यदि हमें अपने प्रजातंत्र को, दुनिया के सबसे बड़े प्रजातंत्र को, सफल बनाना है तो हमें कम से कम दो महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य करने होंगे। एक देश के प्रत्येक बालक-बालिका और प्रौढ़ स्त्री-पुरुष को शिक्षित करना होगा और दूसरे वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा। हमारी सरकार और समाज दोनों को इस ओर ध्यान देना होगा और इसके लिए अपेक्षित धन और अन्य साधनों को जुटाना होगा। यह उनका प्रथम और पवित्र कर्तव्य है। हमारी सरकार और हमारे समाज को इस ओर सक्रिय कार्य करना चाहिए और देशवासियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे उनमें प्रजातंत्रीय भावना का विकास हो सके और वे देश के आदर्श नागरिक बन सकें।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य बदलते रहते हैं।
8. प्रजातंत्र में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है।
9. जिस देश के नागरिक जितने बलवान, ज्ञानवान और चरित्रवान होंगे वह देश उतना ही अवनतिशील होगा।
10. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

नोट

23.12 भारत में शैक्षिक अवसरों की समानता की प्राप्ति (Equalization of Educational Opportunity in India)

शैक्षिक अवसरों की समानता का अर्थ है–सभी बालक-बालिकाओं को जाति, लिंग, धर्म, अर्थ किसी भी आधार पर भेद किए बिना अपनी-अपनी योग्यता और क्षमताओं के अनुसार विकास के स्वतंत्र एवं समान अवसर प्रदान करना। प्रजातांत्रिक भारत ने समाजवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया है, इसीलिए यह आवश्यक है कि देश के सभी बालक-बालिकाओं के लिए समान शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराए जाएँ, इसके लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए–

1. शिक्षा की एक निश्चित राष्ट्रीय नीति बनायी जानी चाहिए, जिसका पालन करना सभी राज्य सरकारों के लिए अनिवार्य होना चाहिए।
2. संपूर्ण देश में एक निश्चित अवधि तक नि:शुल्क शिक्षा होनी चाहिए। नि:शुल्क शिक्षा का अर्थ केवल शुल्क से मुक्ति ही न हो, अपितु पुस्तकें, कापियाँ, मध्याह्न भोजन, खेल उपकरण आदि सभी कुछ नि:शुल्क होना चाहिए।
3. प्रत्येक क्षेत्र में जनसंख्या की दृष्टि से शिक्षा संस्थाओं की संख्या निर्धारित की जानी चाहिए जिससे सभी बालक-बालिकाएँ उनमें प्रवेश ले सकें।
4. सभी स्तर की शिक्षा संस्थाओं के लिए न्यूनतम संसाधन उपलब्ध कराए जाने चाहिए।
5. शिक्षा संस्थाओं में बालक-बालिकाओं को मात्र उनकी योग्यता के आधार पर प्रवेश दिया जाना चाहिए।
6. विकलांग और उपेक्षित बालकों के लिए अलग से विद्यालय होने चाहिए।
7. निर्धन बालकों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था होनी चाहिए।
8. प्रतिभाशाली और विभिन्न पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं में विशेष दक्षता रखने वाले बालक-बालिकाओं के लिए अलग से छात्रवृत्तियाँ निश्चित की जानी चाहिए।
9. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़ी जाति के बालकों के लिए भी छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे वे शिक्षा प्राप्त करने के अवसर प्राप्त कर सकें।
10. बालिकाओं की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए।
11. शिक्षा संस्थाओं में सभी छात्र-छात्राओं के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

23.13 सारांश (Summary)

जनसंख्या की दृष्टि से भारत दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। दुनिया का यह महान प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जब राष्ट्र के सभी नागरिक शिक्षित हों और उनको शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हों। भारतीय संविधान ने सरकार को स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया है कि 14 वर्ष तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। सरकार उसके लिए प्रयत्नशील है और आठवीं पंचवर्षीय योजना में इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके अतिरिक्त सरकार माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्नशील है।

23.14 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रजातंत्र** (Democracy) : लोकतंत्र
2. **पाठ्यक्रम** (Curriculum) : पाठ्यचर्या

23.15 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. शिक्षा में प्रजातंत्र से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. हैंडरसन के अनुसार प्रजातांत्रिक शिक्षा के उद्देश्य बताइए।
3. प्रजातंत्र और शिक्षण विधियों का उल्लेख कीजिए।
4. 'भारत के प्रजातंत्र और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. मतदान	2. जन्मसिद्ध अधिकार	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

23.16 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–24 : मार्क्सवाद और संपूर्ण मानववाद (Marxism and Integral Humanism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
24.1 मार्क्सवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marxism)
24.2 मार्क्सवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Marxism)
24.3 मार्क्सवाद और शिक्षा (Marxism and Education)
24.4 मार्क्सवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Marxism to Education)
24.5 सारांश (Summary)
24.6 शब्दकोश (Keywords)
24.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
24.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मार्क्सवाद का अर्थ समझने हेतु।
- मार्क्सवाद के मूल सिद्धांत जानने हेतु।
- मार्क्सवाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

दर्शन के क्षेत्र में मार्क्स एक ओर हीगल (Hegal) के निरपेक्ष आदर्शवाद (Absolute Idealism) से प्रभावित थे और दूसरी ओर फ्यूरबैक (Feurback) के भौतिकवाद (Materialism) से प्रभावित थे। परंतु इन्होंने इन दोनों के उन्हीं तत्वों को स्वीकार किया है जिन्हें वैज्ञानिक विधि से सत्य प्रमाणित किया जा सकता है, शेष सभी तत्वों का खंडन किया है। मार्क्स ने सभी दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर वैज्ञानिक आधार पर दिए हैं, जिससे इनका अपना अलग प्रकार का वैश्विक दर्शन (Cosmology) विकसित हुआ जिसे **मार्क्सवाद** कहते हैं।

24.1 मार्क्सवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marxism)

आधुनिक युग में शासनतंत्र के अधिनायकवाद, धर्मतंत्र के चर्चवाद, समाजतंत्र के वर्गवाद और अर्थतंत्र के पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठी। इस संदर्भ में पहला नाम स्विट्ज़रलैंड निवासी क्रांतिकारी विचारक **रूसो**

नोट

(Rousseau, 1712–1778) का नाम आता है। जब वे 25 वर्ष के थे, अपना देश छोड़कर फ्रांस चले गए थे। फ्रांस में उस समय अधिनायक तंत्र था। वहाँ जनता के अधिकारों का बुरी तरह हनन हो रहा था। समाज में भी बुद्धिजीवी लोग सामान्य जनता का शोषण कर रहे थे। धर्म के नाम पर चर्च के ठेकेदार भी इस कार्य में पीछे नहीं थे। फ्रांस की जनता की इस दयनीय दशा को देखकर उनका हृदय उद्वेलित हो उठा। उन्होंने फ्रांस के तत्कालीन राज्यतंत्र, समाजतंत्र और धर्मतंत्र के विरुद्ध आवाज उठाई। उनके एक के बाद दूसरे लेख एवं ग्रंथ प्रकाशित हुए। 1766 में उन्हें फ्रांस से निकाल दिया गया। तब वे इंग्लैंड चले गए। इंग्लैंड में रूसो ने अपने जीवन के चार वर्ष व्यतीत किए। यहाँ भी उनकी लेखनी निरंतर चलती रही। 1970 में वे पेरिस लौटे और जीवन के अंत तक फिर वहीं रहे। यूँ 1778 में इस क्रांतिकारी युग पुरुष की यह लीला समाप्त हो गई परंतु उनके क्रांतिकारी लेखों का फ्रांस की जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने फ्रांस की 1889 की क्रांति को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप फ्रांस और संसार के कई अन्य देशों में लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की स्थापना हुई।

रूसो के बाद इस क्षेत्र में क्रांति का बिगुल बजाने वाले दूसरे क्रांतिकारी विचारक थे जर्मनी के **कार्ल मार्क्स** (Karl Heinrich Marx, 1818–1883)। मार्क्स के समय में पूरे यूरोप में भारी उद्योगों की स्थापना के कारण पूँजीवादी व्यवस्था पनप रही थी और मजदूरों का शोषण हो रहा था। साथ ही शासनतंत्र द्वारा जनता के अधिकारों का हनन हो रहा था और धर्म के नाम पर भोली जनता को ठगा जा रहा था। इस सबसे यूरोपीय देशों में समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया था–एक धनी, दूसरा निर्धन, एक संपन्न (Haves) और दूसरा विपन्न (Have-nots), एक शोषक, दूसरा शोषित और इनमें निर्धन, विपन्न एवं शोषित वर्ग मे आने वालों की संख्या संपन्नों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। मार्क्स ने इसे **सर्वहारा वर्ग** (Proletariat) की संज्ञा दी और इस वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाई। इससे जर्मनी के तत्कालीन राज्य का असंतुष्ट होना स्वाभाविक था। इससे पहले कि राज्य इनके विरुद्ध कोई कार्यवाही करता ये 1883 में अपना देश छोड़कर फ्रांस चले गए। यहाँ इनकी भेंट उस समय के एक अन्य क्रांतिकारी विचारक **एंजिल्स** (Friedrich Engles) से हुई। विचार साम्य के कारण ये एक-दूसरे के मित्र बन गए और दोनों मिलकर सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाने लगे। 1845 में फ्रांस की सरकार ने इन दोनों को अपने देश से निकाल दिया। यहाँ से ये ब्रुसेल्स (Bruesells) चले गए। परंतु क्रांतिकारी विचारकों की विचारधारा को कौन रोक सकता है। वहाँ इन दोनों ने **कम्युनिस्ट लीग** (Communist League) की स्थापना की और अपनी प्रथम क्रांतिकारी रचना **'होली फैमिली'** (Holy Family) को प्रकाशित कराया। इसमें क्रांतिकारी भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद इन दोनों की दूसरी संयुक्त रचना **'जर्मन विचारधारा'** (The German Ideology) प्रकाशित हुई। इसमें **द्वंद्वात्मक भौतिकवाद** (Dialectical Materialism) और **ऐतिहासिक भौतिकवाद** (Historical Materialism) का प्रतिपादन किया गया है।

कम्युनिस्ट लीग की द्वितीय कान्फ्रेंस 1847 में लंदन में हुई। मार्क्स एवं एंजिल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणा पत्र** (Communist Manifesto) तैयार किया और उसे इस कान्फ्रेंस में प्रस्तुत किया। इस घोषणा-पत्र में सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। यह **वैज्ञानिक समाजवाद** (Scientific Socialism) की अमर रचना है। इसका अंतिम वाक्य है–'दुनिया के मजदूरों एक हो'। 1848 में इन्होंने इस घोषणा-पत्र को प्रकाशित किया। परिणाम यह हुआ कि इन्हें ब्रुसेल्स से भी निकाल दिया गया। कुछ दिनों इधर-उधर भटकने के बाद मार्क्स 1849 में लंदन चले गए और जीवन के अंतिम क्षणों तक फिर वहीं रहे।

नोट्स मार्क्सवाद दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को पदार्थजन्य मानती है।

लंदन में कार्ल मार्क्स ने 18 वर्ष तक वहाँ के शाही पुस्तकालय (Royal Library) में दर्शन, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र विषयों का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन ने मार्क्स को अपने समय का सर्वश्रेष्ठ क्रांतिकारी विचारक बना दिया। 1867 में मार्क्स का विश्वविख्यात ग्रंथ **'दास कैपिटल'** (Das Capital) का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इसके बाद इन्होंने कैपिटल के दूसरे और तीसरे भागों की रचना की जिन्हें उनकी मृत्यु

नोट

के बाद उनके मित्र एंजिल्स ने प्रकाशित कराया। 'दास कैपिटल' मार्क्स की अमर रचना है। इसमें वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) की विषद व्याख्या की गई है। इसे समाजवाद का आधारभूत ग्रंथ माना जाता है और मजदूरों की बाइबिल कहा जाता है। इस प्रकार मार्क्स मूलत: एक समाजशास्त्रीय चिंतक थे, यह बात दूसरी है कि उनके समाजवादी चिंतन की परिणिती साम्यवादी राज्यतंत्र (Communistic Political System) के रूप में हुई।

यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि वर्तमान में साम्यवाद के जो रूप रूस, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और चीन में देखने को मिल रहे हैं वे मार्क्स के साम्यवाद से भिन्न हैं। मार्क्स ने कल्पना की थी कि जब संसार भर के मजदूर एक होकर संघर्ष करेंगे तो एक दिन वे अपने-अपने देश के शासक बन जाएँगे। प्रारंभ में तो इनके द्वारा स्थापित शासनतंत्र भी सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र होगा ओर ये उत्पादन एवं आय के समस्त स्रोतों को निजी स्वामित्व (Individual Ownership) से निकालकर सामाजिक स्वामित्व (Social Ownership) में लाएँगे, सबको काम और सभी को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार पारिश्रमिक देंगे (To each according to his labour) और उस स्थिति में समाज से शोषक एवं शोषित का वर्गभेद समाप्त हो जाएगा। इसे मार्क्स ने समाजवाद (Socialism) की संज्ञा दी। मार्क्स ने कल्पना की थी कि इसके बाद एक स्थिति ऐसी आएगी कि समाज में सभी श्रमिक हो जाएँगे और उस स्थिति में प्रत्येक को उसकी अपनी योग्यता एवं क्षमतानुसार कार्य करना होगा और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाएगा (To each according to his needs) और तब संपन्न (Haves) और विपन्न (Have-nots) का भेद समाप्त हो जाएगा और उस स्थिति में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी, राज्य स्वयं लुप्त हो जाएगा (The State will wither away)। मार्क्स ने समाज की इस स्थिति को साम्यवाद (Communism) की संज्ञा दी। परंतु हुआ इसके विपरीत, मजदूरों की क्रांति का नेतृत्व करने वाले स्वयं शासक बन गए और इन देशों में एक दलीय शासनतंत्र स्थापित हो गए, जिनमें व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन हो रहा है और वहाँ के नागरिक राज्य के गुलाम बनकर रह गए हैं।

दर्शन के क्षेत्र में मार्क्स एक ओर हीगल (Hegal) के निरपेक्ष आदर्शवाद (Absolute Idealism) से प्रभावित थे और दूसरी ओर फ्यूरबैक (Feurback) के भौतिकवाद (Materialism) से प्रभावित थे। परंतु इन्होंने इन दोनों के उन्हीं तत्वों को स्वीकार किया है जिन्हें वैज्ञानिक विधि से सत्य प्रमाणित किया जा सकता है, शेष सभी तत्वों का खंडन किया है। मार्क्स ने सभी दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर वैज्ञानिक आधार पर दिए हैं, जिससे इनका अपना अलग प्रकार का वैश्विक दर्शन (Cosmology) विकसित हुआ जिसे **मार्क्सवाद** कहते हैं।

किसी भी दार्शनिक चिंतन को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अत: हम सर्वप्रथम मार्क्सवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

मार्क्सवाद की तत्व मीमांसा

मार्क्स सृष्टि को पदार्थजन्य मानते थे। सृष्टि के विकास के संबंध में ये वैज्ञानिक डार्विन (Darwin) के विकास सिद्धांत से सहमत थे और पदार्थजन्य संसार को ऊर्ध्वगामी मानते थे। जड़ पदार्थ के विकास के संबंध में ये दार्शनिक हीगल (Hegal) के विरोध विकासवाद (Dialecticism) सिद्धांत से सहमत थे। इन्होंने तर्क दिया कि पदार्थ एक अवस्था **पक्ष** (वाद, Thesis) होती है, उसकी इस अवस्था में विरोधी शक्तियों-**प्रतिपक्ष** (प्रतिवाद, Antithesis) का विकास होता है और फिर इन दोनों-पक्ष एवं प्रतिपक्ष में संघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप **संपक्ष** (संश्लेषण, Synthesis) अर्थात् नए पदार्थ का निर्माण होता है। यह नया पदार्थ आगे के लिए पक्ष बन जाता है जिसके विरोध में प्रतिपक्ष का विकास होता है और इस पक्ष एवं प्रतिपक्ष के संघर्ष से एक नए संपक्ष का विकास होता है और यह विकास चक्र निरंतर चलता रहता है। उदाहरणार्थ मुर्गी का अंडा पक्ष (Thesis) है, अंडे में मुर्गा-मुर्गी का निर्माण प्रतिपक्ष (Antithesis) है और मुर्गा-मुर्गी से नया अंडा पैदा होना संपक्ष

नोट

(Synthesis) है। मार्क्स के इस सिद्धांत को **द्वंद्वात्मक भौतिकवाद** (Dialectic Materialism) अथवा **भौतिकवादी द्वंद्ववाद** (Materialistic Dialecticism) कहा जाता है।

मार्क्स ईश्वर, कर्म सिद्धांत और स्वर्ग-नर्क के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। इनका तर्क था कि इन्हें वैज्ञानिक विधि से सत्यापित नहीं किया जा सकता इसलिए ये असत्य हैं।

आत्मा को ये पदार्थजन्य चेतन तत्व मानते थे और यह मानते थे कि प्राणी में उसका विकास शनैः-शनैः होता है। उदाहरणार्थ अंडे में प्राणशक्ति (आत्मा) नहीं होती, जब पक्षी उसे कुछ दिन सेता है तो उसमें शनैः-शनैः प्राणशक्ति (आत्मा) विकसित हो जाती है, जो क्रियाशील पक्षी के रूप में प्रकट होती है।

मनुष्य को मार्क्स उच्चतम प्राणी मानते थे और उसे एक ऐसी मशीन मानते थे जो अन्न, जल, वायु और सूर्य के प्रकाश से चलती है। इनकी दृष्टि से व्यक्ति का अपने स्वतंत्र रूप में कोई अस्तित्व नहीं होता, वह मानव समाज का अंग बनकर ही विकसित होता है।

मार्क्सवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में भी मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार प्रत्येक नया विचार (संपक्ष, Synthesis) अपने समय की भौतिक एवं सामाजिक विपरीत परिस्थितियों (पक्ष-प्रतिपक्ष, Thesis Antithesis) के संघर्ष का परिणाम होता है और यह प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। तक किसी भी विचार (ज्ञान) को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने आगे स्पष्ट किया कि संसार में सदैव भौतिक एवं सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं, जिनसे सदैव नए विचारों (ज्ञान) का विकास होता रहता है। इन्होंने इस सत्य को स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण दिया कि वैज्ञानिक शोधों के परिणामस्वरूप नित्य नया ज्ञान विकसित हो रहा है। परंतु इसके साथ इन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इस आधार पर किसी समय विकसित ज्ञान को असत्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह नए ज्ञान की खोज के लिए पक्ष (Thesis) होता है। मार्क्स ने आगे स्पष्ट किया कि प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में नित्य नए आविष्कार हो रहे हैं, नित्य नई जानकारियाँ प्राप्त हो रही हैं, नित्य नया ज्ञान प्राप्त हो रहा है और उससे मनुष्य के जीवन में निरंतर विकास हो रहा है, अतः विज्ञान के ज्ञान को यथार्थ ज्ञान और वैज्ञानिक विधि को ज्ञान प्राप्त करने की वास्तविक विधि मानना चाहिए।

क्या आप जानते हैं मार्क्स की दृष्टि से उत्पादन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानव श्रम है।

मार्क्सवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

मार्क्स मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते थे और समाज को परिवर्तनशील मानते थे। उनकी दृष्टि से परिवर्तनशील मानव समाज में मनुष्य के लिए न तो कई मूल्य निश्चित किए जा सकते हैं और न ही कोई आचार संहिता निश्चित की जा सकती है। इनकी दृष्टि से नैतिकता समय, समाज एवं अर्थव्यवस्था सापेक्ष होती है। इन्होंने मानव इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की है। इनके अनुसार मानव जीवन के लिए उत्पादन एक मूलभूत आवश्यकता है, इसलिए मानव के इतिहास को उसके उत्पादन के तरीकों में हुए परिवर्तनों (विकास) के आधार पर अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इनकी दृष्टि से मानव विकास का मूल कारण अपने युग की उत्पादन प्रणाली का अपना अंतर्विरोध (Thesis Antithesis) होता है, जिसके कारण उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन (Synthesis) होता है। और इस परिवर्तन के कारण मानव के सामाजिक संबंधों और सामाजिक संस्थाओं में भी परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन अर्थात् विकास की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। मार्क्स ने कल्पना की थी कि अब उत्पादन के समस्त स्रोतों एवं साधनों पर श्रमिकों का अधिकार होगा, जिससे शारीरिक श्रम प्रधान समाज का निर्माण होगा, जिसमें शारीरिक श्रम सबसे बड़ा माना जाएगा और सभी व्यक्ति शरीर श्रम से उत्पादन में वृद्धि करेंगे और अपना जीवन स्तर ऊँचा उठाएँगे।

नोट

मार्क्स मानव मात्र को सुखी देखना चाहते थे। इसके लिए उनकी दृष्टि से पहली आवश्यकता है–उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति। इसके लिए उन्होंने उत्पादन वृद्धि और समान वितरण पर बल दिया। उनकी दृष्टि से मानव मात्र के सुख के लिए दूसरी आवश्कता है–वैयक्तिक स्वतंत्रता और यह तभी संभव हो सकती है जब समाज में सभी व्यक्ति एक-दूसरे की स्वतंत्रता का ध्यान रखें। ये श्रम, सहयोग और स्वतंत्रता को मानव जीवन के आधारभूत मूल्य मानते थे और इन मूल्यों पर आधारित आचरण को मानवीय आचरण मानते थे।

मार्क्सवाद की परिभाषा

मार्क्सवाद को अधिकतर विद्वानों ने साम्यवाद के रूप में परिभाषित किया है, परंतु साम्यवाद तो अपने में एक सामाजिक व्यवस्था है, मार्क्सवाद तो इसके मूल में छिपा एक दर्शन है, जिसकी अपनी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा है। मार्क्सवाद को उसकी अपनी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया जा सकता है–

मार्क्सवाद दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को पदार्थजन्य मानती है और यह मानती है कि यह पदार्थजन्य संसार ही सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई अन्य संसार नहीं है। यह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और आत्मा को एक चेतन तत्व मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है, जिसे शारीरिक श्रम, उत्पादन में वृद्धि और वर्ग-विहीन समाज के निर्माण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. कम्युनिस्ट लीग की द्वितीय कांफ्रेंस ..... में लंदन में हुई।
2. मार्क्स का विश्वविख्यात ग्रंथ है ..... ।

24.2 मार्क्सवाद के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles of Marxism)

मार्क्सवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड पदार्थजन्य है**–मार्क्स संपूर्ण ब्रह्मांड को पदार्थजन्य मानते थे। सृष्टि के विकास के संबंध में इनका तर्क है कि पदार्थ की एक अवस्था पक्ष (वाद, Thesis) होती है, उसकी इस अवस्था में विरोधी शक्तियों–प्रतिपक्ष (प्रतिवाद, Antithesis) का विकास होता है और फिर इन दोनों, पक्ष एवं प्रतिपक्ष में द्वंद्व होता है, जिसके फलस्वरूप संपक्ष (संश्लेषण, Synthesis) अर्थात् एक नए पदार्थ का जन्म होता है। यह नया पदार्थ आगे के लिए पक्ष बन जाता है और यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि में यह प्रक्रिया सर्वत्र और निरंतर चलती रहती है, जिससे सृष्टि के हर क्षेत्र में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, विकास होता रहता है।
2. **केवल भौतिक जगत ही सत्य है**–एंजिल्स के शब्दों में मार्क्सवाद भौतिकवादी दर्शन है, यह संसार को उसी रूप में सत्य मानता है जिस रूप उसका अस्तित्व है। मार्क्सवाद के अनुसार यह पदार्थजन्य संसार ही सत्य है, इसके पीछे अथवा ऊपर कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है।
3. **ईश्वर का अस्तित्व नहीं है और आत्मा एक चेतन तत्व है**–मार्क्सवादियों का तर्क है कि ईश्वर के अस्तित्व को हम प्रायोगिक दृष्टि से सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते इसलिए उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इनका आगे तर्क है कि यदि ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता है तो फिर उसका भी कोई कर्ता होना चाहिए। आत्मा के विषय में इसका स्पष्टीकरण है कि यह एक चेतन तत्व है, जिसका विकास प्राणियों में

नोट

शनैः-शनैः होता है; प्राणी के जन्म के साथ इस चेतन तत्व का विकास होता है और मृत्यु के साथ इसका अंत होता है।

4. **मनुष्य की प्रकृति सामाजिक है**—मार्क्स मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता के सबसे बड़े समर्थक थे इसलिए कुछ विद्वान उन्हें मानवतावादी दार्शनिक मानते हैं। परंतु इस संदर्भ में उनका तर्क था कि वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्राप्ति तभी की जा सकती है जब सभी मनुष्य एक-दूसरे की स्वतंत्रता की रक्षा करें और सभी एक-दूसरे का सहयोग करें। उनका आगे तर्क था कि मनुष्यों ने जो प्रगति की है वह सामूहिक प्रयासों से की है, वे सामाजिक संगठन बनाकर कार्य करते हैं और इन संगठनों के अनुकूल आचरण करते हैं। इनका आगे तर्क था कि सामाजिक संगठन का स्वरूप उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करता है, उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक संगठनों में भी परिवर्तन होता है और व्यक्ति तदनुकूल आचरण करते हैं।

5. **मनुष्य का विकास उसके अपने तथा उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करता है**—मार्क्स मनुष्यों के विकास का आधार स्वयं मनुष्यों को और उनके द्वारा अपनाए उत्पादन के तरीकों को मानते थे। उनका तर्क है कि जिस समाज में उत्पादन के जितने अधिक स्रोत और साधन होते हैं, उसमें मनुष्य जितना अधिक श्रम करते हैं और उत्पादन करते हैं और उस उत्पादन का जितनी अधिक ईमानदारी से वितरण करते हैं, वह समाज उतनी ही तेजी से आर्थिक विकास करता है और इस आर्थिक विकास का प्रभाव उसके सामाजिक संगठनों एवं मनुष्यों के जीवन स्तर पर पड़ता है। उनकी दृष्टि से मनुष्य के विकास के पीछे कोई दैवीय शक्ति कार्य नहीं करती, अतः मनुष्य को भाग्य पर नहीं, कर्म पर निर्भर करना चाहिए।

6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**—मार्क्स मनुष्य के किसी अंतिम उद्देश्य-आत्मानुभूति, ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे। वे उसके इसी जीवन को वास्तविक मानते थे और उसे इसी जीवन के लिए तैयार करने पर बल देते थे। उनका तर्क था कि प्रत्येक मनुष्य सुखपूर्वक जीना चाहता है और इसे प्राप्त करना ही उसके जीवन का उद्देश्य होता है।

7. **सुखपूर्वक जीने के लिए उत्पादन में वृद्धि और न्यायपूर्ण वितरण आवश्यक है**—मार्क्स ने स्पष्ट किया कि मनुष्य का सबसे बड़ा सुख उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता है; दूसरा सुख रोटी, कपड़े और आवास की पूर्ति है और तीसरा सुख उसकी समयानुसार आवश्यकताओं की पूर्ति है, और ये तीनों तभी संभव हैं जब समाज अथवा राज्य में हर वस्तु का आवश्यकतानुसार उत्पादन हो और साथ ही उस उत्पादन का व्यक्तियों में उनकी आवश्यकतानुसार वितरण हो। समाज की इस स्थिति को ही उन्होंने साम्यवाद की संज्ञा दी थी।

8. **उत्पादन में वृद्धि के लिए श्रम और न्यायपूर्ण वितरण के लिए शोषण रहित सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है**—मार्क्स की दृष्टि से उत्पादन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानव श्रम होता है। मानव को वे पूँजी मानते थे और न्यायपूर्ण वितरण अर्थात् मनुष्यों की आवश्यकतानुसार पूर्ति के लिए वे शोषण रहित समाज की स्थापना आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि से यह तभी संभव है जब उत्पादन के समस्त स्रोतों एवं साधनों पर समाज का अधिकार हो, समाज में सभी का दर्जा समान हो, सबके लिए अपनी योग्यता एवं क्षमतानुसार श्रम करना आवश्यक हो और सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाए।

9. **साम्यवादी समाज में राज्य की कोई आवश्कता नहीं होगी**—मार्क्स ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें सभी को अपनी योग्यता एवं क्षमतानुसार कार्य (श्रम) करना आवश्यक होगा और सभी को उनकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाएगा और जिसमें संपन्न (Haves) और विपन्न (Have Notes) का भेद नहीं होगा, सब समान होंगे! उनकी दृष्टि से समाज की इस वर्ग-विहीन सामाजिक स्थिति में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी और वह स्वयं लुप्त हो जाएगा। समाज की इस स्थिति को ही उन्होंने साम्यवाद की संज्ञा दी थी।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. 1867 में मार्क्स ने विश्वविख्यात ग्रंथ की रचना की थी–
   (अ) दास कैपिटल (ब) कैपिटल (स) दास (द) इनमें से कोई नहीं
4. मार्क्स सृष्टि को मानते थे–
   (अ) पदार्थजन्य (ब) अजर–अमर (स) मरणशील (द) पतनोन्मुख
5. मार्क्स मनुष्य को मानते थे–
   (अ) सामाजिक प्राणी (ब) असामाजिक प्राणी (स) प्राकृतिक प्राणी (द) इनमें से कोई नहीं
6. ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में मार्क्स ने द्वंद्वात्मक ..... का प्रतिपादन किया है।
   (अ) अध्यात्मवाद (ब) भौतिकवाद (स) प्रकृतिवाद (द) इनमें से कोई नहीं

24.3 मार्क्सवाद और शिक्षा (Marxism and Education)

कार्ल मार्क्स एवं उसके समर्थक एंजिल्स ने शिक्षा संबंधी किसी ग्रंथ की रचना नहीं की है, इन्होंने मूलरूप से सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर ही विचार व्यक्त किए हैं और उस चिंतन में ही यत्र-तत्र शैक्षिक विचार अभिव्यक्त हुए हैं। मार्क्स के चिंतन के आधार पर जिन देशों में साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित हुई है, उनकी शिक्षा व्यवस्था से भी मार्क्सवादी शिक्षा के स्वरूप को समझा जा सकता है। हम इन दोनों आधारों पर ही मार्क्सवादी शिक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

मार्क्स के अनुसार शिक्षा तीन प्रकार की होनी चाहिए–बौद्धिक शिक्षा, शारीरिक प्रशिक्षण और पोलीटेक्निक प्रशिक्षण। वे शिक्षा के द्वारा ज्ञान एवं क्रिया में समन्वय करना चाहते थे। यही कारण है कि वर्तमान साम्यवादी देशों में शिक्षा को उत्पादन से जोड़ा गया है। मार्क्सवाद शिक्षा को उपयोगी शिक्षा (Ultilitarian Education) अर्थात् उत्पादन प्रधान क्रिया के रूप में स्वीकार करता है।

शिक्षा के उद्देश्य

मार्क्स ने स्पष्ट किया कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं–रोटी, कपड़ा और मकान। मनुष्य इनकी प्राप्ति के बाद ही सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेता है। इन्होंने आगे स्पष्ट किया कि मनुष्य की इन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन आवश्यक होता है और उत्पादन के लिए मानव श्रम आवश्यक होता है। इन्होंने और आगे स्पष्ट किया कि रोटी, कपड़ा और मकान सबको समान रूप से सुलभ कराने के लिए आवश्यक है कि पूँजीपति व्यवस्था के स्थान पर सर्वहारा व्यवस्था एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना हो। मार्क्स की दृष्टि से शिक्षा द्वारा इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति की जानी चाहिए। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों में शिक्षा के ये ही उद्देश्य हैं। इन्हें हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **शारीरिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक श्रम क्षमता का विकास**–मार्क्स उत्पादन को मानव जीवन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे और उत्पादन के लिए मानव के स्वयं के शारीरिक श्रम को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। यही कारण है कि वर्तमान मार्क्सवादी देशों में शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्यों बच्चों का शारीरिक विकास एवं उनमें शारीरिक श्रम क्षमता का विकास करना है।
2. **मानसिक एवं रचनात्मक शक्तियों का विकास**–मार्क्सवादी जब मनुष्य के शारीरिक विकास की बात करते हैं तो उसमें उसके शरीर में स्थित मानसिक शक्तियों का विकास निहित होता है। मार्क्सवादी मनोविज्ञान के इस तथ्य से परिचित हैं कि हर मनुष्य किसी-न-किसी मात्रा में रचनात्मक शक्ति होती है। उनके अनुसार शिक्षा द्वारा उनकी उत्पादन संबंधी रचनात्मक शक्तियों का विकास करना चाहिए, तभी वे उत्पादन के क्षेत्रों में सही रूप से कार्य कर सकेंगे।

नोट

3. **वर्ग-विहीन सामाजिक चेतना का विकास**–मार्क्सवाद वर्ग-विहीन समाज की स्थापना पर बल देता है, एक ऐसे समाज की स्थापना जिसमें संपन्न (Haves) और विपन्न (Have-nots) का भेद नहीं होगा, उच्च एवं निम्न का भेद नहीं होगा और शोषक एवं शोषित का भेद नहीं होगा, समाज में सभी का समान दर्जा होगा और सभी को समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों में बच्चों को शिक्षा द्वारा इस समानता का पाठ पढ़ाया जाता है और उन्हें इसमें प्रशिक्षित किया जाता है।
4. **भौतिकवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास**–मार्क्सवाद एक भौतिकवाद दर्शन है। यह ईश्वर, कर्मफल और स्वर्ग-नर्क आदि आध्यात्मिक तत्वों में विश्वास नहीं करता। यह उसी को सत्य मानता है जो प्रयोग की कसौटी पर सत्य प्रमाणित किया जा सके। प्रयोगों द्वारा ज्ञान की खोज और प्रयोगों द्वारा ज्ञान की सत्यता को प्रमाणित करना ही वैज्ञानिक दृष्किोण है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस बात पर भी बल देता है कि प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा जो भी मानव कल्याणकारी आविष्कार हुए हैं और जो भी तकनीक विकसित हुई है उसका उत्पादन में प्रयोग किया जाए और उससे उत्पादन बढ़ाया जाए और मानव को अधिक-से-अधिक भौतिक साधन उपलब्ध कराए जाएँ जिससे वह सुखपूर्वक जी सके।
5. **सामाजिक नैतिकता एवं श्रम गरिमा का विकास**–मार्क्सवादी किसी पूर्व निश्चित नैतिकता में विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं अपितु ये धार्मिक नैतिकता को बुद्धिजीवियों और धर्म के ठेकेदारों का शोषण का हथियार मानते हैं। ये तो सामाजिक नैतिकता में भी विश्वास नहीं करते और उसे भी परिवर्तशील मानते हैं। मार्क्सवादी यह मानते हैं कि समाज परिवर्तनशील है, इसलिए नैतिकता भी परिवर्तनशील होती है। मार्क्स ने घोषणा की थी कि भावी समाज श्रम प्रधान समाज होगा, उसमें किसी प्रकार का वर्गभेद नहीं होगा और तब श्रम मानव जीवन का सबसे बड़ा मूल्य होगा और भेदभाव-रहित आचरण मान्य आचरण होगा। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों की शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी है।
6. **तकनीकी ज्ञान एवं उत्पादन क्षमता का विकास**–मार्क्सवाद सबसे अधिक बल उत्पादन और उत्पादन के तरीकों पर देता है। उसका तर्क है कि विज्ञान ने हमें उत्पादन की ऐसी तकनीक दी है, जिसके प्रयोग से उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है। अत: बच्चों को प्रारंभ से ही इस तकनीक का ज्ञान कराना चाहिए और उन्हें उत्पादन के क्षेत्र में उसका प्रयोग करने में प्रशिक्षित करना चाहिए।
7. **साम्यवादी जीवन से प्रशिक्षण**–मार्क्स साम्यवादी व्यवस्था को सर्वोत्तम सामाजिक व्यवस्था मानते थे। उन्होंने अपने लेखों द्वारा इसी की स्थापना पर बल दिया है। अत: उनकी दृष्टि से साम्यवादी जीवन में प्रशिक्षण शिक्षा का मुख्य कार्य अथवा उद्देश्य होना चाहिए।
8. **साम्यवादी संगठन में आस्था**–मार्क्स ने कल्पना की थी कि साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी और वह स्वयं लुप्त हो जाएगा, परंतु हुआ इसका उल्टा, श्रमिकों के आंदोलन का नेतृत्व करने वाले साम्यवादी संगठन के नेता ही स्वयं शासक बन गए। यही कारण है कि वर्तमान में अपने को मार्क्सवादी कहने वाले देशों में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य साम्यवादी संगठन के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना है।
9. **धार्मिक अंधविश्वासों से मुक्ति**–मार्क्स धर्म में विश्वास नहीं करते थे, वे इसे अफीम की संज्ञा देते थे। उनका तर्क था कि बुद्धि प्रधानलोग और धर्म के ठेकेदार मनुष्यों को कर्म सिद्धांत का झूठा पाठ पढ़ाते हैं और संपन्नता एवं विपन्नता को भाग्य की देन बताकर उन्हें संतोष दिलाते हैं, और समाज में शोषण को बढ़ावा देते हैं। यही कारण है कि साम्यवादी देशों में बच्चों को धर्म की शिक्षा देने के स्थान पर उन्हें धार्मिक अंधविश्वासों से अवगत कराया जाता है और यह वहाँ की शिक्षा का एक उद्देश्य माना जाता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

मार्क्स ने शिक्षा को तीन वर्गों में विभाजित किया है–बौद्धिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा और पॉलीटेक्निक शिक्षा। इनके अनुसार सभी बच्चों के लिए तीनों प्रकार की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहए। इन्होंने पाठ्यचर्या में बौद्धिक शिक्षा में पढ़ने-लिखने, गणित और इतिहास को स्थान दिया है, शारीरिक शिक्षा में व्यायाम को स्थान दिया है और पॉलीटेक्निक शिक्षा में कृषि, पशुपालन, गणित और विज्ञान एवं तकनीकी को स्थान दिया है। मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि बुद्धिजीवी लोग और धर्म के ठेकेदार विवेकहीन लोगों

नोट

को धर्म रूपी अफीम खिलाकर उन्हें क्रियाहीन कर देते हैं और उनमें जागृति नहीं आने देते और उन्हें आगे बढ़ने एवं ऊँचा उठने से रोकते हैं। मार्क्स ने धर्म और नीतिशास्त्र को पाठ्यचर्या में स्थान देने का कड़ा विरोध किया है।

वर्तमान में साम्यवादी देशों में प्रारंभ से ही गणित, विज्ञान, कृषि एवं उद्योगों की शिक्षा पर बल दिया जाता है और पाठ्यचर्या में इन्हें अनिवार्य विषय एवं प्रशिक्षण के रूप में स्थान दिया जाता है। माध्यमिक स्तर पर तो मुख्य रूप से व्यावसायिक एवं तकनीकी पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं और सभी छात्र-छात्राओं को खेतों अथवा उद्योगों में कार्य करना अनिवार्य होता है। उच्च स्तर की शिक्षा में भी विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा की विशेष रूप में और अन्य विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा की सामान्य रूप में व्यवस्था है।

शिक्षण विधियाँ

मार्क्स वैज्ञानिक विधि को सीखने-सिखाने की सर्वोत्तम विधि मानते थे, यही कारण है कि मार्क्सवादी देशों में शिक्षा के क्षेत्रों में प्रयोगशाला विधि और कार्यशाला विधि का प्रयोग किया जाता है।

परंतु इतिहास के अध्ययन एवं शिक्षण के लिए मार्क्स ने द्वंद्वात्मक विधि (Dialectic Method) का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से ऐतिहासिक तथ्यों को रटने से कोई लाभ नहीं होता, ऐतिहासिक तथ्यों की द्वंद्वात्मक व्याख्या से ही मनुष्य नए समाज का निर्माण कर सकने योग्य बनते हैं।

मार्क्स की दृष्टि से शिक्षण विधि क्रिया-केंद्रित होनी चाहिए और शिक्षा एवं उत्पादन साथ-साथ चलने चाहिए। इनके अनुसार 9 वर्ष से 12 वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा में 2 (दो) घंटे प्रतिदिन किसी व्यावसायिक अथवा उत्पादन केंद्र पर कार्य करने की व्यवस्था होनी चाहिए, 13 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए 4 घंटे प्रतिदिन किसी व्यावसायिक अथवा औद्योगिक कार्यों में हाथ बँटाने की व्यवस्था होनी चाहिए और 15 से 17 वर्ष तक के किशोरों के लिए 6 घंटे प्रतिदिन किसी व्यावसायिक एवं औद्योगिक कार्यों में हाथ बँटाने की व्यवस्था होनी चाहिए। यही कारण है कि साम्यवादी देशों में शिक्षा एवं उत्पादन कार्य साथ-साथ चलते हैं। वर्तमान में साम्यवादी देशों में क्रिया प्रधान शिक्षण विधियों का प्रयोग ही किया जाता है।

अनुशासन

मार्क्स वैयक्तिक स्वतंत्रता के हामी थे परंतु साथ ही सामाजिक जीवन में अनुशासन के महत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि से कोई भी सामाजिक व्यवस्था बिना अनुशासन के नहीं चल सकती। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कोई व्यक्ति अपने अधिकारों के लिए आवाज न उठाए, इसके लिए प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र होना चाहिए। ये प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को सबकी स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त मानते थे। इनकी दृष्टि से यह तभी संभव हो सकता है जब समाज में किसी प्रकार का वर्ग भेद न हो, समानता इसके लिए पहली शर्त है।

परंतु वर्तमान में साम्यवादी देशों में अनुशासन का अर्थ मार्क्स की धारणा से एकदम विपरीत है। इनमें शासन के आदेशों का कठोरता से पालन करने को ही अनुशासन माना जाता है।

शिक्षक

मार्क्स ऐसे व्यक्तियों को शिक्षक बनाने के पक्ष में थे जो शोषण प्रधान समाज के विरुद्ध सर्वहारा समाज के हितों के रक्षक हों, शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने में समर्थ हों, श्रम में विश्वास करते हों और स्वयं शारीरिक श्रम करते हों। वे शिक्षकों से यह भी अपेक्षा करते थे कि वे अपने छात्रों में श्रम के प्रति आस्था उत्पन्न करें, उन्हें उत्पादन क्रियाओं में प्रशिक्षित करें और उनमें समानता का भाव विकसित करें।

वर्तमान साम्यवादी देशों में शिक्षकों से पहली अपेक्षा यह की जाती है कि वे साम्यवादी संगठनों के शासनतंत्र में आस्था रखें और शासन के आदेशों का कठोरता से पालन करें, साथ ही शासनतंत्र के प्रति बच्चों में निष्ठा उत्पन्न करें। श्रम की गरिमा तो उन्हें फिर माननी ही होगी।

शिक्षार्थी

मार्क्स की दृष्टि से शिक्षार्थियों को शरीर से स्वस्थ होना चाहिए और शारीरिक श्रम में उनकी आस्था होनी चाहिए। वे छात्रों से यह भी अपेक्षा करते थे कि वे किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक एवं धार्मिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित न रहें, वे सब कुछ वस्तुनिष्ठ ढंग से सीखने के लिए तैयार रहें।

नोट

वर्तमान साम्यवादी देशों में शिक्षार्थियों से पहली अपेक्षा यह की जाती है कि वे शासन के आदेशों का कठोरता से पालन करें और दूसरी अपेक्षा यह की जाती है कि वे शिक्षा प्राप्त करने के साथ उत्पादन कार्यों में हाथ बटाएँ।

विद्यालय

मार्क्स दृष्टि से विद्यालय परंपरागत संस्कृति के संरक्षक एवं वाहक न होकर नवीन विचारधारा के अग्रदूत होने चाहिए और श्रम प्रधान व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा के केंद्र होने चाहिए। इनकी दृष्टि से विद्यालयों में आवश्यकतानुसार प्रयोगशालाएँ एवं कार्यशालाएँ होनी चाहिए और वे स्थानीय व्यावसायिक एवं औद्योगिक संस्थाओं से संबद्ध होने चाहिए और उनमें शिक्षा एवं उत्पादन साथ-साथ चलने चाहिए।

वर्तमान में साम्यवादी देशों में विद्यालयों में शिक्षा एवं उत्पादन कार्य साथ-साथ चलते हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**–मार्क्स के समय लोग सार्वभौमिक शिक्षा की बात भी नहीं सोच पा रहे थे। मार्क्स ने सार्वभौमिक शिक्षा के लिए आवाज उठाई और कहा कि इसकी व्यवस्था तभी हो सकती है जब सरकार नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे, अनिवार्य शिक्षा संबंधी कानून बनाए और बालश्रम पर कानूनी रोक लगाए। वर्तमान में सभी साम्यवादी देशों में संपूर्ण शिक्षा नि:शुल्क है।
2. **स्त्री शिक्षा**–मार्क्स के अपने शब्दों में–''किसी समाज के स्तर का मापन करने के लिए उस समाज में स्त्रियों की स्थिति देखनी चाहिए।'' उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे स्त्री शिक्षा के बहुत समर्थक थे। वर्तमान में सभी साम्यवादी देशों में स्त्री-पुरुष की शिक्षा में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता, सभी को शिक्षा के समान अवसर प्राप्त हैं।
3. **व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा**–मार्क्स ने सबसे अधिक बल श्रम प्रधान व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा पर दिया है। मार्क्स के अनुसार समाज के सभी बच्चों को व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। वर्तमान में सभी साम्यवादी देशों में व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है, वहाँ शिक्षा और उत्पादन कार्य साथ-साथ चलते हैं।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**–मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है। उन्होंने स्पष्ट किया कि बुद्धिजीवी एवं चर्च भोली जनता को धर्म रूपी अफीम खिलाकर उसे कर्महीन बना देते हैं और उसकी अनुपलब्धियों को भाग्य की देन बताकर उसका खूब शोषण करते हैं। मार्क्स धर्म के साथ धार्मिक नैतिकता के भी कट्टर विरोधी थे। ये धर्म आधारित नैतिकता के स्थान पर सामाजिक नैतिकता के पक्षधर थे। इस संबंध में इनका यह भी तर्क था कि समाज सदैव बदलता रहता है इसलिए सामाजिक नैतिकता को भी तद्नुकूल बदलते रहना चाहिए। परंतु किसी भी स्थिति में श्रम का अपना महत्त्व होता है। श्रम को ये मानव जीवन का आधारभूत मूल्य मानते थे। इनकी दृष्टि से विद्यालयों में किसी भी प्रकार के धर्म की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, बच्चों को केवल श्रम और सामाजिक नैतिकता में प्रशिक्षित करना चाहिए। वर्तमान में साम्यवादी देशों में धर्म शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया जाता और साथ ही विज्ञान के ज्ञान द्वारा धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. मार्क्सवाद वर्ग-विहीन समाज की स्थापना पर बल देता है।
8. मार्क्स धर्म में विश्वास नहीं करते थे।
9. मार्क्सवादी किसी पूर्व निश्चित नैतिकता में विश्वास नहीं करते।
10. मार्क्सवाद एक आध्यात्मवादी दर्शन है।

नोट

24.4 मार्क्सवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन (Evaluation of the Contribution of Marxism to Education)

मार्क्सवाद मूलत: एक सामाजिक चिंतन है। इसका विश्वास है कि समाज का स्वरूप मूल रूप से उसकी तत्कालीन उत्पादन प्रणाली पर निर्भर करता है। उत्पादन प्रणाली की व्याख्या में इसे बरबस आर्थिक चिंतन भी करना पड़ा और इस प्रकार इसका अपना एक आर्थिक चिंतन भी विकसित हुआ। मार्क्स और एंजिल ने कुछ दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर भी दिए हैं, यह बात दूसरी है कि ये उत्तर वैज्ञानिक आधार पर दिए हैं। इस सब चिंतन के आधार पर मार्क्स और उसके अनुयायियों ने शिक्षा की पूरी रूपरेखा भी तैयार की है। वर्तमान में साम्यवादी देशों में उसका मूर्त रूप देखने को मिलता है, यह बात दूसरी है कि कुछ परिवर्तनों के साथ।

जहाँ तक मार्क्सवादी दर्शन की बात है, यह इस ब्रह्मांड एवं उसमें मानव जीवन की स्पष्ट व्याख्या करने में असमर्थ रहा है, यह अपने में अपूर्ण एवं भ्रामक है। परंतु इसमें जिस द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन किया गया है और उसके आधार पर शिक्षा की जो रूपरेखा तैयार की गई है वह मानव के भौतिक विकास में बहुत सहायक हुई है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

मार्क्स ने तीन प्रकार की शिक्षा की चर्चा की है–बौद्धिक शिक्षा, शारीरिक प्रशिक्षण और पॉलीटेक्निक प्रशिक्षण और इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक बच्चे के लिए तीनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों में शिक्षा को उत्पादन की क्रिया के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इस संदर्भ में सबसे पहली बात तो यह है कि मार्क्स ने शिक्षा के केवल कार्यों की चर्चा की है, उसके स्वरूप की व्याख्या नहीं की है। और दूसरी बात यह है कि उसके कार्यों में भी सर्वाधिक बल उत्पादन पर दिया है।

शिक्षा के उद्देश्य

मार्क्स ने शिक्षा के मूलरूप में निम्नलिखित पाँच उद्देश्य बताएँ हैं–(*i*) शारीरिक विकास, (*ii*) बौद्धिक एवं सृजनात्मक विकास, (*iii*) भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास, (*iv*) वर्ग-विहीन सामाजिक चेतना का विकास और (*v*) उत्पादन योग्य एवं क्षमता का विकास। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों में इन उद्देश्यों के साथ-साथ दो उद्देश्य और जोड़े गए हैं–एक साम्यवादी संगठन में आस्था और दूसरा शासन के प्रति निष्ठा का विकास।

स्पष्ट है कि मार्क्स और मार्क्सवादियों ने शिक्षा के सांस्कृतिक और नैतिक एवं चारित्रिक विकास के उद्देश्यों की अवहेलना की है। आध्यात्मिक विकास के तो ये कट्टर विरोधी हैं। संस्कृति, धर्म और नैतिकता की अवहेलना का अर्थ है कि मानव जाति को उसकी युग-युग की साधना के फल से वंचित करना।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

मार्क्स ने मनुष्य की बौद्धिक शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या में पढ़ने-लिखने, गणित और इतिहास के अध्ययन को, शारीरिक प्रशिक्षण के लिए व्यायाम को और पॉलीटेक्निक प्रशिक्षण के लिए गणित, विज्ञान, तकनीकी, कृषि, पशुपालन एवं अन्य उद्योगों की शिक्षा को स्थान दिया था। इनमें भी सबसे अधिक महत्त्व वस्तुओं के उत्पादन और इतिहास के द्वंद्वात्मक विश्लेषण पर दिया था। वर्तमान में साम्यवादी देशों की शिक्षा में भी सर्वाधिक बल उत्पादन क्रियाओं को ही दिया जाता है।

साफ जाहिर है कि शिक्षा के विस्तृत उद्देश्यों के अभाव में मार्क्सवादी शिक्षा की व्यापक पाठ्यचर्या का निर्माण भी नहीं कर सके। ये पाठ्यचर्या में संस्कृति और धर्म को स्थान न देने के कारण ही मनुष्यों को एक अच्छा मनुष्य नहीं बना पाए। परंतु कुछ भी हो व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण पर सर्वाधिक बल देने के परिणाम भौतिक दृष्टि से अच्छे रहे हैं। मार्क्सवादी देशों में उत्पादन बढ़ा है और उत्पादन से उनका जीवन स्तर ऊँचा उठा है।

शिक्षण विधियाँ

मार्क्स ने शिक्षण विधियों में सर्वाधिक बल वैज्ञानिक विधि को दिया है, प्रयोगशाला विधि और कार्यशाला विधि को दिया है। सैद्धांतिक विषयों को भी ये अनुदेशन विधि के स्थान पर द्वंद्वात्मक विधि से पढ़ाने-सिखाने के पक्ष

नोट

में थे। वर्तमान में मार्क्सवादी देशों में मुख्य रूप से शिक्षण की वैज्ञानिक विधि का ही प्रयोग किया जाता है। मार्क्सवादियों की यह बात अपने में महत्त्वपूर्ण है कि शिक्षण वैज्ञानिक विधि से करना चाहिए और बच्चों को स्वयं करके, स्वयं अनुभव द्वारा सीखने के अवसर दिये जाने चाहिए, परंतु दूसरी तरफ यह बात भी सत्य है कि सब कुछ स्वयं करके स्वयं के अनुभव से सीखना संभव नहीं है। फिर इस प्रकार तो हम मानव जाति के अब तक के अनुभवों का कोई लाभ नहीं उठा पाएँगे। तब स्वाध्याय, प्रश्नोत्तर, व्याख्या एवं व्याख्यान आदि विधियों की उपयोगिता को कैसे नकारा जा सकता है। हमें शिक्षण विधियों का चयन आवश्यकतानुसार ही करना चाहिए।

अनुशासन

मार्क्स ने एक तरफ व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता और दूसरी तरफ सामाजिक अनुशासन पर बल दिया है। सामान्य रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि ये दो विरोधी विचार हैं, परंतु इस संबंध में मार्क्स का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की स्वतंत्रता सबकी स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त है। साफ जाहिर है कि मार्क्सवादी समाज सापेक्ष अनुशासन के पक्षधर हैं।

परंतु वर्तमान में साम्यवादी देशों की शिक्षा में न तो किसी को वैयक्तिक स्वतंत्रता है और न उन पर समाज सापेक्ष अनुशासन के पालन की अनिवार्यता है। सभी शासन के कठोर अनुशासन में जीने के लिए विवश हैं। इसे आज न स्वतंत्रता कहा जाता है और न अनुशासन। सच्चा अनुशासन तो वही होता है जो मनुष्य के स्व से संचालित होता है।

टास्क मार्क्सवाद और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

शिक्षक

मार्क्स ने एक तरफ शिक्षा को राज्य के नियंत्रण से मुक्त करने की बात कही है और दूसरी ओर राज्य से निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करने और शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता निश्चित करने की बात कही है। ये दो विरोधी विचार हैं।

वर्तमान में साम्यवादी देशों में शिक्षा राज्य के पूर्ण नियंत्रण में है, परिणामतः शिक्षकों को अपने विचार अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं है। उन्हें साम्यवादी स्वतंत्रता के प्रचारक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

शिक्षार्थी

मार्क्स की दृष्टि से शिक्षार्थी को स्वस्थ, श्रमशील और उत्पादन कार्य करने योग्य होना चाहिए और साथ ही सांस्कृतिक एवं धार्मिक संकीर्णता से मुक्त होना चाहिए। वे छात्रों की वैयक्तिक स्वतंत्रता के बड़े हामी थे।

परंतु साम्यवादी देशों में छात्रों को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है, उनके लिए वह सब अनिवार्य है जो शासन चाहता है। शिक्षार्थियों को केवल उत्पादन की मशीन भर बनाने की विचार संकीर्ण ही कहा जाएगा।

विद्यालय

मार्क्स विद्यालयों को संस्कृति के वाहक के स्थान पर प्रयोगशाला, कार्यशाला और उद्योगशालाओं के रूप में बदलना चाहते थे और उन्हें स्थानीय व्यवसायों एवं औद्योगिक संस्थाओं से जोड़ना चाहते थे।

वर्तमान में साम्यवादी देशों में विद्यालय मानव संस्कृति के वाहक न होकर केवल मानव मशीन के निर्माणकर्ता के रूप में कार्य करते हैं। संस्कृति-विहीन मनुष्य का जीवन कितना अमानवीय हो गया है, यह हम देख ही रहे हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

मार्क्सवादी सार्वभौमिक शिक्षा और स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं, यह अच्छी बात है। इन्होंने व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा पर सर्वाधिक बल दिया है, यह भी अच्छी बात है। इसी का परिणाम है कि साम्यवादी देशों ने

नोट

आर्थिक क्षेत्र में बड़ी तेजी से प्रगति की है और इन देशों में मनुष्यों का जीवन स्तर बहुत ऊँचा उठा है। परंतु संस्कृति और धर्म की अवहेलना करने से दूसरी ओर उतनी ही हानि हुई है, मनुष्य वास्तविक सुख और शांति की प्राप्ति नहीं कर पाए हैं। संभवत: मार्क्सवादी यह नहीं जानते कि संस्कृति एवं धर्म मनुष्य की युग-युग की साधना का परिणाम हैं और ये ही हमें अन्य जीव-जंतुओं से अलग करते हैं और हमें उनसे श्रेष्ठ बनाते हैं। मार्क्सवादियों को जानना चाहिए कि शिक्षा स्वयं में संस्कृति का एक अंग है।

24.5 सारांश (Summary)

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी चिंतन केवल भौतिकवादी चिंतन है इसलिए अपने में अपूर्ण है। भौतिकवादी चिंतन के रूप में भी इसने जिस साम्यवाद की कल्पना की है, वह ने तो अब तक स्थापित हो गया है और न कभी स्थापित हो पाएगा। मार्क्सवाद अपनी ही कसौटी पर खरा नहीं उतरा है।

हाँ, यह अवश्य है कि इसने साम्यवादी शासन प्रणाली को जन्म दिया है और साम्यवादी शासन प्रणाली वाले देशों में शिक्षा का अपना एक अलग स्वरूप निश्चित हुआ है। इनमें उत्पादन प्रधान शिक्षा की व्यवस्था है, जिससे साम्यवादी देशों का आर्थिक विकास हुआ है और वहाँ के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठा है। परंतु साथ ही साथ यह बात भी सत्य है कि इन देशों में मनुष्य उत्पादन की एक मशीन भर बनकर रह गया है। इतना ही नहीं अपितु संस्कृति एवं धर्म की अवहेलना करने के कारण इसने मनुष्यों को उनकी युग-युग की साधना के फल से भी वंचित कर दिया है और मनुष्यों को सच्चे सुख और सच्ची शांति से दूर कर दिया है। वास्तविक शिक्षा तो वह होगी जो मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक और व्यावसायिक, सभी प्रकार का विकास करे और उसे भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों जीवन के लिए तैयार करे।

24.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **संपन्न** (Haves) : धनवान
2. **विपन्न** (Have-nots) : निर्धन

24.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मार्क्सवाद से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. मार्क्सवाद के मूल सिद्धांत बताइए।
3. 'मार्क्सवाद और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. मार्क्सवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. 1847	2. दास कैपिटल	3. (अ)	4. (अ)	5. (अ)
6. (ब)	7. सही	8. सही	9. सही	10. गलत

24.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।

❑❑❑

नोट

इकाई–25 : दुर्खीम एवं पार्सन्स के सिद्धांत (Theories of Durkheim and Parsons)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
25.1 दुर्खीम के सिद्धांत (Theories of Durkheim)
25.2 पारसन्स का सिद्धांत–संदर्भ का क्रिया ढाँचा (Theory of Parsons—Action Frame of Reference)
25.3 सारांश (Summary)
25.4 शब्दकोश (Keywords)
25.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- दुर्खीम के सिद्धांत जानने हेतु।
- पारसंस के सिद्धांत जानने हेतु।
- अनुबंध की क्रिया जानने हेतु।
- सामाजिक क्रिया-व्यवस्था जानने हेतु।
- पारसंस की संदर्भ संरचना जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

श्री दुर्खीम के सिद्धांत का सारतत्व यह है कि सामाजिक क्रियाओं को जन्म देने में सामाजिक तथ्य (social facts) बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में सामाजिक क्रियाएँ सामाजिक तथ्यों का ही एक अंग या पक्ष है। **श्री दुर्खीम** के अनुसार सामाजिक क्रियाएँ इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधियों की (अर्थात् सामूहिक विचारों, धारणाओं, भावनाओं आदि की) ही उपज होती हैं। उदारहरणार्थ, बच्चे की पढ़ने की क्रिया माता-पिता, शिक्षक आदि के सामूहिक प्रतिनिधित्व के कारण की संभव होती है। इन सब लोगों के सामान्य विचारों, धारणाओं और भावनाओं का निरंतर दबाव बच्चे के ऊपर पड़ता रहता है और इस सामूहिक दबाव के कारण ही बच्चे पढ़ने की क्रिया केवल घटित ही नहीं होती है वरन् उचित दिशा में आगे भी बढ़ती और नियंत्रित होती रहती है। **श्री पारसंस** ने लिखा है कि प्रत्येक समाज में भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता के अनुरूप कार्य व्यवस्थाएँ भी अलग-अलग प्रकार की होती हैं। एक विशेष प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के अंतर्गत क्रियाशील कर्ताओं की अंत:क्रिया के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था पनपाती है, परंतु पनप जाने पर यह व्यवस्था ही कर्ता की क्रियाओं को प्रभावित भी करती है।

नोट

25.1 दुर्खीम के सिद्धांत (Theories of Durkheim)

फ्रेंच सामाजिक विचारकों में, **श्री कॉम्ट** के 'उत्तराधिकारी' के रूप में **श्री इमाइल दुर्खीम** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आप भी बहुत-कुछ प्रत्यक्षवादी (positivist) थे और कॉम्ट की भाँति ही आध्यात्मिक (Theological) तथा तात्विक (metaphysical) विचारधारा से बहुत दूर रहना चाहते हैं। आपका विश्वास था कि सामाजिक घटनाएँ (जिसमें सामाजिक क्रिया भी सम्मिलित है) इतनी सरल नहीं है कि उन्हें केवल मात्र कल्पना के आधार पर यह दार्शनिक या आध्यात्मिक आधार पर समझाया जा सके। समस्त सामाजिक घटनाओं (Social phenomena) का मूल कारक तो **समाज** स्वयं है। वास्तविक निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण के आधार पर इसी समाज का सावधानीपूर्वक व वैज्ञानिक अध्ययन करने से ही सामाजिक क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप व कारण को समझा जा सकता है। इसीलिए श्री दुर्खीम ने इस मत का खंडन किया कि मनुष्य के सभी कार्य उपयोगिता पर आधारित होते हैं। सामाजिक कार्यों का आधार तो स्वयं सामाजिक तथ्य (social facts) हैं और इन तथ्यों का प्रत्यक्ष रूप में निरीक्षण, परीक्षण व विश्लेषण किया जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक कार्यों के विश्लेषण तथा विवेचन में श्री दुर्खीम ने सुखवाद (hedonism) का खंडन करके समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवाद (sociological positivism) का प्रतिपादन किया।

जैसाकि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्री दुर्खीम के सिद्धांत का सारतत्व यह है कि सामाजिक क्रियाओं को जन्म देने में सामाजिक तथ्य (social facts) बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में सामाजिक क्रियाएँ सामाजिक तथ्यों का ही एक अंग या पक्ष है। इसलिए श्री दुर्खीम ने लिखा है, ''सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप में (objectively) संभव है और जिसकी प्रकृति बाध्यतामूलक (compelling) होती है।'' सामाजिक तथ्य व्यक्ति वैषयिक वातावरण का एक भाग होता है, इसीलिए उसका निरीक्षण वैषयिक रूप में संभव होता है, उसी प्रकार सामाजिक तथ्य में बाध्यता या अनिवार्यता का गुण होता है क्योंकि वह व्यक्तियों की इच्छाओं के अनुरूप नहीं है या उसका संबंध व्यक्तिगत चेतना नहीं है; वह तो सामूहिक चेतना (collective consciousness) से संबंधित होता है और इसी कारण वह व्यक्तियों की क्रियाओं को प्रभावित व नियंत्रित करता है। ये सामूहिक चेतना व सामूहिक प्रतिनिधित्वों (collective representations) को जन्म देते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्वों की व्याख्या करते हुए श्री दुर्खीम ने लिखा है कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, धारणाएँ और भावनाएँ होती हैं जोकि सामाजिक अंत:क्रियाओं के दौरान या व्यक्तिगत चेतना (individual consciousness) के पारस्परिक प्रभावों के फलस्वरूप उत्तरोतर स्पष्ट और सामाजिक जीवन में जड़ पकड़ती जाती हैं जिसके कारण उन्हें समाज के अधिकतर लोग सामान्य रूप से अपना लेते हैं और वे सामाजिक प्रतीकों (symbols) के रूप में विकसित हो जाती हैं। चूँकि ये प्रतीक (विचार, धारणाएँ, भावनाएँ आदि) समाज के अधिकतर सदस्यों द्वारा मान्य होते हैं, इस कारण ये सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं को श्री दुर्खीम ने सामूहिक प्रतिनिधित्व कहा है। चूँकि इन सामूहिक प्रतिनिधित्वों के पीछे सामूहिक अभिमति (social sanction) होती है, इस कारण से अत्यंत प्रभावशाली होते हैं और व्यक्तियों कि क्रियाओं को उनकी व्यक्तिगत अच्छा या भावनाओं के द्वारा प्रभावित हुए बिना ही, प्रभावित करते रहते हैं। अत: **श्री दुर्खीम** के अनुसार सामाजिक क्रियाएँ इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधियों की (अर्थात् सामूहिक विचारों, धारणाओं, भावनाओं आदि की) ही उपज होती हैं। उदारहरणार्थ, बच्चे की पढ़ने की क्रिया माता-पिता, शिक्षक आदि के सामूहिक प्रतिनिधित्व के कारण की संभव होती है। इन सब लोगों के सामान्य विचारों, धारणाओं और भावनाओं का निरंतर दबाव बच्चे के ऊपर पड़ता रहता है और इस सामूहिक दबाव के कारण ही बच्चे पढ़ने की क्रिया केवल घटित ही नहीं होती है वरन् उचित दिशा में आगे भी बढ़ती और नियंत्रित होती रहती है। इस प्रकार श्री दुर्खीम के अनुसार, सामाजिक क्रिया सामाजिक कारकों का ही प्रतिफल है। इस धारणा की सत्यता को श्री दुर्खीम ने अनेक प्रकार की सामाजिक क्रियाओं का विश्लेषण करके प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। वहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

नोट

नोट्स समस्त सामाजिक घटनाओं का मूल कारक समाज स्वयं है।

आत्महत्या (suicide) के अध्ययन में **श्री दुर्खीम** ने आत्महत्या से संबंधित अधिकांश स्वीकृत सिद्धांतों को अस्वीकार किया। उनके अनुसार मानसिक कारण, वशांनुसंक्रमण, निर्धनता, निराशा, प्रेम में असफलता आदि के आधार पर आत्महत्या की क्रिया की वास्तविक व्याख्या कदापि संभव नहीं क्योंकि ये सभी कारक वैयक्तिक हैं, जबकि आत्महत्या की क्रिया सामूहिक कारकों का ही फल है। व्यक्ति आत्महत्या तब करता है जबकि समाज या समूह का एक अस्वस्थ दबाव (negative pressure) व्यक्ति पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसके मन में आत्महत्या करने की अनुकूल भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। समाज या समूह बंधन, प्रभाव या/ और दबाव 'सबका' प्रत्येक पर असर होता है। इसीलिए सामूहिक प्रभाव या/ और दबाव व्यक्ति को जिस भाँति जीने के लिए प्रेरित करता है उसी भाँति मरने के लिए भी प्रेरित कर सकता है और करता भी है। और वह इस तरह से कि समाज या समूह, जिसका कि एक व्यक्ति सदस्य है, उस व्यक्ति के जीवन में या तो (क) परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जोकि उस व्यक्ति को उसके सामूहिक जीवन में उखाड़ फेंकती हैं और व्यक्ति अकेलापन, निराशा, असुखी और अतृप्ति की भावनाओं से पीड़ित होकर आत्महत्या की क्रिया करने को तत्पर हो उठता है, या (ख) समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व को उस सीमा तक निगल जाता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का पृथक अस्तित्व ही नहीं रह जाता और समाज जैसा चाहता है वैसा ही व्यक्ति करने लगता है। ऐसी अवस्था में समाज व्यक्ति से आत्महत्या की क्रिया तक करने की माँग कर सकता है। आत्महत्या की क्रिया के घटित होने में सामूहिक कारक के महत्त्व को आगे स्पष्ट करते हुए **श्री दुर्खीम** ने लिखा है, ''यदि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम आत्महत्या करती हैं तो इसका कारण है कि वे पुरुषों की अपेक्षा सामूहिक जीवन में बहुत कम भाग लेती हैं, इसीलिए वे इसके अच्छे या बुरे प्रभाव को भी कम अनुभव करती हैं। यही बात सभी आयु के व्यक्तियों तथा बच्चों के संबंध में भी लागू होती है, यद्यपि इन पर सामूहिक जीवन का कम प्रभाव कुछ अन्य ही कारणों से पड़ता है। अंत में, यदि जनवरी से जून तक आत्महत्याओं की दर बढ़ती है और इसके बाद घटनी शुरू हो जाती है तो इसका कारण यह है कि सामाजिक क्रियाओं में भी इसी के अनुरूप मौसमी उतार-चढ़ाव देखने में आता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि सामाजिक क्रियाओं के विभिन्न प्रभाव ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ समान लय (rhthm) से बदलें, और इसके फलस्वरूप इन दोनों काल में से प्रथम काल में (जनवरी से जून तक) सामाजिक प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक निश्चित या स्पष्ट हो। आत्महत्या भी इनमें से एक है। वास्तव में प्रत्येक सामाजिक समूह में इस क्रिया (आत्महत्या) के लिए अपने ढंग की एक सामूहिक प्रवृत्ति (collective inclination) पाई जाती है। जो कि वैयक्तिक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है, न कि इन वैयक्तिक प्रवृत्तियों का परिणाम होती है। व्यक्ति जीवन से अपनी उदासीनता को समझने के लिए अपने चारों तरफ की तात्कालिक परिस्थितियों को दोषी ठहराता है; उसका जीवन दुखी है क्योंकि वह दुखी है। वास्तव में, वह एक अर्थ में, बाहरी परिस्थितियों के कारण दुखी है; परंतु ये बाहरी परिस्थितियाँ उसके जीवन की यह या वह घटना नहीं बल्कि वही समूह है जिसका कि वह सदस्य है।''

श्री दुर्खीम ने अनुबंध (contract) की क्रिया पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस संबंध में आपने लिखा है कि अनुबंध क्रिया से संबंधित जो कार्य व्यक्ति करता है उसके कुछ नियम होते हैं, परंतु इन नियमों को अनुबंध करने वाले पक्ष पारस्परिक सहमति से प्रतिपादित करते हैं–ऐसा सोचना गलत होगा। जिस नियमानुसार अनुबंधों की क्रिया की जाती है वे नियम वास्तव में सामाजिक या सामूहिक नियम होते हैं, जिनको पूर्वनिश्चित समाज या समूह का ही कार्य होता है। **श्री हॉब्स** से इस मत से श्री दुर्खीम सहमत हैं कि निश्चित समाज व्यवस्था के अभाव में अनुबंध कार्य नहीं कर सकते। अर्थात् अनुबंध या समूह द्वारा पूर्वनिश्चित नियमानुसार प्रारंभ होती है और समाज द्वारा उत्पन्न व्यवस्था के अंतर्गत ही क्रियाशील रहती है। राज्य (जोकि समुदाय के राजनीतिक संगठन का ही प्रतिनिधित्व करता है) न्याय द्वारा व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करता है, जबकि समाज स्वयं प्रथा, आदर्श आदि के द्वारा व्यवस्था स्थापित करता है। जब तक यह व्यवस्था रहती है, तब तक अनुबंध क्रिया भी समुचित ढंग से संपादित की जा सकती है।

नोट

श्री दुर्खीम ने धर्म का भी अध्ययन किया है। उनके अनुसार धार्मिक कार्यों की उत्पत्ति में आधारभूत कारक समाज स्वयं है। उनके अनुसार समाजिक ही वास्तविक ईश्वर है। आपने इस सिद्धांत की पुष्टि में आस्ट्रेलिया की अरूण्टा (arunta) जनजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। इदस जनजाति के जीवन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि धार्मिक अनुभव की उत्पत्ति एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना के कारण है। त्यौहारों तथा उत्सवों पर जब गोत्र (clan) के सभी लोग एक साथ एकत्र होते हैं तो प्रत्येक सदस्य को ऐसा अनुभव होता है कि समूह की शक्ति उनकी वैयक्तिक शक्ति से कहीं अधिक उच्च और महान् है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के मन में समूह के प्रति भय, श्रद्धा और शक्ति की भावना पनपती है। वह समूह को साधारण से श्रेष्ठ या महान् समझने लगता है। वस्तुत: वह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा या अन्य सभी धार्मिक क्रियाओं का प्रतीक (symbol) हो जाता है।

क्या आप जानते हैं दुर्खीम के अनुसार सामाजिक क्रियाएँ, सामूहिक प्रतिनिधियों की ही उपज होती हैं।

कार्यों की विवेचना में **श्री दुर्खीम** ने आदर्शों (norms) का भी महत्त्व स्पष्ट किया है। उन्होंने व्यक्ति के कार्यों पर प्रभाव डालने वाले तथ्यों को बाहरी और आंतरिक इन दो समूहों में बाँटा है। इस विभाजन को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए आपने अपराध का उदाहरण दिया है। जिन व्यक्तियों में सामाजिक आदर्शों का आंतरीकरण होता है उनमें सामाजिक आदर्श उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का भाग बन जाते हैं। व्यक्तित्व के भाग के रूप में सामाजिक आदर्श व्यक्ति को अपराध करने से रोकते हैं क्योंकि ये आदर्श एक प्रकार की आंतरिक शक्ति के रूप में क्रियाशील रहते हैं और व्यक्ति को अपराधी कार्य करने की आंतरिक शक्ति या प्रेरणा प्राप्त नहीं हो पाती है। परंतु जिनके व्यक्तित्व में इस आंतरिक शक्ति का अभाव होता है, वे अपराधी-क्रिया बिना बाधा के करते हैं या कर सकते हैं। उसी प्रकार अपराधी क्रिया पर प्रभाव डालने वाले कुछ बाहरी तथ्य भी होते हैं। उनमें सबसे प्रमुख कानून हैं। समाज या समूह की वैधानिक इच्छाओं अभिमतियों का सामूहिक प्रतिनिधित्व (Collective representation) है, इस कारण इसका एक बाध्यतामूलक प्रभाव व्यक्ति की क्रियाओं पर पड़ता है। कानून में इसका उल्लंघन करने वाले दंड देने की व्यवस्था होती है। यह दंड उस रोक का काम करता है जो कि व्यक्ति को अपराधी क्रिया करने से रोकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **श्री दुर्खीम** ने सामाजिक क्रियाओं को सामाजिक तथ्यों (social facts) पर ही आधारित माना है। व्यक्ति के लिए ऐसी क्रियाओं को रोकने या प्रेरित करने के कारक के रूप में सामूहिक प्रतिनिधानों का कितना महत्त्व है इस बात को प्रमाणित करने का अथक प्रयत्न श्री दुर्खीम ने किया है जो कि उनके सिद्धांत की एक दुर्बलता बनकर रह जाती है। व्यक्ति को क्रियाशील बनाने में या उसकी समस्त क्रियाओं के निर्धारक के रूप में समाज या समूह को ही सब कुछ मान लेना उचित न होगा। इस विषय में समाज या समूह के महत्त्व को कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा, परंतु क्रियाओं का कारक सामाजिक होता ही है–यह इस आधार पर गलत है कि व्यक्ति की अनेक क्रियाओं को हम वास्तव में सामाजिक क्रिया कह सकते हैं। चूँकि ये क्रियाएँ सामाजिक हैं इसलिए इनके निर्धारक कारक भी केवल सामाजिक ही होंगे–इस प्रकार के निष्कर्ष वैज्ञानिक नहीं हो सकते।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. सामाजिक कार्यों का आधार स्वयं ..... हैं।
2. सामाजिक तथ्य ..... वातावरण का एक भाग होता है।

25.2 पारसंस का सिद्धांत–संदर्भ का क्रिया ढाँचा (Theory of Parsons—Action Frame of Reference)

नोट

सामाजिक क्रिया की प्रकृति तथा अर्थ का एक क्रमबद्ध तथा समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण **श्री टालकॉट पारसंस** (Talcott Parsons) ने अपनी पुस्तक *'दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशल ऐक्शन' (The Structure of Social Action)* में, जोकि सन् 1937 में प्रकाशित हुई थी, सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था। इस पुस्तक में आपने सर्वश्री परेटो, दुर्खीम, मैक्सवेबर आदि विद्वानों के कार्य-संबंधी सिद्धांतों का विश्लेषण किया। आपके अनुसार, श्री परेटो की इस संबंध में मुख्य देन 'विशिष्ट-चालक' (residues) तथा 'अतर्क-संगत क्रियाएँ' (non-logical actions) हैं। आपने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सामाजिक जीवन में किस भाँति अतर्क-संगत क्रियाओं का बोलबाला है जोकि विशिष्ट चालक भ्रांत-तर्क (derivations) आदि से प्रेरित होती रहती हैं। श्री दुर्खीम की मुख्य देन यह है कि उन्होंने क्रिया के गैर-प्राकृतिक आदर्शात्मक तत्व (non-natural normative element of action) के संबंध में हमें अधिकतम सचेत रहने का निर्देश दिया है। उनके अनुसार सामाजिक घटनाओं (जिनमें सामाजिक क्रिया भी एक है) का निर्धारण गैर-प्राकृतिक या सामाजिक कारणों द्वारा ही होता है। 'समाज' ही सामाजिक घटनाओं को जन्म देता है। **श्री वेबर** ने अपनी सामाजिक क्रिया की अवधारणा में प्रातीतिक अर्थ (subjective meaning) तथा दूसरे व्यक्तियों के प्रभाव पर अत्यधिक बल दिया है। श्री पारसंस ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में लिखा है कि यदि हम इन विद्वानों के विचारों की सम्मिलित रूप से विवेचना करें तो उसके आधार पर हम क्रिया के एक नवीन सिद्धांत के लिए मुख्य तत्वों (main elements) का सरलता से ही आविष्कार कर सकते हैं। जैसे ही तत्वों का समन्वय किया जायेगा, वैसे ही क्रिया का एक नया सिद्धांत सामने आ जायेगा। **श्री पारसंस** के ही शब्दों में, ''इन लेखकों की विचारधारा में सामान्य रूप में विद्यमान सैद्धांतिक श्रेणियों की यह सामान्यात्मक व्यवस्था (generalized system), यदि एक समग्र व्यवस्था (total system) के रूप में लिया जाय तो, सिद्धांत का एक 'नया' विकास (new development) है जोकि केवल मात्र उन परंपराओं से नहीं लिया गया है। जिन पर कि वे बने हैं।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. सामाजिक क्रिया सामाजिक कारकों का ही है–
   (अ) प्रतिफल (ब) दबाव (स) प्रमाण (द) इनमें से कोई नहीं
4. दुर्खीम ने आत्महत्या से संबंधित अधिकांश स्वीकृत सिद्धांतों को किया है–
   (अ) स्वीकार (ब) अस्वीकार (स) प्रतिपादन (द) इनमें से कोई नहीं
5. दुर्खीम के अनुसार धार्मिक कार्यों की उत्पत्ति में आधारभूत कारक है–
   (अ) समाज (ब) देश (स) प्रकृति (द) ईश्वर
6. सामाजिक क्रिया का तीसरा आधार या तत्व है–
   (अ) सांस्कृतिक व्यवस्था (ब) सामाजिक व्यवस्था
   (स) आवश्यकता (द) परिभाषा

श्री पारसंस के अनुसार क्रिया की इस नवीन सामान्यात्मक व्यवस्था के चार तत्व हैं–1. वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण (heredity and environment) जोकि क्रिया की अंतिम अवस्थाएँ या शर्तें (ultimate conditions) हैं, 2. साधन और साध्य या लक्ष्य (means and ends), 3. अंतिम मूल्य (ultimate values) तथा 4. उद्योग या 'प्रयत्न' (effort)–यह क्रिया के आदर्शात्मक (normative) तथा आस्थात्मक (conditional) तत्वों को संगठित करने वाले कारक का नाम है। प्रथम तत्व के अंतर्गत क्रिया के दो आधार का उल्लेख मिलता है–एक तो कर्ता की प्राणिशास्त्रीय विरासत (biological heritage) तथा दूसरी उस कर्ता

नोट

की वह संपूर्ण बाहरी दुनिया या परिस्थितियों जो कुछ भी उसे घेरे हुए हैं। समाजशास्त्री दृष्टिकोण से संपूर्ण पर्यावरण भौतिक-अभौतिक वस्तुओं और परिस्थितियों तथा मानव का वह 'घेरा' है जोकि एक व्यक्ति की बाहरी व भीतरी दोनों अवस्थाओं को प्रभावित करता है। इस प्रथम तत्व वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण को एक-दूसरे दृष्टिकोण से भी समझाया जा सकता है। अपने माता-पिता से प्राणी को मूल रूप में जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ प्राणिशास्त्रीय प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त होती हैं, उन्हें हम वंशानुसंक्रमण कहते हैं। ये शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ वह कच्चा माल होता है जिससे सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। क्रिया में यह सामाजिक व्यक्तित्व ही 'अंतिम शर्त' (ultimate condition) है अर्थात् उसका अपना व्यक्तित्व उन प्रेरणाओं तथा मूल्यों व आदर्शों को प्रदान करता है जोकि व्यक्ति की क्रियाओं की दिशा व स्वरूप को निर्धारित करते हैं।

क्रिया व्यवस्था में **दूसरा** तत्व साधन और साध्य या लक्ष्य है। कार्य को लक्ष्य प्रभावित करते हैं या यूँ कहिए कि लक्ष्य के अनुसार ही कार्य की प्रकृति निर्धारित होती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कार्य लक्ष्यविहीन नहीं होता है। इसलिए कार्यों की विवेचना के लिए यह आवश्यक है कि उनसे संबंधित कार्यों का निरूपण भी हो। लक्ष्य के साथ-साथ साधन भी कार्य का एक आवश्यक तत्व है। साधन वह उपकरण है जिसके द्वारा कार्य संपादित होता है। अत:क्रिया व्यवस्था में साधन और लक्ष्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं।

क्रिया व्यवस्था का **तीसरा** तत्व अंतिम मूल्य है। क्रिया के साधन और लक्ष्य किसी-न-किसी रूप में इन अंतिम मूल्यों (ultimate values) से संबंधित व प्रभावित अवश्य ही होते हैं। दूसरे रूप में यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्रिया इन्हीं मूल्यों की प्राप्ति के लिए निर्देशित होती है। **श्री पारसंस** ने लिखा है, ''क्रिया की किसी भी ठोस अवस्था में परिवर्तन की एक प्रक्रिया, जहाँ तक कि वह साध्य-साधन के स्वाभाविक संबंध के आधार पर प्रतिपादित क्रिया के तत्वों के संदर्भ में व्याख्या योग्य है, केवल उसी दिशा में आगे बढ़ सकती है जिस ओर उस व्यवस्था में कर्ताओं पर लागू समझे जाने वाले तर्क संगत आदर्श की प्राप्ति संभव हो। अर्थात् संक्षेप में, क्रिया की एक ऐसी प्रक्रिया केवल तार्किकता के मूल्य में वृद्धि की दिशा में ही आगे बढ़ सकती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्रिया में एक आदर्श या मूल्य अंतर्निहित रहता है और कर्ता उस मूल्य की प्राप्ति के लिए ही अपनी क्रिया को संपादित करता है। यह क्रिया जितनी अधिक तर्क-संगत होगी, वैज्ञानिक आधार पर उसे समझना उतना ही संभव होगा।

क्रिया-व्यवस्था का **चौथा या अंतिम तत्व** 'प्रयत्न' है। **श्री पारसंस** ने स्वयं ही लिखा है कि यह क्रिया के आदर्शात्मक तथा अवस्थात्मक को संबंधित करने वाले कारक को सूचित करता है। जैसाकि अभी तक की विवेचना से स्पष्ट है कि क्रिया में एक आदर्श या मूल्य अंतर्निहित होता है, साथ ही कर्ता को व्यावहारिक समाज-व्यवस्था के अंतर्गत यह छूट कदापि नहीं दी जा सकती है कि वह जिस प्रकार से भी चाहे अपने आदर्शों, मूल्यों का लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है। प्रत्येक कर्ता अगर मनमाने ढंग से क्रियाशील हो जाए तो समाज-व्यवस्था एक ही दिन में चकनाचूर होकर ही रहे। इसलिए समाज की ओर के कुछ शर्तें या अवस्थाएँ (conditions) निर्धारित कर दी जाती हैं और कर्ता को उन्हीं अवस्थाओं के बीच रहते हुए क्रिया करनी पड़ती है। साथ ही कर्ता के पास साधन असीमित नहीं होता। साधन की एक निश्चित सीमा के अंदर ही कर्ता कार्य करता है। इस प्रकार विद्यमान 'अवस्थाओं' की सीमा के अंदर ही कर्ता को 'आदर्श' या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'प्रयत्न' करना पड़ता है। इस प्रकार 'प्रयत्न' वह कारक है। जोकि आदर्श तथा व्यवस्था के बीच एक संबंध स्थापित करता है। इसीलिए **श्री पारसंस** ने 'प्रयत्न' को 'क्रिया के आदर्शात्मक तथा आस्थात्मक तत्वों को संबंधित करने वाले कारक' की संज्ञा दी है।

श्री पारसंस ने लिखा है कि प्रत्येक समाज में भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता के अनुरूप कार्य व्यवस्थाएँ भी अलग-अलग प्रकार की होती हैं। एक विशेष प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के अंतर्गत क्रियाशील कर्ताओं की अंत:क्रिया के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था पनपाती है, परंतु पनप जाने पर यह व्यवस्था ही कर्ता की क्रियाओं को प्रभावित भी करती है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत ही वे सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं जिसमें निवास करते हुए व्यक्ति कार्य करते हैं। स्मरण रहे कि सामाजिक परिस्थिति का एक भौतिक पक्ष होता है (भौगोलिक क्षेत्र, निश्चित काल निश्चित समूह आदि) आदि सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति का प्रवेश दो आधार पर होता है–पद (status) तथा कार्य (role)। समाज में प्रचलित मान्यताओं के आधार

नोट

पर यह निश्चित होता है कि एक व्यक्ति की स्थिति या पद अन्य व्यक्तियों के बीच में क्या है। यह हो नही सकता कि सामाजिक व्यक्ति स्थिति या पदविहीन हो। परिवार में उसकी स्थिति पिता, पुत्र, पुत्री पति का पत्नी है, कॉलेज में उसकी स्थिति विद्यार्थी और कारखाने में उसकी स्थिति श्रमिक के रूप में है। प्रत्येक स्थिति या पद से संबंधित कुछ कार्य (roles) भी होते हैं। पिता के कार्य से पृथक हैं, विद्यार्थी का कार्य वही नहीं है जोकि शिक्षक का है। एक ही व्यक्ति की एकाधिक स्थितियाँ (statuses) हो सकती है और वह उन्हीं से संबंधित कार्यों को करता है। अत: स्पष्ट है कि अपने समूह से व्यक्ति को एक स्थिति प्राप्त होती है जोकि उसकी क्रियाओं के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण होती हैं।

सामाजिक परिस्थिति में प्रवेश करके व्यक्ति न केवल अपने पदों और कार्यों (roles) का ज्ञान प्राप्त करता है, बल्कि अन्य व्यक्तियों के पदों और कार्यों के संबंध में भी जानकारी हासिल कर लेता है। इसी से वह दूसरों के संभावित कार्यों का अनुमान लगा लेता है और अपने कार्य की दूसरों पर होने वाली प्रतिक्रिया को जान लेता है। इस प्रकार वह दूसरों की संभावित प्रतिक्रिया को दृष्टि में रखकर समाज द्वारा मान्य विधियों या साधनों की सहायता से अपने उद्देश्य या आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। समाज द्वारा मान्य विधियों, व्यवहारों, मूल्यों और आदर्शों का ज्ञान उसे सामाजिक परिस्थिति में रहकर समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है। सामाजिक परिस्थिति से व्यक्ति का परिचय तथा क्रिया के संपादन के संबंध में श्री पारसंस निम्नलिखित बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं–

1. जब एक बच्चा उत्पन्न होता है तब उसमें सामाजिक अर्थ में कोई भी क्रिया करने की क्षमता नहीं होती है। वह क्षमता उसके सावयव (organism) के विकास के साथ-साथ उसे प्राप्त होती है। परंतु इस प्रकार के मानसिक और शारीरिक विकास के लिए उसे दूसरे व्यक्तियों की सहायता की आवश्यकता होती है जोकि उस विकास प्रक्रिया के लिए आवश्यक साधनों को जुटाते रहें। दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आने से व्यक्ति के विचारों, भावनाओं, आदतों, प्रेरणाओं तथा मूल्यों का विकास होता है जोकि धीरे-धीरे उसके मन:शारीरिक आधारों में समा जाता है और उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। **श्री पारसंस** ने सावयव (organism), प्रेरणाओं (motives) तथा मूल्यों (values) के सम्मिलित रूप को ही व्यक्तित्व की संज्ञा दी है और यह व्यक्तित्व वह आधारभूत तत्व है जिसके बिना क्रिया-व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती।
2. सामाजिक परिस्थिति में, जिससे कि व्यक्ति का परिचय व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ दृढ़तर होता जाता है, दो प्रकार के तत्व होते हैं–**एक** तो सामाजिक तत्व और **दूसरा** असामाजिक तत्व। सामाजिक तत्व के अंतर्गत व्यक्ति तथा व्यक्तियों से बने समूह आते हैं जबकि असामाजिक तत्व के अंतर्गत एक ओर भौतिक उपकरण और दूसरी ओर सांस्कृतिक विरात (cultural heritage) जैसे आदर्श, मूल्य, प्रथा आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार व्यक्ति की क्रियाओं की प्रभावक परिस्थिति एक ओर व्यक्ति व समूहों द्वारा तथा दूसरी ओर भौतिक उपकरण, आदर्श मूल्य आदि सांस्कृतिक तत्वों (जिसे कि श्री पारसंस ने अपने ढंग से असामाजिक तत्व कहा है, अर्थात् 'असामाजिक' का अर्थ गैर-सामाजिक या समाज-विरोधी नहीं है) द्वारा निर्धारित होती है।
3. प्रत्येक व्यक्ति के सावयव (organism) का संगठन एक प्रकार का नहीं होता है, जिसमें फलस्वरूप ही एक सामाजिक परिस्थिति के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया (response) एकसमान नहीं होती है। इसलिए एक ही सामाजिक परिस्थिति में न तो एकसमान व्यक्तित्व का विकास होता है और न ही व्यक्ति द्वारा की गई क्रियाएँ ही एक तरह की होती हैं। यही कारण है कि हमें व्यक्तिगत भिन्नताएँ तथा क्रियाओं में भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं।
4. एक सामाजिक परिस्थिति में एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए केवल एक की साधन या साध्य उपलब्ध होता है, ऐसी बात नहीं। वास्तव में साधन और साध्यों के अनेक विकल्प होते हैं। वे विकल्प सम्मिलित रूप में विभिन्न प्रतिमानों (patterns) की रचना करते हैं। श्री पारसंस ने इन्हें प्रतिमानात्मक विविधता कहा है। उसी प्रकार मूल्यों में भी विकल्प पाए जाते हैं जिनका चुनाव व्यक्ति अपने समूह की परिस्थिति

नोट

के अनुसार करता है और उसके द्वारा चुना हुआ वह प्रतिमान उसके कार्य के स्वरूप व दिशा को प्रभावित करता है।

5. क्रिया के विश्लेषण के लिए श्री पारसंस ने 'संदर्भ-संरचना' (Frame of Reference) की धारणा को विकसित किया है। संदर्भ-संरचना के अंतर्गत वे सभी तथ्य (कर्ता, परिस्थिति, समूह आदि) आ जाते हैं जिनके संदर्भ में क्रिया को समझा जा सकता है। साधन-साध्य के संबंध, पूर्ण संगठित समूह और तार्किक को संदर्भ-संरचना माना गया है। इस धारणा के अंतर्गत यह माना गया है कि क्रिया के इन विभिन्न तथ्यों में एक पारस्परिक संबंध है और क्रिया को इस संबंधात्मक (relational) संदर्भ में ही समझा जा सकता है। यह विचार श्री पारसंस ने **श्री जैनेनिकी** (Znaniecki) से ग्रहण किया है। **श्री जैनेनिकी** का विचार है कि समाज में रहने वाले व्यक्ति का अध्ययन सामाजिक कार्यों, सामाजिक संबंधों, समूहों और सामाजिक व्यक्तित्व के संदर्भ में ही हो जाता है।

जैसाकि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि क्रिया के संबंध में श्री पारसंस के उपरोक्त विचार उनकी कृति दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशल ऐक्शन (1937) में देखने को मिलते हैं। इसके बाद सन् 1952 में उनकी दूसरी कृति दी सोशल सिस्टम (The Social System) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में श्री पारसंस ने अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को और भी विस्तृत तथा संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। संक्षेप में, यह सिद्धांत इस प्रकार हैं–

श्री पारसंस के अनुसार समाज मनुष्यों को पारस्परिक संबंधों का वह संपूर्ण क्षेत्र है। जोकि मानवीय क्रियाओं के फलस्वरूप पनपता है। अत: स्पष्ट है कि मानवीय या सामाजिक क्रियाएँ सामाजिक संबंधों या समाज को जन्म देती हैं। परंतु इस 'क्रिया' शब्द से हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या है? सामाजिक क्रिया के अपने सिद्धांत का प्रारंभ श्री पारसंस इसी प्रश्न के उत्तर से करते हैं। आपके अनुसार, 'क्रिया कर्ता-परिस्थिति व्यवस्था (actor-situation system) में वह प्रक्रिया है जिसकी कि अकेले कर्ता (actor) के लिए सामूहिक रूप में उस समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक (motivational) महत्ता होती है।''

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी भी सामाजिक क्रिया के **तीन** आधार हैं–**प्रथम** कर्ता (actor), **द्वितीय** परिस्थिति (situation) और **तृतीय** प्रेरणा (motive)। क्रिया को करने वाला कोई या कुछ व्यक्ति अथवा कर्ता होता है, परंतु इस कर्ता की किसी क्रिया का रूप, स्वरूप या प्रकृति उसकी वास्तविक परिस्थिति पर निर्भर करेगी। फिर भी केवल परिस्थिति ही क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक कर्ता की दृष्टि से उस क्रिया का कोई प्रेरणात्मक महत्त्व न हो। 'प्रेरणात्मक महत्त्व' (Motivational Significance) वह शक्ति है जोकि एक व्यक्ति को एक क्रिया को करने की प्रेरणा प्रदान करती है। कर्ता की वास्तविक परिस्थिति वह 'रंगमंच' है जिस पर कि वह क्रिया घटित होती है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर हमें प्रत्येक क्रिया की एक सामान्य प्रेरक शक्ति का पता चलता है और वह यह कि प्रत्येक क्रिया सदैव ही किसी वांछित वस्तु को प्राप्त करने का इच्छाओं या किसी अवांछित वस्तु से दूर रहने के प्रयत्नों से संबंधित तथा उनसे प्रभावित होती है, चाहे ये इच्छाएँ या प्रयत्न कर्ता-विशेष के व्यक्तित्व की संरचना के अनुसार कैसे ही क्यों न हो। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति एक क्रिया को या तो इसलिए करता है कि वह किसी वस्तु को जिसे कि वह चाहता है, प्राप्त करना चाहता है, या इसलिए करता है कि वह कुछ चीजों से, जिन्हें वह नहीं चाहता, अपने को दूर रखना चाहता है अर्थात् उनसे बचना चाहता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया की शक्ति या प्रेरणा व्यक्ति को अपने ही सावयव (organism) से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में सावयव है क्रिया की प्रक्रिया को उत्पन्न करने वाला 'प्रयत्न' कारक (effort factor) का अंतिम स्रोत (ultimate source) है। अर्थात् सावयव से ही वह 'प्रयत्न शक्ति' उत्पन्न होती है जोकि व्यक्ति को एक विशेष क्रिया करने का बाध्य करती है क्योंकि शरीर ही इच्छाएँ रखता है और उनकी तृप्ति (gratification) चाहता है। इस प्रकार क्रिया की प्रक्रिया शरीर से ही शक्ति लेती है। इतना ही नहीं, कुछ सीमा तक समस्त इच्छाओं की पूर्ति या अपूर्ति का एक सावयवी महत्त्व भी होता है। इच्छाओं की पूर्ति पर व्यक्ति को संतोष और तृप्ति मिलती है और इच्छाओं की पूर्ति न होने पर या किसी वस्तु से वंचित होने पर उसे दुख या कष्ट होता है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि क्रिया के सिद्धांत के लिए प्रेरणा के ठोस

नोट

संगठन (concrete organization of motivation) को केवल सावयव की सावयवी आवश्यकता के संदर्भ में ही विश्लेषित किया जा सकता है। अर्थात् समस्त क्रिया को केवल शारीरिक आवश्यकता के रूप में समझना या व्याख्या करना गलत होगा; क्रिया तत्वों (action elements) का यह संगठन अंतिम रूप में कर्ता या उसकी परिस्थिति के साथ संबंध का एक प्रकार्य (function) है, अर्थात् कर्ता या उसकी परिस्थिति के बीच जो प्रकार्यात्मक संबंध है उसी संदर्भ में क्रिया को समझा जा सकता है। अहम् की आशाएँ (ego's expectations) अर्थात् कर्ता को अपनी आंतरिक आशाएँ भी क्रिया की प्रक्रिया में समान रूप से महत्त्वपूर्ण होती हैं। इन क्रियाओं का संबंध एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति से संबंधों सामाजिक परिस्थितियों और उनकी संस्कृति से भी होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि व्यक्ति या कर्ता न तो शून्य (vacuum) में रहता है और न ही शून्य में क्रिया करता है, वह दूसरों के साथ संबंधित रहकर सामाजिक परिस्थिति में एवं अपनी संस्कृति से घिरे रहते हुए विकास करता है तथा उन्हीं के अनुसार उनके द्वारा प्रभावित होते हुए क्रिया करता है। वास्तव में व्यक्ति की इच्छा, अभिलाषा या आशा उसके सामाजिक संबंधों, सामाजिक परिस्थितियों और संस्कृति से संबंधित तथा उनसे प्रभावित होती है और इनमें परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। अत: स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया का संबंध कर्ता के सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक परिस्थितियों और संस्कृति से होता है।

टास्क पारसंस के सिद्धांत पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

इस प्रकार **श्री पारसंस** के मतानुसार सामाजिक क्रिया-व्यवस्था के तीन पक्ष या आधार होते हैं– 1. व्यक्तित्व, 2. संस्कृति तथा 3. समाज-व्यवस्था।

1. क्रिया के व्यक्तित्व से संबंधित आधार की जो विवेचना हम पहले कर चुके हैं–इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाएँ, भावनाएँ तथा आशाएँ उसके व्यक्तित्व की संरचना के अनुसार होती हैं। व्यक्तित्व इच्छाओं को जन्म देता है और उनकी तृप्त या पूर्ति चाहता है और सामाजिक क्रिया इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से किये गये प्रयत्नों का ही फल होता है।
2. परंतु जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, ये सामाजिक क्रियाएँ शून्य (vacuum) में घटित नहीं होती हैं। व्यक्ति अपनी समस्त क्रियाओं को एक सांस्कृतिक व्यवस्था (cultural system) के अंतर्गत रहकर तथा उस अवस्था से प्रभावित होते हुए ही करता है। परंतु यह सांस्कृतिक व्यवस्था क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री पारसंस ने लिखा है कि प्रत्येक क्रिया की अपनी कुछ परिस्थितियाँ होती हैं; इन परिस्थितियों का व्यक्ति अपनी आशाओं के अनुसार कुछ विशिष्ट 'अर्थ' लगाता है। ये अर्थ (meaning) अधिक स्पष्ट होकर 'चिह्न' (signs) या प्रतीकों (symbols) में विकसित हो जाते हैं। सामाजिक अंत:क्रियाओं के दौरान ये 'चिह्न' और 'प्रतीक' और भी विकसित, स्पष्ट तथा जनता द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं और उन्हें (इन चिह्नों और प्रतीकों को) कुछ सामान्य अर्थ (common meanings) प्राप्त हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे कर्ताओं के बीच आदान-प्रदान के साधन के रूप में काम में आते हैं। जब प्रतीकात्मक व्यवस्थाएँ (symbolic systems), जो कि आदान-प्रदान के साधन बन सकती हैं विकसित हो जाती हैं तो उसे 'संस्कृति' का आरंभ कहा जा सकता है जोकि संबंधित कर्ताओं की कार्य-व्यवस्थाओं का अंग बन जाता है। दूसरे शब्दों में, जब ये सब चिह्न और प्रतीक एक अवस्था में संयोजित हो जाते हैं तब हम उसे 'सांस्कृतिक व्यवस्था' (Cultural System) कहते हैं। यह सांस्कृतिक व्यवस्था व्यक्ति की क्रिया को आधार तथा अर्थ प्रदान करती हैं।
3. सामाजिक क्रिया का तीसरा आधार या तत्व सामाजिक व्यवस्था है। सामाजिक व्यवस्था तब उत्पन्न होती है जबकि सामान्य अर्थों वाले सांस्कृतिक प्रतीकों की एक व्यवस्था या परिस्थिति (situation) के अंतर्गत अनेक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की अधिकतम या आदर्श प्राप्ति के लिए परस्पर सामाजिक अंत:क्रिया में लगे होते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक व्यवस्था का निर्माण एक परिस्थिति में परस्पर अंत:क्रिया करते हुए

नोट

एकाधिक व्यक्तियों द्वारा होता है। इस प्रकार की परिस्थिति का कम-से-कम भौतिक या पर्यावरण-संबंधी (environmental) पहलू होता है और कर्ताओं का उद्देश्य अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं की आदर्श पूर्ति होता है और साथ ही इन अंत:क्रिया में लगे हुए व्यक्तियों का पारस्परिक तथा उनकी परिस्थितियों के साथ संबंध सांस्कृतिक रूप में संचरित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा परिभाषित एवं मध्यस्थित (mediated) होता है। इस प्रकार, अति संक्षेप में, सामाजिक व्यवस्था एक परिस्थिति-विशेष में अपनी इच्छाओं की आदर्श पूर्ति करने के उद्देश्य में लगे हुए व्यक्तियों की उन अंत:क्रियाओं और अंत:संबंधों का प्रतिफल है जोकि एक सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा संयोजित, परिभाषित तथा संगठित होते हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था संपूर्ण क्रिया-व्यवस्था का केवल एक ही भाग है। यह (1) सामाजिक व्यवस्था तथा क्रिया करने वाले लोगों के (2) व्यक्तित्व की संरचना और (3) सांस्कृतिक व्यवस्था–ये तीनों मिलकर सामाजिक क्रिया की ठोस व्यवस्था का निर्माण करते हैं। सामाजिक क्रिया-व्यवस्था की इन तीनों व्यवस्थाओं–अर्थात् व्यक्तित्व संबंधी, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था–में से प्रत्येक की विवेचना क्रिया-व्यवस्था के तत्वों के संगठन के एक स्वतंत्र अंग के रूप में करनी चाहिए और वह इस अर्थ में कि इनमें से किसी को भी सैद्धांतिक तौर पर एक या अन्य दो में मिलाकर उनकी संख्या घटाई नहीं जा सकती। साथ ही उनमें से प्रत्येक अन्य दूसरे के लिए इस अर्थ में अपरिहार्य (indispensable) है कि व्यक्तित्व और संस्कृति और संस्कृति के बिना समाज-व्यवस्था का निर्माण कदापि नहीं हो सकता। यही बात अन्य दो के बारे में भी सत्य है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. वेबर ने अपनी सामाजिक क्रिया की अवधारणा में प्रातीतिक अर्थ तथा दूसरे व्यक्तियों के प्रभाव पर अत्यधिक बल दिया है।
8. क्रिया व्यवस्था में दूसरा तत्व साधन और साध्य या लक्ष्य है।
9. सामाजिक क्रिया की शक्ति या प्रेरणा व्यक्ति को दूसरे सावयवों से प्राप्त होती है।
10. पारसंस के अनुसार सामाजिक क्रिया व्यवस्था के तीन पक्ष या आधार होते हैं–

    1. व्यक्तित्व 2. संस्कृति तथा 3. समाज-व्यवस्था।

25.3 सारांश (Summary)

श्री दुर्खीम ने सामाजिक क्रियाओं को सामाजिक तथ्यों (social facts) पर ही आधारित माना है। व्यक्ति के लिए ऐसी क्रियाओं को रोकने या प्रेरित करने के कारक के रूप में सामूहिक प्रतिनिधानों का कितना महत्त्व है इस बात को प्रमाणित करने का अथक प्रयत्न श्री दुर्खीम ने किया है जो कि उनके सिद्धांत की एक दुर्बलता बनकर रह जाती है। **श्री पारसंस** के अनुसार समाज मनुष्यों को पारस्परिक संबंधों का वह संपूर्ण क्षेत्र है। जोकि मानवीय क्रियाओं के फलस्वरूप पनपता है। अत: स्पष्ट है कि मानवीय या सामाजिक क्रियाएँ सामाजिक संबंधों या समाज को जन्म देती हैं। परंतु इस 'क्रिया' शब्द से हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या है? सामाजिक क्रिया के अपने सिद्धांत का प्रारंभ श्री पारसंस इसी प्रश्न के उत्तर से करते हैं। आपके अनुसार, 'क्रिया कर्ता-परिस्थिति व्यवस्था (actor-situation system) में वह प्रक्रिया है जिसकी कि अकेले कर्ता (actor) के लिए सामूहिक रूप में उस समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक (motivational) महत्ता होती है।''

25.4 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. **सामाजिक घटनाएँ** (Social Phenomena) : समाज में होने वाली घटनाएँ
2. **आत्महत्या** (Suicide) : स्वयं की हत्या

25.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. दुर्खीम के सिद्धांत का सार तत्व बताइए।
2. दुर्खीम के अनुसार व्यक्ति आत्महत्या क्यों करता है?
3. पारसंस के सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
4. 'क्रिया–व्यवस्था का चौथा या अंतिम प्रयत्न है' को सिद्ध कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. सामाजिक तथ्य	2. व्यक्ति वैषयिक	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–26 : स्त्री शिक्षा (Women Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
26.1 लिंग समानता का आशय (Meaning of Gender Equality)
26.2 स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Women Education)
26.3 ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास (Development of Women Education in British Period)
26.4 स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा (Women Education After Independence)
26.5 स्त्री-शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण (Administration and Control of Women Education)
26.6 स्त्री शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum of Women Education)
26.7 सारांश (Summary)
26.8 शब्दकोश (Keywords)
26.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
26.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लिंग समानता का आशय जानने हेतु।
- ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास जानने हेतु।
- स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा का अध्ययन करने हेतु।
- स्त्री शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

''महिला सशक्तिकरण के आंदोलन ने भारत में लिंगीय समानता की माँग को मुखर कर दिया है। जिसकी पूर्ति करना अब अपरिहार्य हो गया है।''

भारतीय स्त्री ने विविध क्षेत्रों में मार्गदर्शन और नेतृत्व किया है। **लक्ष्मीबाई** (झाँसी की रानी), **सरोजिनी नायडू, ऐनी बेसेंट, कमला नेहरू, कस्तूरबा गाँधी, इंदिरा गाँधी** जैसी विदुषी महिलाओं ने युद्ध-कौशल, सामाजिक सुधार, राजनैतिक सुधार और आर्थिक नियोजन में भारी योग दिया है।

नोट

26.1 लिंग समानता का आशय (Meaning of Gender Equality)

शैक्षिक अवसरों की समानता में लिंग की समानता भी आवश्यक है। पुरुषों के समान स्त्रियों की शिक्षा भी आवश्यक है, किंतु अनेक देशों में लिंग (Gender) के आधार पर असमानता पाई जाती है। बालिका को हम समाज में वह दर्जा नहीं दे पाते, जो बालक को देते हैं। प्रत्येक दम्पति की लालसा पुत्र प्राप्त करने की होती है। भ्रूण परीक्षण द्वारा कुछ लोग पहले ही आश्वस्त हो जाते हैं। कुछ लोग जन्म के बाद बालक-बालिका में भेद करते हैं। ये उनके लालन-पालन में भेद रखते हैं। उनकी शिक्षा में भी विषमता दृष्टिगोचर होती है, समाज का एक वर्ग बालिका को पढ़ाना ही नहीं चाहता। अगर पढ़ने भेज देता है तो बीच में ही पढ़ाई रोक देता है।

नोट्स गोपालकृष्ण गोखले पहले नेता थे, जिन्होंने ब्रिटिश संसद में भारतीय नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की माँग की थी।

26.2. स्त्री-शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Women Education)

1. **स्त्रीयोजित एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास**–स्वतंत्र भारत में स्त्री जाति का अबला से सबला बनाने के लिए उनके शारीरिक बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विकास करने के लिए उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था की गई। स्त्रियोजित खेल-कूद, व्यायाम, आसनों की व्यवस्था विविध बौद्धिक और मानसिक शक्तियों का विकास करने के विषयों का शिक्षण दिया जाता है। चूँकि उपर्युक्त शिक्षा का प्रबंध एकमात्र महिला विद्यालयों में ही संभव है, इसलिए इनका विकास और प्रसार किया जा रहा है।
2. **स्त्रीत्व को बनाए रखने की दीक्षा, शिक्षा और वातावरण की व्यवस्था**–स्त्री का स्त्रीत्व उसकी लज्जाशीलता, कौमार्य और विनम्रता परंतु निर्भीकता में सन्निहित होता है। यह सब तभी संभव है, जब उन्हें स्त्रियोजित कर्तव्यों से परिचित कराया जाए। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। वह माता (जननी) है, पत्नी है, बहिन है, पुत्री है। उनके अपने-अपने स्थान पर क्या कर्तव्य हैं, क्या अधिकार हैं, उन्हें समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए। उन्हें इन बातों का ज्ञान कराना आवश्यक है।
3. **योग्य मातृ, गृहिणी, पत्नी और कार्यकर्ता बनाना**–भारतीय संस्कृति में माता बालक की सबसे पहली आचार्य (गुरु) होती है। वह बालक के संस्कारों को निर्धारित करती है और समुचित वातावरण, सीख, लालन-पालन और स्नेह देकर उसका सामाजिक तथा मानवीय विकास करती है। गृहस्थ जीवन में स्त्री माता, गृहिणी तथा पत्नी-तीनों के रूप में कर्तव्य पालन करती है। उनकी शिक्षा व्यवस्था ऐसी ही हो कि स्त्रियाँ कुशल माता, गृहिणी, पत्नी और सहयोगी बन सकें।
4. **धार्मिकता, नैतिकता, चरित्र-निर्माण और शांति-स्थापना का स्त्रोत बनाना**–धार्मिक भावनाओं का प्रसार करके स्त्री बालकों का नैतिक आचरण सुधारती है। वह दया की देवी है, क्षमा-शीलता उसका धर्म है वह सहिष्णु, उदार और सहकारी है। स्त्री बालकों में योग्य नागरिक के इन गुणों की स्थापना करती है। शिक्षा द्वारा स्त्री का धार्मिक नैतिक और चारित्रिक मार्ग-दर्शन करना आवश्यक है।
5. **संस्कृति प्रसार का स्त्रोत बनाना**–समाज में विविध सांस्कृतिक परंपराएँ, स्त्रियों द्वारा ही संस्थापित होती हैं। ये उनकी रक्षक, पोषक और प्रसारक हैं। वे परिवार से लेकर समाज के क्षेत्र में अपने व्यवहारों द्वारा संस्कृति का विकास करने में योग देती हैं। वस्त्र-विन्यास, रहन-सहन, धार्मिक प्रथाएँ, रीति-रिवाज, सामाजिक मान्यताएँ, मातृभाषा-विकास पारिवारिक शिक्षा द्वारा समाजीकरण के आदर्श प्रस्तुत करके वे ही पुरुष वर्ग का मार्गदर्शन करती हैं। इसलिए स्त्री-शिक्षा में भारतीय संस्कृति का समन्वय करना चाहिए, जिससे वह उस संस्कृति का प्रसार करने का उत्तरदायित्व निर्वाह कर सके।

नोट

6. **व्यावसायिक, जीविकोपार्जन एवं कला में दक्षता**–यदि किसी परिवार के कर्तव्यों के निर्वाह की पूर्ति करने के उपरांत स्त्री के पास अवकाश का समय बचता है तो वह उसका सदुपयोग व्यावसायिक एवं जीविकोपार्जन के कार्यों द्वारा कर सकती है। इस प्रकार स्त्री परिवार की आर्थिक स्थिति में भारी योगदान दे सकती है। जब किसी परिवार का मुखिया नहीं रहता तो परिवार के लालन-पालन का भार स्त्री पर ही आ जाता है। अस्तु, स्त्री जाति को सशक्त बनाना चाहिए और शिक्षा-क्रम में उपयोगी पाठ्यक्रम सँजोना चाहिए।
7. **प्रजातंत्र की सुरक्षा और गणतंत्र में विश्वास रखने की भावना का प्रसार**–बालक के प्रशिक्षण एवं शिक्षण की सबसे पहली सीढ़ी परिवार है। माता-पिता और परिवार के लोग बालक को नागरिकता की शिक्षा देते हैं। यदि स्त्री प्रजातंत्र की प्रणालियों से परिचित है तो वह अपने घर का वातावरण भी प्रजातंत्रतात्मक बना सकती है। ऐसे वातावरण में पलने वाले बालक प्रजातंत्र में आस्था रखने वाले और उसमें योग देने वाले बन सकेंगे। इसलिए स्त्री-शिक्षा-पाठ्यक्रम में नागरिकता की शिक्षा और प्रजातंत्र के सिद्धांतों की जानकारी का समावेश करना चाहिए।
8. **नेतृत्व और उत्तरदायित्व की क्षमता का विकास**–भारतीय स्त्री ने विविध क्षेत्रों में मार्गदर्शन और नेतृत्व किया है। **लक्ष्मीबाई** (झाँसी की रानी), **सरोजिनी नायडू, ऐनी बेसेंट, कमला नेहरू, कस्तूरबा गाँधी, इंदिरा गाँधी** जैसी विदुषी महिलाओं ने युद्ध-कौशल, सामाजिक सुधार, राजनैतिक सुधार और आर्थिक नियोजन में भारी योग दिया है। आज भी भारत को ऐसी नेताओं की आवश्यकता है। इसलिए आधुनिक से छात्राओं को पुरुषों के समान विकास की सुविधाएँ और अवसर देकर प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व का शिक्षण देना चाहिए, जिससे वे योग्य चिकित्सक, योग्य अभियंता, योग्य अध्यापक और समाज सुधारक बनकर राष्ट्र की सेवा कर सके।

क्या आप जानते हैं भारतीय संस्कृति में माता बालक की सबसे पहली आचार्य (गुरु) होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शैक्षिक अवसरों की समानता में ..... आवश्यक है।
2. समाज में विविध सांस्कृतिक परंपराएँ स्त्रियों द्वारा ही ..... होती हैं।

26.3 ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा का विकास (Development of Women Education in British Period)

1. स्वतंत्रता पूर्व में सर्वप्रथम **''बुड के घोषणा पत्र''** में यह संस्तुति की गयी थी कि स्त्री शिक्षा के लिए, उदारतापूर्वक सहायता अनुदान देकर प्रोत्साहित किया जाए। आदेश पत्र में उन व्यक्तियों की सराहना की गई, जिन्होंने स्त्री शिक्षा की प्रोत्साहित करने के लिए धन दिया था। भारत में स्त्री-शिक्षा के लिए सरकार से पूर्ण सहायता प्राप्त होनी चाहिए। फलस्वरूप, नवनिर्मित शिक्षा विभागों ने अनेक स्थानों पर बालिकाओं के लिए प्राथमिक शिक्षा की ओर समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की सिफारिश की। इस प्रकार कंपनी द्वारा अपेक्षित स्त्री-शिक्षा में प्रगति आरंभ हुई।
2. 1882 में स्त्रियों के लिए सभी प्रकार के विद्यालयों की संख्या 2,697 थी, जिनमें 1,27,666 छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। जहाँ तक बालिकाओं की प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न है 1882 में 1,27,666 शिक्षा प्राप्त करने वाली कुल बालिकाओं में से 1,24,491 बालिकाएँ प्राथमिक पाठशालाओं में पढ़ रही थीं। इस समय

नोट

तक भारतीय स्त्रियों के लिए प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव कर चुके थे, परंतु वे माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के पक्ष में नहीं थे।

3. इस काल की एक विशेषता यह थी कि स्त्रियाँ प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापिकाओं का कार्य करने के लिए शिक्षा ले रही थीं। 1882 में छात्राध्यापिकाओं की संख्या 515 थीं। प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना की ओर सर्वप्रथम मिशनरियों ने ध्यान दिया। इनका निर्माण करने में मिशनरियों के दो उद्देश्य थे–

   (*i*) मिशन बालिका विद्यालयों के लिए अध्यापिकाओं को शिक्षित करना।

   (*ii*) धर्म परिवर्तित ईसाई स्त्रियों को अध्यापिकाएँ बनाकर उनके जीविकोपार्जन की समस्या को हल करना।

   मिशन प्रशिक्षण विद्यालय लोकप्रिय न बन सके। संभ्रात व्यक्ति अपनी लड़कियों को वहाँ नहीं भेजना चाहते थे, क्योंकि वहाँ बाइबिल पढ़ना अनिवार्य था। मिशन प्रशिक्षण विद्यालयों के अतिरिक्त देश में भारतीयों या सरकार द्वारा संचालित एक भी विद्यालय नहीं था। भारतीयों के द्वारा इस दिशा में कार्य न किए जाने का कारण यह था कि भारतीय समाज में ऐसी सुशिक्षित महिलाओं का अभाव था, जो प्रधान अध्यापिकाओं के रूप में कार्य कर सकें। 1854 में घोषणा-पत्र में अध्यापिकाओं की दीक्षा के लिए आदेश दिए जाने पर भी सरकार ने इस ओर कोई कदम नहीं उठाया था।

4. **हंटर शिक्षा आयोग (1882)** ने नारी शिक्षा को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटाने की बात कही। लड़कियों के लिए कन्या नार्मल स्कूल खोलने, उनकी संख्या बढ़ाने को, पाठ्यक्रम को सरल और उपयोगी बनाने पर बल देकर आयोग ने स्त्री-शिक्षा के लिए निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ करने का सुझाव दिया। इस आयोग की संस्तुति के आधार पर सरकार ने स्त्री शिक्षालयों को अनुदान देना प्रारंभ किया। सन् 1892 तक 5628 प्राथमिक विद्यालय हो गए, जिनमें 4,47,470 छात्राओं के लिए शिक्षा व्यवस्था हो चुकी थी।

5. सन् 1901 में मिशनरियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर आर्य समाज ने शिक्षा के विकास की दृष्टि से बालिका शिक्षा के लिए शिक्षालयों की स्थापना आवश्यक समझी। प्रमुख केंद्रों एवं नगरों में अनेक कन्या पाठशालाएँ स्थापित की गयीं। राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होकर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वावधान में हरिद्वार और वृंदावन में लड़कों के गुरुकुलों के साथ-साथ कन्या गुरुकुल भी खोले गए। इसी समय 1901 में **रवीन्द्रनाथ टैगोर** ने शांति निकेतन में स्त्री-शिक्षा विभाग की स्थापना की थी। सन् 1904 में श्रीमती ऐनी बेसेंट ने बनारस में सेंट्रल हिंदू बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् 1882 से 1902 तक बालिका शिक्षा की प्रगति निरंतर होती रही। इस अवधि में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति हुई। 1882 में अध्ययन करने वाली बालिकाओं की संख्या 1,24,491 थी। 1902 में यह 3,48,410 हो गयी। प्राथमिक विद्यालयों में बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में अंतर कर दिया गया। छात्राओं को गणित, भूगोल और इतिहास के स्थान पर संगीत, चित्रकला और सिलाई, कढ़ाई की शिक्षा दी जाने लगी। विशेष रूप से हिंदू इसकी उपयोगिता समझने लगे। पंडित ईश्वर चंद्र विद्यासागर और आगरकर जैसे उत्साही समाज सुधारकों ने कन्या विद्यालयों के निर्माण के लिए जनता से धन एकत्र करने में अथक प्रयास किए और देश के विभिन्न भागों में बालिका विद्यालयों की स्थापना करके शिक्षा प्रसार में सराहनीय योगदान दिया।

6. गोपाल कृष्ण गोखले पहले नेता थे, जिन्होंने ब्रिटिश संसद में भारतीय नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की माँग की। उनकी दूरदर्शिता के कारण **गोखले विधेयक** (1911) प्रस्तावित हुआ। सामाजिक कुरीतियों, प्रथाओं एवं पर्दा प्रथा के कारण अनिवार्य शिक्षा को अपनाना, कठिन था, फिर भी उन्होंने सरकार का सुझाया कि वह 6 से लेकर 10 वर्ष तक (चार वर्ष) के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दे। पहले बालकों के लिए और बाद में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाये। यह विधेयक पास नहीं हो सका और शिक्षा अनिवार्यता ग्रहण न कर सकी। सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के कारण शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध हो गयी। गोखले विधेयक की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं–

नोट

(*i*) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम को उन स्थानीय बोर्डों के क्षेत्रों में लागू किया जाये, जहाँ के बच्चों का एक निश्चित प्रतिशत प्रारंभिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहा हो।

(*ii*) स्थानीय बोर्ड सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके इस अधिनियम को लागू कर सकते हैं।

(*iii*) प्राथमिक शिक्षा के व्यय के लिए स्थानीय बोर्ड शिक्षा कर लगा सकते हैं।

(*iv*) अभिभावकों के लिए 6 से 10 वर्ष तक की आयु के बालकों को प्राथमिक विद्यालयों में भेजना अनिवार्य हो। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करें तो उन्हें दंड दिया जाये।

(*v*) कालांतर में बालिकाओं के लिए भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाये।

(*vi*) जिस अभिभावक की आय 10 रुपये मासिक से कम हो, उससे शिक्षा शुल्क न लिया जाये।

(*vii*) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का व्यय भार स्थानीय बोर्डों और सरकार द्वारा वहन किया जाये, सरकार संपूर्ण व्यय का 2/3 भाग दें।

इसको प्रस्तुत करते हुए गोखले ने अति विनम्र भाव से गवर्नर जनरल को संबोधित करते हुए कहा–श्रीमान जी, सारांश में विधेयक यह है, **''अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का श्रीगणेश करने का यह लघु एवं तुच्छ प्रयास है।''**

विधेयक को जनमत संग्रह के लिए स्थानीय सरकारों, विश्वविद्यालयों एवं कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं के पास भेज गया। 17 मार्च, 1912 को सभा में विधेयक पर वाद-विवाद प्रारंभ हुआ, दो दिन के भीषण संघर्ष के पश्चात् 19 मार्च, 1912 को इसे 13 वोटों के विरुद्ध 38 वोटों से गिरा दिया गया।

7. **लार्ड कर्जन** के समय में संपूर्ण भारत में केवल 4,24,000 लड़कियाँ विभिन्न प्रकार के स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। इसमें से लगे भाग 1/3 एंग्लो इंडियन और भारतीय ईसाई थे। कर्जन ने स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने का निश्चय किया, परंतु भारतीयों की रूढ़िवादिता पर्दा प्रथा और बालविवाह प्रथा आदि कठिनाइयाँ सामने आईं। बालिकाओं के लिए कुछ आदर्श विद्यालयों की स्थापना की गई और उनमें सुयोग्य अध्यापिकाओं की नियुक्ति करके स्त्री शिक्षा को विस्तृत करने का मार्ग अपनाया गया।

8. शिक्षा नीति संबधी सरकारी प्रस्ताव में स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया। इसमें स्वीकार किया गया कि भारतीयों की सामाजिक प्रथाएँ स्त्रियों की शिक्षा में अवरोध डालती हैं। समाज के इन बंधनों को तिरस्कृत करके स्त्री शिक्षा का प्रसार किया जाना संभव नहीं हैं। प्रांतीय सरकारों को लिखा गया कि वे स्थानीय सामाजिक परिस्थितियों को अपने दृष्टिकोण में रखकर स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी योजनाएँ भेजें। इसके साथ ही सरकारी प्रस्ताव में स्त्री शिक्षा के विकास के लिए निम्नलिखित सामान्य सिद्धांत निर्धारित किए गये–

   (*i*) बालिकाओं को जीवनोपयोगी शिक्षा दी जाए और वह ऐसी हो, जिससे वे सामाजिक जीवन में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकें।

   (*ii*) बालिकाओं को बालकों से भिन्न शिक्षा दी जाये और इनमें परीक्षाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया जाए।

   (*iii*) बालिकाओं की शिक्षा में स्वास्थ्य विज्ञान का विशेष ध्यान दिया जाए और स्थानीय सामाजिक वातावरण को ध्यान में रखा जाए।

   (*iv*) बालिका विद्यालयों में शिक्षण तथा निरीक्षण का कार्य करने के लिए स्त्रियाँ ही नियुक्त की जाएँ।

   सन् 1921 में प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाली बालिकाओं की संख्या 11,98,550 थी, जबकि 1910 में यह संख्या 3,48,510 थी। इस काल में शिक्षण विद्यालयों में दीक्षा लेने वाली छात्राओं की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 1881 में इस प्रकार की छात्राओं की संख्या 515, 1901 में 1,412 और 1921 में 4,391 थी। बंगाल में स्त्री शिक्षा प्रोत्साहित करने के लिए 1907 में स्त्री शिक्षा समिति की स्थापना की गयी।

9. **''हर्टाग समिति** 1927'' ने बालिका शिक्षा संबंधी विविध निम्न संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं–

   (*i*) बालिका विद्यालयों के निरीक्षणार्थ निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए।

नोट

(*ii*) ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक बालिका विद्यालय स्थापित करने चाहिए।

(*iii*) बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान, संगीत, कला, स्वास्थ्य और परिचर्या की शिक्षा व्यवस्था की जानी चाहिए।

10. 1921 से 1937 तक बालिका शिक्षा में व्यक्तिगत एवं सरकारी प्रयासों द्वारा उन्नति हुई। 1929 में अजमेर **''हरविलास शारदा''** द्वारा **'बाल विवाह'** प्रस्तावित विधेयक द्वारा बाल विवाह पर निषेध लगाया गया और **'शारदा अधिनियम 1929'** का निर्माण किया गया। इस नियम से कम आयु की बालिकाओं को शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला। स्त्रियों को मतदान का अधिकार मिला। उपरोक्त सामाजिक एवं राजनैतिक सुधारों से स्त्री जाति में आत्मसम्मान जाग्रत हुआ। इतना ही नहीं स्त्रियों ने 1926 में **'अखिल भारतीय महिला संघ'** का निर्माण किया और 1927 में अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें उन्होंने पुरुषों के अनुरूप विविध प्रकार की शिक्षा की अधिकारिणी होने की माँग का नारा बुलंद किया।

11. 1937 से 1947 तक विशेष रूप से स्त्री शिक्षा में तीव्र प्रगति हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत के विभिन्न सरकारी विभागों एवं व्यापारिक कार्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ी। फलस्वरूप अनेक स्त्रियाँ उनमें कार्य करने लगीं। नौकरी करने से स्त्रियाँ ने जिस आर्थिक स्वतंत्रता आनंद का उपयोग किया, उसमें उन्हें शिक्षा ग्रहण करने की अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। युद्ध काल में महँगाई अधिक हो जाने के कारण मध्यम वर्ग के व्यक्ति आर्थिक संकट में थे। अत: उनमें से जो उदार विचार के थे उन्होंने अपनी स्त्रियों को घर से बाहर जाकर नौकरी करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। इस परिवर्तित दृष्टिकोण ने स्त्री शिक्षा के उन्नयन में अतिशय योग दिया। 1947 में स्त्रियों के लिए सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा के लिए 16,951 संस्थाएँ थीं, जिनमें 3,55,05,503 लड़कियाँ शिक्षा का लाभ उठा रहीं थीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. स्त्री जाति को बनाना चाहिए–

(अ) सशक्त (ब) अशक्त (स) शिक्षित (द) अशिक्षित

4. बालक के प्रशिक्षण एवं शिक्षण की सबसे पहली सीढ़ी है–

(अ) परिवार (ब) प्रणाली (स) माता (द) पिता

5. सन् 1882 में स्त्रियों के लिए सभी प्रकार के विद्यालयों की संख्या थी–

(अ) 3500 (ब) 2697 (स) 3697 (द) 4000

6. शिक्षानीति संबंधी सरकारी प्रस्ताव में ध्यान दिया गया–

(अ) स्त्री शिक्षा की ओर (ब) पुरुष शिक्षा की ओर

(स) महँगाई की ओर (द) इनमें से कोई नहीं

26.4 स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा (Women Education After Independence)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। भारतीय संविधान की धारा 15 के अनुसार, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा। सरकार ने नारी उत्थान के लिए **श्रीमती जयन्ती पटनायक** की अध्यक्षता में नेशनल कमीशन ऑफ वीमेन की स्थापना की। ऐसी आशा की गयी कि स्त्रियों के उत्थान के लिए कमीशन एक अच्छा अस्त्र साबित होगा।

नोट

स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा के संदर्भ में आयोगों एवं समितियों ने निम्न कार्य किए–

1. **राधाकृष्णन कमीशन** (1948-49)–स्त्री शिक्षा पर बल देते हुए कहा कि **''शिक्षित कार्यों के बिना शिक्षित व्यक्ति नहीं हो सकते।''** इस आयोग ने स्त्री शिक्षा के विकासार्थ कुछ सुझाव दिए–
   (*i*) नारी को सुमाता तथा सुगृहणी बनाने की शिक्षा दी जाए।
   (*ii*) स्त्रियों के लिए शिक्षा सुविधाओं का विस्तार किया जाए।
   (*iii*) स्त्रियों को गृह प्रबंध अध्ययन की प्रेरणा और अवसर दिए जाएँ।
   (*iv*) अध्यापिकाओं को समान कार्यों के लिए अन्य अध्यापकों के बराबर वेतन दिया जाए।
   (*v*) ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जाए, जो बालिकाओं को समाज में समान स्थान दिला सके।

   स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने नारी शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक उत्साह का प्रदर्शन किया। नये संविधान का उद्देश्य भारत में एक ऐसे संविधान की संरचना करती है, जो नागरिकों को बिना धर्म, जाति अथवा लिंग भेद के न्याय एवं समानता पर आधारित हो। इसीलिए सरकार द्वारा स्त्री शिक्षा के लिए प्रभावशाली कदम उठाये गये। वर्ष 1949-50 के प्राथमिक स्कूलों में बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत मात्र 28 था।

2. **योजना आयोग–प्रथम पंचवर्षीय योजना**–इस काल में स्त्री शिक्षा के विकास हेतु लक्ष्य निर्धारित किए गये उसके परिणामस्वरूप स्कूल जाने वाली 6-11 वर्ष आयु वर्ग की बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत वर्ष 1955-56 में 40 प्रतिशत तक पहुँच गया जोकि वर्ष 1950-51 में मात्र 3 प्रतिशत था। योजना आयोग द्वारा अत्यंत पिछड़ी बालिकाओं तथा महिलाओं को शिक्षा प्रदान किए जाने की शिक्षा हेतु आवश्यक लक्ष्य निर्धारित किए तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से उन्हें शिक्षित करने हेतु पूरे प्रयास किये गए।

   इस अवधि में बालिका शिक्षा संस्थाओं की संख्या 61 लाख से बढ़कर 81 लाख हो गयी। इस संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि का कारण बालिकाओं का सहशिक्षा में प्रवेश लेना था। केवल बालिकाओं की शिक्षा देने वाली संस्थाओं की संख्या इस अवधि में 16.814 से बढ़कर 18.671 तक पहुँच गयी जबकि अध्ययनरत बालिकाओं की संख्या इस अवधि में क्रमशः 64.7 लाख से 93 लाख तक पहुँच गयी, जोकि लगभग 42.6 प्रतिशत थी।

   वर्ष 1951-1956 योजना काल में स्त्री शिक्षा के विकास हेतु सरकार द्वारा पारित कानूनों का वैवाहिक जीवन में मधुरता तथा समरसता बनाए रखने के लिए 1955 में बना ''हिंदू विवाह अधिनियम 1952 में बना विशेष विवाह अधिनियम मुख्य है, जिसमें अंतर्जातीय विवाह को वैध घोषित किया गया तथा वर व कन्या के विवाह की न्यूनतम आयु 21 व 18 वर्ष निश्चित की गयी। 1954 में यू.जी.सी. बिल संसद में पेश किया गया तो मिस जयश्री तथा **श्री डी. शर्मा** ने महिलाओं भी पुरुषों के समान ही शैक्षिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने पर विशेष जोर दिया। उन्होंने कहा कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी विद्यालयों में प्रवेश, शिक्षकों की भर्ती आदि समस्त पहलुओं पर समान रूप से नामित किया जाना चाहिए।

   द्वितीय पंचवर्षीय योजना–इस काल में स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना काल में महिला शिक्षकों को प्रशिक्षण हेतु विशेष व्यवस्था की गयी, क्योंकि महिला शिक्षा के अभाव में शिक्षा का विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पा रहा था। इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली स्त्रियों के लिए मकान आदि की सुविधाएँ दिए जाने पर विशेष ध्यान दिया गया। बालिकाओं को शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ एवं विभिन्न राज्यों में स्त्रियों को निम्नलिखित अनुदान प्रदान किए जाने की व्यवस्था की गयी–
   (*i*) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला शिक्षकों के लिए निःशुल्क आवासीय व्यवस्था।
   (*ii*) स्कूलों में आयाओं की नियुक्ति हेतु।
   (*iii*) शिक्षण प्रशिक्षण हेतु महिला शिक्षकों को छात्रवृत्ति प्रदान करना।
   (*iv*) रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था।

नोट

इस योजनाकाल में सरकार द्वारा पारित कानून हिंदू माइनॉरिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता अधिनियम) 1956 में बना। इस नियम ने स्त्री शिक्षा के विकास में सहयोग किया।

3. **राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति** (1958)–इसको **दुर्गाबाई देशमुख** समिति के नाम से भी जानते हैं। महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के उद्देश्य से दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में समिति गठित की गयी, जिसका उद्देश्य स्त्री शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के सुझाव देना था। 1959 में समिति ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए–
   (*i*) कुछ वर्षों तक बालिका शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता तथा स्त्रियों के लिए अलग से प्रशासनिक व्यवस्था भी की जानी चाहिए।
   (*ii*) ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री-शिक्षा के विकास हेतु सरलीकृत अनुमोदन किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।
   (*iii*) उपलब्ध, धनराशि का उपयोग बालिकाओं के मिडिल तथा माध्यमिक स्तर के विद्यालय शिक्षक प्रशिक्षण, स्कूलों, छात्रावास तथा महिला अध्यापिकाओं हेतु छात्रावास बनाए जाने के अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए।
   (*iv*) राज्यों में बालिकाओं एवं स्त्री शिक्षा की राज्य परिषदों का निर्माण किया जाए।
   (*v*) बालक तथा बालिका शिक्षा के लिए विषमता को शीघ्र समाप्त किया जाए।
4. **राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986**–इसमें निम्नलिखित उपाय सुझाए गए–
   (*i*) बालिकाओं की शिक्षा के लिए परिवेश का निर्माण करना।
   (*ii*) औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए सुविधाएँ बढ़ाना।
   (*iii*) वर्तमान कार्यक्रम का विस्तार एवं अनेक सहायता कार्यक्रम को प्रारंभ किया जाए, जिससे बालिकाओं का स्तर बढ़ाया जा सके।
   (*iv*) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुपूरक पाठ्यक्रम तैयार करना।
   (*v*) निरक्षर स्त्रियों के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करके निरक्षरता दूर करने के उपाय किए जाएँ, उसे स्वयं सेवी संगठन, संपूर्ण मानव शक्ति का सहयोग लिया जाए।
5. **प्रोफेसर राममूर्ति समिति** (1991)–बालिका शिक्षा पर इसके सुझाव निम्नलिखित हैं–
   (*i*) अध्यापिकाओं की अधिक-से-अधिक नियुक्ति की जाए।
   (*ii*) विद्यालयों में पोषण, स्वास्थ्य एवं बाल विकास का समावेश किया जाए।
   (*iii*) विभिन्न स्तरों पर महिला अनुसंधान केंद्रों की स्थापना की जाए।
   (*iv*) महिला शिक्षा के लिए अलग से धन का प्रावधान किया जाए।
   (*v*) छात्रवृत्तियाँ, मुफ्त पाठ्य पुस्तकों का वितरण एवं अन्य प्रोत्साहन अधिक-से-अधिक दिए जाएँ।
6. **नामांकन** (Enrolment) **में वृद्धि की योजनाएँ**–बालिकाओं के नामांकन में वृद्धि करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा विभिन्न की योजनाएँ लागू की गयीं। वर्ष 1978-79 में 6 से 14 वर्ष के वर्ग के बच्चों में नामांकन न कराने वाली लड़कियों की संख्या 66 प्रतिशत थी।
7. **राष्ट्रीय समिति का गठन** (Organisation of National Committee)–भारत सरकार द्वारा महिलाओं की शिक्षा हेतु गठित राष्ट्रीय समिति ने 1974 में अपनी 13वीं में निम्नलिखित सिफारिशें कीं–
   (*i*) केंद्र द्वारा राज्य सरकारों तथा स्वायत्त सेवा संस्थाओं को अनुदान के रूप में स्त्री शिक्षा विकास हेतु विशेष धनराशि प्रदान की जाए।
   (*ii*) लड़कियों के नामांकन में वृद्धि हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाएँ।

नोट

(*iii*) महिलाओं को शिक्षण-प्रशिक्षण कोर्स के द्वारा प्रदान किया जाए।

(*iv*) स्थानीय महिलाओं को शिक्षक के रूप में कार्य करने हेतु प्रेरित करने का प्रयास किया जाए।

(*v*) ऐसी बालिकाओं के लिए जो बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़ देती हैं, ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए, जिसे वे अनौपचारिक शिक्षा के रूप में ग्रहण कर सकें।

(*vi*) महिला शिक्षकों के लिए शहरों और नगरों में स्टाफ क्वार्ट्स बनाए जाने चाहिए तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

केंद्र सरकार ने पाया कि अधिकांश महिलाएँ अभी भी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से प्रभावित हैं, परंतु स्त्री शिक्षा के लिए बनायी गयी योजनाएँ ठीक प्रकार से लागू न हो पायीं और बालिकाओं के जीवन और शिक्षा में कोई सकारात्मक प्रगति न हो सकी।

8. **भारतीय महिलाओं के शैक्षिक स्तर संबंधी समिति की रिपोर्ट**–18 मई, 1975 को यह रिपोर्ट राज्यसभा के पटल पर रखी गयी। इस पर बोलते हुए तत्कालीन शिक्षा मंत्री **हसन** ने कहा–**''पिछले 28 वर्षों में स्त्रियों की दशा में व्यापक सुधार आया है। उन्हें महिलाओं ने पूरी सुरक्षा के साथ-साथ कई शैक्षिक योजनाओं में भी सहभागी बनाया है तथा मापदंड भी उनकी प्रगति में सहायक हुए हैं।''**

बहस में भाग लेते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री **श्रीमती इंदिरा गाँधी** ने कहा कि, **''किसी भी समाज का स्तर वहाँ की महिलाओं के स्तर से आँका जाता है। महिलाएँ आज भी पुरुष प्रधान समाज में रह रही हैं।''** उन्हें जन्म से लेकर जीवनपर्यंत हर क्षेत्र में इस मानसिक कष्ट से गुजरना पड़ता है, चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो अथवा समाज में रहने की बात। महिलाओं का निम्न स्तर अथवा उन्हें विकास की कम सुविधाएँ उपलब्ध कराना समाज को विकलांग बना देता है। संसद में स्त्रियों की दशा की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हुए राजा देशपांडे ने कहा कि, ''यह वर्ष महिला वर्ष है। मैं जानना चाहूँगी कि सरकार महिलाओं के बारे में सोच रही है। यदि आपका उत्तर यह है कि आप उन्हें पुरुषों के समान ही स्तर प्रदान कर रहे हैं तो मैं आपके प्रति आभारी हूँ। मैंने देखा है कि बहुत से स्थानों पर ऐसे स्कूल, होस्टल हैं, जहाँ बालिकाएँ स्वयं रहकर पढ़-लिख सकती हैं, परंतु यदि गाँवों में हम बालिकाओं की शिक्षा के बारे में देखें तो स्थिति पूर्णत: विपरीत है। वहाँ बालिकाओ को विद्यालय भेजना किसी पर उपकार समझते हैं। हमें यह स्थिति बदलनी होगी। ऐसे में हम विद्यालय तथा छात्रावासों की संख्या को बढ़ाना चाहिए, जहाँ बालिकाओं को सुविधाएँ उपलब्ध हों। विशेष रूप से इस महिला वर्ष में हमें बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।''

9. **राष्ट्रीय महिला आयोग** (National Women Commission)–सन् 1990 में महिला आयोग अधिनियम पारित किया गया। इसमें एक अध्यक्ष, एक सचिव एवं पाँच पूर्ण सदस्य थे। यह आयोग 31 जनवरी, 1992 से प्रभावी हुआ। इस आयोग को निम्न कार्य सौंपे।

(*i*) महिलाओं को कानूनी सुरक्षा प्रदान की गयी है। उन्हें कारगर ढंग से लागू करने के लिए सुझाना।

(*ii*) महिलाओं को प्रभावित करने वाले कानूनों में कमी, अपर्याप्त या त्रुटि पर संशोधन सुझाव देना।

(*iii*) महिलाओं की शिकायतों पर ध्यान देना एवं जहाँ कानूनों का उल्लंघन होता है। को संबंधित अधिकारी तक पहुँचाना।

(*iv*) महिलाओं को आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए योजनाएँ बनाने के लिए प्रक्रिया में भाग लेना।

(*v*) सुधार गृहों, जेलखानों व अन्य स्थानों पर उनके पुनर्वास तथा दशा सुधारने के बारे में सिफारिशें करना।

10. आयोग ने 7-8 अक्टूबर, 1992 को बालिकाओं से बलात्कार विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें घृणित अपराध की घटनाओं की रोक-थाम के उपायों पर विचार किया गया था। मार्च 1993 में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए महिला परिप्रेक्ष्य पर गोष्ठी हुई, जिससे समाचार-पत्रों व मुद्रित सामग्री के बारे में जागरूकता पैदा करना था।

नोट

स्त्री एवं पुरुषों का साक्षरता प्रतिशत

वर्ष	पुरुष	महिलाएँ	कुल (व्यक्ति)
1901	9.8	0.6	5.3
1911	10.6	1.6	5.9
1921	12.2	1.8	7.2
1931	15.6	2.9	9.4
1941	24.9	7.3	16.1
1951	24.9	7.9	16.7
1961	39.9	13.0	24.4
1971	39.5	18.7	29.5
1981	46.9	24.8	36.2
1991	63.86	39.42	52.11
2001	75.8	54.16	65.38

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ 1951 में 7.9 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर थीं। 50 वर्षों पश्चात् 2001 में 54.16 प्रतिशत महिला जनसंख्या ही साक्षर हो सकीं अर्थात् आधी स्त्रियाँ अभी तक निरक्षर हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. भारतीय संविधान के अनुच्छेद में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा।
8. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।
9. श्रीमती इंदिरा गाँधी के अनुसार, किसी भी समाज का स्तर वहाँ की महिलाओं के स्तर से आंका जाता है।
10. सन् 1990 में महिला आयोग अधिनियम पारित किया गया था।

26.5 स्त्री शिक्षा का प्रशासन और नियंत्रण (Administration and Control of Women Education)

भारत में शिक्षा राज्यों के उत्तरदायित्व का विषय है। इसका विकास राज्यों को ही करना होता है। केंद्रीय सरकार राज्यों को प्रतिवर्ष विकासात्मक अनुदान देती है। इस प्रकार प्राथमिक स्तर से उच्च शिक्षा स्तर तक स्त्री-शिक्षा के सभी विद्यालय चार प्रशासकों के नियंत्रण में हैं–

(*i*) केंद्रीय सरकार के प्रशासन,

(*ii*) राज्य सरकार के प्रशासन,

(*iii*) स्थानीय परिषदों के प्रशासन,

(*iv*) व्यक्तिगत अथवा सामाजिक प्रशासन।

केंद्रीय सरकार स्त्री-शिक्षा की कोई पृथक् व्यवस्था नहीं करती। वह इस शिक्षा को भी शिक्षा के माध्यम से सामान्य शिक्षा की भाँति व्यवस्थित करती है, परंतु राष्ट्रीय महिला शिक्षा परिषद् पर वह विशिष्ट आयोग या समिति

नोट

नियुक्त करके उसकी स्थिति का सर्वेक्षण करा लेती है। स्त्री-शिक्षा के विकास की संस्तुतियाँ स्वीकार करके एक राष्ट्रव्यापी नीति बना लेती है, जो राज्य सरकारों को दे दी जाती है। राज्य सरकारें उस नीति का पालन करके स्त्री-शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करती हैं।

राज्य सरकारें प्रदेश में शिक्षा विभाग की सहायता से सभी स्तरों की शिक्षा की व्यवस्था, प्रशासन नियंत्रण करती हैं। प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा का संचालन शिक्षा विभाग (प्रांतीय) करता है। शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रदेश के शिक्षा विभाग में महिला शिक्षा निदेशक उत्तरदायी होती है। महिलाएँ शिक्षा निदेशक अपनी सहायतार्थ मंडल की सीमा निर्धारित करके 'विद्यालयों की निरीक्षिका' की नियुक्ति कराती है। एक मंडल के सभी कन्या विद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था शासनिक तथा आर्थिक उत्तरदायित्व उपरोक्त निरीक्षक के माध्यम से संपन्न होता है। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा माध्यमिक स्तर तक दोहरे शासन में रहती है। प्रशासनिक तथा नियंत्रण की दृष्टि से हो सकती है। संस्थाओं में पुरुष छात्र विद्यालयों के समान जिला विद्यालय निरीक्षक के आदेशों का पालन करता है; तथा दूसरी ओर आर्थिक और व्यवस्थापक नियंत्रण की दृष्टि से उन्हें जिले की सह-निरीक्षक के आदेश का भी पालन करना पड़ता है। इससे स्त्री-शिक्षा के विकास में दोहरी बाधा उत्पन्न होती है।

1958 ई. में केंद्रीय सरकार ने 'राष्ट्रीय नारी समिति' की नियुक्ति की थी और सुझावानुसार 1959 ई. में 'राष्ट्रीय स्त्री शिक्षा परिषद्' का गठन तथ नियुक्ति की गयी। इसमें ने सुझाव दिया था कि केंद्रीय-शिक्षा मंत्रालय में एक पृथक् स्त्री-शिक्षा विभाग खुले जो कि विकास की योजना और कार्यक्रम और नीति निर्धारित करे। इसी प्रकार राज्यों में भी शिक्षा के अंतर्गत स्त्री-शिक्षा उपविभाग स्थापित किया जाए और संयुक्त शिक्षा निदेशकों की नियुक्ति की जाए। एक 'स्त्री-शिक्षा परामर्शदात्री समिति' बनाकर राज्य भर के लिए एक स्त्री-शिक्षा की नीति होनी चाहिए। यह योजना केंद्रीय सरकार के विचाराधीन है।

टास्क स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

26.6 स्त्री-शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum of Women Education)

वास्तव में, स्त्री-शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्त्रियों को योग्य गृहणी, योग्य माता बनाना ही है। इसके अतिरिक्त वे भारत के सामान्य नागरिकों की भाँति पुरुषों के समान अपने अधिकारों का निर्वाह कर सकती हैं। भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं।

सभी शिक्षा आयोगों ने अपनी संस्तुतियों में कहा है कि स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान पाठ्यक्रम तथा पृथक् विशिष्ट पाठ्यक्रम निर्धारित करना चाहिए। इस विशिष्ट पाठ्यक्रम में गृह-अर्थशास्त्र और गृह प्रबंध जैसे विषय, ललित कलाएँ, संगीत, चित्रकला और नृत्य आदि होने चाहिए।

कोठारी आयोग ने सुझाव दिया है कि स्त्रियों को स्त्रियोजित पाठ्यक्रम अवश्य मिलने चाहिए परंतु वे इस बात में स्वतंत्र होनी चाहिए कि वे किस पाठ्यक्रम का चयन करती हैं। उन पर गृह-प्रबंध और गृह-अर्थशास्त्र लादा नहीं जाना चाहिए। हाईस्कूल स्तर तक गृह-विज्ञान संबंध के माध्यम से गृह-व्यवस्था जानना आवश्यक है। इस स्तर तक इन विषयों को अनिवार्य कर सकता है।

उच्च माध्यमिक स्तर तथा उच्च शिक्षा स्तर पर उन महिलाओं के लिए घर पर व्यवस्था होनी चाहिए, जो नियमित रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसके लिए 'पत्र व्यवस्था' तथा 'सेवा कालीन' शिक्षा व्यवस्था उपयुक्त रहेगी। महिलाओं को व्यक्तिगत रूप से बैठने की व्यवस्था की जानी चाहिए। पुरुषों के पाठ्यक्रम ग्रहण करके महिलाएँ भी कुछ कुशल चिकित्सक, योग्य अभियंता, नेता और समाज सुधारक बन सकती हैं। अत: उन्हें प्रत्येक कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

नोट

26.7 सारांश (Summary)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा। भारतीय संविधान की धारा 15 के अनुसार, राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा। सरकार ने नारी उत्थान के लिए **श्रीमती जयन्ती पटनायक** की अध्यक्षता में नेशनल कमीशन ऑफ वीमेन की स्थापना की। ऐसी आशा की गयी कि स्त्रियों के उत्थान के लिए कमीशन एक अच्छा अस्त्र साबित होगा।

26.8 शब्दकोश (Keywords)

1. **शिक्षा का विकास** (Development of Education) : शिक्षा का फैलाव
2. **समानता** (Equality) : समान होने का भाव

26.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. लिंग समानता से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।
2. ब्रिटिश युग में स्त्री शिक्षा के विकास पर टिप्पणी कीजिए।
3. स्वतंत्रता के पश्चात् स्त्री शिक्षा का विवरण दीजिए।
4. स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. लिंग की समानता	2. संस्थापित	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

26.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–27 : वैश्वीकरण–अवधारणा एवं समसामयिक परिस्थिति में इसकी प्रासंगिकता (Globalization : Concept and its Relevance in Contemporary Situation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
27.1 आर्थिक वैश्वीकरण (Economic Globalization)
27.2 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalization)
27.3 राष्ट्रवाद बनाम वैश्विकवाद (Nationalism Versus Globalization)
27.4 संचार क्रांति और वैश्वीकरण (Communication Revolution & Globalization)
27.5 वैश्वीकरण का वाहक : मध्यम वर्ग (Middle class : Carrier of Globalization)
27.6 सारांश (Summary)
27.7 शब्दकोश (Keywords)
27.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्थिक वैश्वीकरण के बारे में जानने हेतु।
- वैश्वीकरण के प्रभाव को जानने हेतु।
- संचार क्रांति और वैश्वीकरण जानने हेतु।
- सांस्कृतिक बहुलवाद जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

वैश्वीकरण आज की एक सच्चाई है। इस प्रक्रिया द्वारा मानव-जीवन के सभी पक्ष प्रभावित हो रहे हैं। इस प्रक्रिया द्वारा धर्म, संस्कृति और राष्ट्र को चुनौती मिल रही है। आज की उदीयमान वैश्विक व्यवस्था ने धर्म, संस्कृति और राष्ट्र को पुनर्गठित करने हेतु सोचने पर विवश कर दिया है। समाजों और समुदायों की आर्थिक गतिविधियों और शक्ति के संबंधों को भी पुनर्संयोजित करने हेतु इस प्रक्रिया ने बाध्य किया है।

वैश्वीकरण एक दोधारी तलवार है। एक तरफ वैश्वीकरण ने उत्साहजनक संभावनाएँ उपस्थित की हैं। दूसरी तरफ वैश्वीकरण द्वारा अभूतपूर्व दुर्दशाओं को भी उपस्थित किया जा रहा है। वैश्वीकरण द्वारा पंथनिरपेक्ष तथा उदार संस्कृति पर बल दिया जाता है। यह देशीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के बीच एक कष्टदायक संबंध उत्पन्न करता है।

नोट

वैश्वीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंधों के माध्यम से दुनिया अत्यधिक अंतर्संबंधित हो रही है। इसमें वैश्विक अंतर्संबंधता का तीव्रीकरण, आंदोलनों तथा मिश्रण से परिपूर्ण विश्व की दलील, संबंध और संपर्क, चिरस्थायी सांस्कृतिक अंतर्क्रिया और विनिमय पर बल दिया जाता है।

इसके परिणामस्वरूप समय और दूरी के संबंध में दुनिया सिकुड़ रही है। परिष्कृत तात्कालिक संचारों और तीव्र यातायात एवं परिवहन ने इस प्रक्रिया की तीव्रता को और अधिक बढ़ाया है। वैश्वीकरण को एक प्रतीकात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा है, जिसमें परिवर्तनशील दुनिया में मनुष्य बनने का एक नया तरीका उपलब्ध कराने की वकालत की जा रही है। वैश्वीकरण राष्ट्र-राज्य की सीमाओं को लाँघता है। यह समानों के प्रवाह, पूँजी, लाभ, सूचना, विचार, प्रतिमाओं और खतरों को राष्ट्र-राज्य की सीमाओं और राजनीतिक संस्थाओं से ऊपर उठकर सामाजिक नेटवर्क और राजनीतिक संस्थाओं के साथ संबद्ध करने वाली एक प्रक्रिया है। दूसरे अर्थों में नए स्थान और समय में संस्कृतियों और समुदायों के एकीकरण और उसे जोड़ने वाले तथा दुनिया को एक हकीकत तथा और अधिक अंतर्संबंधित बनाने वाले अर्थ में वैश्वीकरण को देखा जा सकता है।

कुछ विद्वान मानते हैं कि वैश्वीकरण कोई नई प्रक्रिया नहीं है। उपनिवेशवाद के साथ-साथ वैश्वीकरण का भी शुभारंभ हो गया था। उपनिवेशवाद के अधीन देशों से कच्चामाल (Raw materials) उपनिवेशवादी देशों में जाया करता था। उनसे औद्योगिक उत्पादनकर्ता कच्चा माल प्राप्त किया करते थे। इससे बने मालों की खपत उन्हीं उपनिवेशवाद के अधीन देशों में हुआ करती थी। उपनिवेशन से दुनिया के विभिन्न देशों को नजदीक आने का अवसर मिला था।

कुछ विद्वान आधुनिकता में आयी तेजी को वैश्वीकरण के रूप में देखते हैं। आज भी संपूर्ण दुनिया में आधुनिकता के प्रभाव का विस्तार हो रहा है जिससे दुनिया सिकुड़ रही है। इसमें प्रौद्योगिकीय आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति का समन्वय होता है।

कुछ विद्वान आधुनिकीकरण की गति को तीव्र करने वाली प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण को देखते हैं। आधुनिकीकरण का संबंध तकनीकी आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति से है। वैश्वीकरण आधुनिकीकरण से जुड़ा है, जो संपूर्ण विश्व पर आधुनिकता के प्रभावों के विस्तार के माध्यम से दुनिया को संकुचित कर रहा है।

एक विचारधारा ऐसी है जो मानती है कि यद्यपि वैश्वीकरण पूर्णतया एक नयी प्रक्रिया नहीं, तथापि इसे उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण के सदृश्य भी नहीं माना जा सकता है। इसके अनुसार वैश्वीकरण की अवधारणा नई है। 1980 के दशक से द्विआयामी विश्व का परिदृश्य बदलने लगा।

संयुक्त सोवियत संघ के विघटन के बाद से एक ऐसे अनियंत्रित पूँजीवाद का विकास हुआ, जिसे कोई चुनौती देने वाला नहीं रहा। इससे एकआयामी विश्व प्रभावी हो गया। पूँजीवाद ने विश्व के मानचित्र पर अभूतपूर्व सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत किया। इस नवीन परिवर्तित व्यवस्था के साथ अपने को पुनर्समायोजित करने का दुनिया ने प्रयास किया।

27.1 आर्थिक वैश्वीकरण (Economic Globalization)

ब्रेटन वुड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conference) द्वारा नयी आर्थिक नीति का परिचय (NEP) तथा उदारीकरण कार्यक्रमों (Liberalisation Programmes) का परिचय देने वाला चतुर्थ संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (SAP) किया गया। इस दौरान सूचना प्रौद्योगिकी (I.T.) विशेष रूप से इंटरनेट ने वैश्विक संबंधों तथा संपर्कों की तीव्रता को और अधिक बढ़ा दिया। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बेहतर संभावना की तलाश में लोग उत्प्रवासित होने लगे। इस सब के चलते एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक बुनियादी पुनर्संरचना के निर्माण की वैश्विक परिस्थिति उत्पन्न हुई। औद्योगिक क्रांति के समय से ही एक प्रकार के वैश्विक एकीकरण का विकास हुआ। यह विकास राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से ऊपर उठकर हुआ है। **फ्रीडमैन** के अनुसार वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इस एकीकरण में दुनिया मध्य आकार से सूक्ष्म आकार में सिकुड़ रही है, जिससे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में तत्काल तथा कम से कम लागत में हम सभी पहुँच

नोट

सकें। पूर्व की समस्त अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियों को स्वरूप प्रदान कर रही है।

नोट्स अत: वैश्वीकरण एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है। इसके अंतर्गत बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण हो रहा है।

विश्व का ऐसा संकुचन हो रहा है कि जिसके प्रत्येक कोने में हम इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जाएँ जितने में पहले कभी संभव नहीं था। पूर्व की सभी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी संबंधों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि वैश्वीकरण के विविध पक्षों का मानव-जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

आर्थिक वैश्वीकरण के अर्थ को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है : अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक बाजारों में चलने वाले आंदोलनों द्वारा किसी देश की राष्ट्रीय सरकार की आर्थिक नीतियों का निर्धारण होता है। इसमें राष्ट्र-राज्य की आर्थिक स्वायत्तता में कमी आती है। वैश्वीकरण संपूर्ण विश्व को एक समग्र आर्थिक इकाई के रूप में तथा बाजार को इसके एक उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। एक वैश्वीकृत दुनिया में अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं; खुला, उदार, मुक्त बाजार तथा मुक्त व्यापार। इसे अंतर्राष्ट्रीय निवेश और तात्कालिक पूँजी के प्रवाहों द्वारा चिह्नित किया जाता है। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्थाएँ श्रेष्ठ आर्थिक परिधियों में आ रही हैं और इनका अंतर्राष्ट्रीय व्यवसाय तथा वित्तीय बाजारों की दुनिया से एकीकरण हो रहा है, जो तत्काल कंप्यूटर के माध्यम से संपन्न हो रहा है। विदेशी सीधा निवेश की गति तथा इसके विस्तार तथा दुनिया के विभिन्न हिस्सों में तात्कालिक पूँजी के प्रवाह को आर्थिक वैश्वीकरण के रूप में देखा जा सकता है।

परिणामस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय कंपनियाँ उस देश और क्षेत्र में पहुँचने के लिए प्रयासरत हैं जहाँ सस्ता श्रम उपलब्ध है। विभिन्न राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से लोग बाहर निकल रहे हैं और अपना कार्य-क्षेत्र और निवास परिवर्तित कर रहे हैं तथा अपने आपको एक नए सांस्कृतिक परिवेश में समायोजित कर रहे हैं।

वैश्विक वित्तीय संस्थाओं द्वारा अमीर और गरीब के बीच की खाई को बढ़ाया जाता है। वैश्वीकरण द्वारा संस्कृति, राष्ट्रीयता, पर्यावरणीय संबंधों तथा सामाजिक जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रति एक नई समझ को विकसित किया जाता है, जो हमारे जीवन के परंपरागत तरीकों और दुनिया से जुड़े विविध मुद्दों को प्रभावित करता है।

सांस्कृतिक संदर्भ में वैश्वीकरण संपूर्ण विश्व में बढ़ी हुई सांस्कृतिक अंतर्संबंधता का द्योतक है। लोगों के उत्प्रवास, पर्यटन, वैश्विक अर्थ व्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं के कारण दुनिया के विभिन्न भागों में सादृश्य जीवन-पद्धति के रूप में उसे देखा जा सकता है। वैश्वीकरण क्षेत्रीय संस्कृति के लिए विकल्प उपलब्ध कराता है। मानव अधिकारों, जनतंत्र, बाजार अर्थ व्यवस्था, उत्पादन के नए तरीकों, उपभोग हेतु नए उत्पादों तथा विश्राम की आदतों आदि के विचारों को क्षेत्रीय संस्कृति के नवीन दृष्टिकोण द्वारा उपस्थित किया जाता है। इससे आविर्भाव होता है नई संस्कृति की समझ, राष्ट्रीयता, दुनिया में 'स्व', एक विदेशी हेतु क्या है? एक नागरिक हेतु क्या है? कैसे लोगों की राजनीतिक भागीदारी हो? तथा अन्य सामाजिक जीवन के विविध पक्षों आदि का।

वैश्वीकरण नई अवधारणा है। इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पाई है। फिर भी इसे कुछ विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है–

फ्राइडमैन के अनुसार–वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में ऐसा संकुचन हो रहा है जिससे हम सभी दुनिया के हर कोने में इतनी जल्दी और सस्तें में पहुँच जाएँ जितने में पहले कभी संभव नहीं था। पूर्व की सभी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी संबंधों का स्वरूप प्रदान कर रहा है।

नोट

इंडा और रोसाल्डो के अनुसार–वैश्वीकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक संबंधों के माध्यम से विश्व अत्यधिक अंतर्संबंधित हो रहा है। इसमें वैश्विक अंतर्संबद्धता का तीव्रीकरण, आंदोलनों तथा मिश्रण से परिपूर्ण विश्व, संबंध और संपर्क, चिरस्थायी सांस्कृतिक अंतर्क्रियाएँ और विनिमय पर बल दिया जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. ..... के सभी देशों की एक सामान्य मुद्रा यूरो है।
2. ..... में सार्क देशों का सम्मेलन हुआ था।
3. ..... के नकारात्मक परिणाम भी बहुत अधिक हैं।
4. उदारीकरण की नीति ने ..... को बढ़ावा दिया है।
5. वैश्वीकरण के दौरान मुद्रा का ..... हो रहा है।

27.2 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalization)

वैश्वीकरण में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की ऊर्जा है। वैश्वीकरण एक दोधारी तलवार है। वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। जबकि, इसके परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में नकारात्मक परिवर्तन भी हो रहे हैं। इससे हानि तथा विनाश की स्थिति भी सामने आ रही है। इन दोनों पक्षों की विवेचना द्वारा ही वैश्वीकरण के परिणामों को समझना तार्किक और वैज्ञानिक मूल्यांकन होगा।

वैज्ञानिक, चिकित्सकीय तथा इसी प्रकार के अन्य आविष्कार सभी के लिए उपलब्ध हुए हैं। आज अधिकांश क्षेत्रों में गैरदेशीय (Transnational) संगठनों का तेजी से निर्माण हो रहा है। हरित शांति (Green Peace), नारीवादी आंदोलन (Women's Movements), स्थानीय समुदायों तथा देशीय लोगों के सशक्तीकरण से संबंधित (Concern for Empowerment of Local Communities and Indigenous People) आदि आंदोलनों के माध्यमों से दुनिया भर के लोग आपस में एकता का अनुभव कर रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों के व्यापक जाल से एन. जी. ओ. (NGO's) के माध्यम से आज दुनिया के साथ जुड़ रहे हैं तथा एक अंतर्राष्ट्रीय शासन व्यवस्था को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया द्वारा मानवीयता और धर्मार्थ क्रियान्वयन के बीच की अंतर्क्रिया को व्यापकस्तर पर बढ़ावा मिल रहा है। यथा ऑक्सफेम (Oxfam) अनुदान, मानवाधिकार, इसाई अनुदान इत्यादि। इसी के साथ-साथ इंटरनेशनल असोसिएशन ऑफ न्यूट्रिशनल साइंसेज (International Association of Nutritional Sciences) और इंटरनेशनल सोशियोलाजिकल एंड एंथ्रोपोलाजिकल असोसिएशन (International Sociological and Anthropological Association) जैसे वैज्ञानिक और व्यवसायिक संगठनों द्वारा अपने विचारों और संबंधों का वैश्विक स्तर पर विस्तार किया जा रहा है।

वैश्वीकरण के नकारात्मक परिणाम भी बहुत अधिक हैं। बेरोजगारी को बढ़ावा मिल रहा है। **नाथ** ने आर्थिक वैश्वीकरण के दुष्परिणामों को रेखांकित किया है। दलील दी जाती है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उत्तर उपनिवेशवादी श्रम के विभाजन को बरकरार रखे हुए हैं, जो मुख्यतया विकसित देशों द्वारा संचालित होते हैं तथा दुनिया के अविकसित देशों के सस्ते श्रम और कच्चे माल का भरपूर उपभोग करते हैं। विकसित राष्ट्रों के पास आँकड़ों का संकलन तथा सूचना प्रौद्योगिकी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका विकसित राष्ट्रों द्वारा उत्पादन और वित्तीय विनियोग में इस्तेमाल किया जाता है। लंबी दूरी तक तत्काल संप्रेषण स्थापित करने, समुद्रपार के देशों की कंपनियों की वित्तीय व्यवस्थाओं को संचालित करने तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रबंधन को अंजाम देने में इस्तेमाल किया जाता है।

नोट

सैटेलाइट, टेलीविजन, इंटरनेट, ई-मेल जैसे दूरसंचार के माध्यमों द्वारा पर्दे पर हर पल एक नई प्रतिमा परोसी जा रही है। फैशन की एक नई दुनिया प्रस्तुत की जा रही है। इसके माध्यम से एक नई वैश्विक प्रस्थिति निर्मित की जा रही है। सांस्कृतिक वस्तुओं, खान-पान, वेष-भूषा, संगीत, स्थापत्य कला, फिल्म आदि के माध्यम से एक नया स्वाद उत्पन्न किया जा रहा है जो नए वैश्विक व्यवहार को बढ़ावा दे रहा है तथा स्थानीय पहचान को नष्ट कर रहा है।

वैश्वीकरण के प्रभावों को मुख्य रूप से निम्नलिखित बिंदुओं पर स्पष्ट किया जा सकता है–

विश्व अर्थव्यवस्था का एकीकरण (Integration of world Economy)–आज दुनिया में उदारीकरण, खुली अर्थव्यवस्था एवं मुक्त बाजार प्रणाली लागू है। उसका सीधा अर्थ है विश्व अर्थव्यवस्था का एकीकरण।

विश्वबैंक, डब्ल्यू. टी. ओ. (विश्व व्यापार संगठन) सहित विभिन्न आर्थिक तथा वाणिज्यिक संगठनों द्वारा विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित किया जा रहा है। इसमें विकसित राष्ट्रों की अर्थनीति प्रभावी भूमिका निभा रही है।

सामान्य मुद्रा (Common Currency)–वैश्वीकरण के दौरान मुद्रा का एकीकरण हो रहा है। वर्ष 2001 में यूरोप के सभी देशों की एक सामान्य मुद्रा (A Common Currency) हो गयी है। 'इसका नाम है यूरो'। इससे संपूर्ण यूरोप के देशों को मुद्रा-विनिमय में सहजता हो गयी है। मुद्रा के विनिमय (Exchange of Currency) की समस्या से छुटकारा मिल गया।

नवंबर 2003 में सार्क देशों का सम्मेलन संपन्न हुआ। इसमें एशियायी देशों की एक सामान्य मुद्रा (Common Currency) बनाने की आवाज उठी। यदि भविष्य में ऐसा संभव हुआ तो विकासशील देशों के लिए एक नयी आशा की किरण दिखाई पड़ेगी।

विकासशील और अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र पर निर्भर होती है। विशाल मानव पूँजी इसी पर निर्भर है। विश्व हेतु कृषि क्षेत्र को मुक्त करना इन देशों के लिए आत्मघाती होगा। जबकि, ऐसा करने के लिए दबाव पड़ रहा है। यह अर्थ व्यवस्था के एकीकरण का नकारात्मक पक्ष है। इस संदर्भ में तथ्य इस प्रकार हैं। दिसंबर 2003 में दक्षिण एशियाई देशों के संपन्न कानकुन सम्मेलन में विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों पर अपने कृषि क्षेत्रों को भी मुक्त करने हेतु दबाव पड़ा। दलील दी गयी कि इससे सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) में बढ़ोतरी होगी। कृषि क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र तथा रोजगार के क्षेत्र, ये तीनों क्षेत्रों के योगदान से सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) की दर निर्धारित की जाती है। औद्योगिक तथा रोजगार के क्षेत्र में अधिकांश देशों ने उदारीकरण तथा खुली अर्थव्यवस्था स्वीकार कर ली है। किंतु, भारत जैसे कृषि प्रधान देश ने अभी तक कृषि क्षेत्र को विश्व हेतु नहीं खोला है। इसके लिए लगातार आर्थिक दबाव पड़ रहे हैं।

विश्व बाजार का एकीकरण (Integration of World Market)–20वीं शताब्दी दुनिया में औपनिवेशिक शासनतंत्रों की समाप्ति की शताब्दी रही। इसमें अनेकों राष्ट्र-राज्य से औपनिवेशिक शासनतंत्र समाप्त हुए। इसके लिए स्वतंत्रता संग्राम चले। इसी शताब्दी ने प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध भी झेले। अत: 20वीं शताब्दी को राष्ट्र-राज्य के राष्ट्रीय संघर्षों की शताब्दी के रूप में देखा जा सकता है। राष्ट्रीय संघर्षों के गर्भ से तीव्र राष्ट्रीयता ने जन्म लिया। राष्ट्रीयता, राष्ट्र-निर्माण की पूर्वगामिनी होती है। राष्ट्र-निर्माण के क्रम में तीव्र राष्ट्रीयता ने राष्ट्रीय बाजारों की पुनर्स्थापना की।

क्या आप जानते हैं वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण है।

1980 के दशक में राजनीतिक उपनिवेशवाद ने आर्थिक उपनिवेशवाद के रूप में पुनर्जन्म ले लिया। इसे वैश्विक व्यवस्था का नाम दिया गया। मुक्त बाजार व्यवस्था, मुक्त अर्थव्यवस्था, उदारीकरण की नीति, नवीन सूचना प्रौद्योगिकी आदि ने इसे पुष्पित पल्लवित होने के लिए उर्वरा भूमि उपलब्ध करायी। आज विश्वबाजार का एकीकरण हो रहा है। अधिकांश देशों के माल की खपत हेतु अधिकांश देशों के बाजार खुले हैं। इसके

नोट

सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम सामने आ रहे हैं। विश्व बाजार के एकीकरण से सबके लिए सभी बाजारों के द्वार खुले हैं। इससे व्यापार और वाणिज्य की पर्याप्त संभावनाएँ उपलब्ध हुई हैं। अविकसित और विकासशील देशों की मानव पूँजी को कार्य के नए अवसर उपलब्ध हुए हैं तथा विदेशी मुद्रा के भंडार में वृद्धि हुई है।

इसके नकारात्मक परिणाम भी हैं। बाजार के दबाव से राष्ट्र-राज्य की नीतियाँ निर्धारित हो रही हैं। राष्ट्रीय मुद्दों में बाजार का सीधा दखल बढ़ रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा ट्रांसनेशनल कंपनियों के मजबूत आर्थिक शिकंजे में बाजार फँस चुका है। बाजारवाद द्वारा लघु तथा कुटीर उद्योग को हाशिये पर किया जा रहा है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोगों की बाजार में भागीदारी महत्त्वहीन हो रही है। इससे शोषण तथा बेकारी जैसी सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा मिल रहा है। बाजारवाद हावी हो रहा है। विज्ञापन आदि के माध्यम से उत्पादन के अनुरूप बाजार पैदा किया जा रहा है। इससे उपभोक्तावाद में तेजी से वृद्धि हो रही है। परिणामस्वरूप मानवीय चेतना सुसुप्त हो रही है।

विश्व बाजार के साथ भारत के बाजार के एकीकरण की प्रक्रिया विगत दशक में तीव्र हुई। किंतु, 26 मई, 2004 को इसे तगड़ा झटका लगा है। भारत सरकार में दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त कर दिया। फिर दिनांक 8 जुलाई, 2004 की संसद में बजट पेश करते हुए वित्तमंत्री ने अधिक विदेशी निवेश का प्रावधान किया। इससे बाजार के एकीकरण का एक नया स्वरूप सामने आ रहा है।

27.3 राष्ट्रवाद बनाम वैश्विकवाद (Nationalism Versus Globalization)

अन्य सामाजिक तथ्यों की तरह राष्ट्रवाद भी ऐतिहासिक तथ्य है। लोक जीवन के विकास-क्रम में वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ दोनों प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की परिपक्वता के पश्चात् राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। जैसा **ई.एच. कार** ने लिखा है, 'सही अर्थों में राष्ट्र का उदय मध्य युग की समाप्ति पर ही हुआ। **ए. आर. देशाई** मानते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के खास दौर में राष्ट्रों का जन्म हुआ।' सामाजिक अस्तित्व के पूर्ववर्ती कालों के अराष्ट्रिक जनसमुदायों से आधुनिक युग के राष्ट्र अपने निम्नलिखित गुणों के कारण भिन्न हैं : राष्ट्र के सारे सदस्य किसी निश्चित भू-भाग में एक ही अर्थतंत्र के अंतर्गत परस्पर जैविक रूप से संपृक्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें सम्मिलित आर्थिक अस्तित्व का अभाव होता है, वे प्रायः एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, उनकी एक सी मनोवैज्ञानिक इसी कड़ी में भारत में दलित समुदाय द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन संबंधी प्रकरणों में राष्ट्र-राज्य से जवाब माँगने का अधिकार प्रदान किया गया। 2001 में डर्बन में संपन्न 'वर्ल्ड कानफेरेंस अगेंस्ट रेसिज्म, जीनोफोबिया एंड डिस्क्रिमेनेशन' (World conference against racism, xenophobia and discrimination) फोरम में ऐसे दलित द्वारा अपनी आपत्ति दर्ज कराने का भी प्रावधान किया गया।

राष्ट्र-राज्य का चरित्र बदल रहा है (Characteristics of Nation-State are Changing)– वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्र-राज्य के चरित्र को बुनियादी तौर पर प्रभावित और परिवर्तित किया है। शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रोजगार जैसी नागरिक सुविधाओं को उपलब्ध कराना कल्याणकारी राष्ट्र-राज्य का दायित्व है। विद्युत, पेयजल, सड़क, पुल जैसी आधारभूत सुविधाओं को मुहैया कराना राष्ट्र-राज्य की प्राथमिकता होनी चाहिए। किंतु, ऐसा नहीं है।

उदारीकरण की नीति ने निजीकरण को बढ़ावा दिया है। स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका भी बढ़ी है। एन.जी.ओ. द्वारा राष्ट्र के दायित्वों के निर्वाह की प्रवृत्ति को बल मिला है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार के क्षेत्र में निजीकरण के परिणामस्वरूप राष्ट्र-राज्य अपने उक्त बुनियादी दायित्वों से दूर जा रहा है। निजी क्षेत्रों की प्राथमिकता मुनाफा कमाना है। अतः शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार जैसी बुनियादी नागरिक सुविधाओं की समस्या में बढ़ोत्तरी हो रही है।

विद्युत, पेयजल आपूर्ति तथा सड़क, पुल आदि आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धता निजी क्षेत्रों द्वारा सुनिश्चित कराने की नीति चलन में आ चुकी है। इसके कारण राष्ट्र-राज्य अपने इस दायित्व से भी दूर जा रहा है।

नोट

उदारीकरण तथा निजीकरण की नीति से बड़े औद्योगिक घरानों को अपने साम्राज्य का विस्तार करने की पूरी छूट मिल गयी है। राष्ट्र-राज्य की कल्याणकारी नीतियों को अपने व्यवसायिक हितों के अनुरूप बनाने के लिए बड़े औद्योगिक घराने राष्ट्र-राज्य पर ऐसे दबाव बनाते हैं जो जनसामान्य के हितों के विपरीत होते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्वबैंक, विश्व व्यापार संगठन, विश्वस्वास्थ्य संगठन जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं पर विकसित राष्ट्रों का प्रभुत्व है। इनके माध्यम से विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों पर तरह-तरह के दबाव डालकर उनके मूल चरित्र को परिवर्तित किया जा रहा है।

27.4 संचार क्रांति और वैश्वीकरण (Communication Revolution and Globalization)

संचार क्रांति ने दुनिया में नई जान फूँक दी है। जनसंचार के अत्याधुनिक साधन वैश्वीकरण के प्रमुख निर्वाहक हैं। ये दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक तत्काल सूचनाएँ उपलब्ध करा रहे हैं। इस क्रम में राष्ट्र-राज्य की सीमाएँ गौड़ हो गयी हैं। विश्व एक ग्राम बन गया है। संचार क्रांति से युगांतरकारी परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

सूचना प्रौद्योगिकी के अधिकाधिक प्रयोग एवं 'इंटरनेट' के तीव्रगति से विस्तार के कारण, मानव-जीवन की विभिन्न क्षेत्रों की गतिविधियों में क्रांतिकारी परिवर्तन आए हैं। इसका प्रभाव समाज, अर्थव्यवस्थाओं व प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर व्यापक रूप से पड़ा है। व्यापारिक एवं वाणिज्यिक गतिविधियों में इस प्रौद्योगिकी ने एक विशेष स्थान अर्जित कर एक नयी अर्थव्यवस्था का सूत्रपात 'ई–वाणिज्य' या 'ई–कामर्स' के रूप में किया है। सूचना प्रौद्योगिकी की सार्वभौमिकता, इंटरनेट, इंट्रानेट एवं एक्स्ट्रानेट को संयुक्त रूप में प्रयोग में लाकर, ई–कॉमर्स ने व्यापार को एक नयी दिशा, गति एवं ऊर्जा प्रदान की है। संपूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था के एकीकरण में ई–कॉमर्स की भूमिका उल्लेखनीय है। राष्ट्र-राज्य की सीमाओं को शिथिल करते हुए इसकी भौगोलिक सीमाओं को लाँघतें हुए व्यापार के नए मानदंड स्थापित हो रहे हैं। इस विश्व-व्यापार में ई–कॉमर्स का योगदान महत्त्वपूर्ण है। सरंचना और उसमें विकसित सार्वजनिक लोक संस्कृति होती है। ऐसा आदर्श राष्ट्र जो पूर्णत: विकसित हो और जिसमें ये सब गुण विद्यमान हों, भावात्मक कल्पना मात्र हैं, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र के अर्थतंत्र, सामाजिक संगठन, चिंतन प्रकृति और संस्कृति में अतीत के तत्व विभिन्न अंशों में उत्तरजीवी रहे हैं। फिर भी सोलहवीं सदी से ही मानव-इतिहास के विशाल रंगमंच पर राष्ट्रगत समेकन की विभिन्न अवस्थाओं में राष्ट्रीय जन समुदायों का आविर्भाव होता रहा है। प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का अपना विशिष्ट, अनन्य रूप है।

सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में संसार के अधिकाधिक क्षेत्रों में राष्ट्रों का निर्माण हुआ, पूर्ण विकसित होने के लिए नवजात राष्ट्र भीतरी और बाहरी अवरोधों के विरुद्ध संघर्षशील रहे, और आत्मरक्षा एवं आत्मविवर्धन के लिए राष्ट्रों के बीच घमासान लड़ाई लड़ी गई। राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया बीसवीं सदी में भी जारी रही। 1980 के दशक से वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने वैश्विकवाद को बढ़ावा दिया। यह राष्ट्रवाद के विकास का एक नया पड़ाव है। आज वैश्विकवाद ने राष्ट्रवाद को हाशिये पर ला दिया है। राष्ट्रवाद गौण हो रहा है, जबकि विश्ववाद को प्रखरता मिल रही है।

राष्ट्रवाद कमजोर हुआ है (Declination of Nationalism)–खुली अर्थव्यवस्था, मुक्त बाजार व्यवस्था, उदारीकरण, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ एवं ट्रांसनेशनल कंपनियाँ का विस्तार व विकास तथा संचार क्रांति आदि ने एक नई विश्वव्यवस्था को प्रभावी बनाया है। यह व्यवस्था विविध राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघकर निर्मित होती है। संचार के अत्याधुनिक साधन एक वैश्विक संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। ये भी राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघ कर ही संभव हो पा रहा है। विश्व बैंक, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व व्यापार संगठन, विश्व मानवाधिकार आयोग जैसी अनेकानेक संस्थाओं ने भी राष्ट्र की सीमाओं को गौण कर दिया है। परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद कमजोर हुआ है तथा उसके ऊपर वैश्विकवाद हावी हो रहा है। विदेशी पूँजीनिवेश, एन.आर.आई. आदि को प्रोत्साहन, विश्वबाजार का एकीकरण, विश्व प्रौद्योगिकी का एकीकरण, ई-बैंकिंग, ई-कामर्स, ई-जर्नलिज्म, ई-लर्निंग जैसी विविध प्रक्रियाओं ने राष्ट्र-राज्य की सीमाओं को शिथिल किया है।

नोट

नागरिकता कमजोर हुई है (Declination of Citizenship)–नागरिकता राष्ट्रवाद की प्राथमिक शर्त है। राष्ट्रवाद कमजोर होने से नागरिकता भी कमजोर हुई है। विदेशी पूँजीनिवेश की छूट से निवेशकर्ता को संबंधित राष्ट्र-राज्य में भागीदारी का अवसर मिला। नई वैश्विक व्यवस्था के कारण उत्पन्न रोजगार के नए अवसरों ने दुनिया के किसी भी देश में कार्य करने के अवसर उपलब्ध कराये। बाजार, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी के एकीकरण को अमली जामा पहनाने हेतु यूरोपीय संघ बना। इसके तहत यूरोप का कोई व्यक्ति यूरोप के किसी भी देश में निर्बाध रूप से आवागमन कर सकता है। भारत जैसे विकासशील देश ने पूँजीनिवेश की स्थिति में एन. आर.आई. (अनिवासी भारतीय) को दोहरी नागरिकता की स्वीकृति प्रदान की। इस सब कारणों से नागरिकता कमजोर हुई है।

विधि-व्यवस्था का एकीकरण (Intergration of Legel System)–कुछ देशों में विद्यमान दोषपूर्ण कानूनों को अंतर्राष्ट्रीय कानूनों ने चुनौती दी है। उदाहरणस्वरूप हम देख सकते हैं कि न्यूरेमबर्ग ट्रिब्यूनल (Nuremberg Tribunal) कानून बना। इसमें प्रावधान है कि जहाँ भी मानवीय मूल्यों के रक्षार्थ अंतर्राष्ट्रीय कानूनों और राज्य के कानूनों के बीच द्वंद्व की स्थिति हो तो ऐसे में व्यक्ति को वैकल्पिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करने हेतु प्राथमिकता उपलब्ध होगी। मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रता को सुरक्षित करने वाली यूरोपीय सभा (1950) द्वारा राज्य की प्रभुसत्ता में कमी की गयी। इसके तहत व्यक्ति अपनी सरकार से कानूनी दस्तावेज प्राप्त कर सकता है।

टेलीफोन टेलेक्स, टेलीप्रिंटर, टेलीविजन, रेडियो, डिजिटल माइक्रोसाफ्ट, आप्टिकल फाइबर, केबल, डाटकाम, इंटरनेट, साफ्टवेयर, हार्डवेयर अर्थात नवीनतम संचार उपकरण पुरानी तकनीकों से कहीं अधिक प्रभावकारी हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र भी कई गुना अधिक विस्तृत है। आधुनिक संचार तकनीक का मूल आधार है–कंप्यूटर। इंटरनेट विश्व का सबसे बड़ा कंप्यूटर नेटवर्क है, जो पूरी दुनिया के कोने-कोने में फैला है। इससे दुनिया के दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन आ रहा है। ई–बैंकिंग, ई–लर्निंग का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। कोई व्यक्ति दुनिया के किसी कोने में बैठकर हजारों मील दूर दूसरे कोने से धनराशि जमा कर सकता और निकाल सकता है। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति एक स्थान पर बैठे-बैठे हजारों मील दूर से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है।

विभिन्न टी.वी. चैनल्स द्वारा प्रतिपल हमारे घर के अंदर दुनिया के सभी कोने के समाचारों का सजीव प्रसारण किया जा रहा है। इसके माध्यम से विश्व एक परिवार में सिमट सा गया है।

सैटेलाइट ने दुनिया के तार को एक में पिरो दिया है। आई.टी. अर्थात सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) के अधिकांश उपकरण विकास का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं तथा ज्ञान का वर्धन कर रहे हैं। वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के बीच सह संबंध है। जिन देशों में वैश्वीकरण की तीव्रता की दर उच्च है उसमें सूचना प्रौद्योगिकी के सूचकों के प्रयोग की दर भी उच्च है।

ई-जर्नलिज्म–संचार क्रांति ने वैश्वीकरण को गति और ऊर्जा प्रदान की है। मीडिया विशेषज्ञ मार्शल मैक्लूहन की पुस्तक 'द मीडियम इज मैसेज' (The Medium is Massage), माध्यम ही संदेश है द्वारा स्पष्ट होता है कि सूचना की तुलना में सूचनातंत्र का विशेष महत्त्व है। सूचना आज निर्णायक ताकत के रूप में उभरी है। इसका तंत्र आज न केवल विचारधारा के नियंत्रण से मुक्त है अपितु विचारधारा ही सूचना तंत्र के जरिए नियंत्रित हो रही है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि हर क्षेत्र में सूचना तंत्र की निर्णायक भूमिका है। शेयर बाजार का मिजाज तीव्र सूचना माध्यम तय करते हैं, न कि गतिशील विकास-दर। सूचना तथा सूचना तंत्रों का आज वैश्विक स्तर पर एकीकरण हो रहा है।

सूचना के प्रसारक, टेलीफोन, टेलीग्राफ और टेलेक्स अब पुराने पड़ते जा रहे हैं। ई-मेल (इलेक्ट्रानिक डाक), ई-फैक्स, सेल्यूलर फोन, पेजर, टेलीटेक्स्ट तथा कंप्यूटर डेटा बैंक आगे बढ़ रहे हैं। माइक्रोचिप्स, उपग्रहों, माइक्रो तरंगों, रोबेट शोध प्रचलित हैं। कंप्यूटर नेटवर्किंग ने पैर जमाना प्रारंभ कर दिया है। विदेश संचार निगम लिमिटेड, नेशनल इन्फार्मेटिक्स सेंटर, सी-डॉट (सेंटर फार डेवलपमेंट ऑफ टेलीकम्युनिकेशन्स) द्वारा सूचना का प्रवाह अत्यंत द्रुत गति से चल रहा है। इंटरनेट की बहुआयामी सक्रियता और तकनीकी कौशल को समाचारों की विशाल दुनिया से जोड़कर सूचना जगत में उस क्रांति का रास्ता आसान किया जा रहा है जहाँ खबर देने और लेने वाले

नोट

एक दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं, जहाँ उपभोक्तावाद को महज कूड़ापात्र नहीं समझा जाता बल्कि उसे उसकी रुचि के मुताबिक ठोस सूचनाएँ पेश की जाती हैं।

संप्रति, ई-जर्नलिज्म जीवन और जगत का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। इसने अपनी उपयोगिता तथा गुणवत्ता सिद्ध कर दी है। दुनिया के लिए यह एक वरदान सिद्ध हो रहा है। किंतु इसका एक दूसरा पक्ष भी है।

संचार क्रांति ने जिस वैश्वीकरण के शिशु को युवा बनाया है उस पर बहुत सारे आरोप भी लग रहे हैं। प्रोफेसर **हर्बर्ट शिलर** के अनुसार मीडिया का राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के साथ गहरा संबंध है। 'मास कम्युनिकेशन एंड अमेरिकन एंपायर' (1969) और 'दि माइंड मैनेजर्स' (1973) नामक पुस्तक में शिलर ने भूमंडलीय वर्चस्व की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मीडिया की भूमिका को रेखांकित किया है। वे मानते हैं कि 'सुपर हाइवे' के नाम से जितने भी परिवर्तन आ रहे हैं वे सब जनता की संपत्ति की कीमत पर आ रहे हैं। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का कारपोरेट हितों के विस्तार के लिए इस्तेमाल हो रहा है। इस पर कोई बहस या चर्चा नहीं हो रही है। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' राष्ट्रीय संपत्ति है। प्राकृतिक संसाधन है। रेडियो का आरंभ में जनता के संसाधन के रूप में इस्तेमाल शुरू हुआ था। किंतु, बाद में इसका दुरुपयोग हुआ। जिन्हें रेडियो प्रसारण के लिए लाइसेंस दिये गए वे जनता को दिये गये वायदों को भूल गए। वे मुनाफे के विस्तार के लिए रेडियो का इस्तेमाल करने लगे। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का जनता की स्वीकृति के बगैर व्यापारिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। यही स्थिति आर्थिक उदारीकरण के कारण हमारे देश में भी है। रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी का निजी व्यापारिक हितों के लिए इस्तेमाल हो रहा है। खासकर मीडिया और दूरसंचार के क्षेत्र में। मीडिया और दूरसंचार के विभिन्न माध्यमों द्वारा जनता को उपभोक्ता बनाया जा रहा है। जनता के चित्त और मनोविज्ञान को बदला जा रहा है। आधुनिक उपभोग के साधनों के प्रति भूख पैदा की जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार जमकर किया जा रहा है। शिलर के विचारों के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। संचार क्रांति ने दुनिया के फायदे के लिए अपार संभावनाएँ उपस्थित की हैं। जबकि, संचार के अत्याधुनिक साधनों का अपने स्वार्थ-पूर्ति हेतु व्यापक दुरुपयोग भी किया जा रहा है। अत: प्रश्न यह खड़ा होता है कि आखिर दोष किसका है क्रांति का? अथवा इसका दुरुपयोग करने वालों का यह विचार-मंथन का विषय है।

सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism)–जब किसी समाज में अधिकाधिक संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रहते हैं तथा उनके इस प्रकार के सह अस्तित्व का समर्थन भी किया जाता है, तब यह स्थिति सांस्कृतिक बहुलवाद के नाम से जानी जाती है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण भारत है। यहाँ विभिन्न मत-मतांतर वाले समुदायों को भारतीय समाज की महत् परंपराओं में सहभागी रहते हुए अपनी-अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के पालन की स्वच्छंदता रहती है।

वैश्वीकरण के दौर में एक संस्कृति के व्यक्ति की दूसरे संस्कृति वाले व्यक्ति के साथ अंतर्क्रियाएँ अपरिहार्य हैं। इन अंतर्क्रियाओं को विश्व समुदाय की स्वीकृति होती है। इसी के साथ-साथ एक देश के व्यक्ति का दूसरे देश में आवागमन भी बढ़ा है। व्यवसाय, वाणिज्य, राजनीतिक, सामाजिक अथवा अन्यान्य कारणों से आवागमन बढ़ा है। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बहुलवाद को बढ़ावा मिल रहा है।

आज सांस्कृतिक आंतरिक संबंधता को बढ़ावा मिल रहा है। इसका मुख्य कारण है जनसंचार, उत्प्रवास, पर्यटन, विदेशी कंपनियाँ आदि। वैश्वीकरण के कारण विकसित और विकासशील देशों के बड़े नगरों की ओर उत्प्रवास तेजी से बढ़ रहा है। इससे लोगों के समक्ष यह समस्या खड़ी हो रही है कि वे अपने ही मूल निवास स्थान पर अपनी परंपरागत तथा लोकसंस्कृति, राष्ट्रीयता, नागरिकता तथा सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों के साथ समायोजन करके किस प्रकार से जीवन व्यतीत करें।

कुछ समाजवैज्ञानिक यह मानते हैं कि वैश्वीकरण के फलस्वरूप बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturism) को बढ़ावा मिल रहा है। खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा सहित जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की सामग्री तथा एक देश के उत्पादन की दूसरे देश में आज खपत हो रही है। इसके माध्यम से भी एक देश की संस्कृति दूसरे देश में पहुँच रही है। आकाशीय मार्ग से विदेशी संस्कृति हमारे घरों में प्रवेश कर रही हैं। विभिन्न टी.वी. चैनल्स विदेशी संस्कृति के वाहक हैं। कुछ लोग इसे सांस्कृतिक आक्रमण की संज्ञा भी प्रदान करते हैं।

नोट

भाषाई वर्चस्व (Linguistic Dominance)–वैश्वीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि कमजोर देशों की भाषाएँ मार खा गयीं। हिंदी उतनी मार नहीं खाएगी। क्योंकि, हिंदी देश की अपनी आंतरिक शक्ति है। लेकिन जो कमजोर देश हैं, गरीब देश हैं, जिनकी आबादी कम है, उनकी भाषाएँ यदि निश्चित न भी हों तो भी बहुत दुर्बल हो जाएँगी। यदि उनको दुनिया के मुकाबले में आना है तो इंटरनेट में आना होगा। इंटरनेट में आने के लिए अंग्रेजी सीखनी पड़ेगी। सारा का सारा आधुनिकतम ज्ञान अगर हमको किसी एक भाषा से जल्दी मिल सकता है तो वह अंग्रेजी है। वैश्वीकरण का सबसे प्रभावी और उदीयमान उपकरण इंटरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तथा ट्रांसनेशनल कंपनियाँ भी अंग्रेजी की वाहक हैं। अंग्रेजी का आक्रमण आकाशीय मार्ग अर्थात् विदेशी टी.वी. चैनलों द्वारा भी हो रहा है।

आज भूमंडलीकरण के कारण राष्ट्रीयता और भाषा निरपेक्षता, राष्ट्र निरपेक्षता और भाषा निरपेक्षता दोनों के आगे एक भविष्य बन रहा है। हम वैश्वीकरण के सांस्कृतिक पक्ष से ही सरोकार रखें तो साम्राज्यवादी संस्कृति या साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक मोर्चे संबंधी विवाद तत्काल ध्यान आकर्षित करते हैं। इस संदर्भ में भाषाओं के विलोपीकरण का मुद्दा, जिससे यूनेस्को भी चिंतित है, नए रूप में आ खड़ा होता है। क्या वैश्वीकरण के कारण कुछ का या अंतत: अंग्रेजी का वर्चस्व कायम हो जाएगा और अन्य भाषाएँ गौण से गौणतर होती हुई विलुप्त हो जाएँगी? यह प्रश्न विशेषकर अविकसित और विकासशील देशों की भाषाओं के बारे में खास तौर पर प्रासंगिक होता जा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय उद्योग–व्यवसाय की भाषा अधिकाधिक अंग्रेजी होती जा रही है। फ्रेंच अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति में सम्मानित रही और फ्रांस के सांस्कृतिक प्रयोगों का केंद्र होने के कारण फ्रेंच का दुनिया में विशेष सम्मान रहा। पर वैश्वीकरण के नए दौर में फ्रेंच भी अंग्रेजी की बाढ़ को रोकने में असमर्थ होती जा रही है। अभी दो तीन दशक पहले फ्रांस में अंग्रेजी मात्र जानने वालों को कठिनाई होती थी। पेरिस में सभी साइनबोर्ड या बिल बोर्ड केवल फ्रेंच में होते थे। आज प्रमुख सड़कों पर अंग्रेजी प्रचार की भरमार है। खाड़ी के देशों में भी यही हालात हैं। अरबी, उर्दू, फारसी जुबान वाले देशों के व्यवसायिक प्रतिष्ठानों के साइनबोर्ड द्विभाषी हो गए हैं। अंग्रेजी में भी प्रचार–प्रसार आवश्यक हो गया है। पाकिस्तान और बांग्लादेश भी इस रोग से अछूते नहीं हैं।

भारत में वैश्वीकरण द्वारा अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ा है। भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक है, इसमें सत्तर प्रतिशत लोग हिंदी बोलते और समझते हैं। पाकिस्तान में जो भाषा बोली जाती है, जिसको हम उर्दू कहते हैं, वह भी हिंदी का ही एक दूसरा रूप है। मेरठ, दिल्ली की खड़ी बोली से ही हिंदी और उर्दू दोनों विकसित हुए हैं। हिंदी उर्दू की मिश्रित जनभाषा को महात्मा गाँधी ने हिंदुस्तानी नाम दिया था। पाकिस्तान के अतिरिक्त बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी आंशिक रूप से अफगानिस्तान और खाड़ी के देशों में बोली जाती है। पड़ोसी देश नेपाल और बांग्लादेश के अतिरिक्त सिंगापुर, मारीशस, त्रिनिदाद, गुयाना आदि में हिंदी बोली जाती है। विश्व में लगभग 80 करोड़ लोग हिंदी बोलते हैं। सच पूछा जाए तो जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में इतने अधिक लोग किसी एक भाषा को बोलने वाले हैं ही नहीं। चीन की मुख्य भाषा मैंडरिन है, लेकिन सभी चीनी मैंडरिन नहीं बोलते। निर्विवाद रूप से हिंदी बोलने वालों की संख्या विश्व में सबसे अधिक है। फिर भी, हिंदी जगत में अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है। उपकरण इंटरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गया है। यह वैश्वीकरण का परिणाम है।

आउटसोर्सिंग (Outsourcing)–वैश्वीकरण का एक प्रमुख एजेंट है आउटसोर्सिंग। अमेरिका तथा यूरोप के देशों में आज आउटसोर्सिंग पर गर्मागर्म बहस चल रही है। इसकी शुरुआत अमेरिका ने ही की थी। किंतु, आज वही इसे बंद करने के लिए प्रयासरत है। क्योंकि, इससे विकासशील राष्ट्रों को फायदा पहुँच रहा है। अमेरिकी खुफिया विभाग की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है एन.टी.सी. (नेशनल इंटेलिजेंस काउंसिल)। यह अमेरिकी सरकार को खुफिया जानकारियाँ तथा सलाह उपलब्ध कराती है। एन.टी.सी. प्रमुख श्री राबर्ट एल. हिकिक्स ने मार्च 2004 में अमेरिकी सरकार को एक रिपोर्ट सौंपी है। दिनांक 21 मार्च, 2004 को यह रिपोर्ट दुनिया के अखबारों में छपी। रिपोर्ट के अनुसार व्यवसाय संबंधी आउटसोर्सिंग एक नवीन रुझान है। यह कंपनियों को अपनी उत्पादन दर को घटाने में मदद करता है। इसके द्वारा भविष्य में आने वाले खतरों से अमेरिकियों को आगाह करते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि बड़े पैमाने पर विदेशी कंपनियाँ आउटसोर्सिंग द्वारा अमेरिकी सूचनाएँ और प्रौद्योगिकी चुरा रही हैं। इससे विदेशों से कंप्यूटर कोड्स और हार्डवेयर के आयात संबंधी सुरक्षा का गंभीर संकट आने वाला है।

नोट

रिपोर्ट में खुफिया प्रमुख ने आर्थिक तथा अन्य गोपनीयताओं की आउटसोर्सिंग द्वारा की जा रही चोरी से सावधान करते हुए कहा है कि आने वाले पंद्रह वर्षों में सिर्फ सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में तीस लाख रोजगार अमेरिका से बाहर चले जाएँगे। इसमें से 70 प्रतिशत भारत में, 20 प्रतिशत फिलीपींस में तथा 10 प्रतीशत चीन में रोजगार चले जाएँगे।

वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आउटसोर्सिंग तेजी से। आउटसोर्सिंग के माध्यम से विकासशील देशों में लाखों रोजगार का आगमन। यह समाचार विकासशील देशों के लिए उत्साहजनक है तथा विकसित देशों के लिए निराशाजनक है। इसीलिए आज अमेरिका में विदेशियों के लिए आउटसोर्सिंग पर प्रतिबंध लगाने की पहल जारी है।

टास्क संचार क्रांति और वैश्वीकरण पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

प्रव्रजन अथवा देशांतर (Migration)–किसी एक भौगोलिक/राष्ट्रीय क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक राष्ट्रीय क्षेत्र में सापेक्षत: स्थायी गमन की प्रक्रिया प्रव्रजन या देशांतर के नाम से जानी जाती है। भ्रमण और प्रव्रजन में अंतर है। भ्रमण पूर्णत: अस्थायी होता है, जबकि प्रव्रजन की स्थिति में स्थायित्व का तत्व विद्यमान होता है।

इसी से मिलती-जुलती दो अन्य अवधारणाएँ यथा उत्प्रवास और आव्रजन हैं। किसी व्यक्ति द्वारा अपने देश को छोड़कर दूसरे देश में जाने की प्रक्रिया 'उत्प्रवास' (एमिग्रेशन) कहलाती है। इसके विपरीत, देश में आने की प्रक्रिया को 'आव्रजन' या आप्रवास (इमाइग्रेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रव्रजन का एक दूसरा रूप भी है जिसे 'आंतरिक प्रव्रजन' कहते हैं। इस प्रकार के प्रव्रजन में एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान जैसे गाँव से शहर की ओर निष्क्रमण अथवा शहर के मध्य क्षेत्र से उपनगरों की ओर गमन की प्रक्रिया भी सम्मिलित की जाती हैं।

वैश्वीकरण द्वारा प्रव्रजन की प्रक्रिया तीव्र हुई है। एक देश के नागरिक द्वारा दूसरे देश में पूँजीनिवेश किया जा रहा है। इसके लिए उसका दूसरे देश में आना-जाना बढ़ रहा है। अविकसित तथा विकासशील देशों के दक्ष लोग रोजगार की तलाश में अमेरिकी तथा यूरोप में तेजी से अधिक संख्या में जा रहे हैं। वहीं निवास कर रहे हैं। वैश्वीकरण ने इस प्रक्रिया को गति प्रदान की है। इससे उत्प्रवास (एमिग्रेशन) की गति तीव्र हुई है।

अप्रवासी भारतीयों (एन.आर.आई.) को भारत में पूँजीनिवेश के लिए आमंत्रित किया जा रहा है। इसके लिए अप्रवासी भारतीयों को सरकारी और कानूनी स्तर पर बहुत सारी सहूलियतें मुहैया करायी गयी हैं। देश में एन. आर.आई द्वारा पूँजी निवेश को बढ़ाने हेतु उन्हें दोहरी नागरिकता की वकालत की गयी। इससे आकर्षित होकर अप्रवासी भारतीय बड़ी संख्या में भारत आ रहे हैं। वे यहाँ पूँजीनिवेश के लिए तत्पर हैं। यह प्रक्रिया दुनिया के विभिन्न देशों में जारी है। इससे आव्रजन या आप्रवास (इमाइग्रेशन) की प्रक्रिया तीव्र हुई। यद्यपि भारत सरकार द्वारा दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त किए जाने तथा दिनांक 8 जुलाई, 2004 को संसद में बजट पेश करते हुए विदेशी निवेश को बढ़ाने हेतु प्रावधान करने के बाद भविष्य में इसका क्या प्रभाव पड़ेगा यह विचारणीय विषय है।

प्रव्रजन, उत्प्रवास, आव्रजन अथवा आप्रवास के बहुआयामी परिणाम सामने आते हैं। नए देश की नयी संस्कृति में समायोजन की समस्या। नए प्रकार के प्रकार्यात्मक संबंधों (Functional Relationships) का उदय। एक संस्कृति के लोगों का दूसरे संस्कृति के लोगों के साथ मूल्य, मानक, जीवन-पद्धति, व्यवहार, अंतर्क्रियाएँ आदि के स्तर पर एका अथवा द्वंद्व। जनांकिकी (Demography) संबंधी समस्या। ये मुद्दे वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप सामने आए हैं। इन मुद्दों का समाजशास्त्रीय अध्ययन आवश्यक है। इससे वैश्वीकरण के प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

6. वैश्वीकरण एक प्रक्रिया है–
   (अ) जटिल (ब) सरल
   (स) कठिन (द) इनमें से कोई नहीं
7. वैश्वीकरण के दौरान हो रहा है–
   (अ) मुद्रा का अवमूल्यन (ब) मुद्रा का एकीकरण
   (स) मुद्रा का चलन (द) इनमें से कोई नहीं
8. उदारीकरण की नीति ने बढ़ावा दिया है–
   (अ) निजीकरण को (ब) उदारीकरण को
   (स) विकास को (द) इनमें से कोई नहीं
9. राष्ट्रवाद की प्राथमिक शर्त है–
   (अ) मुद्रा (ब) नागरिकता
   (स) अर्थव्यवस्था (द) इनमें से कोई नहीं
10. संचार क्रांति ने वैश्वीकरण को प्रदान की है–
   (अ) गति और ऊर्जा (ब) मुद्रा
   (स) नई शक्ति (द) इनमें से कोई नहीं

27.5 वैश्वीकरण का वाहक : मध्यम वर्ग (Middle Class : Carrier of Globalization)

किसी समाज की आर्थिक तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का वह भाग जिसका स्तर न तो अत्यधिक निम्न होता है और न ही अत्यधिक ऊँचा। यह सामाजिक वर्ग कुलीन वर्ग तथा सर्वहारा द्वारा बने सामाजिक माप के दो छोर बिंदुओं के मध्य में स्थित होता है। इस वर्ग में मुख्यत: सफेदपोश तथा निम्न प्रबंधकीय व्यवसायों में कार्यरत व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

यूरोपीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप एक नयी सामाजिक व्यवस्था सामने आयी। इसमें आधुनिकता ने बहुआयामी परिवर्तन किए। भारतीय पुनर्जागरण इसी की एक कड़ी है। रोजगार और व्यवसाय के नए अवसर उपलब्ध हुए। कर्मचारी तंत्र (Bureaucracy), तकनीकी तंत्र (Technocracy), वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, मझोले व्यापारिक प्रतिष्ठानों के प्रबंध निदेशक, क्षेत्रीय और प्रांतीय राजनेता, जैसे अनेकों वर्ग न सिर्फ अस्तित्व में आए वरन् ये धीरे-धीरे एक प्रभावशाली वर्ग के सदस्य बन गए। यही मध्यम वर्ग के नाम से जाना जाता है। इसने परिवर्तन के निर्वाहक की भूमिका अदा की है।

आज वैश्वीकरण का मुख्य वाहक मध्यम वर्ग है। यही बाजारवाद में मुख्य उपभोक्ता है। आज विभिन्न टी.वी. चैनल्स को सबसे अधिक मध्यमवर्ग देख रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माल की खपत करने वालों में मध्यम वर्ग अग्रणी है।

27.6 सारांश (Summary)

भारत में वैश्वीकरण द्वारा अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ा है। भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक है, इसमें सत्तर प्रतिशत लोग हिंदी बोलते और समझते हैं। पाकिस्तान में जो भाषा बोली जाती है, जिसको हम उर्दू कहते हैं, वह

नोट

भी हिंदी का ही एक दूसरा रूप है। मेरठ, दिल्ली की खड़ी बोली से ही हिंदी और उर्दू दोनों विकसित हुए हैं। हिंदी उर्दू की मिश्रित जनभाषा को महात्मा गाँधी ने हिंदुस्तानी नाम दिया था। पाकिस्तान के अतिरिक्त बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी आंशिक रूप से अफगानिस्तान और खाड़ी के देशों में बोली जाती है। पड़ोसी देश नेपाल और बांग्लादेश के अतिरिक्त सिंगापुर, मारीशस, त्रिनिदाद, गुयाना आदि में हिंदी बोली जाती है। विश्व में लगभग 80 करोड़ लोग हिंदी बोलते हैं। सच पूछा जाए तो जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में इतने अधिक लोग किसी एक भाषा को बोलने वाले हैं ही नहीं। चीन की मुख्य भाषा मैंडरिन हैं, लेकिन सभी चीनी मैंडरिन नहीं बोलते। निर्विवाद रूप से हिंदी बोलने वालों की संख्या विश्व में सबसे अधिक है। फिर भी, हिंदी जगत में अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है। उपकरण इंटरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गया है। यह वैश्वीकरण का परिणाम है।

27.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **एकीकरण** (Integration)–एक होने की स्थिति
2. **सामान्य मुद्रा** (Common Currency)–पूरे देश में चलने वाली मुद्रा

27.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्थिक वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. वैश्वीकरण के प्रभावों का वर्णन कीजिए।
3. 'राष्ट्रवाद बनाम वैश्विकवाद' से क्या तात्पर्य है?
4. संचार क्रांति और वैश्वीकरण का उल्लेख कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. यूरोप	2. नवंबर 2003	3. नकारात्मक	4. निजीकरण	5. एकीकरण
6. (अ)	7. (ब)	8. (अ)	9. (ब)	10. (अ)

27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–28 : मानवाधिकार और शिक्षा (Human Rights and Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
28.1 मानव संसाधन विकास की अवधारणा (Concept of Human Resource Development)
28.2 विनियोग के रूप में शिक्षा (Education as an Investment)
28.3 शिक्षा मानवीय पूँजी के रूप में (Education as Human Capital)
28.4 मानव शक्ति नियोजन (Man Power Planning)
28.5 आर्थिक विकास में शिक्षा की भूमिका (Role of Education in Economic Development)
28.6 शैक्षिक योजना (Educational Planning)
28.7 मानव संसाधन विकास के साधन (Sources of Human Resource Development)
28.8 मानव संसाधन विकास के लिए शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता (Need for the Change in Education for Human Resource Development)
28.9 सारांश (Summary)
28.10 शब्दकोश (Keywords)
28.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
28.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मानव संसाधन विकास की अवधारणा जानने हेतु।
- मानव शक्ति नियोजन जानने हेतु।
- शैक्षिक योजना जानने हेतु।
- आर्थिक विकास में शिक्षा की भूमिका जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

शिक्षा द्वारा मानव की योग्यता, क्षमता और कुशलता का विकास होता है और ऐसा योग्य, सक्षम और कुशल मानव ही समाज का, देश का और आर्थिक जगत का विकास कर सकता है। जिस प्रकार धन एक पूँजी है, एक साधन है, उसी प्रकार मानव भी एक पूँजी है, एक साधन है और उसे शिक्षा देकर हम देश के मानव संसाधन का विकास कर सकते हैं। अब सभी देशों में शिक्षा द्वारा मानव संसाधन विकास की बात को स्वीकार कर लिया गया

नोट

है। हमारे देश में भी पहले शिक्षा से संबंधित सभी क्षेत्रों और अंगों के संगठन, व्यवस्था, योजना और प्रशासन आदि के लिए शिक्षा मंत्रालय उत्तरदायी था, लेकिन राजीव गांधी काल में इसका नाम बदलकर और इसके क्षेत्र को व्यापक बनाकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया है, जिससे अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके और शिक्षा सच्चे अर्थों में मानव संसाधनों का विकास कर सके।

28.1 मानव संसाधन विकास की अवधारणा (Concept of Human Resource Development)

आज का युग नियोजित विकास का युग है। संसार का प्रत्येक देश योजनाबद्ध होकर आर्थिक प्रगति की ओर बढ़ रहा है। विकास के इस रूप में प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक, मानवीय तथा अन्य संसाधनों का नियोजन इस प्रकार से करता है कि उनका पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। शिक्षा इस कार्य में सहायता करती है। जिस देश की शिक्षा व्यवस्था जितनी नियोजित तथा आर्थिक जीवन से संबद्ध होती है, वह देश उतनी ही तेजी से आर्थिक विकास करता है। जिस देश की मानव शक्ति जितनी अधिक कुशल, निपुण और प्रशिक्षित होती है, उस देश की प्रगति उतनी ही अधिक तेजी से होती है। मानव शक्ति को कुशल बनाने का कार्य शिक्षा ही करती है। आवश्यकता इस बात की होती है कि शिक्षा अपना कार्य आर्थिक विकास के साथ संबंद्ध होकर करे। यदि शिक्षा का कार्य केवल ज्ञानार्जन तक या पढ़ना-लिखना और गणित सिखाने तक या केवल बौद्धिक क्षमता बढ़ाने तक ही सीमित रहा तो इसका देश के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इसके कारण आर्थिक विकास के बहुत-से क्षेत्रों में कुशल व्यक्ति नहीं मिल पायेंगे और उनके लिए या तो हम विदेशों पर आश्रित होंगे या हमारा विकास कार्य अवरुद्ध हो जाएगा। इसलिए शिक्षा को आर्थिक विकास की दृष्टि से नियोजित करना आवश्यक है। आज शिक्षा केवल ज्ञानार्जन के लिए न होकर देश के आर्थिक विकास के लिए भी है। शिक्षा द्वारा मानव की योग्यता, क्षमता और कुशलता का विकास होता है और ऐसा योग्य, सक्षम और कुशल मानव ही समाज का, देश का और आर्थिक जगत का विकास कर सकता है। जिस प्रकार धन एक पूँजी है, एक साधन है, उसी प्रकार मानव भी एक पूँजी है, एक साधन है और उसे शिक्षा देकर हम देश के मानव संसाधन का विकास कर सकते हैं। अब सभी देशों में शिक्षा द्वारा मानव संसाधन विकास की बात को स्वीकार कर लिया गया है। हमारे देश में भी पहले शिक्षा से संबंधित सभी क्षेत्रों और अंगों के संगठन, व्यवस्था, योजना और प्रशासन आदि के लिए शिक्षा मंत्रालय उत्तरदायी था, लेकिन राजीव गांधी काल में इसका नाम बदलकर और इसके क्षेत्र को व्यापक बनाकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया है, जिससे अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके और शिक्षा सच्चे अर्थों में मानव संसाधनों का विकास कर सके।

नोट्स शिक्षा किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, इसलिए शिक्षा को पूँजी कहा जाता है।

28.2 विनियोग के रूप में शिक्षा (Education as an Investment)

विनियोग का अर्थ ऐसे पूँजीगत साधनों से है, जो किसी लाभकारी उत्पादन में लगे हैं अर्थात् जो व्यय से अधिक लाभ प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि जब धन को किसी काम में इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि भविष्य में उससे और अधिक धन प्राप्त हो, तो उसे विनियोग कहते हैं। शिक्षा को विनियोग इसलिए कहा जाता है कि शिक्षा पर जो धनराशि व्यय की जाती है, वह उत्पादक होती है और उससे अधिक मात्रा में उत्पादन होता है। सामान्यत: किसी उद्योग में जो पूँजी लगायी जाती है, उससे अधिक पूँजी भविष्य में मिल जाती है। इसी प्रकार शिक्षा में विद्यालय भवन, फर्नीचर, शिक्षण-उपकरण, शिक्षकों के वेतन आदि पर जो पूँजी लगायी जाती है, उससे प्रशिक्षित और कुशल श्रमिक प्राप्त होते हैं, अच्छे प्रशासक और तकनीकी-विशेषज्ञ तैयार होते

नोट

हैं, नयी-नयी विधियों-प्रविधियों की खोज होती है, जिससे उत्पादन और लाभांश में वृद्धि होती है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है और देश का आर्थिक विकास होता है। इस प्रकार शिक्षा पर लगायी गयी पूँजी परोक्ष रूप से बढ़कर देश को प्राप्त हो जाती है। शिक्षा में जितनी पूँजी लगायी जाती है, देश का विकास उतना ही अधिक होता है।

मार्शल (Marshall) ने कहा था कि सबसे अधिक मूल्यवान पूँजी वह है, जो मनुष्य पर विनियोजित की जाती है। साम्यवादी विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) ने श्रमिकों को समुचित मात्रा में शिक्षित करने की बात कही थी। अमेरिका में प्रयोजनवादी शिक्षा के विकास के साथ ही साथ शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान शिक्षा के अर्थशास्त्र की ओर गया और वे समस्त शैक्षिक प्रयासों के प्रतिफलों का मूल्यांकन आर्थिक उपलब्धियों के रूप में करने लगे। रूस के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री **स्टूमिलिन** (Strumilin) ने प्रदत्तों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि श्रमिकों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने पर उत्पादन में 44 प्रतिशत वृद्धि पाई गयी। इसी प्रकार ब्रिटेन के अर्थशास्त्री **फैब्रीकैण्ट** (Fabricant) और **जॉन बेजी** (John Baji) तथा फ्रांस के **माइबेज डेवानेश** (Maybaj Dewanesh) ने यह बताया कि शिक्षा का राष्ट्र के उत्पादन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस विषय पर अनेक शोध-अध्ययन हुए और उनसे यह निष्कर्ष निकला कि शिक्षा पर किया गया व्यय उत्पादक होता है। यूनेस्को (UNESCO) ने **'विनियोग के रूप में शिक्षा'** का बड़ी दृढ़ता के साथ समर्थन किया और कहा कि **'शिक्षा स्वयं में विनियोग है'** (Education is an Investment in Itself)। आज सभी अर्थशास्त्री, सभी शिक्षाशास्त्री, सभी उद्योगपति और सभी राष्ट्र यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा पर व्यय करना उतना ही लाभकारी है, उतना ही उपयोगी है और उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना उद्योगों पर व्यय करना। आज सभी यह स्वीकार करते है कि उन्नत शिक्षा व्यवस्था के बिना औद्योगिक, व्यावसायिक, तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति संभव नहीं है। इसलिए आज संसार के सभी देशों ने शिक्षा पर अधिकाधिक व्यय करना प्रारंभ कर दिया है।

शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय और उसके प्रतिफल पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय विनियोग है।

1. शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी होती है। जो राष्ट्र, समाज, तकनीकी और विज्ञान की शिक्षा पर जितना अधिक व्यय करता है, उसकी राष्ट्रीय आय उतनी ही अधिक होती है।
2. शिक्षा का नियोजन करते समय समाज की माँग और उसके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करने का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है, उनमें उतना ही अधिक प्रतिफल प्राप्त होता है।
3. अपनी शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय से व्यक्ति की आय प्रभावित होती है, जैसे उद्योगों में साधारण प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति को कम वेतन मिलता है, डिप्लोमाधारियों को उनसे अधिक वेतन मिलता है और इंजीनियरों को उनसे भी अधिक वेतन मिलता है।
4. किसी भी कार्य में अधिक शिक्षित व्यक्ति कम शिक्षित व्यक्ति की तुलना में अधिक दक्षता, कुशलता और योग्यता से कार्य करता है और उसके अनुसार अधिक वेतन व सुविधाएँ भी प्राप्त करता है।
5. उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति में नए-नए विचारों और साधनों को ग्रहण करने की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है, जिससे वह निरंतर आर्थिक प्रगति करने में सफल होता है।
6. धनोपार्जन से ज्ञान का सीधा संबंध है। कृषि से संबंधित ज्ञान प्राप्त व्यक्ति उस किसान की अपेक्षा अधिक उत्पादन करता है, जिसने कृषि संबंधी ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। एक डी.एम.एम.एस., एम.डी. या चिकित्सा क्षेत्र में उच्च शिक्षा प्राप्त चिकित्सक अधिक धनोपार्जन करता है, अपेक्षाकृत एक कम डिग्री प्राप्त चिकित्सक की तुलना में। इस प्रकार इनकी शिक्षा पर किया गया व्यय अपने में विनियोग है।

शिक्षा पर लगायी जाने वाली पूँजी से चार प्रकार के प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं–(1) मुद्रा के रूप में प्रतिफल, (2) मुद्रारहित प्रतिफल, (3) व्यक्तिगत प्रतिफल, (4) सामाजिक प्रतिफल। यदि व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करके धनोपार्जन करता है, तो इसे मुद्रा के रूप में प्रतिफल कहा जाता है। शिक्षित व्यक्ति की यह आय उसका व्यक्तिगत प्रतिफल है, लेकिन जब उसकी ऊँची शिक्षा का कुछ लाभ नौकरी प्रदान करने वाली संस्था या समाज को भी

नोट

मिलता है तो वह लाभ सामाजिक प्रतिफल कहलाता है। यह भी संभव हो सकता है कि शिक्षा प्राप्त व्यक्ति की आय अधिक न हो, लेकिन उसको संतोष बहुत अधिक हो, उसको उससे संतुष्टि मिलती हो तो यह संतोष और संतुष्टि मुद्रारहित प्रतिफल कहलाएगी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शिक्षा द्वारा मानव की योग्यता, क्षमता और ..... का विकास होता है।
2. शिक्षा ..... का बड़ा ही सशक्त साधन है।

28.3 शिक्षा मानवीय पूँजी के रूप में (Education as Human Capital)

शिक्षा किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, इसलिए शिक्षा को पूँजी कहा जाता है। **मार्शल** (Marshall) के अनुसार सभी पूँजियों में सर्वाधिक मूल्यवान पूँजी वह होती है, जो सब प्राणियों में निवेशित की जाती है। वस्तुत: शिक्षा मानवीय पूँजी है, क्योकि यह मनुष्य की योग्यता और कार्यक्षमता में वृद्धि करती है। शिक्षा को पूँजी मानने के पक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं–

1. शिक्षा आर्थिक विकास में सहायक है।
2. शिक्षा पर व्यय करके प्रशिक्षित और कुशल जनशक्ति का निर्माण किया जाता है और यह जनशक्ति राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाकर राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में सहयोग देती है।
3. पूर्णत: शिक्षित और विभिन्न व्यवसायों में प्रशिक्षित व्यक्ति के कार्य करने के ढंग में अशिक्षित और अप्रशिक्षित व्यक्ति की तुलना में अधिक प्रभाव होता है।
4. शिक्षित व्यक्ति की योग्यता और कार्य क्षमता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी शिक्षा पर जितना धन व्यय होता है, वह उससे अधिक अर्जित करने ही क्षमता रखता है।
5. मानवीय पूँजी निर्माण के बहुत-से-साधनों में औपचारिक शिक्षा सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है, क्योंकि यह मानवीय पूँजी के आर्थिक मूल्य को बढ़ा देती है। इससे व्यक्ति की भविष्य में अर्जित करने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है।
6. मानवीय पूँजी जहाँ शारीरिक श्रम के रूप मे पूँजी है, वहाँ दूसरी ओर बौद्धिक शक्ति के रूप में भी पूँजी है।

इस प्रकार शिक्षा अनिवार्यत: मानवीय पूँजी है। यह प्रत्यक्षत: मानव का गुणात्मक एवं योग्यात्मक विकास करती है और सामाजिक पूँजी का निर्माण करती है।

28.4 मानव शक्ति नियोजन (Man Power Planning)

किसी भी राष्ट्र की उन्नति और विकास उसके भौतिक साधनों पर ही निर्भर नहीं करता, वरन् कुशल मानव शक्ति भी आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है और इस मानव शक्ति को अपने कार्य में कुशल बनाने का कार्य शिक्षा ही करती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बिजली, परिवहन, इस्पात, कोयला आदि भौतिक साधन आर्थिक विकास में सहायक तत्व हैं, लेकिन इन साधनों का परिचालन करने वाला तो मानव ही है। जब तक उसमें अपेक्षित ज्ञान, कौशल और अभिप्रेरणा नहीं होगी, तब तक इन उपलब्ध साधनों का सही ढंग से सदुपयोग नहीं हो पाएगा। आर्थिक विकास के लिए व्यक्तियों को कार्य करने के वैज्ञानिक एवं तकनीकी ढंगों की जानकारी होना परम आवश्यक है और यह कार्य शिक्षा ही संपन्न करती है। शिक्षा कृषि उत्पादन और लघु एवं व्यापक उद्योगों को करने की नई वैज्ञानिक तकनीकी और ढंगों से व्यक्तियों को अवगत कराती है और मानव शक्ति को कुशल बनाकर आर्थिक विकास का द्वार खोलती है। मानव शक्ति नियोजन का अर्थ है–मानव की कार्यक्षमता

नोट

को बढ़ाना, उसे नयी तकनीकी की जानकारी देना और देश-विदेश में कृषि और उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों से अवगत कराना। मानव स्वयं एक शक्ति है—आर्थिक दृष्टि से पूँजी के रूप में और आर्थिक समृद्धि के सबल साधन के रूप में।

क्या आप जानते हैं विनियोग का अर्थ ऐसे पूँजीगत साधनों से है, जो किसी लाभकारी उत्पादन में लगे हैं।

28.5 आर्थिक विकास में शिक्षा की भूमिका (Role of Education in Economic Development)

आर्थिक विकास का अर्थ किसी देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income), सकल राष्ट्रीय लाभ (Gross National Profit) और प्रति व्यक्ति औसत आय (Per-capita Income) तथा सामग्री उत्पादन की मात्रा व सेवाओं के परिणाम की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से है। इसके लिए पूँजी, साधन, श्रम, संगठन तथा साहस की आवश्यकता होती है। उत्पादन में प्राकृतिक संसाधन तथा मानवीय संसाधन दोनों ही आवश्यक होते हैं। प्राकृतिक संसाधन के अंतर्गत कच्चा माल, खनिज पदार्थ तथा उपयुक्त पर्यावरण और मानवीय संसाधन में मनुष्य की शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ आती हैं मानव किसी वस्तु के उत्पादन के लिए श्रम करते हैं, प्रकृति से कच्चा माल प्राप्त कर, कल यंत्रों को चलाकर उसे समाजोपयोगी सामग्री में परिवर्तित करते हैं और उस सामग्री को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए वाणिज्य-व्यापार का संगठन करते हैं। इस प्रकार आर्थिक विकास की प्रत्येक प्रक्रिया में मानव शक्ति की आवश्यकता होती है वस्तुतः किसी देश का आर्थिक विकास दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथम-देश के पास उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन किस मात्रा में हैं और द्वितीय-इन साधनों का दोहन करने के लिए कितना और कैसा श्रम उपलब्ध है, जो देश कुशल और पर्याप्त श्रम के द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग करते हैं, वे देश ही आर्थिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ते हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम दोहन और उपभोग किस प्रकार से किया जाए, यह कुशलता केवल शिक्षा के द्वारा ही श्रमिकों में पैदा की जा सकती है।

शिक्षा के द्वारा देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, सकल राष्ट्रीय लाभ में वृद्धि होती है और प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि होती है। शिक्षा श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि कर उत्पादन लागत को कम करती है तथा उत्पादन को उत्तम और अधिक करती है, इससे सकल राष्ट्रीय लाभ पर बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है और सकल राष्ट्रीय लाभ (GNP) बढ़ाता है और देश का आर्थिक विकास होता है। शिक्षा व्यक्ति को न केवल उत्पादन करना सिखाती है, वरन् वह इसके द्वारा समुचित रूप से उपभोग करना भी सीख जाता है और उत्पादन तथा उपयोग के सिद्धांतों तथा नियमों का पालन करते हुए वह अपनी आय में वृद्धि करता है, जिससे समाज और देश की आय में वृद्धि होती है और देश का आर्थिक विकास होता है। इस प्रकार किसी देश के आर्थिक विकास में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। संसार में अनेक देशों के ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने शिक्षा के सहारे ही अपना तीव्र आर्थिक विकास किया है। जापान ने केवल शिक्षा के माध्यम से ही द्वितीय विश्व युद्ध में ध्वंस हुई अपनी अर्थव्यवस्था को थोड़े समय में ही न केवल सुव्यवस्थित किया वरन् अपने देश को विश्व के विकसित देशों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने व्यावसायिक, प्राविधिक, वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा के द्वारा अपने प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग करके संसार में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। डेनमार्क ने शिक्षा के द्वारा ही दुग्ध व्यवसाय को अपनाया, विकसित किया और शिखर पर पहुँचाकर अपने देश का आश्चर्यजनक आर्थिक विकास किया। रूस, जर्मनी, कनाडा आदि देशों ने भी शिक्षा के माध्यम से ही अपना आर्थिक विकास किया है।

नोट

शिक्षा आर्थिक विकास का बड़ा ही सशक्त साधन है। इस संबंध में अमेरिकी अर्थशास्त्री **शुल्ज** (Schultz) का कहना है, **''कल्पना कीजिए कि एक अर्थव्यवस्था में पर्याप्त भूमि है, अच्छी भौतिक परिस्थितियाँ हैं, पर्याप्त पूँजी है, उत्पादन की तकनीकी भी है, लेकिन प्रशिक्षित श्रमिक नहीं हैं, जिन्होंने किसी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की हो, जो स्थानीय अर्थव्यवस्था के अलावा किसी अन्य अर्थव्यवस्था का ज्ञान न रखते हों। यह निश्चित है कि इस प्रकार की स्थिति में तब तक उत्पादन कम होगा, आर्थिक संगठनों में कठोरता होगी, जब तक कि मानव में विनियोग करके उनकी क्षमताओं में पर्याप्त वृद्धि नहीं कर दी जाती।''** इस प्रकार शिक्षा द्वारा किसी देश के व्यक्तियों की योग्यता, क्षमता और निपुणता में जितना अधिक विकास किया जाएगा, उन्हें उत्पादन के प्रति जितना अधिक सचेत किया जाएगा और उत्पादन के क्रय-विक्रय में जितना अधिक चतुर बनाया जाएगा, उतना ही उस देश का आर्थिक विकास अधिक होगा। इस क्षेत्र में किए गए शोध कार्यों से यह निष्कर्ष निकला है कि किसी देश का आर्थिक विकास प्राकृतिक संसाधनों की अपेक्षा मानवीय संसाधनों पर अधिक निर्भर करता है और मानवीय संसाधनों का विकास शिक्षा पर निर्भर करता है। मानवीय संसाधनों के विकास में शिक्षा निम्न प्रकार से अपनी भूमिका अदा करती है–

1. शिक्षा प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग कर आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। संसार के कुछ देश जैसे अरब, ब्राजील, मैक्सिको आदि में प्राकृतिक संपदाओं का विशाल भण्डार है, लेकिन शैक्षिक सुविधाओं के अभाव में वे इनका पूर्ण सदुपयोग नहीं कर पाए, जिससे उनका पर्याप्त आर्थिक विकास नहीं हो पाया है। इसके विपरीत जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क आदि देशों ने अपने सीमित प्राकृतिक साधनों का भरपूर सदुपयोग कर प्रशंसनीय आर्थिक विकास किया है।
2. शिक्षा द्वारा तकनीकी क्षेत्र मे क्रांति लायी जाती है। तकनीकी क्रांति का प्रभाव देश की उत्पादन क्षमता पर पड़ता है और उसमें वृद्धि होती है।
3. शिक्षा द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि के नए-नए मार्ग सुलभ होते हैं। कृषि ज्ञान का उपयोग कर ग्रामीण अपने उत्पादन में वृद्धि करते है और सहायक उद्योग-धंधों को अपनाते हैं।
4. शिक्षा श्रमिकों की कार्य-कुशलता मे वृद्धि करती है। उनमें अधिक कार्य करने की आकांक्षा का विकास करती है।
5. शिक्षा देश की आर्थिक व्यवस्था के दोषों को दूर कर उसे अधिक प्रभावी बनाती है।
6. शिक्षा व्यक्ति में सोचने-विचारने, अंतर करने, तर्क करने, तुलना करने, कल्पना करने और विश्लेषण करने की क्षमता का विकास करती है, जिससे व्यक्ति के रहन-सहन, कार्य करने के ढंग और उत्पादन क्षमता पर प्रभाव पड़ता है।
7. शिक्षा व्यक्ति के दृष्टिकोण और चिंतन को नयी दिशा देती है, जिससे उत्पादन, व्यवस्था, संगठन पूँजी निर्माण आदि के संबंध में उसकी धारणाओं में परिवर्तन होता है।
8. शिक्षा वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसंधानों पर बल देती है, जिससे नयी-नयी तकनीकी का विकास संभव हो पाता है।
9. शिक्षा औद्योगिक प्रशासकों को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।
10. शिक्षा तकनीकी विशेषज्ञों और कृषि विशेषज्ञों आदि को तैयार करती है।
11. शिक्षा व्यय भी अन्य पूँजीगत विनियोगों के ही समान है।
12. शिक्षा श्रमिकों को नयी-नयी प्रविधियों का ज्ञान कराकर उनकी उत्पादनशीलता में वृद्धि करती है, जिससे सकल उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।
13. शिक्षा श्रमिकों का गुणात्मक विकास करती है। उनमें चारित्रिक गुणों का विकास कर और उनको अनैतिक कार्यों से बचाकर उनके स्वास्थ्य की रक्षा करती है। अच्छे स्वास्थ्य से वे अधिक परिश्रम कर सकते हैं और सुखी रह सकते हैं।

नोट

आर्थिक विकास के लिए सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है। समान्य शिक्षा बालकों के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और नैतिक विकास में सहायता करती है। इसमें भाषा ज्ञान, अभिव्यक्ति कौशल, समायोजन और परिवर्तनशीलता पर विशेष बल दिया जाता है। इन गुणों और क्षमताओं का उत्पादन और वितरण कुशलता पर लगभग उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना उत्पादन और वितरण संबंधी तथ्यों के ज्ञान एवं कौशल का पड़ता है। अत: विशिष्ट तकनीकी ज्ञान और कौशलों के प्रशिक्षण से पहले व्यक्ति के लिए सामान्य शिक्षा की आवश्यकता होती है। विशिष्ट शिक्षा व्यक्तियों को विशिष्ट क्षेत्रों में कार्य करने के लिए तैयार करती है जैसे कृषि, भारी उद्योग, कुटीर उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्माण, न्याय आदि। इसका उद्देश्य इन क्षेत्रों में कुशल कृषक, कर्मकार, इंजीनियर, डॉक्टर, तकनीशियन, प्रशासक आदि को तैयार करना होता है। इस प्रकार शिक्षा के द्वारा अच्छे, योग्य, परिश्रमी, कर्मठ, कार्यकुशल व्यक्ति तैयार करके उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है, वितरण की दशाओं को उत्तम बनाया जा सकता है और व्यवस्था व प्रबंधन को श्रेष्ठ रूप दिया जा सकता है तथा देश का आर्थिक विकास किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी देश के आर्थिक विकास में शिक्षा की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. शिक्षा आर्थिक विकास में होती है–

   (अ) सहायक (ब) बाधक (स) रुकावट (द) इनमें से कोई नहीं

4. शिक्षा पर व्यय करने से राष्ट्रीय आय में होती है–

   (अ) कमी (ब) बढ़ोतरी (स) हानि (द) इनमें से कोई नहीं

5. धनोपार्जन से ज्ञान का है–

   (अ) सीधा संबंध (ब) लाभ (स) उपार्जन (द) इनमें से कोई नहीं

6. शिक्षा पर लगाई जाने वाली पूँजी से प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं–

   (अ) छह प्रकार के (ब) चार प्रकार के (स) दो प्रकार के (द) इनमें से कोई नहीं

28.6 शैक्षिक योजना (Educational Planning)

शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति सुनियोजित कार्यक्रमों द्वारा ही हो सकती है। किसी भी समाज में योजना प्रणाली के द्वारा मूलभूत मूल्यों व उद्देश्यों पर आधारित समाज तंत्र की संरचना की जा सकती है। योजना में सामाजिक पहलुओं के अलावा आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक पहलुओं पर भी ध्यान दिया जाता है। भारत एक विशाल राष्ट्र है। यहाँ विभिन्न प्रकार के संसाधन (मानव शक्ति, खनिज संपदा आदि) उपलब्ध हैं, फिर भी इसकी गणना विकासशील देशों में ही की जाती है। देश के विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक परिवर्तन लाना आवश्यक है । शिक्षा को एक अच्छे निवेश के रूप में माना जा सकता है। हमारे लिए आज तकनीक की आवश्यकता है, जिससे हम प्राकृतिक एवं जन संसाधनों का समुचित उपयोग कर पाएँ। यह सब कार्य करने के लिए देश में अच्छी योजना बनाने का अपना एक अलग महत्त्व है। योजना में भी शैक्षिक योजना पर विशिष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए। अच्छी शैक्षिक योजना द्वारा हम मनवांछित सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं, प्रत्येक नागरिक को साक्षरता के एक स्तर तक विकसित कर सकते हैं, जनतंत्र के लिए योग्य नागरिक तैयार कर सकते हैं और देश के लिए आवश्यक विज्ञान व शिक्षाशास्त्र का विकास कर सकते हैं। विकसित देशों में शैक्षिक योजना को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हमें भी अपने भारतीय समाज के उत्थान के लिए सुनियोजित कार्यक्रमों की आवश्यकता है, जिससे आज के बदलते हुए आर्थिक व सामाजिक परिवेश में दूसरे देशों से होड़ ले सकें।

नोट

योजना का अर्थ (Meaning Planning)

शब्दकोश के आधार पर आयोजना या नियोजन अथवा योजना का अर्थ रचना से अथवा समय से पूर्व क्रमबद्ध करने से है। योजना में किसी प्रयोजन से कार्य करना, चयन करना, दोनों ही बातों का समावेश हो जाता है। योजना एक प्रकार की प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के निर्णय लिए जाते हैं। निर्णयों के समूहों पर विचार किया जाता है, जिसके द्वारा भविष्य में उद्देश्य प्राप्ति के लिए निर्देशित कार्य ऐच्छिक संसाधन द्वारा किए जा सकें। इस परिभाषा में निम्नलिखित तत्व सम्मिलित हैं–(1) यह एक प्रक्रिया है; (2) इसमें प्राप्त उद्देश्यों पर पहले से ही विचार किया जाता है; (3) क्रिया करने के लिए अवस्थान (Orientation) पर महत्त्व है; (4) भविष्य के बारे में अवस्थान पर बल दिया जाता है; (5) इसमें उन निर्णयों के समूह को ढूंढा जाता है, जो उद्देश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं; (6) न्यायसंगत चुनाव द्वारा विभिन्न विकल्पों पर विचार किया जा सकता है; (7) विभिन्न प्रकार के संयोगों (संभावित) द्वारा दुर्लभ संसाधनों (Resources) का बंटवारा करने की प्रक्रिया का विकास किया जाता है।

शैक्षिक योजना का अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics of Educational Planning)

शैक्षिक योजना एक प्रकार की प्रक्रिया है, जिसमें पूर्व निर्धारित शैक्षिक उद्देश्यों को एक निश्चित अवधि में प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के निर्णयों के समूहों का चयन किया जाता है, जिससे कि इन्हें सरलता से कार्य रूप में लाया जा सके। **जे. पी. नायक के** शब्दों में, **''शैक्षिक योजना का अर्थ भविष्य की क्रियाओं के बारे में निर्णय लेना है, यह ध्यानगत करके कि पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति दुर्लभ संसाधनों का समुचित उपयोग करते हुए करनी है।''**

पूर्वनिर्धारित उद्देश्यों के लिए विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है, जिसमें शिक्षा को राष्ट्रीय विकास से संबंधित करना, शिक्षा की विषय-वस्तु, शैक्षिक मापदंड, शैक्षिक शिल्पशास्त्र, शैक्षिक सुविधाओं का प्रसार, देश की संस्कृति, सामाजिक प्रणाली तथा सामाजिक परिवर्तन आदि सम्मिलित हैं। दुर्लभ संसाधनों में समय, भौतिक साधन (भवन, समान, वैज्ञानिक उपकरण आदि), धन तथा योग्य मानव शक्ति (Able man power) आदि पर गहन अध्ययन किया जाता है। इन सब के साथ निर्णय लेने की प्रक्रिया का अपना एक विशेष महत्त्व है।

शैक्षिक योजना में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए–

1. शैक्षिक योजना अवस्थित होनी चाहिए। शिक्षा तंत्र को बिना किसी अपव्यय के कार्य करना चाहिए तथा इसका कार्य भी सुचारू रूप से चलना चाहिए। इसमें यह माना जाता है कि शिक्षा प्रणाली एक प्रकार की यांत्रिक प्रणाली है, जिसके द्वारा वांछित परिणाम, सफलतापूर्वक प्राप्त किए जा सकते हैं।
2. शैक्षिक योजना विकास अवस्थित होनी चाहिए। देश का सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण उत्पादन पर भी अपना प्रभाव डालता है। इसी तरह से शिक्षा का भी प्रभाव उत्पादनशीलता से संबंधित है। शिक्षा तंत्र के द्वारा राष्ट्रीय संपदा में वृद्धि होनी चाहिए।
3. इसमें समाकलन (Integration) करने की विशेषता होनी चाहिए। शैक्षिक योजना इस प्रकार की हो, जिससे विकास संबंधित विभिन्न पक्षों की योजनाओं का सरलता से समाकलन किया जा सके।
4. यह समाज की आवश्यकताओं पर आधारित होती चाहिए। प्रत्येक समाज में विकास प्रक्रिया चलती रहती है। इस विकास प्रक्रिया का सीधा संबंध आवश्यकताओं से होता है। शैक्षिक योजना भी इस प्रकार की हो, जिससे इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।
5. शैक्षिक योजना में भविष्य की आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। ज्ञान का विस्फोट (Knowledge explosion) तीव्र गति से हो रहा है। इसके कारण समाज में परिवर्तन आ रहे हैं। विज्ञान व शिल्प शास्त्र का प्रभाव मानव जीवन पर तेजी से बढ़ रहा है। इन सबका विश्लेषण करके भविष्य की शिक्षा प्रणाली पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

नोट

6. इसमें सामाजिक व नैतिक मूल्यों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। आज के मानव का जीवन यान्त्रिक होता जा रहा है। सामाजिक व नैतिक मूल्यों का मापदंड भी यान्त्रिक होता जा रहा है। आज मानव हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष आदि से तृषित है। शिक्षा के द्वारा ही सामाजिक व नैतिक मूल्य समुचित रूप से स्थापित किए जा सकते हैं।
7. शैक्षिक योजना में सुखी जीवन बिताने के पक्ष को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। आज मानव भौतिक सुविधाओं को प्राप्त करने में ही अपना जीवन नष्ट कर देता है। वह भौतिकता को ही सुखी जीवन मानता है। एक स्तर पर पहुँच कर उसे वास्तविकता का बोध होता है कि सुखी जीवन केवल भौतिकता ही नहीं है। इस बात का भी ध्यान शैक्षिक योजना में रखा जाना चाहिए।
8. शैक्षिक योजना में लचीलापन होना चाहिए। इस प्रकार का प्रावधान होना चाहिए कि इसमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार फेर बदल किया जा सके। लेकिन इस फेर बदल का मूल रूप से शैक्षिक योजना पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

विभिन्न स्तरों पर शैक्षिक योजना (Educational Planning at Different Levels)

शैक्षिक योजनाएँ विभिन्न स्तरों पर बनाई जाती हैं, जिनमें समन्वय करना आवश्यक हो जाता है। यह चार स्तर हैं–(1) राष्ट्रीय स्तर (National level), (2) राज्य स्तर (State level), (3) जिला स्तर (District level), (4) संस्था स्तर (Institutional level)। प्रत्येक स्तर पर योजना बनाने मे महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं। हमारे शिक्षातंत्र में बहुत-से निर्णय राष्ट्रीय स्तर पर लिए जाते हैं तथा दूसरे कुछ ऐसे हैं, जो राज्य स्तर पर विशेष महत्त्व रखते हैं। हमारे शिक्षा तंत्र में कुछ बातों का निर्णय राज्य स्तर पर लिया जाता है, जैसे विभिन्न कक्षाओं का पाठ्यक्रम, अध्यापकों के वेतनमान आदि। इस प्रकार इन पहलुओं पर विचार करना जिला स्तर की योजना में बेकार है।

जिला स्तर पर शैक्षिक योजना (Educational Planning at District Level)

जिला स्तर पर शैक्षिक योजना बनाने का कार्य सर्वथा नया नहीं है। जिला स्तर की शैक्षिक योजना में वे ही शैक्षिक क्रियाएँ सम्मिलित की जाएँगी, जिनमें जिले के स्तर पर समय-समय में परिवर्तन होता रहता है। जिला स्तर पर प्रथम शैक्षिक योजना बनाने में इन सब क्रियाओं का ध्यान रखना पड़ता है। यह वास्तविकता पर आधारित हो तथा व्यावहारिक पहलू भी उचित रूप से विचारा गया हो। राज्य शिक्षा निदेशालय के अधिकारियों को चाहिए कि वह जिला स्तर की शैक्षिक योजना में उचित निर्देशन देते रहें। **जे. पी. नायक** ने सुझाव दिया है कि इस प्रकार की योजना में जिला स्तर के शिक्षा अधिकारियों को संबंधित विद्यालयों, अध्यापकों का भी सहयोग लेना चाहिए। जिला स्तर की शैक्षिक योजना मे निम्नलिखित कार्य सम्मिलित किए जा सकते हैं–

(1) विद्यालयों में शैक्षिक सुविधाओं का विकास–विद्यालय भवन, खेल के मैदान, प्रयोगशालाएँ, पुस्तकालय, दृश्य-श्रव्य सामग्री आदि। (2) कार्य-अनुभव; (3) सामाजिक सेवा कार्यक्रम; (4) समुदाय केन्द्रित कार्यक्रम; (5) सामाजिक एवं प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम; (6) समुदाय के संसाधनों का उपयोग; (7) विद्यालयों को खोलने के लिए स्थलों का निर्धारण; (8) शिक्षा को जिले में उपलब्ध रोजगारों से संबंधित करना; (9) निर्देशन सेवाओं का विकास करना; (10) संस्थाओं का अपने आस-पास के पर्यावरण को समुचित सेवा प्रदान करना; (11) जिले में बढ़ते हुए नामांकनों का विश्लेषण करना; (12) पर्यवेक्षण कार्यक्रम; (13) विद्यालय निरीक्षण; (14) शिक्षकों के व्यावसायिक विकास कार्यक्रम; (15) अच्छे मानव संबंधों का विकास आदि।

संस्थागत योजना (Institutional Planning)

जे. पी. नायक के अनुसार संस्थागत योजना एक प्रकार से भविष्य में किए जाने वाले कार्यों के लिए निर्णय लेना है, जिसके द्वारा पूर्व निर्धारित शैक्षिक उद्देश्यों को, विभिन्न प्रकार के संसाधनों का आवश्यक एवं समुचित उपयोग करते हुए प्राप्त किया जा सके। संस्थागत योजना के उद्देश्य शैक्षिक योजना के उद्देश्यों से अलग नहीं किए जा सकते केवल पूर्ववर्तिताओं तथा परिमाण में कुछ अंतर किया जा सकता है। संस्थागत योजना बनाने में निम्न पहलुओं पर ध्यान देना आवश्यक है–(1) शिक्षा अनुदेश में सुधार, (2) विद्यालय की सुविधाओं में सुधार,

नोट

(3) संसाधनों का आवश्यक व समुचित उपयोग, (4) स्थानीय समुदाय का विद्यालय के विभिन्न कार्यक्रमों में सहयोग, (5) विद्यालय को समुदाय-केन्द्रित बनाने से संबंधित विभिन्न कार्यक्रमों का विकास जैसे–सामाजिक सेवा, प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, युवा-सेवा आदि, (6) विद्यालय भवन का रखरखाव, (7) पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन, (8) विद्यालय की आवश्यकताओं को पहचानना, (9) स्थानीय संसाधनों का उचित मात्रा में उपयोग, (10) परीक्षा एवं मूल्यांकन विधियों में सुधार, (11) निर्देशन सेवाओं के साथ समन्वय, (12) जिला स्तर की योजना के साथ समन्वय, (13) विद्यालय नामांकन, (14) विद्यालय पर्यवेक्षण कार्यक्रम, (15) विद्यालय निरीक्षण से प्राप्त सुझावों को लागू करना, (16) विद्यालय के पर्यावरण को स्वस्थ रखना।

शैक्षिक योजना से संबंधित समस्याएँ (Problems related to Educational Planning)

भारत जैसे विकासशील देश को प्रत्येक शैक्षिक योजना में अधिक बजट का प्रावधान करना पड़ता है। देश की अर्थव्यवस्था पर जनसंख्या के विस्फोट का, दूसरे देशों के साथ लड़े गए युद्धों का व बढ़ती हुई महंगाई का बहुत प्रभाव पड़ा है। आर्थिक दृष्टि से शिक्षा एक बहुत बड़ा उद्योग है, जिसमें सरकार को बजट की रकम प्रत्येक बार बढ़ानी पड़ती है। लेकिन यह भी वास्तविकता है कि देश का सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास शिक्षा के द्वारा ही संभव है। यह सब कार्य करने के लिए एक अच्छी शैक्षिक योजना बनाने का महत्त्व बढ़ जाता है, जिसे बनाने में अथवा क्रियान्वित करने में विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जिससे शिक्षा विकास कार्यक्रमों पर प्रभाव पड़ता है।

कुछ समस्याएँ इस प्रकार हैं–

(1) वित्त-व्यवस्था पर प्रभाव; (2) समय-समय पर प्राथमिकताओं या पूर्ववर्तिताओं में अंतर किया जाता है या करना पड़ता है; (3) शिक्षा के प्राप्य उद्देश्यों की उचित व्याख्या न होने के कारण विभिन्न स्तरों पर कठिनाइयाँ, (4) शिक्षा विकास को ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से न जोड़ा जाना; (5) किस पहलू के लिए योजना की किस पद्धति को अपनाया जाए; (6) किस प्रकार अध्यापकों, अभिभावकों का योजना प्रक्रिया में सहयोग लिया जाए; (7) क्षेत्रों के विकास के लिए उचित नीति का न होना; (8) योजना कार्य के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी; (9) नामांकन की समस्या; (10) संस्थागत शैक्षिक योजना को किस प्रकार जिला स्तर व राष्ट्र स्तर की शैक्षिक योजना से जोड़ा जाए; (11) शिक्षा विभागों को किस प्रकार क्रियान्वित करने के लिए उत्साहित किया जाए; (12) किस प्रकार अच्छे कर्मचारी वर्ग को शिक्षा विभागों में कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जाए व उनका चयन किया जाए; (13) बहुत-से भौगोलिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक कारकों की वजह से योजना की क्रियान्वित करने में समस्याएँ आ जाती हैं।

सुझाव (Suggestions)

सरकार को शैक्षिक योजना के कार्य को महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। शिक्षा के अनुभवी व योग्य विशेषज्ञों को इस ओर अभिप्रेरित करना चाहिए। इस कार्य के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में शैक्षिक योजना से संबंधित कार्यक्रम खोलने चाहिए। शैक्षिक योजना से संबंधित अनुसंधान कार्य नगण्य-सा ही है। इस कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए। इस कार्य को शिक्षा विशेषज्ञ समाज शास्त्र के विशेषज्ञों के साथ मिलकर कर सकते हैं विभिन्न समस्याओं को दूर करने के प्रयास करने चाहिए, जो इस कार्य में बाधा डालती हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति सुनियोजित कार्यक्रमों द्वारा ही हो सकती है।
8. पहले आठ वर्षों की अवधि की स्कूली शिक्षा, जो प्राथमिक शिक्षा कहलाती है, सबसे महत्त्वपूर्ण होती है।
9. राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी निरक्षरता को भारत का कलंक मानते थे।
10. भारतीय संविधान के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जानी चाहिए।

28.7 मानव संसाधन विकास के साधन (Sources of Human Resource Development)

नोट

प्राथमिक शिक्षा (Primary Education)

पहले आठ वर्षों की अवधि की स्कूली शिक्षा, जो प्राथमिक शिक्षा कहलाती है, सबसे महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि यह विद्यार्थियों के व्यक्तित्व, मनोवृत्ति, सामाजिक विश्वास, आदतों, अध्ययन कौशल और संप्रेषण योग्यताओं की नींव रखने का कार्य करती है। इस स्तर पर पढ़ने-लिखने और गणित का बुनियादी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, मूल्यों को आत्मसात किया जाता है और पर्यावरण संबंधी जागरूकता में तेजी आती है। यह एक ऐसी अवस्था होती है, जिसमें शारीरिक विकास में सहायता की जा सकती है, खेलों और साहसिक कार्यों में रुचि पैदा की जा सकती है और हस्तकौशल का भी विकास किया जा सकता है। इस अवस्था में उनकी मनोवृत्तियाँ परिष्कृत होती हैं, उनमें सहानुभूति, भ्रातृत्व, सहिष्णुता, मानवता, सहकारिता आदि भावनाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जो उन्हें राष्ट्र और समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में सहायक होती हैं। यदि कोई बालक इस अवस्था में अच्छी शिक्षा प्राप्त कर लेता है तो वह जीवन में पीछे की ओर मुड़कर कभी नहीं देखता, क्योंकि उसे तो कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रयास करने के लिए तैयार किया जाता है।

माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)

माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा का वह समय है, जो मुख्य रूप से बारह से सत्रह वर्ष के बीच की आयु वालों का होता है। इसमें अध्यापन के मुख्य उपकरणों के स्वामित्व, अभिव्यक्ति, विचार क्षेत्र और जीवन में उनके प्रयोग और विस्तार, जानकारी प्राप्त करने, बौद्धिक विकास, अभिरुचि, आदर्शों और आदतों को बनाने पर बल दिया जाता है। माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा के क्षेत्र में रीढ़ का कार्य करती है। जिस प्रकार रीढ़ मनुष्य के समस्त शरीर को सम्भाले रहती है, ठीक उसी प्रकार बालक के जीवन निर्माण में इस शिक्षा का महत्त्व होता है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें बालक के शारीरिक और मानसिक विकास के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। यह उच्च शिक्षा की आधारशिला और तैयारी का कार्य करती है। इस रूप में उच्च शिक्षा का स्तर पर्याप्त मात्रा में इसके स्तर द्वारा ही निर्धारित होता है। माध्यमिक शिक्षा पूर्ण और स्वयं में स्वतंत्र इकाई है, क्योंकि इस शिक्षा को पूर्ण करके बालक अपने व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा बालक को भावी जीवन के लिए तैयार करती है।

माध्यमिक शिक्षा पूर्ण करने के बाद कुछ बालक उच्च शिक्षा में प्रवेश लेते हैं और सामान्य या विशिष्ट उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे अधिक कुशल और निपुण मानव शक्ति के रूप में उत्पादन या प्रशासन के कार्यों के लिए उपलब्ध होते हैं, लेकिन इस शिक्षा को पूर्ण करने के बाद अधिकांश बालक किसी न किसी कार्य में लगते हैं। चाहे वह कृषि कार्य में लगें, चाहे किसी कल-कारखाने या कार्यालय में कार्य करें, चाहे अपने स्वयं के धंधे या रोजगार में लगें और चाहे लिपिक, यांत्रिक या श्रमिक के रूप में कोई नौकरी करें। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा सबसे अधिक संख्या में निपुण या अर्द्ध-निपुण श्रमिकों को तैयार करती है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास में माध्यमिक शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

उच्च शिक्षा (Higher Education)

उच्च शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि यह ऐसे युवक और युवतियाँ तैयार करती है तथा ऐसे विचार प्रदान करती है, जो भविष्य को मूर्त रूप प्रदान कर सकें। किसी भी राष्ट्र के जीवन की गुणवत्ता तथा उसके विकास की गति, वैचारिक वातावरण, इतिहास, संस्कृति, परंपरा और मूल्यों के व्यापक ज्ञान तथा जीवन की भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं पर विजय प्राप्त करने के लिए मानवीय क्षमता में उसके विश्वास की भावना पर निर्भर करती है। समस्त वातावरण की गुणवत्ता को निर्धारित करने के लिए उच्च शिक्षा तथा इससे विकसित प्रबुद्ध वर्ग की भूमिका का विशेष महत्त्व होता है। उच्च शिक्षा उद्योग, कृषि, प्रशासन और सेवाओं के

नोट

लिए अपेक्षित व्यापक रूप से बढ़ती हुयी तथा निरंतर परिवर्तनशील आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिष्कृत मानव शक्ति प्रदान करती है।

उच्च शिक्षा दो प्रकार की होती है–एक सामान्य और दूसरी विशिष्ट। सामान्य शिक्षा संगठन और प्रशासन के लिए अधिकारी प्रदान करती है और विशिष्ट शिक्षा से उच्च यांत्रिक और तकनीकी अधिकारी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सामान्य शिक्षा और विशिष्ट शिक्षा ऐसे अधिकारियों का निर्माण करती है, जिनके ऊपर विभिन्न व्यावसायिक संस्थानों, बड़े-बड़े उद्योगों, कल कारखानों और अन्य संस्थाओं के संचालन का उत्तरदायित्व होता है। उत्तम समायोजन के लिए अब यह अनुभव किया जा रहा है कि विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए सामान्य शिक्षा की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रौढ़ शिक्षा (Adult Education)

देश के आर्थिक विकास में प्रौढ़ शिक्षा की भी महती भूमिका है। प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की दिशा में होने वाली असफलता के कारण हमारे देश में अशिक्षितों की संख्या बहुत हो गयी है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी निरक्षरता को भारत का कलंक मानते थे। भारत के विकास के लिए उस दिन का इंतजार नहीं किया जा सकता, जब भारत में प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी और वे बालक शिक्षा प्राप्त करके देश के आर्थिक विकास में सहयोग करेंगे। आज के भारत का विकास तो इन्हीं निरक्षर वयस्कों पर निर्भर करता है अत: साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा के सघन प्रयासों से इनको तुरंत इस योग्य बनाना होगा कि वे कृषि और उद्योग धंधों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें, उनसे संबंधित साहित्य का अध्ययन कर सकें और उनके आधार पर कृषि और दूसरे व्यवसायों में प्रगति कर सकें। प्रौढ़ शिक्षा से जहाँ उनको विभिन्न विषयों और क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त होगा, वहीं उनमें आत्मविश्वास और साहस पैदा होगा। निश्चय ही इससे उत्पादन में वृद्धि होगी और देश का आर्थिक विकास होगा।

टास्क शैक्षिक योजना पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

28.8 मानव संसाधन विकास के लिए शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता (Need for the Change in Education for Human Resource Development)

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा ने अपने अति उत्तम ढंग से विद्वानों, इंजीनियरों, डॉक्टरों, तकनीशियनों, प्रबंध कार्मिकों और उच्च अधिकारियों को तैयार किया है, जिनकी तुलना विश्व के श्रेष्ठतम विश्वविद्यालयों से तैयार हुए अच्छे विद्वानों से की जा सकती है। लेकिन यह भी खुला सच है कि इस कोटि के थोड़े से लोगों की तुलना में बहुत बड़ी संख्या में इन शिक्षा संस्थाओं से ऐसे लोग निकलते हैं, जिनके पास थोड़ा बहुत पुस्तकीय ज्ञान और प्रमाणपत्र या डिग्री तो होती है, लेकिन उनमें व्यावहारिक ज्ञान और स्वत: अध्ययन की बहुत कम क्षमता होती है। उनकी भाषा कमजोर और संप्रेषण क्षमता सीमित होती है, उनका दृष्टिकोण संकुचित होता है और उनमें किसी प्रकार की सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी स्वीकार करने की प्रवृत्ति का अभाव होता है। देश में सामान्य शिक्षा का स्तर निम्न है और विशिष्ट शिक्षा में प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष पर पर्याप्त बल नहीं है। उद्योगों का प्रसार न होने से कतिपय क्षेत्रों में यह शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की खपत होने में भी कठिनाई हो रही है। शिक्षा के सभी स्तरों पर अपव्यय और अवरोधन बढ़ रहा है, इससे शिक्षा में विनियोजित धन का ही अपव्यय नहीं होता, अपितु मानव शक्ति का भी अभाव पैदा होता है। अत: शिक्षा में गुणात्मक विकास किए जाने की आवश्यकता है, शिक्षा पर विनियोजित धन का अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अपव्यय को कम करने की आवश्यकता है और शिक्षा को आर्थिक विकास के उपयुक्त

नोट

बनाकर दोनों के बीच निकट संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है, तभी हमारी शिक्षा देश के आर्थिक विकास में पूर्ण सहयोग दे सकेगी।

मानव संसाधन विकास के लिए शिक्षा में अधोलिखित परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है–

1. भारतीय संविधान के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। हमारे संविधान की प्रस्तावना में सन्निहित चार संकेत शब्द हैं–न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व। संविधान सभी भारतीय नागरिकों को इन्हें प्राप्त कराने के लिए संकल्पबद्ध है। जाति, धर्म, संप्रदाय, वर्ण, धनी-निर्धन आदि के भेदभाव के बिना देश के सभी नागरिकों को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराए जाने चाहिए। इसके लिए पर्याप्त संख्या में शिक्षा संस्थाएँ खोली जानी चाहिए।
2. भारतीय समाज में न केवल सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं, वरन् सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ भी हैं। आज की शिक्षा व्यवस्था में ये असमानताएँ और भी बढ़ी हैं। धनवान और अधिक धनवान तथा गरीब और अधिक गरीब हो गया है। अत: शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए कि शिक्षित वर्गों में सामाजिक और आर्थिक अंतर घटे और समानता बढ़े।
3. शिक्षा के द्वारा देश के नागरिकों में 'एक भाषा, एक भाव और एक राष्ट्र' की अनुभूति कराई जानी चाहिए। हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में सारे देश में प्रयोग में लाया जाना चाहिए जिससे संपूर्ण देश के लोगों में प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, अपनत्व, देशप्रेम और पारस्परिक विश्वास की भावना उत्पन्न हो।
4. आज की शिक्षा प्रणाली पूर्ण रूप से यांत्रिक है। बालकों के विचारों और वाणी की अभिव्यक्ति का इसमें पूर्ण अभाव है। अत: शिक्षा में बालकों को विचार-विमर्श करने, वाद-विवाद करने, विचार व्यक्त करने, व्याख्यान देने, न्याय करने और स्वचिंतन करने के अधिक से अधिक अवसर उपलब्ध होने चाहिए। इसके लिए पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियों में परिवर्तन किया जाना चाहिए।
5. सभी प्रकार के विचारशील लोग मूल्यों के तेजी से हो रहे ह्रास और उसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक जीवन में व्याप्त प्रदूषण से बहुत विक्षुब्ध हैं। मूल्यों की यह संकटग्रस्त स्थिति जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्याप्त है, उसी प्रकार शिक्षा संस्थाओं में भी व्याप्त है। अत: छात्रों और शिक्षकों को यह बताए जाने और अनुभव कराए जाने की आवश्यकता है कि इस तरह न तो शोषण, असुरक्षा और हिंसा को रोका जा सकता है और न ही किसी संगठित समाज को कुछ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मानदंडों को स्वीकार किए और पालन किए बिना बनाए रखा जा सकता है।
6. देश में यह भावना घर करती जा रही है कि शिक्षा संस्थाओं से निकलने वाले विद्यार्थी हाथ के कामों तथा व्यावसायिक रोजगार को क्लर्की के काम की अपेक्षा अधिक घटिया मानते हैं। आधुनिक प्रौद्योगिकी में प्रवेश करने वाले किसी भी समाज में यह सामंती प्रवृत्ति बहुत बड़ी बाधा हो सकती है। विकसित देश ऐसे अवरोधक भावों से बहुत दूर चले गए हैं तथा भारतीयों को भी ऐसी पुरानी धारणाओं से दूर रहना चाहिए। इसे केवल यह सुनिश्चित करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है कि कोई भी अपने हाथों से उपयोगी कार्यों के लिए बिना श्रम के महत्त्व को आत्मसात् किए अपना स्कूली जीवन पूरा नहीं कर सकेगा।

शिक्षा में परिवर्तन करने के संबंध में राधाकृष्णन आयोग (1949), मुदालियर आयोग (1953), कोठारी आयोग (1966), नई शिक्षा योजना (1986), राममूर्ति समिति (1990) आदि ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इनके अनेक सुझाव स्वीकार भी किए गए हैं, लेकिन फिर भी कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन हमारी शिक्षा में नहीं हुआ है। वैयक्तिक और राजनीतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर इस ओर अविलंब ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है–यह देश के आर्थिक विकास के लिए, मानव संसाधन के विकास के लिए और प्रजातांत्रिक व्यवस्था के सफलतापूर्वक संचालन के लिए महत्त्वपूर्ण है, आवश्यक है, अनिवार्य है।

28.9 सारांश (Summary)

भारत के विकास के लिए उस दिन का इंतजार नहीं किया जा सकता, जब भारत में प्रत्येक बालक के लिए अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी और वे बालक शिक्षा प्राप्त करके देश के आर्थिक विकास

नोट

में सहयोग करेंगे। आज के भारत का विकास तो इन्हीं निरक्षर वयस्कों पर निर्भर करता है। अतः साक्षरता और प्रौढ़ शिक्षा के सघन प्रयासों से इनको तुरंत इस योग्य बनाना होगा कि वे कृषि और उद्योग धंधों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें, उनसे संबंधित साहित्य का अध्ययन कर सकें और उनके आधार पर कृषि और दूसरे व्यवसायों में प्रगति कर सकें। प्रौढ़ शिक्षा से जहाँ उनको विभिन्न विषयों और क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त होगा, वहीं उनमें आत्मविश्वास और साहस पैदा होगा। निश्चय ही इससे उत्पादन में वृद्धि होगी और देश का आर्थिक विकास होगा।

28.10 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रौढ़** (Adult) : वयस्क
2. **परिवर्तन** (Change) : बदलाव

28.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मानव शक्ति नियोजन से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।
2. शैक्षिक योजना से क्या तात्पर्य है? बताइए।
3. मानव संसाधन विकास के साधनों का उल्लेख कीजिए।
4. विनियोग के रूप से शिक्षा पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. कुशलता	2. आर्थिक विकास	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. सही
9. सही	10. गलत		

28.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–29 : उपभोक्ता अधिकार और शिक्षा का अधिकार (Consumer Rights and Right to Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
29.1 अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा के संबंध में न्यायालय का मत (Opinion of Court about compulsory and Free Education)
29.2 शिक्षा के अधिकार से संबंधित संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provision about Right to Education)
29.3 अधिनियम की कमियाँ व सुझाव (Shortcomings and Suggestions of Act)
29.4 सारांश (Summary)
29.5 शब्दकोश (Keywords)
29.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
29.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा के संबंध में न्यायालय का मत जानने हेतु।
- शिक्षा के अधिकार से संबंधित संवैधानिक प्रावधान जानने हेतु।
- अधिनियम की कमियाँ व सुझाव जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

स्वतंत्रता के छह दशक पश्चात् बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का सपना ''बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009'' के रूप में साकार हुआ। इस अधिनियम के 1 अप्रैल, 2010 से लागू होने के पश्चात् 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को अपने नजदीकी विद्यालय में नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पाने का कानूनी अधिकार मिल गया है। अधिनियम की विशेष बात यह है कि गरीब परिवारों के वे बच्चे जो प्राथमिक शिक्षा से वंचित हैं, के लिए निजी विद्यालयों में 25 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान रखा गया है। विधि आयोग ने निजी विद्यालयों में शिक्षा से वंचित बच्चों के लिए आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत करने का सुझाव दिया था।

यह विधेयक केबिनेट द्वारा 2 जुलाई, 2009 को स्वीकृत किया गया, राज्य सभा ने इस बिल को 20 जुलाई, 2009 को व लोकसभा ने 4 अगस्त, 2009 को पारित किया तथा 26 जुलाई, 2009 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने

नोट

के बाद 27 अगस्त, 2009 को भारत सरकार के राजपत्र में प्रकाशित किया गया, 1 अप्रैल, 2010 से इसे लागू कर दिया गया है।

संविधान निर्माता शिक्षा के अधिकार को संविधान में एक मूल अधिकार के रूप में शामिल करना चाहते थे, परंतु भारत की तत्कालीन परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं थीं अत: उन्होंने इसे राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में अनुच्छेद 45 के अंतर्गत स्थान दिया तथा इसे राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया जो कि न्यायालयों में प्रवर्तनीय नहीं थे। संसद ने इस अधिकार की आवश्यकता को समझते हुए वर्ष 2002 में संविधान के 86वें संविधान संशोधन अधिनियम 2002 द्वारा नया अनुच्छेद 21-क जोड़कर इसे मूल अधिकार के रूप में अध्याय 3 में शामिल कर प्रवर्तनीय बना दिया। उक्त अनुच्छेद 21-क को संविधान में समाविष्ट करने के कारण अनुच्छेद 45 को भी संशोधित कर इस प्रकार किया गया–''राज्य 6 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक सभी बालकों के बाल्यकाल की देखभाल और शिक्षा के लिए अवसर प्रदान करने के लिए अवसर उपलब्ध करेगा'', इस प्रकार इस अनुच्छेद 45 में संशोधन द्वारा नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करवाना राज्य का दायित्व तय किया गया। उक्त दोनों संशोधनों के साथ ही भाग-4 मूल कर्तव्यों में भी संशोधन कर अनुच्छेद 51(क) (ट) जोड़ा गया, जिसके अनुसार, ''6 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के माता-पिता और प्रतिपाल्य के संरक्षकों का यह कर्तव्य होगा कि उन्हें शिक्षा का अवसर प्रदान करें।''

शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार का दर्जा देने के साथ ही इसे नीति निदेशक तत्वों तथा मूल कर्तव्यों में शामिल कर राज्य व अभिभावकों का कर्तव्य बनाया गया, किंतु इन कर्तव्यों का पालन कराने के लिए कोई सकारात्मक साधन नहीं था, अत: इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस अधिनियम द्वारा राज्य सरकार, बच्चों के माता-पिता या संरक्षक सभी का दायित्व तय किया गया है तथा उल्लंघन करने पर अर्थदण्ड का भी प्रावधान किया गया है।

29.1 अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा के संबंध में न्यायालय का मत (Opinion of Court about Compulsory and Free Education)

मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य (1992) 3 SCC 666 के मामले में शीर्ष अदालत ने अनुच्छेद-21 के तहत् शिक्षा पाने के अधिकार को प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार बताते हुए ऐतिहासिक निर्णय दिया। अनुच्छेद-21 के तहत प्राण व दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार में शिक्षा पाने का अधिकार भी शामिल है तथा निजी कॉलेज द्वारा कैपीटेशन शुल्क लेना नागरिकों के इस अधिकार का उल्लंघन है। प्रत्येक नागरिक को शिक्षा उपलब्ध करवाना राज्य का संवैधानिक दायित्व है।

यूनी कृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश (1993) 4 SCC 645 के मामले में निजी कॉलेज संचालकों ने न्यायालय से मोहिनी जैन वाद में दिए गए निर्णय पर पुनर्विचार के लिए आवेदन किया, उनका तर्क था कि उक्त निर्णय को लागू किया गया तो उनको कॉलेज बन्द करने पड़ेंगे, विद्वान् न्यायमूर्तियों ने शिक्षा को मूल अधिकार माना तथा इसे 14 वर्ष के बच्चों तक सीमित करते हुए कहा कि उच्च शिक्षा के संबंध में यह राज्य की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करेगा, एम.सी. मेहता *बनाम* तमिलनाडु राज्य (1996) 6 SCC 756 के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य को आदेश दिया कि अनुच्छेद-45 के अनुसार बाल श्रमिकों को शिक्षा का पूर्ण अवसर प्रदान करे, यह भी निर्देश दिया गया। संरक्षक का दायित्व होगा कि वह बालक को शिक्षा के लिए भेजे तथा संबंधित सरकार यह देखे कि उनके काम की अवधि 4 से 6 घंटे से अधिक न हो और प्रत्येक दिन में 2 घंटे शिक्षा प्राप्त करें व उनकी शिक्षा का संपूर्ण व्यय नियोजक वहन करे।

नोट्स प्राथमिक शिक्षा में प्रथम कक्षा से आठवीं कक्षा तक की शिक्षा शामिल है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से ..... पारित किया गया।
2. आज भी कई गाँव ऐसे हैं, जहाँ दूर–दूर ..... नहीं हैं।

29.2 शिक्षा के अधिकार से संबंधित संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provision about Right to Education)

अनुच्छेद 21-क–86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा संविधान में अनुच्छेद 21 के पश्चात् नया अनुच्छेद 21-क जोड़ा गया, जो यह उपबन्धित करता है कि ''राज्य ऐसी रीति से जैसा कि विधि बनाकर निर्धारित करे, 6 वर्ष की आयु से 14 वर्ष आयु के सभी बालकों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के लिए उपबंध करेगा''।

अनुच्छेद 41–कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार–राज्य अपनी सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम पाने, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अशक्तता की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का कार्यसाधक उपबंध करेगा।

अनुच्छेद 45–उपबंधित करता है कि ''राज्य 6 वर्ष की आयु के सभी बालकों के पूर्व बाल्यकाल की देखरेख और शिक्षा के लिए अवसर प्रदान करने के लिए उपबन्ध करेगा।''

अनुच्छेद 46–समाज के दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की अभिवृद्धि–राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा तथा अर्थसम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा।

बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के मुख्य प्रावधान

- प्राथमिक शिक्षा में प्रथम कक्षा से आठवीं कक्षा तक की शिक्षा शामिल है।
- अनिवार्य शिक्षा–सरकार का दायित्व है कि–
  - (*i*) 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध करवाए,
  - (*ii*) 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे का अनिवार्य प्रवेश, उपस्थिति व शिक्षा की व्यवस्था सुनिश्चित करे।

*** नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार**

- 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को अपने नजदीकी सरकारी विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा पूर्ण करने तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार होगा और इसके लिए उसे किसी प्रकार का शुल्क या अन्य खर्चे नहीं देने होंगे (धारा 3)।
- यदि 6 से 14 वर्ष आयु का कोई बच्चा किसी विद्यालय में प्रवेश न होने के कारण प्राथमिक शिक्षा से वंचित है, तो उसे उसकी आयु के अनुसार उचित कक्षा में प्रवेश दिया जाएगा और ऐसे बच्चे 14 वर्ष की आयु पूर्ण करने के बाद भी प्राथमिक शिक्षा पूरी होने तक नि:शुल्क शिक्षा पाने के अधिकारी होंगे (धारा 4)।
- बच्चों को प्रवेश के दौरान एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में (एक राज्य में या बाहर) स्थानांतरण का अधिकार होगा तथा ऐसे स्थानांतरण चाहने वाले बच्चों को उस विद्यालय का प्रधानाध्यापक तत्काल स्थानांतरण पत्र जारी करेगा और इस प्रक्रिया में किया गया विलम्ब अन्य विद्यालय में प्रवेश न देने का आधार नहीं माना जाएगा, स्थानांतरण पत्र जारी करने में विलंब करने वाला प्रधानाध्यापक या अन्य संबंधित व्यक्ति जानबूझकर विलंब करने का दोषी पाए जाने पर उस पर लागू होने वाले सेवा नियमों के अनुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए दायित्वाधीन होगा (धारा 5)।

नोट

*** सरकार, स्थानीय प्राधिकारी व माता-पिता का कर्तव्य**

- इस अधिनियम के प्रावधानों के अग्रसरण में सरकार तथा स्थानीय प्राधिकारी अपने क्षेत्राधिकार के भीतर जहाँ विद्यालय नहीं है, इस अधिनियम के प्रभावी होने के तीन वर्ष के भीतर अपने क्षेत्राधिकार की सीमाओं में विद्यालय स्थापित करेंगे (धारा 6)
- **केंद्र सरकार–**

(अ) शैक्षिक प्राधिकारी की मदद से एक राष्ट्रीय ढाँचा विकसित करेगी, जो निम्नलिखित पर ध्यान देगी–

(*a*) बच्चों का बहुमुखी विकास।

(*b*) संविधान में समाहित मूल्यों का विकास।

(*c*) अधिकतम स्तर तक मानसिक व शारीरिक क्षमताओं का विकास।

(*d*) बालकों को बालक केंद्रित व बालक मित्रवत् तरीके से गतिविधियों द्वारा सिखाना।

(*e*) निर्देशों का माध्यम जहाँ तक हो सके बच्चों की मातृभाषा में होगा।

(*f*) बच्चों को भयमुक्त बनाना और अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने में मदद करना।

(*g*) बच्चों की समझने की क्षमता का लगातार विश्लेषण और उसे उसकी सामर्थ्य पर लागू करना (धारा 29)

(ब) शिक्षकों के प्रशिक्षण के मानदंड विकसित कर लागू करना।

(स) राज्य सरकारों को भवनों की क्षमता के लिए तकनीकी व संसाधनों द्वारा सहयोग उपलब्ध करवाएगी (धारा 7)

क्या आप जानते हैं अनिवार्य शिक्षा के अंतर्गत 6 से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराई जाएगी।

- **समुचित राज्य सरकार–**

(क) प्रत्येक बच्चे को नि:शुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध करवाएगी।

(ख) नजदीक में स्कूल की उपलब्धता सुनिश्चित करेगी।

(ग) यह भी सुनिश्चित करेगी कि गरीब वर्ग का कोई भी बालक किसी भी कारण से प्राथमिक शिक्षा से वंचित न रहे।

(घ) ढाँचागत सुविधाएँ, जिसमें भवन, अध्यापक स्टाफ और सीखने के साधन शामिल हैं, उपलब्ध करवाएगी।

(ङ) प्रत्येक बच्चे के प्रवेश, उपस्थिति तथा प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति को सुनिश्चित करेगी।

(च) गुणवत्तायुक्त प्राथमिक शिक्षा की सुनिश्चितता।

(छ) अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण सुविधा (धारा 8)

- **स्थानीय प्राधिकारी–**

(क) प्रत्येक बच्चे को नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराएँगे।

(ख) अपने क्षेत्राधिकार में 14 वर्ष तक के बच्चों का रिकॉर्ड रखेंगे।

(ग) नजदीकी विद्यालय की उपलब्धता सुनिश्चित करेंगे।

(घ) अपने क्षेत्राधिकार में प्रत्येक बच्चे के प्राथमिक शिक्षा में प्रवेश, उपस्थिति व समाप्ति को सुनिश्चित करेंगे।

नोट

(ङ) शैक्षणिक कैलेण्डर निर्धारित करेंगे (धारा 9)

- **माता-पिता या संरक्षक का दायित्व–**

(क) अपने बच्चों को नजदीकी विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना (धारा 10)

बच्चों को 6 वर्ष की आयु पूर्ण करने से पूर्व स्कूल (Pre-school) पूर्व शिक्षा की आवश्यक व्यवस्था करना (धारा 11)।

*** विद्यालय व शिक्षकों का दायित्व**

- अधिनियम के उद्देश्यों के लिए विद्यालय–

  ⇒ प्रवेश दिए गए सभी बच्चों को नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा देंगे।

  ⇒ जिसमें 25 प्रतिशत कमजोर तथा वंचित वर्ग के बच्चे शामिल होंगे। (धारा 12)

- कोई भी विद्यालय या व्यक्ति बच्चों से प्रवेश के समय किसी प्रकार की कैपीटेशन फीस नहीं लेगा तथा बच्चे व उनके माता-पिता किसी प्रकार की स्क्रीनिंग प्रक्रिया के विषय नहीं होंगे।

  इसका उल्लंघन करने पर कैपीटेशन फीस के दस गुना तक अर्थदण्ड से दण्डित किया जाएगा।

  बच्चों की स्क्रीनिंग प्रक्रिया करने वाले को प्रथम उल्लंघन पर 25,000 रुपए का अर्थदण्ड तथा पश्चात्वर्ती प्रत्येक उल्लंघन पर 50,000 रुपए तक के अर्थदण्ड से दण्डित किया जाएगा (धारा 13)

- किसी भी विद्यालय में प्रवेश दिए गए बच्चे को प्राथमिक शिक्षा पूर्ण करने से पहले निष्कासित नहीं किया जाएगा (धारा 16)

- किसी भी बच्चे को शारीरिक या मानसिक दण्ड देकर परेशान नहीं किया जाएगा तथा जो कोई इस प्रावधान का उल्लंघन करेगा, उस पर उसके सेवा नियमों के अनुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाएगी (धारा 17)

1. (अधिनियम प्रभावी होने के बाद स्थापित विद्यालय के लिए मानदण्ड)

	छात्रों की संख्या	*शिक्षकों की संख्या*
(अ) कक्षा 1 से 5 तक	60 तक	2
	61 से 90 तक	3
	91 से 120 तक	4
	121 से 200 तक	5
	150 से अधिक होने पर	5 शिक्षक व एक प्रधानाध्यापक
	200 से अधिक होने पर	छात्र शिक्षक अनुपात 40 : 1 से अधिक न हो
(ब) कक्षा से 6 से 8 तक		प्रत्येक कक्षा के लिए एक शिक्षक जिसमें
		निम्नलिखित में से प्रत्येक के लिए एक अध्यापक–
		(*i*) गणित व विज्ञान
		(*ii*) सामाजिक अध्ययन
		(*iii*) भाषाएँ
	35 पर	1
	जहाँ 100 से अधिक है	1 पूर्णकालिक प्रधानाध्यापक
		निम्नलिखित हेतु एक अंशकालिक निर्देशक–
		(*i*) कला शिक्षा
		(*ii*) स्वास्थ्य व शारीरिक शिक्षा
		(*iii*) कार्य शिक्षा के लिए

नोट

2. **भवन–**
   - (*i*) प्रत्येक शिक्षक के लिए एक कक्ष
   - (*ii*) एक ऑफिस कक्ष और एक स्टोर कक्ष तथा एक प्रधानाध्यापक कक्ष
   - (*iii*) अवरोधमुक्त पहुँच हो,
   - (*iv*) छात्रों व छात्राओं के लिए पृथक्-पृथक् शौचालय
   - (*v*) प्रत्येक छात्र के लिए साफ व स्वच्छ पानी
   - (*vi*) दोपहर का भोजन पकाने के लिए एक रसोईघर
   - (*vii*) खेल का मैदान
   - (*viii*) विद्यालय भवन की सुरक्षा के लिए विद्यालय की दीवार।
3. **न्यूनतम कार्यदिवस**–एक शैक्षणिक वर्ष में न्यूनतम कार्यदिवस/घंटे–
   - (क) कक्षा 1 से 5 तक एक शैक्षणिक सत्र में 200 कार्यदिवस तथा 800 घंटे
   - (ख) कक्षा 6 से कक्षा 8 तक एक शैक्षणिक सत्र में 220 कार्यदिवस तथा 1000 घंटे
   - (ग) शिक्षक के लिए सप्ताह में कार्य घंटे–तैयारी घंटों सहित कुल 45 घंटे।
4. **पुस्तकालय**–प्रत्येक विद्यालय के पुस्तकालय में पत्रिका, समाचार-पत्र, कहानी की पुस्तकों सहित सभी विषयों की पुस्तकें उपलब्ध हों।
5. **खेल व एथलेटिक्स सामग्री**–प्रत्येक कक्षा की आवश्यकतानुसार (धारा 19 सपठित अनुसूची)

- **इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व स्थापित विद्यालयों के लिए मानदंड**–इस अधिनियम के लागू होने के तीन वर्ष के भीतर स्वयं के खर्चों पर उक्त मानदण्डों को प्राप्त करने के लिए विद्यालय आवश्यक कदम उठाएँगे अन्यथा उनकी मान्यता वापस ले ली जाएगी।

  मान्यता वापस लिए जाने पर भी जो व्यक्ति विद्यालय की गतिविधियाँ जारी रखता है, वह 1 लाख रुपए तक के अर्थदंड से दंडित किया जाएगा तथा उल्लंघन जारी रहने की दशा में 10,000 रुपए प्रतिदिन के हिसाब से अर्थदंड से दंडित किया जाएगा (धारा 19)।

6. **शिक्षकों की योग्यता**–केवल वे व्यक्ति शिक्षक होने के पात्र होंगे, जो केन्द्र सरकार या स्थानीय प्राधिकरण द्वारा निर्धारित योग्यता रखते हैं।

   ऐसे शिक्षक–

   ⇒ समयबद्ध नियमित रूप से विद्यालय आएँगे।

   ⇒ निश्चित समय पर निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करवाएँगे।

   ⇒ माता पिता या संरक्षक के साथ नियमित रूप से बैठकें (Meeting) करेंगे।

   उक्त नियमों का उल्लंघन करने पर ऐसे शिक्षक पर लागू होने वाले सेवा-नियमों के तहत् अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाएगी (धारा 23 व 24)।

   आपदा सहायता या चुनाव संबंधी कार्यों के अलावा अन्य कार्यों में नहीं लगाया जाएगा (धारा 27)।

- कोई भी शिक्षक प्राइवेट ट्यूशन में संलग्न नहीं होगा (धारा 28)।

टास्क अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. आज भी कई गाँव ऐसे हैं, जहाँ दूर–दूर तक नहीं हैं–
   (अ) विद्यालय (ब) चिकित्सालय
   (स) सचिवालय (द) इनमें से कोई नहीं
4. आज भी देश में हजारों बच्चों को कारखानों में करना पड़ता है–
   (अ) आराम (ब) काम
   (स) आंदोलन (द) इनमें से कोई नहीं
5. निजी व सरकारी विद्यालयों में भी इस अधिनियम में किया गया है–
   (अ) परिवर्तन (ब) भेदभाव
   (स) समझौता (द) इनमें से कोई नहीं
6. अधिनियम के अंतर्गत प्रवेश दिए गए सभी बच्चों को देंगे–
   (अ) नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा (ब) वजीफा
   (स) भोजन (द) इनमें से कोई नहीं

29.3 अधिनियम की कमियाँ व सुझाव (Shortcomings and Suggestions of Act)

नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से यह अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार 6 वर्ष से 14 वर्ष के प्रत्येक बच्चे को गुणवत्तायुक्त शिक्षा दी जाएगी, परंतु अधिनियम के सूक्ष्म अवलोकन से इसकी सफलता पर संदेह है संक्षेप में अधिनियम की कमियाँ व सुझाव निम्न प्रकार हैं–

1. बच्चों के अनुपात में कक्षा-कक्षों की कमी, जिसके परिणामस्वरूप विद्यालयों को दो या तीन पारियों में चलाया जाता है, पुराने विद्यालयों के भवन भी जर्जर अवस्था में हैं, जो कभी भी बड़ी दुर्घटना का कारण बन सकते हैं, अत: इनकी संख्या बढ़ाने के साथ-साथ मौजूदा विद्यालय भवनों की मरम्मत भी करवाई जानी चाहिए।
2. आज भी कई गाँव ऐसे हैं, जहाँ दूर-दूर तक विद्यालय नहीं हैं, अत: ऐसे गाँवों का सर्वे कर विद्यालय बनाए जाएँ।
3. विद्यालय व आवासीय क्षेत्रों में दूरी गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्राप्ति में बाधक है, इसके लिए दूरस्थ क्षेत्रों में विद्यालय खोले जाएँ तथा ऐसे क्षेत्रों में सरकार द्वारा उचित परिवहन साधनों की भी व्यवस्था उपलब्ध करवानी चाहिए।
4. निजी विद्यालयों में जहाँ वातानुकूलित कक्षा-कक्ष, स्वीमिंग पूल तथा व्यायामशाला होती हैं, वहीं सरकारी विद्यालयों में आधारभूत सुविधाओं का भी अभाव पाया जाता है, सरकारी विद्यालयों के बच्चे आज भी सूर्य की तपन व टपकती छत में पढ़ाई करते देखे जा सकते हैं, इससे इस 'शिक्षा जगत्' के देश में दो भिन्न स्थितियाँ प्रकट होती हैं।
5. अधिनियम के अनुसार केवल कुछ पाठ्यपुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं से एक अच्छा पुस्तकालय बनता है, लेकिन इसमें आधुनिक शिक्षा की जरूरत के अनुसार कंप्यूटर, इंटरनेट आदि सुविधाएँ भी आवश्यक हैं।
6. अधिनियम में कुल शिक्षक पदों में से 10 प्रतिशत से अधिक किसी भी अवस्था में खाली नहीं रखे जाएँगे, परंतु 10 प्रतिशत शिक्षकों के पद खाली रहने का खामियाजा छात्रों को ही भुगतना पड़ेगा अर्थात् ऐसे में

नोट

गुणवत्तायुक्त शिक्षा की बात करना कोरी कल्पना है, क्योंकि गुणवत्तायुक्त शिक्षा के लिए योग्य व समर्पित शिक्षकों की जरूरत होती है।

7. पूर्व-प्राथमिक (Pre-primary) शिक्षा को अधिनियम में स्थान नहीं दिया गया, जबकि देश के करोड़ों बच्चों को इस शिक्षा की आधारभूत जरूरत है।
8. देश में हजारों बच्चों को खतरनाक कार्यों और कारखानों में काम करना पड़ता है। अधिनियम में देश के भविष्य के इन बच्चों के पुनर्वास व शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।
9. निजी व सरकारी विद्यालयों में भी इस अधिनियम में भेदभाव किया गया है। निजी विद्यालयों को मान्यता के लिए अधिनियम में बताए गए दिशा-निर्देशों को पूरा करने पर मान्यता मिलेगी, जबकि सरकारी विद्यालयों को बिना शर्त मान्यता स्वत: मिल जाएगी।
10. विकलांग बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने के संबंध में अधिनियम मौन है। विकलांग बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने संबंधी अधिनियम में 'अक्षमता' की परिभाषा 'व्यक्ति अक्षमता अधिनियम 1995' के अनुसार मानी गई है, जोकि 'राष्ट्रीय न्याय अधिनियम, 1999' द्वारा बताई गई 'अक्षमता' की परिभाषा की शर्तों को पूरी नहीं करती।

सर्वाधिक चिंता का विषय यह है कि भारत में अनेक विषयों से संबंधित उचित एवं श्रेष्ठ अधिनियम बनाए जाते हैं, लेकिन उनका प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित नहीं हो पाता। इस अधिनियम का क्रियान्वयन किस स्तर तक हो पाता है, यह कहना कठिन है। समुचित दूरी पर विद्यालय की स्थापना एवं उसमें उचित अध्यापक और समुचित व्यवस्थाएँ उपलब्ध कराना ही एक कठिन कार्य है। इसके लिए अत्यधिक धन एवं अन्य संसाधनों की आवश्यकता होगी। राज्य की सरकारें सदैव धनाभाव का राग अलापती रहती है। यद्यपि धन के संबंध में केंद्र सरकार 65 प्रतिशत खर्च उठाने को तैयार है, लेकिन फिर भी यह कैसे होगा? कौन-सी सरकार करेगी? कब तक करेगी? आदि प्रश्नों के उत्तर कहीं भी नहीं दिए गए हैं। आवश्यकता है अधिनियम को प्रभावी बनाने के लिए एक समुचित समयबद्ध कार्य-योजना तैयार कर लागू करने की, जिससे इस अधिनियम का सकारात्मक परिणाम अतिशीघ्र आ सके।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. कक्षा 1 से 5 तक एक शैक्षणिक सत्र में 200 कार्यदिवस तथा 800 घंटे होते हैं।
8. कक्षा 6 से 8 तक एक शैक्षणिक सत्र में 220 कार्यदिवस तथा 1000 घंटे होते हैं।
9. शिक्षक के लिए सप्ताह में कार्य घंटे–तैयारी घंटों सहित कुल 45 घंटे होते हैं।
10. केवल वे व्यक्ति ही शिक्षक होने के पात्र होते हैं, जो केंद्र सरकार या स्थानीय प्राधिकरण द्वारा निर्धारित योग्यता नहीं रखते हैं।

29.4 सारांश (Summary)

यह अधिनियम शिक्षा के क्षेत्र में उठाया गया सराहनीय कदम है। शिक्षा से वंचित बच्चों को शिक्षित करना सभी लोकतंत्रीय सरकारों का दायित्व है। इसे पूरा करने में यह एक कदम है। अधिनियम के अधीन बच्चों के शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय व राज्य कमीशन को भी विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए हैं। बच्चों की शिक्षा संबंधी किसी भी शिकायत के लिए अधिकारितायुक्त स्थानीय प्राधिकरण की भी व्यवस्था की गई है। बच्चों के व्यक्तित्व विकास के लिए प्राथमिक शिक्षा की जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हमारे देश में बच्चों की इतनी संख्या को प्रभावित करने वाला यह एकमात्र अधिनियम है। निश्चित रूप से यह विधि का

सार्थक साधन सिद्ध होगा। देश के प्रत्येक नागरिक का सहयोग प्राप्त करने के कारण यह अधिनियम अपने अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त करने में अवश्य सफल होगा। नोट

29.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **कमियाँ** (Shortcomings) : दोष
2. **अनिवार्य** (Compulsury) : अत्यावश्यक

29.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा के संबंध में न्यायालय का मत बताइए।
2. शिक्षा के अधिकार से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों का वर्णन कीजिए।
3. 'नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार' पर टिप्पणी लिखिए।
4. 'नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम, 2009' की कमियाँ बताइए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. अधिनियम	2. विद्यालय	3. (अ)	4. (ब)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. सही	10. गलत		

29.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–30 : शांति शिक्षा (Peace Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
30.1 शांति की अवधारणा (Concept of Peace)
30.2 शांति शिक्षा का अर्थ (Meaning of Peace Education)
30.3 शांति शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Peace Education)
30.4 शांति शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum of Peace Education)
30.5 पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ/व्यावहारिक अनुभव (Co-Curriculum Activities/Practical Experiences)
30.6 अनौपचारिक शिक्षा पद्धति में शांति शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum for Peace Education Through Non-Formal Education System)
30.7 शांति शिक्षा प्रदान करने के साधन (Ways and Means of Peace Education)
30.8 सारांश (Summary)
30.9 शब्दकोश (Keywords)
30.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
30.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शांति शिक्षा का अर्थ जानने हेतु।
- शांति शिक्षा के उद्देश्य जानने हेतु।
- शांति शिक्षा का पाठ्यक्रम जानने हेतु।
- पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

एडवर्ड बेंटवर्थ बैटी, चांसलर मैकगिल विश्वविद्यालय, कनाडा ने विश्वविद्यालय के स्नातकों के समक्ष 26 मई, 1926 को अपने भाषण में कहा था–''हमने उन आध्यात्मिक मूल्यों पर ध्यान देना लगभग बंद कर दिया है, जिनके द्वारा ही मानव की संपूर्ण प्रगति को आँका जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध ने मानवता की प्रगति के सर्वोत्कृष्ट युग का अंत कर दिया और युद्ध का कारण इतना ही था कि हम भौतिकता के प्रति अपनी लालसा

नोट

को नियंत्रित करके अधिक ऊँचे न उठ सके। मुझे यह न बताइये कि युद्ध जर्मनी की विजय-लोलुपता या अंग्रेजों की साम्राज्यवादिता या फ्रांसीसी संग्रामिकता या लाभ प्राप्त करने की पूँजीवादी लालसा के कुपरिणाम से अधिक कुछ न था। ब्रिटेन ने संसार को व्यवस्था और भौतिक सभ्यता प्रदान की। जर्मनी और फ्रांस ने कला और संगीत से संसार की शोभा बढ़ाई, विज्ञान और साहित्य से उसका कोश भरा। पूँजीवादियों को जो लाभ युद्ध के कारण मिला–वह स्वयं युद्ध के कारण नहीं था। हमें और गहराई में उतरना ही चाहिए। जिस पागलपन ने संसार को महायुद्ध के रक्तपात तथा विभीषिकाओं में डुबो दिया, ''वह आत्मा का विकार है–मस्तिष्क का नहीं।'' इन शब्दों के कहे जाने के बाद भी एक और विश्वयुद्ध हो चुका है तथा हम भविष्य के प्रति आशंकित हैं।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा, कि बैटी के इस कथन, कि 'हमारी आत्मा में विकार है, मस्तिष्क में नहीं' का अर्थ यह है कि शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा तीनों के स्वाभाविक सामंजस्य के निर्वाह से ही व्यक्ति और राष्ट्र सुखी हो सकते हैं। आज के युग में आध्यात्मिक मूल्यों को भुलाकर हम मस्तिष्क की उपलब्धियों पर अधिक बल देते हैं और इसी कारण हम दुखी हैं। आत्मिक शक्तियाँ कम होती जा रही हैं तथा मस्तिष्क की उपलब्धियों का अनुपात भयोत्पादक सीमा तक पहुँच गया है। प्रत्यक्षत: हम पृथ्वी और आकाश को अपने अधिकार में किए हुए हैं और परमाणु तथा तारों के रहस्यों को समझने लगे हैं। फिर भी हम आशंका से घिरे हुए हैं। इसी आशंका ने विश्व को शान्ति शिक्षा (Peace education) के लिए माँग करने को बाध्य कर दिया है।

30.1 शांति की अवधारणा (Concept of Peace)

प्राय: हम यह कहते रहते हैं कि हाइड्रोजन बम शांति-स्थापना का अस्त्र बन सकता है क्योंकि उसकी विनाश-क्षमता युद्ध को रोकने में समर्थ है। वस्तुत: युद्ध की अनुपस्थिति ही शांति नहीं है। यह एक सुदृढ़ बन्धुत्व-भावना का विकास है, अन्य लोगों के विचारों तथा मूल्यों को ईमानदारी से समझने का प्रयास है। बैटी ने अपने समय के नौजवानों को सलाह दी थी कि वे क्रोध कम करें दूसरों की भर्त्सना न करें, दूसरों के उत्कृष्ट अंश पर विश्वास करने को तैयार रहें, सहज ज्ञान और करुणा जैसे गुणों का विकास करें। ये सभी गुण शांति एवं संतोष के आधार हैं।

शांति शिक्षा को 1980 के प्रारंभ में वेल्स के अंतर्राष्ट्रीय कॉलेज में प्रस्तावित किया गया। प्राय: शांति शिक्षा को तीन रूपों में प्रस्तुत किया गया है यथा–

(अ) शांति के विषय में शिक्षा (Education About Peace)–इस दृष्टिकोण से शांति शिक्षा युद्ध की समालोचना (Criticism of war) है। इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन मितबक ओकामोटो (Mitbuc Occamoto) ने किया।

(ब) शांति के लिए शिक्षा (Education for Peace)–यह एक सकारात्मक अवधारणा है। इसके द्वारा व्यक्ति में अहिंसा की आधारशिला का निर्माण किया जाता है। यह अर्थ इस तथ्य पर अवलम्बित है जब युद्धों को मानव मस्तिष्कों में जन्म दिया जाता है तब उनमें शांति की दीवारों को क्यों नहीं निर्मित किया जाना चाहिए। अत: शांति शिक्षा का इस दृष्टिकोण से अभिप्राय यह है कि मानव के मस्तिष्क में शांति की दीवारों का निर्माण किया जाए।

(स) सकारात्मक शांति (Positive Peace)–इसका अभिप्राय है अहिंसात्मक सामाजिक पद्धति (A non-violent social system) अर्थात् ऐसा समाज जिसमें हिंसा, शोषण, असमानता आदि न हों वरन् वह शोषण एवं अन्याय से मुक्त हो। इस दृष्टि से शांति शिक्षा एक सहयोगी समाज की स्थापना है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कहना है, ''हम सार्वभौम मानवतावादी नए युग के उषाकाल में हैं। आशा की उत्तेजना है, आकांक्षाओं की हलचल है, जैसा प्रात:काल में, जब भोर की किरणें पृथ्वी को जगाती हैं, होता है। हम चाहें या न चाहें रहते एक संसार में ही हैं और हमें मानव के उद्देश्य और भाग्य की समान धारणा अपनानी है। विभिन्न राष्ट्रों को मानव जाति के सदस्यों के रूप में शत्रु-इकाइयों के समान नहीं बल्कि सभ्यता को विकसित करने के प्रयास में संलग्न मित्र-भागीदारों के समान रहना होगा। शक्तिशाली राष्ट्र कमजोर की सहायता करेगा और सारे मानव स्वतंत्र राष्ट्रों के विश्वव्यापी संगठन के सदस्य होंगे। यदि हम गैर जिम्मेदार व्यक्तियों के नियंत्रण

नोट

और अब तक अकल्पनीय शक्ति-स्रोतों के खतरे से बच गए तो हम सभी जातियों को एकत्र करके एक उदार, विशाल, सहयोगी समाज की स्थापना कर सकेंगे। शांति शिक्षा इन खतरों से बचाने में मानव की सहायता करती है।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शांति की अवधारणा के विभिन्न अर्थ हैं–

1. युद्ध की अनुपस्थिति
2. मन की शांति
3. शोषण एवं अन्याय से मुक्ति।

नोट्स शांति शिक्षा शांतिप्रिय लोगों के लिए शिक्षा है जो कि इस पृथ्वी पर शांति कायम करने के योग्य होंगे।

30.2 शांति शिक्षा का अर्थ (Meaning of Peace Education)

शांति शिक्षा वह विज्ञान है जो मानव की मौलिक आवश्यकताओं तथा समाज की यथार्थ प्रकृति या स्वरूप का अध्ययन करता है जिसमें इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यह शिक्षा या विज्ञान लोगों को मानव अधिकारों के विषय में जागरूक बनाता है। शांति शिक्षा वह शिक्षा है जो अशोषित (Non-exploitative) अहिंसक (Non-violent) तथा न्यायप्रिय (Just) समाज का निर्माण करती है।

के.एस. बासवराज के अनुसार–''शांति शिक्षा एक कार्यक्रम एवं प्रक्रिया है जिससे लोगों (नवयुवक तथा प्रौढ़ों) में शांति के मूल्य की सराहना तथा समझदारी की भावना का विकास किया जाता है। यह वह तैयारी है जिससे सामुदायिक जीवन को न्यायप्रिय, व्यवस्थित तथा सामंजस्यपूर्ण बनाया जाता है।''

डॉ. मर्सी अब्राहम–''शांति शिक्षा शांतिप्रिय लोगों के लिए शिक्षा है जो कि इस पृथ्वी पर शांति कायम करने के योग्य होंगे। यह विशेषत: भावात्मक (Affective) शिक्षा है। यह धार्मिक शिक्षा है। साथ ही यह स्वयं में शिक्षा है।''

शांति शिक्षा के चार भेद किए जा सकते हैं, यथा–

(अ) युद्ध-निवारक शिक्षा (Antiwar Education)

(ब) शांति शिक्षा मुक्ति है (Peace Education as Liberation)

इस शिक्षा के द्वारा मानवाधिकारों की प्रोन्नति, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सामाजिक गरीबी, सामाजिक भेदभाव, कुपोषण, निरक्षरता तथा रोगों की समस्याओं का समाधान किया जाता है।

(स) शांति शिक्षा सीखने की प्रक्रिया (Learning Process) है। यह शिक्षा शैक्षिक पर्यावरण के माध्यम से व्यक्तियों में सहिष्णुता तथा सृजनात्मकता (Creativity) का विकास करती है।

(द) शांति शिक्षा एक जीवन-शैली (Life style) है। यह लोगों की जीवन-शैली में परिवर्तन लाकर अंतर्राष्ट्रीय समाज में शांति की स्थापना करती है।

क्या आप जानते हैं शांति शिक्षा सीखने की प्रक्रिया है।

30.3 शांति शिक्षा के उद्देश्य (Objectives of Peace Education)

नोट

डॉ. पी.वी. नायर ने शांति शिक्षा के निम्नलिखित तीन उद्देश्यों पर बल दिया है–

1. छात्रों को धार्मिक सहिष्णुता, अन्य प्रजातियों का आदर तथा धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों को आदर की दृष्टि से देखने के योग्य बनाना।
2. छात्रों में उदार मस्तिष्क (Open Mindedness), विवेकपूर्ण चिंतन तथा विश्वव्यापी ज्ञान की खोज के लिए रुचि विकसित करना।
3. छात्रों में सह-अस्तित्व (Co-existence) की भावना का विकास करना।

प्रो. के.एस. बासवराज ने शांति शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों पर बल दिया है–

1. शांतिप्रिय मानव के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना।
2. मानव जीवन में शांति के मूल्य को समझने तथा उसकी सराहना करने के लिए छात्रों को तत्पर बनाना।
3. नवयुवकों में शांति के अध्यात्मिक मूल्य को विकसित करना जिससे उन्हें आंतरिक शांति या मन की शांति प्राप्त हो सके।
4. बच्चों में उपयुक्त एवं अनुपयुक्त न्याय एवं अन्याय के विषय में जागरुकता विकसित करना।
5. छात्रों में अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा भ्रातृत्व का विकास करना।
6. युद्ध, हिंसा, संघर्ष आदि के परिणामों से अवगत कराना जिससे वे उनसे बचने के लिए कदम उठाने में समर्थ हो सकें।
7. छात्रों को परिवार, देश तथा विश्व में शांति कायम रखने में उनकी भूमिका के प्रति जागरूक बनाना।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. शांति शिक्षा को 1980 के प्रारंभ में वेल्स के ..... में प्रस्तावित किया गया।
2. शांति शिक्षा एक कार्यक्रम एवं ..... है।

30.4 शांति शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum of Peace Education)

प्रो. के.एम. साइमन ने विद्यालय के विभिन्न स्तरों के लिए शांति शिक्षा के पाठ्यक्रम को इस प्रकार निर्धारित किया है–

प्राथमिक स्तर

1. जीवन के नैतिक मूल्यों से संबंधित कहानियाँ, कविताएँ तथा नाटक।
2. विभिन्न धर्मों, क्षेत्रों तथा संस्कृतियों से संबंधित कहानियाँ।

जूनियर स्तर

1. महात्मा गाँधी, पं. जवाहरलाल नेहरू, विनोबा भावे, अब्राहम लिंकन, मार्टिन लूथर किंग, कार्ल मार्क्स, नेल्सन मण्डेला, मदर टेरेसा, जीसस क्राइस्ट, गौतम बुद्ध की जीवनियाँ तथा शांति स्थापना में उनके कार्य।
2. ईसाई धर्म, हिंदू धर्म, इस्लाम तथा बौद्ध धर्म की विश्व शांति की स्थापना में भूमिका।

हाईस्कूल स्तर

1. शांति की अवधारणा।
2. शांति की आवश्यकता एवं महत्त्व।

नोट

3. परिवार, समाज तथा विश्व में शांति कायम करने के साधन।
4. संयुक्त राष्ट्र संघ, यूनेस्को, रेडक्रास, स्काउट एवं गाइड आंदोलन, अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ विश्व शांति में विभिन्न दर्शनों की भूमिका।
5. युद्ध एवं हिंसा के कारण एवं उनके परिणामों की समालोचना।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. शांति शिक्षा सीखने की है–
   (अ) प्रक्रिया (ब) कला (स) सहिष्णुता (द) इनमें से कोई नहीं।
4. सभी गुण शांति एवं संतोष के हैं–
   (अ) आधार (ब) कोष (स) भाव (द) इनमें से कोई नहीं।
5. शांति शिक्षा शैक्षिक पर्यावरण के माध्यम से व्यक्तियों में विकास करती है–
   (अ) भावों का (ब) सहिष्णुता तथा सृजनात्मकता का
   (स) शिक्षा का (द) शांति का
6. शांति शिक्षा को प्रस्तुत किया गया है–
   (अ) दो रूपों में (ब) तीन रूपों में (स) चार रूपों में (द) पाँच रूपों में

30.5 पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ/व्यावहारिक अनुभव (Co-Curriculum Activities/Practical Experiences)

1. यू.एन.ओ. दिवस, पृथ्वी दिवस (Earth Day), शांति दिवस (Peace day) आदि का मनाना।
2. जूनियर रेडक्रास तथा स्काउटिंग एवं गाइडिंग की क्रियाओं में भाग लेना।
3. सामाजिकी वानिकी (Social Forestry), श्रमदान आदि में भाग लेना।
4. पेन-मित्रता कायम करना। साथ ही बच्चों द्वारा फोटो, चित्र, कलेण्डर, स्टांप, सिक्के आदि का आदान-प्रदान।
5. शैक्षिक फिल्मों का प्रदर्शन जिससे छात्रों के मानसिक अंतरिक्ष को उन्नत बनाया जा सके।
6. महान विभूतियों के जन्म दिवस मनाना।
7. अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के मामलों पर सिम्पोजियम, वाद-विवाद प्रतियोगिता, संसद आदि का आयोजन करना।
8. विभिन्न विषयों पर देश तथा विदेश के विजीटिंग प्रोफेसरों के भाषणों का आयोजन करना।
9. शांति के दूतों की एलबम तैयार करना।

30.6 अनौपचारिक शिक्षा पद्धति में शांति शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum For Peace Education Through Non-Formal Education System)

अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली में शांति शिक्षा के पाठ्यक्रम में अग्रलिखित क्षेत्रों को स्थान प्रदान किया जाना चाहिए–

1. **शांतिवाद की अवधारणा** (Concept of Pacifism)–यह सिद्धांत शांति में आस्था तथा युद्ध के प्रति घृणा पर आधारित है। यह मानव जीवन की पवित्रता में आस्था रखता है।

नोट

2. **शांति-शक्ति** (Power of Peace)–गाँधीजी का 'सत्याग्रह' तथा विनोबा भावे का भूदान आंदोलन इस सिद्धांत पर आधारित है। अत: इनका ज्ञान दिया जाए।
3. **विश्व मानव की अवधारणा** (Concept of Vishva Manav)–यह सिद्धांत विश्व नागरिकता तथा व्यापक अंतर्राष्ट्रीयता पर आधारित है। इसमें संकुचित राष्ट्रवाद के दोषों एवं दुष्परिणामों को बताकर विश्व नागरिकता की स्थापना पर बल दिया जाए।
4. **आर्थिक आत्मनिर्भरता तथा उत्पादन का विकेन्द्रीकरण** (Economic Self-sufficiency and Decentralization of Production)–इसमें गाँधीजी के आर्थिक दर्शन का ज्ञान कराया जाए और उनके सर्वोदय समाज की कल्पना को बताया जाए। साथ ही 'अपरिग्रह' के सिद्धांत से अवगत कराया जाए।
5. **नागरिक शिक्षा** (Civic Education)।
6. **शक्ति का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण** (Democratic Decetralization of Power)–इसमें प्लेटो के नगर-राज्यों, गांधीजी के 'ग्राम्य राज' तथा विनोबा भावे के 'ग्रामदान' की अवधारणाओं से व्यक्तियों को अवगत कराया जाए।

टास्क शांति शिक्षा प्रदान करने के साधनों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

30.7 शांति शिक्षा प्रदान करने के साधन (Ways and Means of Peace Education)

विभिन्न विचारकों एवं शिक्षाविदों का मत है कि शांति शिक्षा को विद्यालयों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में एक अतिरिक्त विषय के रूप में प्रतिपादित नहीं किया जाना चाहिए। वरन विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों का ऐसे ढंग से पुनर्गठन किया जाए कि विश्वशांति विद्यालय के पाठ्यक्रम पाठ्य सहगामी क्रियाओं तथा कार्यानुभवों का एक अभिन्न अंग बन जाए। इनके माध्यम से छात्र स्वयं को विश्व का एक अभिन्न अंग मानना सीख जाएँगे, पाठ्यक्रम में निहित शांति विषयों का अध्यापन औपचारिक ढंग से किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त छात्रों को विश्व शांति, विश्व-बंधुत्व, भ्रातृत्व-भावना आदि के प्रति सजग बनाने के लिए जन-संचार के साधनों–रेडियो, टी.वी., आडियो कैसेट, चलचित्र, समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएँ आदि का भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

जन-साधारण को शांति-संदेश प्रदान करने के लिए ऐच्छिक संगठनों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए शांति प्रचार केन्द्रों की स्थापना, शांति-सेना का संगठन, 'शांति यात्रा' आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। समाज के संघर्षों एवं तनावों को दूर करने के लिए अहिंसक साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जनसाधारण को शांति-संदेश देने के लिए नुक्कड़ सभाओं का आयोजन किया जाए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements areTrue/Fase)–

7. शांति शिक्षा द्वारा व्यक्ति में अहिंसा की आधारशिला का निर्माण किया जाता है।
8. शांति शिक्षा एक नकारात्मक धारणा है।
9. शांति शिक्षा वह शिक्षा है जो अशोषित, अहिंसक तथा न्यायप्रिय समाज का निर्माण करती है।
10. शांति शिक्षा विशेषत: भावात्मक और धार्मिक शिक्षा है।

नोट

30.8 सारांश (Summary)

अंत में, हम **डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन** के शब्दों में कह सकते हैं–''सभी धर्म पड़ोसी से प्रेम करने का उपदेश देते हैं, किंतु प्रेम करने की क्षमता पा सकना कठिन काम है। आध्यात्मिक जीवन का विकास ही वह शक्ति है जो पड़ोसी को प्रेम करने की क्षमता प्रदान कर सकती है, फिर चाहे हम स्वभावत: वैसा न करना चाहें। **'ऐपिसिल ऑफ सेण्ट जेम्स'** में कहा गया है, 'तुम्हारे बीच युद्ध और संघर्ष कहाँ से आते हैं? तुम चाहो भी तो तुम्हारे युद्ध यहाँ से (ईश्वर के यहाँ से) नहीं आते।' मानवों की परस्पर विरोधी आकांक्षाओं से ही मानवों में तनातनी और संघर्षों का जन्म होता है। इससे बचने के लिए हमें अपने अंतर में अनुरूपता रखना आवश्यक है। मानव के आंतरिक जीवन के ज्ञान से ही संपूर्ण मानवता के ऐक्य की अनुभूति की जा सकती है।'' अत: शांति शिक्षा के माध्यम से व्यक्तियों को यह अनुभूति करायी जाए कि सभ्यता के विकास में किसी जाति या जाति-समूह का एकाधिकार नहीं रहा है। वरन् सभी राष्ट्रों का योगदान रहा है। उनको उनकी उपलब्धियों को मान्यता प्रदान करना सिखाया जाए। इस प्रकार सार्वभौम बन्धुत्व के लिए कदम उठाए जाएँ। उन्हें धार्मिक मामलों में दूसरे देशों तथा युगों के मनीषियों के योगदान को अवश्य समझाया जाना चाहिए।

30.9 शब्दकोश (Keywords)

1. **अहिंसक** (Non-Violent)–हिंसा से रहित
2. **जीवन-शैली** (Life Style)–जीने का ढंग

30.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. शांति की अवधारणा से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. शांति शिक्षा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. शांति शिक्षा के उद्देश्य बताइए।
4. शांति शिक्षा प्रदान करने के साधनों का वर्णन कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. अंतर्राष्ट्रीय कॉलेज	2. प्रक्रिया	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

30.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–31 : मूल्य शिक्षा का अर्थ एवं आवश्यकता (Meaning and Needs of Value Education)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

31.1 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Value)

31.2 मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of Values)

31.3 मूल्य शिक्षा का अर्थ (Meaning of Value Education)

31.4 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता (Need of Value Education)

31.5 बालक को मूल्य शिक्षा देने के साधन (Ways of Inculcating Values of the Child)

31.6 परिवार तथा मूल्य शिक्षा (Family and Value Education)

31.7 परिवार : मूल्यों का विकास करने की संस्था के रूप में (Family : An Agency for the Development of Values)

31.8 भाषा शिक्षण द्वारा मूल्यों का विकास (Development of Values through Language Teaching)

31.9 सारांश (Summary)

31.10 शब्दकोश (Keywords)

31.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

31.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मूल्य शिक्षा का अर्थ जानने हेतु।
- परिवार तथा मूल्य शिक्षा जानने हेतु।
- विद्यालय तथा मूल्य शिक्षा जानने हेतु।
- भाषा शिक्षण द्वारा मूल्यों का विकास जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

मूल्य शिक्षा क्या है? यदि हम साधारणतया इस पर विचार करें तो यह कह सकते हैं कि जो शिक्षा मूल्यों से संबंध रखती है, वह मूल्य शिक्षा कही जाती है परंतु यहाँ स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठता है कि मूल्य क्या हैं?

नोट

यदि हम आपसे पूछें कि आपके मूल्य क्या हैं? तो हो सकता है कि आप में से एक कहे–हम तो पूजा-पाठ में विश्वास रखते हैं अर्थात् आपका प्रमुख मूल्य आध्यात्मिक है, किसी दूसरे व्यक्ति से यदि यही प्रश्न पूछा जाए और इसका प्रत्युत्तर हो कि वह तो समाज सेवा में विश्वास रखता है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसका प्रमुख मूल्य सामाजिक मूल्य है और अब तीसरे व्यक्ति से पूछें कि आपका प्रमुख मूल्य क्या है और वह कहता है कि धन-दौलत कमाना व ऐश्वर्यपूर्ण रहना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह व्यक्ति आर्थिक मूल्य को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। यही प्रश्न यदि हम इस रूप में करें कि आपकी मुख्य पसंद (Liking) क्या है तो भी हमें यही प्रत्युत्तर विभिन्न व्यक्तियों से प्राप्त होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल्य व्यक्ति की पसंद या नापसंद की ओर इंगित करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक बातों को महत्त्व देता है व धनोपार्जन पर ध्यान नहीं देता। इसका अभ्रिपाय हुआ कि आर्थिक मूल्य को या तो वह शून्य में रखता है या फिर उसके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। साथ ही एक व्यक्ति वह भी हो सकता है जो धनोपार्जन को अपने जीवन का अहम् लक्ष्य मानता है परंतु ईश्वर या समाज में उसकी कोई आस्था नहीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह आर्थिक मूल्य पर बल देता है व आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्यों के प्रति उपेक्षात्मक या नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। वास्तव में यदि देखा जाए तो किसी भी व्यक्ति का पूर्ण व्यवहार उन मूल्यों की परिधि के अंतर्गत संचालित होता है जिन्हें वह महत्त्वपूर्ण समझता है।

व्यक्ति
↓
व्यवहार
↓
मूल्य

मूल्यों का मानव के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस कारण सबसे पहले हम इस बात की चर्चा करेंगे कि मूल्य क्या है? अथवा मूल्य किसे कहते हैं?

31.1 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Values)

शाब्दिक रूप में यदि देखा जाए तो मूल्य को अंग्रेजी में value कहते हैं और Value लैटिन भाषा का शब्द Valere (वैलियर) से बना है वैलियर का अंग्रेजी में अर्थ है ability, utility, importance तथा हिंदी में अर्थ है–योग्यता, उपयोगिता व महत्त्व। शाब्दिक अर्थ के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति या वस्तु का वह गुण जिसके कारण उसका महत्त्व, सम्मान या उपयोग समझा जाता है, वह मूल्य है। मूल्य से आशय वह वस्तुएँ या बातें हैं जिनमें व्यक्ति रुचि लेता है। मूल्य की चर्चा विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से की है–

1. सुखवादी विचारक यह कहते हैं कि मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा को तृप्त करते हैं।
2. विकासवादी विचारकों का यह मानना है कि मूल्य वह है जो जीवनवर्धक होते हैं।
3. पूर्णतावादी विचारकों की धारणा है कि मूल्य वह है जिससे आत्मलाभ होता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सुखवादी मूल्य का अभिप्राय सुख भावना को मानते हैं जबकि विकासवादी और पूर्णतावादी क्रमशः जीवन और आत्मा को। परंतु तीनों ही विचारधाराएँ मूल्य को एक चेतन्य प्रक्रिया (Conscious Process) के रूप में स्वीकार करते हैं अथवा इनका मानना यह है कि मूल्य का संबंध मानव के मस्तिष्क के चेतना के स्तर से होता है।

विभिन्न विचारकों ने मूल्यों के संबंध में अनेक परिभाषाएँ दी हैं। इन परिभाषाओं को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं–

(अ) दार्शनिक विचारधारा,

(ब) मनोवैज्ञानिक विचारधारा,

(स) समाजशास्त्रीय विचारधारा।

नोट

(अ) दार्शनिक विचारधारा–दर्शनशास्त्र मूल्य के संबंध (Philosophical View) में यह धारणा रखता है कि मूल्य एक शुद्ध सूक्ष्म तत्व है। इसके अंतर्गत हम मूल्य की परिभाषाओं को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं–

1. **वैयक्तिक परिभाषाएँ** (Subjective Definitions)–वैयक्तिक संदर्भ में मूल्यों का संबंध हमारी भावनाओं एवं संवेगों, पसंद एवं नापसंद से होता है। **ई. एस. ब्राइटमेन** (E. S. Brightman) के अनुसार, ''प्रारंभिक अर्थ में मूल्य से अभिप्राय है जो व्यक्ति वास्तव में पसंद करता है, स्वीकृत करता है तथा उसका आनंद उठाता है।'' (In primary sense value means what the individual likes, accepts and enjoys.) इस दृष्टि से यदि हम देखें तो मूल्य हमारी इच्छाओं व भावनाओं को संतुष्ट करने का माध्यम है। इनका संबंध तर्क से नहीं होता। डिक्शनरी ऑफ एजूकेशन (गुड) (Dictionary of Education) (Good) के अनुसार, ''मूल्य एक ऐसी विशेषता है जिसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक या सौंदर्यात्मक विचारों के परिप्रेक्ष्य में उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण समझा जाता है ..... तथा ये उस व्यक्ति या व्यक्ति में अंतर्निहित रहते हैं जो उसके विश्वास के अनुसार सुरक्षा व नैतिक सहायता प्रदान करते हैं।'' (Any characteristic deemed important because of psychological, social, moral or aesthetic consideration ..... to refer to built in inner system of beliefs from which one can gain security of support.)
2. **वस्तुनिष्ठ परिभाषाएँ** (Objective Definitions)–इस अर्थ से अभिप्राय है कि मूल्य का अर्थ व्यक्ति या उसकी आंतरिक भावनाओं से नहीं है अथवा यह आंतरिक जगत की वस्तु नहीं है वरन् मूल्य का अर्थ वस्तु से होता है। **जोड** (Joad) के अनुसार मूल्य उतने ही सत्य होते हैं जैसे–रंग, गंध, स्वभाव, आकार व आकृति। **पर्सी** (Percy) के अनुसार, ''किसी व्यक्ति के लिए वे रुचिकर वस्तुएँ मूल्य कही जा सकती हैं जिनके आधार पर व्यक्ति की रुचि एवं वस्तु में एक संबंध स्थापित हो जाता है।'' (An object of interest to some one for it emanates from particular relation between the interest and its object.)
3. **तार्किक परिभाषाएँ** (Logical Definitions)–इस आधार पर लोगों का विचार है कि मूल्य का संबंध मानव तथा उसके वातावरण दोनों से ही होता है। इस कारण वह व्यक्तिनिष्ठ भी होते हैं, वस्तुनिष्ठ भी। **डॉ. राधाकमल मुखर्जी** (Dr. R. K. Mukharjee) के शब्दों में, ''समाज में समस्त ऐसी इच्छाएँ या अभिलाषाएँ मूल्य कही जाती हैं जो कि अनुबंधन की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति में अंतर्निहित हो जाती हैं जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा भी उस व्यक्ति की प्राथमिकताओं, रुचियों, महत्त्वाकांक्षाओं के रूप में प्रकट होती हैं।'' (Socially approved desires or goals that are internalized through the process of conditioning learning or socialization and that became subjective preference, standards and aspirations.)

(ब) मनौवैज्ञानिक विचारधारा (Psychological View)–**मरफी व न्यूकाम** (Murphy and Newcombs) के अनुसार मूल्य का अर्थ है लक्ष्य प्राप्ति की ओर उन्मुख होना (To proceed towards goal attainment)। **जान्स** (Jones) के अनुसार, ''मूल्य वह प्रेरणा है जो व्यक्ति के प्रयासों को संतुष्ट करती है जिससे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके (Values are the inspiration that satisfies the efforts of individual so that he can achieve his goals.) मनोवैज्ञानिक विचारधारा यह मानती है कि मूल्य व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है और इस दृष्टि से मूल्य वह वस्तु, परिस्थिति या क्रिया है जिसमें व्यक्ति संतुष्टि महसूस करता है। **आलपोर्ट** (Allport) के अनुसार, ''मूल्य व्यक्तित्व की प्रमुख रुचियों की ओर इंगित करते हैं।'' (Values tell the interests of personality) **एच. मारगीनो** (H. Margenau) ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल्य को दो भागों में बाँटा है–

1. वास्तविक (Factual) मूल्य,
2. आदर्शात्मक (Normative) मूल्य।

नोट

वास्तविक मूल्य वह हैं जिनको व्यक्ति में देख सकते हैं। चूँकि यह व्यक्ति के विचारों, इच्छाओं व व्यवहार में परिलक्षित होते हैं अर्थात् व्यक्ति के मूल्य ही उसे हर स्थान पर दिशा निर्देशित करते हैं जबकि आदर्शात्मक मूल्य वह है जिन्हें व्यक्ति चाहता है या जिनकी ओर अपने व्यवहार को उन्मुख करता है। **क्ल्यूकान** (Kluckkohn) ने कहा है, ''मूल्य प्रेरणाओं के विशिष्ट पहलू हैं जो कि मानवीकृत संस्कृति की झलक देते हैं। ये यकायक किसी परिस्थिति या आवश्यकताओं की संतुष्टि के आधार पर प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। मूल्य सदैव शाब्दिक एवं प्रेरक व्यवहारों में दृष्टिगोचर होते हैं तथा व्यक्ति को क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए, का ज्ञान कराते हैं।'' (Values are the aspect of motivation which is referable to a standard personal or cultural, that does not arise solely out of an immediate situation and satisfaction of needs and primary drives, values are always manifested in the verbal or motor behaviour of individuals including what is not said or what is not done.)

(स) **समाजशास्त्रीय विचारधारा** (Sociological View)–समाजशास्त्रीय विचारधारा मूल्यों को सामाजिक विचारों, मान्यताओं, परंपराओं व विश्वासों पर आधारित मानते हैं। इस संबंध में **ननली** (Nunnally) का विचार है, ''जीवन के लक्ष्यों एवं जीवन प्रक्रिया के प्रति मूल्य प्राथमिकता रखते हैं बजाय किसी विशिष्ट कार्य के प्रति रुचि रखने के।'' (Values concern preference for 'life goods' and "ways of life" in contrast to interest which concern preference for particular activities.) इसी प्रकार के विचार **फ्लिंक** (Flink) ने दिए हैं, ''मूल्य वह प्रमापीकृत मानक है जिससे व्यक्ति अपनी रुचियों से प्रभावित होता है और अपने प्रत्यक्षीकरण के अनुरूप विभिन्न क्रियाओं का चयन करता है।'' (Value are normative standards by which human being are influenced in their choice among the alternative courses of action which they perceive.)

वास्तव में यदि देखा जाए तो मूल्य वह है जो सभी बातों का निर्धारण करते हैं। वास्तव में यह मूल्य ही हैं जो इस जगत को अर्थ प्रदान करते हैं। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति, घटना, क्रिया को अर्थ प्रदान करते हैं। इस जगत में होने वाला छोटा-सा भी परिवर्तन मूल्यों के परिवर्तन के फलस्वरूप ही होता है व उसे मूल्यों के आधार पर ही समझा जा सकता है।

नोट्स मूल्य प्रेरणाओं के विशिष्ट पहलू हैं जोकि मानवीकृत संस्कृति की झलक देते हैं।

31.2 मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of Values)

आलपोर्ट एवं वर्नन (Allport and Vernon) ने मूल्यों को **स्प्रेंगर** (Spranger) के वर्गीकरण के आधार पर 6 श्रेणियों में विभक्त किया है–

1. सैद्धांतिक मूल्य (Theoretical Value),
2. आर्थिक मूल्य (Economic Value),
3. सामाजिक मूल्य (Social Value),
4. राजनैतिक मूल्य (Political Value),
5. सौंदर्यात्मक मूल्य (Aesthetic Value),
6. धार्मिक मूल्य (Religious Value)।

जे. ई. टर्नर (J. E. Turner) ने मूल्यों को दो श्रेणियों में बाँटा है–

1. मूर्त मूल्य (Abstract Value),
2. अमूर्त मूल्य (Concrete Value)।

नोट

गेलाइटली (Galightly) ने मूल्यों को दो भागों में विभाजित किया है–

1. आवश्यक मूल्य (Essential Value),
2. कार्यात्मक मूल्य (Operational Value)।

डब्ल्यू. अरबन (W. Aurban) ने कहा है कि मूल्यों के निम्न रूप होते हैं–

1. **जैविकीय मूल्य** (Biological Value)–
   (अ) शारीरिक (Physical),
   (ब) आर्थिक (Economic),
   (स) मनोरंजनात्मक (Recreational)।
2. **सामाजिक मूल्य** (Social Value)–
   (अ) चरित्र (Character),
   (ब) साहचर्य (Association)।
3. **पराजैविक मूल्य** (Hyper Organic Value)–
   (अ) बौद्धिक (Intellectual),
   (ब) धार्मिक (Religious),
   (स) सौंदर्यात्मक (Aesthetic)।

ऊपर हमने कुछ विद्वानों द्वारा मूल्यों का जो वर्गीकरण दिया गया, उसकी चर्चा की। यदि हम शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह पाएँगे कि विभिन्न देशों में शिक्षा के मूल्यों की जो चर्चा की गई है, वह उनके देश की विद्यमान परिस्थितियों पर आधारित है। भारतवर्ष में भी विभिन्न समयों में मूल्यों के वर्गीकरण के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किए हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली (NCERT) ने शिक्षा में सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों पर दस्तावेज में 83 मूल्यों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं–(1) दूसरों के सांस्कृतिक मूल्यों की सराहना (2) अस्पृश्यता विरोध (3) नागरिकता (4) दूसरों की चिंता (5) दूसरों का ध्यान रखना (6) सहयोग (7) सामान्य अच्छाई (8) प्रजातांत्रिक निर्णय लेना (9) व्यक्ति की महत्ता (10) शारीरिक कार्य का सम्मान (11) साथी भावना (12) अच्छे आचरण (13) राष्ट्रीय समाकलन (14) आज्ञापालन (15) समय का सदुपयोग (16) ज्ञान की खोज (17) संयम (18) करुणा (19) सामान्य लक्ष्य (20) शिष्टाचार (21) भक्ति (22) स्वास्थ्यकर जीवन (23) अखंडता (24) शुचिता (25) निष्कपटता (26) आत्मनियंत्रण (27) साधन संपन्नता (28) नियमितता (29) दूसरों का सम्मान (30) वृद्धावस्था का सम्मान (31) सादा जीवन (32) सामाजिक न्याय (33) स्वानुशासन (34) स्व-सहायता (35) स्व-सम्मान (36) आत्मविश्वास (37) स्व-समर्थन (38) स्वाध्याय (39) आत्मनिर्भरता (40) चिंतन (41) समाज-सेवा (42) मानव जाति की एकात्मकता (43) अच्छे व बुरे में भेद (44) सामाजिक उत्तरदायित्व की भाव (45) स्वच्छता (46) साहस (47) जिज्ञासा (48) धर्म (49) अनुशासन (50) सहनशीलता (51) समानता (52) मित्रता (53) वफादारी (54) स्वतंत्रता (55) दूरदर्शिता (56) सज्जनता (57) कृतज्ञता (58) ईमानदारी (59) सहायकता (60) मानवतावाद (61) न्याय (62) सत्यता (63) सहिष्णुता (64) सार्वभौमिक सत्य (65) सार्वभौमिक प्रेम (66) राष्ट्रीय व जन संपत्ति का महत्त्व (67) पहल (68) दयालुता (69) जीवों के प्रति दया (70) धर्मपरायणता (71) नेतृत्व (72) राष्ट्रीय एकता (73) राष्ट्रीय सचेतनता (74) अहिंसा (75) शांति (76) देशभक्ति (77) समाजवाद (78) सहानुभूति (79) संस्कृति (80) अच्छा प्रभाव (81) दल भावना (82) समय की पाबंदी (83) दल नियोजन।

उपरोक्त वर्गीकरण देखने के पश्चात् हम मूल्यों को व्यापक दृष्टि से निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

1. **वैयक्तिक मूल्य** (Personal Value)–वैयक्तिक मूल्य वह है जो व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से संबंध रखते हैं। इन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति स्वयं को रखता है। शुचिता, सफाई, नियमितता, समय की पाबंदी, ज्ञान की खोज व सादा जीवन आदि मूल्यों को हम इस श्रेणी में रखते हैं।

नोट

2. **सामाजिक मूल्य** (Social Value)–सामाजिक मूल्य वह है जिसमें व्यक्ति समाज को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। इन मूल्यों में वृद्ध व्यक्तियों का सम्मान, समाज सेवा, संस्कृति का संरक्षण आदि सम्मिलित करते हैं। यह मूल्य वह होते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति समाज के कल्याण की कल्पना करता है। व्यक्ति के लिए सामाजिक मूल्यों का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है। चूँकि वह एक सामाजिक प्राणी है।
3. **शैक्षिक मूल्य** (Educational Value)–बुद्धि का विकास, जिज्ञासा, चिंतन आदि वह मूल्य हैं जिन्हें हम शैक्षिक मूल्यों की श्रेणी में समाहित करते हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालक के बौद्धिक ज्ञान का विकास करना तो है ही, साथ ही वह बालक को आत्म-निर्भर भी बनाती है।
4. **राजनैतिक मूल्य** (Political Value)–देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय सचेतनता आदि वह मूल्य हैं जिन्हें हम राजनैतिक मूल्यों की श्रेणी में रखते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति को योग्य नागरिक बनाना होता है जिससे वह अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो सके।
5. **चारित्रिक मूल्य** (Character Value)–सदाचार, करुणा, सहानुभूति, दयालुता, सहिष्णुता आदि वह मूल्य हैं जो चारित्रिक मूल्य कहे जाते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से ऊँचा बनाना होता है। आज के युग में इन मूल्यों का बहुत महत्त्व है।
6. **आध्यात्मिक व धार्मिक मूल्य** (Spiritual or Religious Value)–भक्ति, धर्मनिरपेक्षता, सभी धर्मों का आदर करना इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति के अंदर आध्यात्मिक व धार्मिक मूल्यों को समाहित किया गया है। भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य में व्यक्ति का आध्यात्मिक व धार्मिक विकास किया जाना चाहिए। साथ ही उसके अंदर बहुत कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं होना चाहिए।
7. **सौंदर्यात्मक मूल्य** (Aesthetic Value)–प्रकृति प्रेम, सुंदरता की प्रशंसा, वनों की रक्षा आदि सौंदर्यात्मक मूल्य हैं। व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सुंदर वस्तु से प्रेम करे व जिस धरातल पर वह रहता है, उसे स्वच्छ व सुंदर बनाए रखने का प्रयास करे।

मूल्य क्या हैं? तथा मूल्यों के प्रकार यह देखने के पश्चात् अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि इन मूल्यों का विकास शिक्षा के द्वारा कैसे किया जा सकता है अथवा मूल्य शिक्षा किसे कहते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. दर्शनशास्त्र मूल्य के संबंध में यह धारणा रखता है कि मूल्य एक ..... है।
2. विकासवादी विचारकों का मानना है कि मूल्य वह है जो ..... होते हैं।

31.3 मूल्य शिक्षा का अर्थ (Meaning of Value Education)

वह शिक्षा जो बालक को मूल्यों के प्रति प्रशिक्षित करती है, उसे मूल्य शिक्षा कहते हैं। मूल्य शिक्षा के संबंध में डॉ. एस. पी. रुहेला (S.P. Ruhela) का विचार है–

1. 'मानव मूल्यों में शिक्षा' यह किसी पृथक् विषय के रूप में विद्यालय में नहीं पढ़ाई जा सकती है।
2. मूल्य शिक्षा को हमें नैतिक शिक्षा में भी समाहित नहीं करना चाहिए।
3. मूल्य शिक्षा देने के पश्चात् उसका अन्य विषयों की भाँति मूल्यांकन कर पाना संभव नहीं।
4. इसे मूल्यविहीन, समर्पितहीन शिक्षकों द्वारा अवहेलनात्मक दृष्टिकोण से नहीं पढ़ाया जाना चाहिए।
5. यह केवल औपचारिक शिक्षण संस्थाओं में ही नहीं पढ़ाई जाए वरन् अनौपचारिक रूप में भी इसका शिक्षण देना चाहिए।
6. इसे धार्मिक मंत्रों, प्रार्थना, संभाओं, संतों की गाथाओं आदि के रूप में ही नहीं देना चाहिए।

नोट

7. इस शिक्षण को मानव निर्माण के एक सशक्त व व्यावहारिक विज्ञान का रूप ग्रहण करना है जिसमें आध्यात्मिकता, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, नीतिशास्त्र, सामाजिक कार्य, आधुनिकता, भविष्यशास्त्र, अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक अभिभावक व नागरिक अपने संपर्क में आनेवाले हर बालक, विद्यार्थी व नागरिकों को मूल्यों के प्रति सचेत करे व स्वयं भी इसके प्रति सचेत हो।

मूल्य शिक्षा के संबंध में डॉ. रुहेला के विचारों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि मूल्य शिक्षा न तो कोई एक अलग विषय के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित की जा सकती है और न ही सैद्धांतिक रूप में इसका शिक्षण संभव है। यह एक व्यावहारिक विषय है जो विद्यालय के प्रांगण व उसके बाहर अनौपचारिक रूप में इस कारण पढ़ाया जाएगा जिससे कि शिक्षा के द्वारा छात्रों के व्यवहार को सही दिशा प्रदान की जा सके।

मूल्य शिक्षा का प्रारूप (Form of Value Education)

ऊपर हमने चर्चा की कि मूल्य शिक्षा छात्रों को देना आसान है परंतु छात्रों को मूल्य सिखा पाना एक बहुत ही कठिन प्रक्रिया है। इस कारण विद्यालय की औपचारिक एवं अनौपचारिक गतिविधियों को हमें इस प्रकार संगठित करना होगा जिससे हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से छात्रों के अंदर मूल्यों का विकास कर सकें। विद्यालय में प्रमुख रूप से चार वर्गों के लोग होते हैं।

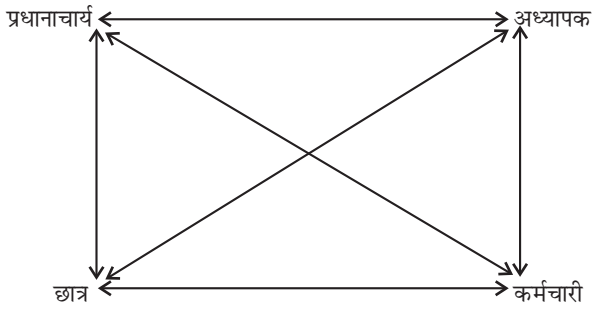

इन लोगों के मध्य परस्पर की जाने वाली अंत:क्रिया इस प्रकार से होनी चाहिए कि मूल्यों की झलक मिल सके। यदि इन लोगों के व्यवहार में वैमनस्य, कटुता, अनुशासनहीनता, ईर्ष्या आदि की झलक मिलेगी तो विद्यालय का वातावरण छात्रों के अंदर मूल्यों का सकारात्मक विकास कदापि नहीं कर सकता।

इसके अलावा विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले कुछ विषय भी ऐसे हैं जो मूल्यों का उचित विकास कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, नागरिकशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसके अध्ययन द्वारा हम छात्रों में वांछनीय सामाजिक व राष्ट्रीय मूल्यों का विकास कर सकते हैं। भाषा शिक्षण दूसरा ऐसा विषय है जो हमें इस दिशा में अपना सहयोग दे सकता है।

विद्यालय में आयोजित की जाने वाली पाठ्यक्रम सहगामी क्रिया में भी मूल्यों का उचित विकास करा सकते हैं, यथा–क्रीड़ास्थल के क्रियाकलापों में, विभिन्न खेलों को खेलते समय खिलाड़ी के रूप में व्यवहार करने के निर्देश व नियमों में, महान व्यक्तियों के जीवन के माध्यम से, विभिन्न सामाजिक व धार्मिक उत्सवों का आयोजन करके व अध्यापक व अभिभावकों के मध्य परस्पर अंत:क्रियाओं में।

इसके साथ ही हमें मूल्य शिक्षा देते समय कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए जो इस प्रकार हैं–

1. मूल्य शिक्षा धार्मिक शिक्षा नहीं है।
2. यह शिक्षा सैद्धांतिक न होकर व्यावहारिक है।
3. मूल्य शिक्षा पर किसी विशेष अध्यापक का आधिपत्य नहीं होना चाहिए वरन् यह सभी के द्वारा दी जा सकती है।

नोट

4. मूल्य सीखने हेतु छात्रों में स्वप्रेरणा होनी चाहिए। इस कारण इस शिक्षा को छात्रों पर प्रतिरोपित नहीं करना चाहिए।
5. मूल्यों का ज्ञान छात्रों के परिपक्वता स्तर के अनुसार ही दिया जाना चाहिए।
6. मूल्य शिक्षण व समाज की विद्यमान विभिन्न परिस्थितियों में परस्पर विरोधाभास नहीं होना चाहिए वरन् उनमें एकरूपता होनी चाहिए।
7. विद्यालय में मूल्य शिक्षण देने हेतु उससे संबंधित समस्याओं पर विचार-विमर्श या वाद-विवाद होना चाहिए।
8. मूल्य शिक्षा देने हेतु श्रव्य व दृश्य सामग्रियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
9. कथनी व करनी में बहुत अंतराल नहीं होना चाहिए।
10. अध्यापकों द्वारा छात्रों के व्यवहार का निरंतर अवलोकन व मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

31.4 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता (Need of Value Education)

यदि हम भारतवर्ष के शैक्षिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम यह नि:संकोच कह सकते हैं कि विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारतवर्ष ने संतोषजनक प्रगति की है। आज हम गर्व के साथ यह कह सकते हैं कि भारतवर्ष ने यातायात, संचार व चिकित्सा में संतोषजनक उपलब्धियाँ की हैं। परंतु इसके साथ ही दूसरी ओर जब हम अपनी संस्कृति व मूल्यों पर विचार करते हैं तो हमें बहुत ही शर्म का अनुभव होता है चूँकि मूल्यों की दृष्टि से हमारा दिन-प्रतिदिन पतन होता जा रहा है। आज हमारे सामने बहुत ही विषम परिस्थितियाँ हैं। एक तो यह कि हमें यह पता ही नहीं कि हमारे भारतीय मूल्य क्या हैं? और इस कारण हम मूल्य अनभिज्ञ होकर व्यवहार करते जा रहे हैं। दूसरे, हमें भारतीय मूल्यों का ज्ञान तो है परंतु हम उनके प्रति आस्था नहीं रखते और मूल्यविहीन व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं। तीसरे, हमें मूल्यों का ज्ञान है और उस पर चलना हम पिछड़ेपन का प्रतीक समझते हैं और आधुनिकता की दौड़ में हम इतनी तीव्र गति से चलना चाहते हैं कि हमारे मूल्य उस दौड़ में कहीं लुप्त हो जाते हैं। मूल्य परख व्यवहार न करने के लिए हमें आत्मग्लानि तो अवश्य होती है परंतु आधुनिक बनने की ललक के आगे हम घुटने टेक देते हैं। यह तीनों ही वह परिस्थितियाँ हैं जिन्हें हम मूल्य अंतर्द्वंद्व (Value Crisis) की संज्ञा दे सकते हैं। इस कारण आज हमारे लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि हम मूल्य शिक्षा के द्वारा छात्रों को सही मूल्यों का ज्ञान कराएँ।

मुसलमान व अंग्रेजों के शासनकाल से पूर्व भारतवर्ष की शिक्षा व्यवस्था सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित थी परंतु मुसलमानों के शासनकाल में शिक्षा का स्वरूप बदल गया व शिक्षा मुस्लिम संस्कृति व इस्लाम धर्म के प्रचार का एक माध्यम बन गई तत्पश्चात् अंग्रेज शासन व्यवस्था का उद्‌गम हुआ और अंग्रेजों ने शिक्षा को अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया और पूरी भारतीय शिक्षा प्रणाली को शिथिल बना दिया। अंग्रेजों का उद्देश्य भी भारतवर्ष में अपनी संस्कृति व भाषा का प्रचार करना था वे ऐसे भारतीयों का विकास करना था जो शरीर से भारतीय हों, व्यवहार व मन से अंग्रेज। उसी समय से भारतीय विचारकों के मन-मस्तिष्क में एक समस्या ने जन्म लिया कि कहीं ऐसा न हो कि आने वाले वर्षों में भारतीय संस्कृति व मूल्य अपना पूर्ण अस्तित्व ही खो दें व अंधकार के गर्त में विलीन हो जाएँ। इसी कारण 1937 में महात्मा गाँधी ने इंडियन एजुकेशन कांफ्रेंस बुलाई और शिक्षा के माध्यम से मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापित करने पर बल दिया। 1947 में भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ और 1950 में हमने अपना नया संविधान पारित किया। इसमें भी भारतीय मूल्यों की चर्चा की गई है। संविधान की धारा 21 में कहा गया, ''जनसाधारण से प्राप्त कर को किसी भी धर्म के कल्याण हेतु उपयोग नहीं किया जाएगा।'' (The public fund raised by taxes shall not be utilized for the benefit of any religion.) इसके साथ ही संविधान में धर्म-निरपेक्ष भारत की कल्पना भी की गई है परंतु भारतीय संविधान में कुछ प्रजातांत्रिक मूल्य बताए गए हैं और इनका विकास करना आवश्यक बताया गया है चूँकि इनके बिना प्रजातंत्र का अस्तित्व कायम रख पाना असंभव है।

नोट

इसके पश्चात् 1948-49 में डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ। इनकी भी राय यह थी कि–

1. सभी शिक्षण संस्थाओं का प्रारंभ प्रार्थना सभाओं द्वारा हो जिसमें छात्र दो मिनट का मौन रखें।
2. स्नातक वर्ष के प्रथम वर्ष, द्वितीय वर्ष व तृतीय वर्ष में छात्रों को क्रमशः भारत के विभिन्न धर्मों के प्रमुख नेताओं, विश्व के विभिन्न धर्मों के नेताओं व साहित्य तथा धार्मिक समस्याओं व दर्शन का ज्ञान छात्रों को कराया जाए। आयोग द्वारा दिए गए यह सुझाव अप्रत्यक्ष रूप से मूल्य शिक्षा देने पर बल देते हैं।

इसके पश्चात् 1959 में डॉ. श्री प्रकाश की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ जिसे धार्मिक व नैतिक शिक्षा समिति (Committee on Religious and Moral Education—Dr. Shri Prakash) कहा गया। इन्होंने भी छात्रों में उचित आचरण की शिक्षा हेतु निम्न सुझाव दिए–

1. शिक्षा के प्रत्येक कार्यक्रम में परिवार को उचित महत्त्व दिया जाए व उसके दोषों का उन्मूलन किया जाए।
2. विश्वविद्यालय का प्रारंभ ईश विनय से किया जाए।
3. प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे ग्रंथ रखे जाएँ जो छात्रों को धार्मिक मूल्यों का ज्ञान दें।
4. शिक्षा द्वारा अच्छे आचरण की बातों पर प्रबलता दी जाए व इसी आधार पर छात्रों का मूल्यांकन हो।
5. समाज सेवा पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का अभिन्न अंग हो।
6. छात्रों में वाद-विवाद, स्वतंत्र चिंतन एवं आलोचनात्मक चिंतन के गुण का विकास किया जाए।
7. विद्यालय में विभिन्न धर्मों के उत्सवों का सामूहिक आयोजन हो जिसके द्वारा छात्रों में वांछनीय नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य विकसित हो सकें।

तत्पश्चात् 1964-66 में कोठारी शिक्षा आयोग (Kothari Education commission) का गठन हुआ व आयोग ने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा के द्वारा छात्रों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास किया जाना चाहिए और छात्रों को इस योग्य बनाना चाहिए कि वह नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति प्रशंसात्मक दृष्टिकोण रख सकें। आयोग ने यह भी कहा कि आज के युवकों में सामाजिक व नैतिक मूल्यों के प्रति जो अवहेलनात्मक दृष्टिकोण है, उसके कारण ही सामाजिक व नैतिक संघर्ष उत्पन्न हो रहे हैं। इसी कारण हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम शिक्षा व्यवस्था को मूल्य परख (Value oriented) बनाएँ। आयोग ने जो सुझाव दिए, वह इस प्रकार हैं–

1. केंद्र व राज्य सरकार के अधीन सभी विद्यालयों में नैतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा दी जाए व निजी संस्थाओं से भी इसका अनुपालन करने की अपेक्षा की जाए।
2. समय तालिका में इन मूल्यों से संबंधित शिक्षा के कुछ कालांश निर्धारित किए जाएँ जो किसी विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा न लिए जाएँ वरन् विद्यालय के सामान्य अध्यापक इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करें।
3. विश्वविद्यालय स्तर पर धर्म शिक्षा से संबंधित जो विभाग है, वह छात्रों व अध्यापकों की दृष्टि से विशिष्ट साहित्य तैयार करे जिनके द्वारा इन मूल्यों का सकारात्मक विकास हो सके।
4. सभी धर्मों के छात्रों के लिए ऐसी पाठ्य-पुस्तकों की व्यवस्था की जाए जो विभिन्न धर्मों के आध्यात्मिक व नैतिक मूल्यों का तुलनात्मक ज्ञान करा सकें।

1985-86 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भी मूल्य चर्चा के संबंध में तीन बातें कही गई हैं जो इस प्रकार हैं–

1. मूल्यों (सामाजिक व नैतिक) के विकास की दृष्टि से पाठ्यक्रम में संशोधन किया जाए जिससे वह इन मूल्यों का विकास करने का सशक्त साधन बन सके।
2. शिक्षा द्वारा सार्वभौमिक व शाश्वत मूल्यों का विकास किया जाए जिससे वह धार्मिक कट्टरता, अहिंसा, अंधविश्वासों का दमन करे।
3. मूल्य शिक्षा हेतु ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जाए जो मूल्यों का सकारात्मक विकास करे। इसमें राष्ट्रीय विरासत व राष्ट्रीय लक्ष्यों पर बल दिया जाए।

नोट

क्या आप जानते हैं वास्तविक मूल्य वह हैं जिनको व्यक्ति देख सकते हैं।

31.5 बालक को मूल्य शिक्षा देने के साधन (Ways of Inculcating Values in the Child)

छात्रों के अंदर उचित मूल्यों का विकास कैसे किया जाए? यह एक गंभीर समस्या है। इसके कारण यह हैं कि कुछ विचारक तो यह मानते हैं कि मूल्य विकसित करने का कार्य परिवार व समाज का है, विद्यालय का नहीं। उनका मानना यह है कि विद्यालय का कार्य तो बालक की ज्ञानात्मक क्षेत्र में अभिवृद्धि करना मात्र ही है। दूसरी ओर कुछ विचारक यह मानते हैं कि विद्यालय में मूल्य शिक्षा देने का क्या औचित्य है। चूँकि जब तक हम परिवार व विद्यालय के वातावरण को मूल्यों पर आधारित नहीं बनाएँगे, तब तक मूल्य शिक्षा प्रभावहीन ही रहेगी वरन् इस बात का भी डर रहेगा कि शिक्षा विद्यालय व परिवार व समाज के वातावरण में एक अंतराल स्थापित कर दे। परंतु इन दोनों ही विचारधाराओं पर यदि हम ध्यान दें तो आगे आने वाले कुछ वर्षों में हमारे समक्ष मूल्यहीनता की समस्या एक विकराल रूप लेकर खड़ी हो जाएगी। इस कारण विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने मूल्यों का विकास करने के विभिन्न तरीके बताए हैं। इन तरीकों में इस बात का ध्यान रखा गया है कि छात्रें के मूल्य आधारित विचारों को जाना जाए तत्पश्चात् उन्हें मूल्य पर आधारित व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाए। मूल्यों का विकास करने हेतु विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने निम्न तरीकों की चर्चा की है–

1. **भूमिका निर्वहन शिक्षण साधन** (Role Playing Method of Teaching)–इसमें अध्यापक द्वारा छात्रों को विभिन्न पात्रों की भूमिका करने के अवसर प्रदान किए जाते हैं, यथा–राजा, रंक, साधु, भिक्षुक, डॉक्टर, मरीज, बालक, बालिका, न्यायाधीश, चोर, जमींदार, नेता, अध्यापक, मित्र। प्रत्येक बालक को किसी न किसी पात्र की भूमिका अदा करने का चयन करने को कहा जाता है। जायस, ब्रूस व वील, एम. (Joyce, B. and Weil, M.) ने इसकी कई अवस्थाएँ बताई हैं जो इस प्रकार हैं–

   (*i*) अवस्था प्रथम–समूह में उत्साह भरना

   (क) समस्या प्रस्तुत करना

   (ख) समस्या स्पष्ट करना

   (ग) समस्या की कहानी बताना

   (घ) भूमिका का ज्ञान कराना।

   (*ii*) अवस्था द्वितीय–प्रतिभागियों का चयन

   (क) भूमिकाओं का विश्लेषण करना

   (ख) भूमिका निर्वाह करने हेतु पात्रों का चयन

   (*iii*) अवस्था तृतीय–मंच की तैयारी करना

   (क) क्रिया संबंधी दिशाएँ निश्चित करना

   (ख) भूमिकाओं का पुनः कथन

   (ग) समस्या की गहराई में पहुँचना

   (*iv*) अवस्था चतुर्थ–प्रेक्षकों की तैयारी

   (क) मंचन की जाने वाली बातें तय करना

   (ख) सभी व्यक्तियों में कार्य वितरित करना

नोट

(v) अवस्था पंचम–अभिनय करना

(क) भूमिका का अभिनय शुरू करना

(ख) भूमिका का अभिनय जारी रखना

(ग) भूमिका के अभिनय को रोकना

(vi) अवस्था षष्ठम–विचार-विमर्श तथा मूल्यांकन

(क) भूमिका मंचन का पुनरावलोकन

(ख) मुख्य बातों पर विचार-विमर्श करना

(ग) अगले अभिनय की तैयारी करना

(vii) अवस्था सप्तम–अभिनय व सुझाव

(क) संशोधित भूमिका प्रदर्शन

(ख) व्यवहार संबंधी सुझाव

(viii) अवस्था अष्ठम–विचार-विमर्श व मूल्यांकन

(क) अभिनय का मूल्यांकन

(ख) मुख्य बातों पर विचार-विमर्श करना

(ग) भावी अभिनय की तैयारी करना

(ix) अवस्था नवम–अनुभव की सहभागिता तथा समाजीकरण

(क) समस्या व वास्तविक परिस्थिति में समायोजन करना

(ख) व्यवहार के सामान्य नियमों को खोजना

इस प्रारूप को देखने पर हमें ज्ञात हुआ कि मूल्यों का विकास प्रत्यक्ष रूप से न करके छात्रों को विभिन्न भूमिकाओं को निर्वाह करने के अवसर प्रदान करके किया जा सकता है परंतु जो मुख्य बात अध्यापक को ध्यान रखनी है वह है कि जो भी चरित्र अपनी भूमिका अदा करें, उसके बीच में अध्यापक प्रश्न करके छात्रों के मूल्यों का ज्ञान करे व आवश्यकतानुसार उन्हें दिशा-निर्देशित भी करे।

2. **मूल्य स्पष्टीकरण विधि** (Value Clarification Method)–यह जॉन ड्यूवी के ''थ्योरी ऑफ वेल्यूएशन'' (John Dewey–Theory of Valuation) पर आधारित है। इसको विकसित करने का श्रेय सिडनी साइमन (S. Simon) को जाता है। साइमन ने कहा है कि मूल्य स्पष्टीकरण के विशिष्ट उद्देश्य हैं जो इस प्रकार हैं–

(*i*) यह व्यक्ति को अधिक उद्देश्यपूर्ण होने में सहायता देती है।

(*ii*) यह व्यक्ति को अधिक उत्पादक बनने में सहायता देती है।

(*iii*) यह आलोचनात्मक चिंतन विकसित करने में सहायता देती है।

(*iv*) यह अच्छे व मधुर संबंध स्थापित करने में सहायता देती है।

रथ, हर्मिन व साइमन (Raths, Harmin and Simon) ने मूल्य स्पष्टीकरण हेतु शिक्षक के लिए तीस निम्न क्रियाओं को उपयोगी बताया है–

(*i*) क्या यह वह बात है जिसे तुम महत्त्वपूर्ण मानते हो?

(*ii*) क्या तुम इससे प्रसन्न हो?

(*iii*) जब यह घटित हुआ तब तुम्हें कैसा महसूस हुआ?

(*iv*) क्या तुमने किसी अन्य विकल्प पर विचार किया था?

नोट

(*v*) क्या तुम बहुत दिनों से इसी प्रकार सोच रहे हो?

(*vi*) क्या इसका चयन तुमने स्वयं किया था?

(*vii*) क्या तुम्हारा चयन स्वतंत्र था?

(*viii*) क्या तुमने इस विचार के बारे में कुछ किया है?

(*ix*) क्या तुम इस विचार के उदाहरण दे सकते हो?

(*x*) क्या तुम इस शब्द को स्पष्ट कर सकते हो?

(*xi*) इस विचार का क्या परिणाम होगा?

(*xii*) क्या तुम वास्तव में ऐसा करोगे?

(*xiii*) क्या तुम यह कह रहे हो कि ..... ? (कथन पुनः कहें)

(*xiv*) क्या तुमने यह कहा है कि ..... ? (कथन को विकृत रूप में पुनः कहें)

(*xv*) क्या तुमने इस विचार के संबंध में चिंतन किया है?

(*xvi*) इस विचार के संबंध में अच्छी बातें क्या हैं?

(*xvii*) यह बातें करने हेतु तुम्हारी राय में कौन-'सी परिस्थितियाँ होनी चाहिए?

(*xviii*) क्या तुम्हारे विचार ..... (विद्यार्थी द्वारा प्रदर्शित गलत व्यवहार) के समनुरूप हैं?

(*xix*) अन्य संभावनाएँ क्या हैं?

(*xx*) क्या तुम यह सोचते हो कि अधिकांश लोगों को इस पर विश्वास करना चाहिए?

(*xxi*) मैं क्या तुम्हारी मदद कर सकता हूँ?

(*xxii*) क्या तुम यह क्रिया उद्देश्यों के साथ समर्थित कर रहे हो?

(*xxiii*) क्या यह तुम्हारे लिए महत्त्वपूर्ण है?

(*xxiv*) क्या तुम प्रायः ऐसा करते हो?

(*xxv*) क्या तुम अपने विचार के बारे में दूसरों से बात करोगे?

(*xxvi*) क्या तुम बार-बार ऐसा ही करोगे?

(*xxvii*) तुम कैसे कह सकते हो कि यह बात सही है?

(*xxviii*) क्या तुम अपनी क्रियाओं के संबंध में पक्ष में तर्क दे सकते हो?

(*xxix*) क्या तुम इसे महत्त्व देते हो?

(*xxx*) क्या तुम यह सोचते हो कि लोग सदैव इस पर विश्वास करेंगे?

मूल्यों के स्पष्टीकरण हेतु अध्यापक मूल्य पत्रक, मूल्य स्पष्टीकरण चर्चा, कल्पित घटना, खुले प्रश्न, साप्ताहिक डायरी, आत्मकथा, प्रश्नावली, क्रियात्मक परियोजना आदि तैयार कर सकता है परंतु इसमें सबसे सरल व उपयोगी मूल्य-पत्रक सामग्री है।

मूल्य पत्रक-प्रथम-समय का महत्त्व

शानू के पिताजी हमेशा उससे कहा करते थे कि वह व्यक्ति जो अपने जीवन में समय का पाबंद रहता है, बहुत सारी परेशानियों से स्वयं को दूर रखता है परंतु शानू को अपने पिताजी की यह बात कभी अच्छी नहीं लगती थी। वह तो स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था और उसका विचार था कि समय की पाबंदी स्वतंत्रता पर एक आघात है। एक दिन शानू को अपने मित्र की शादी में जाना था। वह मुक्त ढंग से जाने की तैयारी कर रहा था। उसके पिताजी ने कहा बेटा, जल्दी तैयार हो जाओ ट्रेन जाने में सिर्फ 1 घंटा बाकी है। शानू ने कहा पिताजी, यह भारत है यहाँ कभी भी कोई काम समय पर नहीं होता तो ट्रेन कैसे समय पर आ जाएगी और वह मस्ती

नोट

में झूमता जब स्टेशन पहुँचा तो उसे ज्ञात हुआ कि ट्रेन सही समय पर आकर चली गई। शानू बहुत ही निराश मन से घर आया। पिताजी ने पूछा बेटा, क्या ट्रेन अधिक लेट है तो उसने शर्मपूर्वक कहा, पिताजी, ट्रेन सही समय पर आकर चली गई, अब मैं क्या करूँ?

(*i*) शानू के पिताजी ने उससे क्या कहा?

(*ii*) समय का पाबंद व्यक्ति को क्यों होना चाहिए?

(*iii*) शानू की अपने पिताजी की बात पर क्या प्रतिक्रिया थी?

(*iv*) समय का पाबंद न होना गलत बात क्यों है?

(*v*) किसी भी स्थान पर समय से पूर्व पहुँचना किस बात का प्रतीक है?

(*vi*) किसी भी स्थान पर समय के पश्चात् पहुँचना किस बात का प्रतीक है?

(*vii*) शानू समय का पाबंद होने के विरोध में क्यों था?

(*viii*) तुम्हारी समय के पाबंद होने के संबंध में क्या राय है?

(*ix*) शानू को समय के पाबंद होने का ज्ञान कब मिला?

(*x*) शानू के जीवन की इस घटना से तुम्हे क्या शिक्षा मिल रही है?

(*xi*) इस आधार पर तुम अपने व्यवहार में क्या परिवर्तन करना चाहोगे?

(*xii*) तुम यह परिवर्तन क्यों करना चाहोगे?

मूल्य पत्रक–द्वितीय–गरीबों पर दया

कीर्ति पढ़ने में बहुत अच्छी थी। इस कारण कक्षा के सभी विद्यार्थी उससे बात करना पसंद करते थे। एक दिन कीर्ति के पिताजी का देहावसान हो गया और उसकी पढ़ाई बीच में ही समाप्त हो गई। उसकी घनिष्ठ मित्र सुरुचि को जब यह पता लगा तो वह कीर्ति के घर गई। उसके साथ उसकी माँ थी और दोनों ने ही कीर्ति से पढ़ाई जारी रखने की विनती की। कीर्ति ने उनके कहने पर अपनी पढ़ाई पुनः प्रारंभ कर दी और एक दिन वह बहुत ही कुशल डॉक्टर बनकर तैयार हुई। वह जीवनपर्यन्त सुरुचि व उसकी माँ की तो कृतज्ञ रही थी, साथ ही उसने यह भी प्रतिज्ञा की कि वह भी सुरुचि की भाँति ही सदैव गरीब छात्र एवं छात्राओं की सहायता किया करेगी।

(*i*) कक्षा के सभी छात्र कीर्ति को प्यार क्यों करते थे?

(*ii*) कीर्ति को अपनी पढ़ाई बीच में क्यों छोड़नी पड़ी?

(*iii*) क्या कीर्ति ने पढ़ाई छोड़कर ठीक किया?

(*iv*) कीर्ति की पढ़ाई में मदद किसने की?

(*v*) कीर्ति की मदद करके सुरुचि ने ठीक किया?

(*vi*) यदि आप कीर्ति के स्थान पर होतीं तो क्या करतीं?

(*vii*) कीर्ति को सुरुचि की मदद स्वीकार करनी चाहिए या नहीं?

(*viii*) यदि आप सुरुचि की जगह होतीं तो क्या करतीं?

(*ix*) कीर्ति ने क्या प्रतिज्ञा ली?

(*x*) कीर्ति ने यह प्रतिज्ञा क्यों ली?

(*xi*) कीर्ति ने गरीबों की मदद करने का संकल्प लेकर ठीक किया अथवा नहीं?

3. **न्यायिक समीक्षण शिक्षण** (Jurisprudental Inquiry Model of Teaching)–इसका विकास करने का श्रेय ऑलिवर व शेवर (Oliver and Shaver) को जाता है यह विधि इस बात पर बल देती है कि इस समाज में रहने वाले व्यक्तियों के विचार व मान्यताएँ एक-दूसरे से भिन्नता लिए होती हैं और

नोट

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार को उचित मानता है। इसी कारण विचारों में परस्पर द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है। इन्होंने इस प्रकार के मूल्यों का विकास करने हेतु 6 अवस्थाएँ बताई हैं–

(i) अवस्था प्रथम–समस्या अनुस्थापन

(क) छात्रों के समक्ष मौखिक, लिखित व दृश्य रूप में समस्या प्रस्तुत करना।

(ख) इन समस्याओं पर चर्चा करना जिससे मूल्य चित्रण हो सके।

(ग) समस्या प्रस्तुतीकरण के पश्चात् तथ्यों का पुनरावलोकन करना जिससे वाद-विवाद की स्थिति उत्पन्न हो सके।

(ii) अवस्था द्वितीय–विवाद प्रश्नों की पहचान

(क) समस्या का विश्लेषण करते हुए छात्रों द्वारा उन पर प्रश्न सूची तैयार करना जिसमें तथ्यात्मक व परिभाषात्मक दोनों ही प्रकार के प्रश्नों को निहित किया जाता है।

(ख) अध्यापक एवं छात्रों द्वारा प्रश्नों का उत्तर शब्दकोश की सहायता से ज्ञात करना।

(ग) वाद-विवाद द्वारा इन प्रश्नों का सर्वमान्य उत्तर तय करना। इसके लिए यह आवश्यक है कि उस उत्तर पर समूह के अधिकांश सदस्यों की सहमति हो।

(iii) अवस्था तृतीय–निर्णय लेना

(क) प्रश्नों के हल के संबंध में सामान्य निर्णय पर पहुँचना।

(ख) इन निर्णयों का औचित्य बताना।

(ग) निर्णय के परिणामों को लिखित रूप देना।

(iv) अवस्था चतुर्थ–निर्णय का छानबीन

(क) अध्यापक द्वारा छात्रों के निर्णय पर तर्क करना।

(ख) तर्क की स्थिति में किसी भी मूल्य के संबंध में वांछनीय या अवांछनीय परिणामों को प्रस्तुत करना।

(ग) मूल्य द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न करना।

(घ) विद्यार्थियों की सहायता से मूल्य-प्राथमिकताएँ निर्धारित करना।

(v) अवस्था पंचम–पूर्व निर्णय का संशोधन व नए निर्णय का औचित्य निर्धारण

(क) छात्रों द्वारा स्थापित किए गए निर्णय में संशोधन करवाना।

(ख) नए निर्णय की स्थापना पर आम सहमति स्थापित करना।

(vi) अवस्था षष्ठम–नए निर्णय की आधारभूत मान्यताओं का परीक्षण

(क) नए निर्णय की प्रासंगिकता की जाँच करना।

(ख) नए निर्णय की विषम परिस्थितियों में प्रयोग पर औचित्य ठहराना।

(ग) नए निर्णय के संभावित परिणाम ज्ञात होना।

(घ) नए निर्णय की तथ्यात्मक वैधता जानना।

उदाहरण–राष्ट्रभाषा के प्रति दृष्टिकोण

भारतीय संविधान के अनुसार भारतवर्ष में 22 भाषाओं को स्वीकृति दी गई परंतु हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्तर प्रदान किया गया। 1950 में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के विरोध में दक्षिण भारत में बहुत अधिक प्रदर्शन किया गया और इसे व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित न करने का संकल्प लिया गया। कुछ दक्षिण भारतीयों ने तो हिंदी के विरोध में आत्मदाह भी किया और मरने से पूर्व उन्होंने कहा कि हिंदी को लादने से तो अच्छा है कि हम अपने प्राणों की आहुति दे दें और स्वतंत्रता के 43 वर्ष पश्चात् भी हम हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्तर प्रदान कर

नोट

सकने में असमर्थ रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि सभी भारतीयों को हिंदी का अनिवार्य रूप से अध्ययन कराया जाना चाहिए और यदि आवश्यकता पड़े तो संविधान के आधार पर हमें इसके लिए वैधानिक कार्यवाही भी करनी चाहिए।

इस परिस्थिति पर निम्न प्रश्न विभिन्न अवस्थाओं में पूछे जाएँगे–

(*i*) भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कौन-सी है?

(*ii*) इस भाषा के विरोध में कहाँ प्रदर्शन हुआ?

(*iii*) दक्षिण भारतीयों ने इसका विरोध क्यों किया?

(*iv*) क्या भाषा को अनिवार्य बनाने हेतु हमें कानून की मदद लेनी चाहिए?

(*v*) क्या दक्षिणी भारतीयों को हिंदी का अध्ययन नहीं करना चाहिए?

(*vi*) एक भाषा का अध्ययन देश के लोगो में किस प्रकार की भावना उत्पन्न करता है?

(*vii*) यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति हिंदी भाषा न सीख पाए तो क्या इससे उसके राष्ट्रप्रेम का ज्ञान नहीं होगा?

(*viii*) हिंदी भाषा का ज्ञान होने पर क्या कोई व्यक्ति देश के साथ गद्दारी नहीं कर सकता?

(*ix*) यदि कोई विदेशी हिंदी भाषा सीखना चाहे तो आप उसे हिंदी सिखाएँगे?

4. **अनुरूपीकरण** (Simulation)–गुड, कार्टर (Good, Karter) ने अनुरूपीकरण को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। यह वह विधि है जो कक्षा में क्रियात्मकता प्रदान करती है। इसमें किताबी ज्ञान पर बल न देकर समस्यात्मक परिस्थितियों के संबंध में छात्रों के विचारों में विविधता लाने का प्रयास करता है। छात्रों को स्व-प्रयास के द्वारा सीखने के लिए प्रेरित किया जाता है। इसमें जिन मुख्य बातों का ध्यान रखा जाता है वह निम्नलिखित हैं–

(क) अनुरूपित परिस्थितियों में व्यक्ति जो भी भूमिका निभाता है, वह वास्तविक जगत की परिस्थितियों की द्योतक होती है।

(ख) अनुरूपित परिस्थितियों में बालक जो भी क्रिया करता है, उसका वह स्व-मूल्यांकन करता है व फिर किसी निर्णय पर पहुँचता है।

(ग) वह अपने द्वारा लिए गए निर्णय के परिणामों का अनुभव करता है।

(घ) वह निर्णय के इन परिणामों का स्व-मूल्यांकन करता है।

(ङ) वह अपने निर्णय तथा उससे उत्पन्न परिणामों के अंतर-संबंधों पर चिंतन करता है।

5. **मूल्य विश्लेषण शिक्षण विधि** (Value-Analysis Method of Teaching)–जे. आर. फ्रेंकल (J. R. Fraenkel) ने इस विधि को प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् पासी एवं सनसनवाल (Passi and Sansanwal) ने इसकी निम्न अवस्थाएँ बताई हैं–

***(i)* अवस्था प्रथम–दुविधा प्रस्तुत करना–**

(क) छात्रों के समक्ष मूल्य दुविधा प्रस्तुत करना।

(ख) छात्रों को परस्पर विरोधी विकल्पों में से एक का चुनाव करने का कहना।

(ग) दुविधा में निहित दशाओं का स्पष्टीकरण व शब्दों का परिभाषीकरण।

(घ) दुविधा के स्पष्टीकरण हेतु छात्रों से प्रश्न पूछना।

***(ii)* अवस्था द्वितीय–मूल्य द्वंद्व का स्पष्टीकरण–**

(क) मूल्य द्वंद्व की पहचान सुनिश्चित करना।

(ख) प्रश्नों के माध्यम से छात्रों की सहमति-असहमति ज्ञात करना।

नोट

(iii) अवस्था तृतीय–तथ्यों के लिए प्रश्न पूछना–

(क) शिक्षक द्वारा ठोस तथ्यपरक आधार तैयार करने हेतु प्रश्न पूछना।

(ख) विद्यार्थी द्वारा घटना के दौरान होने वाली बातों का विवरण देना।

(iv) अवस्था चतुर्थ–कल्पनीय विकल्पों को पूछना–

(क) प्रत्येक छात्र से मुख्य पत्र द्वारा स्वीकृत विकल्पों को पूछना।

(ख) छात्रों को विभिन्न विकल्प देने हेतु प्रोत्साहित करना।

(v) अवस्था पंचम–प्रत्येक विकल्प के संभव परिणाम पूछना–

(क) विकल्पों के तात्कालिक व दीर्घकालिक परिणाम पूछना।

(ख) इन परिणामों को छात्र अपनी उत्तर-पुस्तिका में लिखते हैं।

(vi) अवस्था षष्ठम–परिणाम घटित होने की संभावना के संबंध में प्रश्न पूछना–

(क) परिणाम घटित होने की संभावना के समर्थन या विरोध में प्रमाणों की खोज करना।

(ख) प्रमाण एकत्र करने के पश्चात् उनकी विश्वसनीयता तथा सत्यता की जाँच करना।

(vii) अवस्था सप्तम–संभव परिणामों की वांछनीयता का मूल्यांकन–

(क) छात्रों द्वारा परिणाम घटित होने को देखने या ना देखने का निर्धारण करना।

(ख) वांछनीय या अवांछनीय परिणामों पर चर्चा करने हेतु छात्रों को प्रोत्साहित करना।

(ग) शिक्षक द्वारा विद्यार्थी के समक्ष विभिन्न प्रकार के मानदंड प्रस्तुत करना। यह मानदंड फेकल ने 6 प्रकार के बताए हैं–नैतिक, विधिक, सौंदर्यपरक, परिस्थितिकीय, आर्थिक, स्वास्थ्य व सुरक्षा।

(viii) अवस्था अष्ठम–सर्वोत्तम विकल्प के निर्णय व उसके कारण के लिए पूछना–

(क) छात्रों से सर्वोत्तम विकल्प पूछना।

(ख) छात्रों से सबसे कम वांछनीय विकल्प पूछना।

(ग) सभी विकल्पों को क्रमबद्ध व श्रणीबद्ध करना।

(घ) सर्वोत्तम विकल्प के पक्ष में तर्क देना।

(ङ) उनके विकल्प क्या वर्तमान परिस्थिति की भाँति अन्य परिस्थितियों में भी लागू होंगे?

उदाहरण 1. समस्यात्मक विवरण–माँ ने संदीप से कहा, बेटा तुम अपने मित्र की शादी में जा रहे हो परंतु तुम 11 बजे तक घर आ जाना। आजकल जमाना बड़ा खराब है। संदीप ने हाँ कहा और घर से चल दिया। वह मित्र के घर पहुँचा तो वहाँ सभी संदीप का इंतजार कर रहे थे। उन्होंने संदीप से कहा कि आज की संगीत पार्टी का नेतृत्व तुम करोगे चूँकि जिसे नेतृत्व करना था, वह नहीं आया है। संदीप मन ही मन विचार करने लगा कि वह क्या करे? एक ओर तो वह माँ से कहकर आया है कि वह 11 बजे तक घर आ जाएगा। यदि वह संगीत पार्टी का नेतृत्व करता है तो माँ को दिए गए वचन का निर्वाह नहीं कर पाएगा और यदि वह अपने मित्र की विनती नहीं सुनता और संगीत पार्टी का नेतृत्व नहीं करता तो उसके मित्रों को बहुत ठेस पहुँचेगी। वह समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे।

दुविधा–क्या संदीप को संगीत पार्टी का नेतृत्व किए बिना 11 बजे घर पहुँच जाना चाहिए?

उदाहरण–2. सीता एक विधवा औरत थी। उसके पति के द्वारा बनाया गया मकान है। यह उसकी एकमात्र पूँजी थी। उसकी एक पुत्री थी जिसकी शादी की चिंता सीता को हरदम सताए रहती थी। पर जहाँ शादी की बात चलती, दहेजरूपी दानव अपना विकराल रूप लिए वहाँ पहले से विद्यमान होता था। सीता ने सोचा कि मकान बेचकर लड़की की शादी कर दी जाए परंतु उसकी बेटी ने कहा, माँ यह पिताजी की निशानी है। मैं इसे बेचकर अपना विवाह कदापि नहीं करूँगी। सीता समझ नहीं पा रही थी कि वह सही है या उसकी बेटी?

दुविधा–क्या बेटी का विवाह मकान बेचकर कर देना चाहिए?

नोट

6. **कहानी प्रस्तुतीकरण विधि** (Story Telling Method)–मूल्यों के शिक्षण हेतु यह बहुत ही उपयोगी विधि है। हम सभी जानते हैं कि बालकों के ऊपर कहानी का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। साथ ही वह कहानी सुनने व पढ़ने में रुचि भी लेते हैं। इस कारण वह कहानियाँ जो हमारी संस्कृति व उसके मूल्यों पर आधारित हों, उन्हें हमें छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए परंतु इनका प्रस्तुतीकरण करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए–

   (क) कहानी बालक के मानसिक स्तर के अनुरूप हो।

   (ख) कहानी की भाषा सरल व बोधगम्य हो।

   (ग) कहानी सुनाने वाला व्यक्ति कहानी को रोचक व प्रवाहमयी ढंग से प्रस्तुत करे।

   (घ) कहानी वास्तविक मूल्यों पर आधारित हो।

   (ङ) कहानी छोटी व सार्थक हो।

   (च) कहानी छात्रों की चिंतन, तर्क, कल्पना व निर्णय शक्ति का विकास करे।

   (छ) कहानी का परिणाम स्पष्ट हो।

कहानी प्रस्तुत करने के बाद अध्यापक को उस पर प्रश्न पूछने चाहिए। प्रश्नों के द्वारा ही मूल्यों का शिक्षण दिया जाना चाहिए परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रश्न पूर्ण कहानी पर आधारित हों।

उदाहरण–प्राचीनकाल में एक बालक था जिसका नाम था श्रवण कुमार। श्रवण कुमार के माता-पिता अंधे थे। वह उनकी बहुत सेवा किया करता था। एक दिन उसके माँ-बाप ने तीर्थ स्थान घूमने की इच्छा व्यक्त की। श्रवण कुमार गरीब था। पर उसने मन ही मन संकल्प किया कि वह अपने माँ-बाप को तीर्थ यात्रा अवश्य कराएगा। उसने एक बाँस पर दो बड़ी-बड़ी डलिया बाँधीं व एक ओर अपनी माँ को बैठाया व दूसरी ओर अपने पिता को व दोनों को अपने कंधों पर रखकर तीर्थयात्रा को निकल गया।

   (क) श्रवण कुमार के माँ-बाप कैसे थे?

   (ख) उन्होंने क्या इच्छा व्यक्त की?

   (ग) श्रवण कुमार के आगे क्या समस्या थी?

   (घ) श्रवण कुमार ने अपने माँ-बाप की इच्छा कैसे पूर्ण की?

   (ङ) आपकी राय में श्रवण कुमार को अपने माँ-बाप की इच्छा पूरी करनी चाहिए या नहीं?

   (च) यदि आप श्रवण कुमार की जगह होते तो क्या करते?

   (छ) इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है?

7. **निरीक्षण विधि** (Observation Method)–इस विधि में हम छात्रों के समक्ष वस्तु, घटनाओं व व्यक्तियों का चित्रण दृश्य सामग्री के माध्यम से करते हैं और छात्रों से यह कहा जाता है कि वह इन चीजों को अच्छी तरह अवलोकित करें व इनके संबंध में जो भी विचार उनके मस्तिष्क में आए, वह उसे अपने पास कहीं पर क्रमबद्ध रूप से लिखते जाए। तत्पश्चात् वांछनीय व अवांछनीय प्रश्नों के माध्यम से छात्रों में मूल्यों का विकास किया जाता है। निरीक्षण के समय छात्रों को तीन बातों को ध्यान में रखने को कहा जाता है–

   (क) वह इन चीजों का अच्छी प्रकार से निरीक्षण करें।

   (ख) उन्हें जो चीजें अच्छी लग रही हैं, उन्हें क्रमानुसार अपनी कापी नोट कर लें।

   (ग) यह चीज उन्हें सबसे अच्छी क्यों लगी, इसके कारणों का ज्ञान करना।

उदाहरण–छात्रों का एक दल शैक्षिक पर्यटन पर जयपुर गया। वहाँ छात्रों ने म्यूजियम भी देखा। म्यूजियम में अनेक प्रकार की चीजें सुसज्जित थीं। एक ओर आभूषण थे, दूसरी ओर वस्त्र व तीसरी ओर अस्त्र-शस्त्र। म्यूजियम देखने के बाद छात्रों से निम्न प्रश्न किए गए–

   (क) आपने यहाँ कौन-कौन-सी चीजें देखीं?

नोट

(ख) इनमें से आपको सबसे अच्छी क्या चीज लगी?

(ग) यह आपको सबसे अच्छी क्यों लगी?

(घ) क्या आप इसे चुराकर ले जा सकते हैं?

8. **समन्वय विधि** (Integration Method)–मूल्य शिक्षा एक पृथक् विषय है अथवा नहीं? यह सदैव ही चर्चा का विषय रहा है। इसके साथ ही एक प्रश्न विद्वानों के मस्तिष्क को और उद्वेलित करता है कि क्या मूल्य शिक्षा देने हेतु अलग से अध्यापक होने चाहिए? अथवा मूल्य शिक्षा देना स्कूल के प्रत्येक अध्यापक का उत्तरदायित्व होना चाहिए? इसके संबंध में अधिकांश विचारकों का यह मत है कि मूल्य शिक्षा पृथक् से विषय नहीं होना चाहिए और न ही उसके लिए कुछ विशिष्ट अध्यापकों की नियुक्ति होनी चाहिए वरन् इसे विभिन्न विषयों के शिक्षण में समाहित किया जाना चाहिए। साथ ही हम पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं द्वारा भी मूल्यों का विकास कर सकते हैं। इनकी विस्तार से चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. वैयक्तिक मूल्य वह है जो व्यक्ति के ..... से संबंध रखता है।
   (अ) व्यक्तिगत जीवन (ब) सार्वजनिक जीवन (स) धार्मिक जीवन (द) इनमें से कोई नहीं
4. वह शिक्षा जो बालक को मूल्यों के प्रति प्रशिक्षित करती है, उसे कहते हैं–
   (अ) मूल्य शिक्षा (ब) अशिक्षा (स) सदिच्छा (द) इनमें से कोई नहीं
5. शिक्षा की प्रक्रिया में प्रारंभ से ही परिवार के महत्त्व को किया गया है–
   (अ) अस्वीकार (ब) स्वीकार (स) समरूप (द) इनमें से कोई नहीं
6. प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कहा है कि बालक-बालिकाएँ अपने माता-पिता को अपना मानते हैं–
   (अ) आदर्श (ब) शिक्षक (स) गुरु (द) इनमें से कोई नहीं

31.6 परिवार तथा मूल्य शिक्षा (Family and Value Education)

शिक्षा की प्रक्रिया में प्रारंभ से ही परिवार के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसी कारण विद्वानगण परिवार को अनौपचारिक शिक्षा का सशक्त साधन मानते हैं। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, हिंसा, अनैतिकता व मूल्यविहीनता को देखकर कभी-कभी हम यह सोचने पर विवश हो जाते हैं कि कही ऐसा तो नहीं, आज बालक परिवार से ही मूल्य अनभिज्ञ व मूल्यविहीन होकर आ रहा है? यह चिंतन हमें पुनः यह विचार करने पर बाध्य करता है कि समाज में व्याप्त मूल्यहीनता को सिर्फ परिवार के उत्तम वातावरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

प्रारंभ से ही शिक्षाविदों ने परिवार के महत्त्व के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। **यंग एंड मैक** के शब्दों में, ''परिवार मानव का प्राचीनतम एवं आधारभूत समूह है। परिवार की संरचना एक समाज से दूसरे समाज में भिन्नता लिए होती है परंतु हर स्थान पर परिवार का प्रमुख कार्य बालक का पालन-पोषण करना तथा उसे समाज की संस्कृति के बारे में ज्ञान कराते हुए उसका समाजीकरण करना है।''

(The family is the oldest human group and the basic group while the particular forms of family structure may and does vary from society to society, the control focus of family activities. Everywhere one child-bearing and the initial induction of the child into the culture of a given society in short–Socialization) प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड (Freud) ने कहा कि बालक-बालिकाएँ अपने माता-पिता को अपना आदर्श (Ideal) मानते हैं तथा उनके गुणों को अपने अंदर आत्मसात् (Internalize) करते हैं व उन्हीं के अनुरूप अपने व्यवहार को दिशा प्रदान करते

नोट

हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि बालक की मूल्य शिक्षा में परिवार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। **टी. रेमंट** (T. Raymont) के शब्दों में, ''दो बालकों को एक समान स्कूल में शिक्षा देने पर एक ही अध्यापक के नियंत्रण में रहने पर एक ही संगठन के अधीन रहने पर अध्ययन में समरूपता होने पर भी उनके सामान्य ज्ञान, रुचियों एवं अभिव्यक्तियों के तरीकों नैतिक व्यवहार में अंतर पाया जाता है। इसका मूल कारण दोनों बालकों के अलग-अलग परिवार होते हैं। (Two children may attend the same school, may come under the influence of the same teachers and the same organization may pursue the same studies and perform the same exercises and yet may differ to teachers as regards their general knowledges, their interest, their speech, their learning and their moral tone according to their homes, they came from.)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिवार बालक के व्यवहार को दिशा-निर्देशन देने वाली एक संस्था है, साथ ही वह बालक को समाज की संस्कृति के संबंध में जानकारी देकर बालक का समाजीकरण करती है। प्रारंभ में बालक अपने माँ-बाप द्वारा ही वांछनीय व्यावहारिक प्रेतिमानों को सीखता है व उनके अनरूप व्यवहार करता है। यह वांछनीय व्यावहारिक प्रतिमान मूल्यों पर आधारित होते हैं। इसके अलावा परिवार में विद्यमान विभिन्न प्रकार का वातावरण भी बालक के मूल्यों को प्रभावित करता है।

31.7 परिवार : मूल्यों का विकास करने की संस्था के रूप में (Family : An Agency for the Development of Values)

1. **पारिवारिक संबंधों का मूल्यों पर प्रभाव** (Effect of Family relationship on Values)–परिवार में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के मध्य यदि मधुर संबंध हैं तो बालक में उचित मूल्यों का विकास होगा। यह मधुर संबंध निम्न के मध्य होने चाहिए।–

(*i*) माता	← = = = →	पिता
(*ii*) माता-पिता	← = = = →	बच्चा
(*iii*) बच्चा	← = = = →	बच्चा
(*iv*) परिवार	← = = = →	पड़ोस
(*v*) परिवार	← = = = →	अन्य संबंधी
(*vi*) परिवार	← = = = →	समाज

यदि इस प्रकार के संबंध परिवार में विद्यमान होंगे तो छात्रों में प्रेम, आदर, लगाव आदि के वांछनीय गुण उत्पन्न होंगे और यदि उपरोक्त संबंधों में तनाव व खिंचाव रहेगा तो बच्चों में ईर्ष्या, द्वेष व वैमनस्य भाव उत्पन्न होगा।

2. **परिवार का भौतिक वातावरण उचित हो** (Good Physical Environment of Family)–बच्चों की आधारभूत भौतिक, आवश्यकताएँ अर्थात्, रोटी, कपड़ा, मकान की संतृप्ति पारिवारिक वातावरण में होना आवश्यक है। तभी बालक के अंदर वांछनीय मूल्यों का विकास संभव है। यदि परिवार बालक की भूख को संतृप्त नहीं कर पाएगा तो बच्चे में चोरी, भिक्षावृत्ति आदि के गुण उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण यह आवश्यक है कि परिवार को भौतिक वातावरण अच्छा हो। बालक जिस घर में रहता है, उसके चारों ओर का वातावरण भी बालक के मूल्यों को प्रभावित करता है। यदि आसपास सभ्य व सुसंस्कृत लोग रहते हैं तो बालकों में अच्छे मूल्यों का विकास होगा और यदि आसपास गलत प्रकार के लोग रहते हैं तो बालक में गलत मूल्यों के विकास की संभावना बढ़ जाएगी।

3. **परिवार का संवेगात्मक वातावरण उचित हो** (Good Emotional Environment of Family)–परिवार संवेगों का विकास करने की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। परिवार में माँ-बाप द्वारा बच्चों की देखरेख बहुत ही सुलझे हुए तरीके से की जानी चाहिए। बच्चों के प्रति माता-पिता का दृष्टिकोण एवं व्यवहार मूल्यों के विकास में अपनी अहम् भूमिका अदा करते हैं। माँ-बाप का व्यवहार निष्पक्ष अथवा

नोट

समान होना चाहिए। इसके साथ ही बच्चे का वांछनीय संरक्षण ही उन्हें करना चाहिए। माँ-बाप बच्चों के प्रति प्राय: चार प्रकार के व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं जो इस प्रकार हैं–

(*i*) बच्चे पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना।

(Over Protection)

(*ii*) बच्चे पर सामान्य ध्यान देना।

(Normal Protection)

(*iii*) बच्चे पर आवश्यकता से कम ध्यान देना।

(Under Protection)

(*iv*) बच्चे पर बिल्कुल ध्यान न देना।

(No Protection)

प्रथम श्रेणी के बच्चों में स्वार्थपरता, आत्मकेंद्रितता, पराश्रयी, अहम् असहभागिता, अधिनायकवादी गुणों का विकास हो जाता है। द्वितीय श्रेणी के बच्चे सामान्य मूल्यों को लेकर विकसित होते हैं व तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के बच्चों में माँ-बाप के तिरस्कृत एवं उपेक्षित व्यवहार के कारण घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, संकोच, द्वंद्व आदि गुणों का विकास होने लगता है। यदि हम परिवार द्वारा मूल्यों का उचित विकास चाहते हैं तो परिवार में माँ-बाप द्वारा बच्चों पर सामान्य ध्यान ही देना चाहिए।

4. **परिवार का अनुशासन उचित हो** (Proper Discipline in Family)–बच्चों के मूल्यों का विकास करने में परिवार का अनुशासनात्मक वातावरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह अनुशासनात्मक वातावरण दो रूपों में परिवार में विद्यमान रहता है–

(*i*) माता-पिता का स्वयं का अनुशासन,

(*ii*) माता-पिता का बच्चों के अनुशासन के प्रति दृष्टिकोण।

प्रथम, माता-पिता का स्वयं आचरण अनुशासनबद्ध होना चाहिए चूँकि मूल्यों को सीखने में अनुकरण (Imitation Method) का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। माता-पिता का दैनिक व्यवहार नियमित होना चाहिए। उनमें कर्तव्यनिष्ठा, उत्तरदायित्व, सच्चाई, ईमानदारी, पवित्रता, आध्यात्मिकता आदि के गुण होने चाहिए। इसके साथ ही माँ-बाप बच्चों के प्रति कैसा अनुशासन अभिव्यक्त करते हैं, इसका भी मूल्यों के विकास में बहुत महत्त्व है। माता-पिता बच्चों पर तीन प्रकार का अनुशासन रखते हैं–

(*i*) कठोर अनुशासन (Strict Discipline),

(*ii*) सामान्य अनुशासन (Normal Discipline),

(*iii*) ढीला अनुशासन (Mild Discipline)।

बच्चों पर यदि बहुत कठोर अनुशासन रखा जाएगा तो उनके अंदर माता-पिता के प्रति ही गलत संवेगों का विकास हो जाएगा, उदाहरणार्थ–भय, ईर्ष्या, द्वेष, द्वंद्व आदि और यह संवेग ही धीरे-धीरे नकारात्मक मूल्यों में परिणत होने लगते हैं। बच्चे को बहुत ढीले अनुशासन में रखा जाएगा तो इस बात की संभावना हो सकती है कि बाल-मन उचित व अनुचित से अनभिज्ञ रहते हुए अनुचित की ओर उन्मुख होने लगे। इस कारण यह आवश्यक है कि न तो बालक को बहुत अधिक कठोर अनुशासन में रखना चाहिए और न ही बहुत लचीले। बालक को नियंत्रित अनुशासन (Controlled Discipline) में रखना चाहिए जिससे माँ-बाप द्वारा बच्चे को एक दिशा निर्देशन प्रदान करते हुए उनमें स्व-चिंतन के गुण को भी विकसित किया जा सके

5. **परिवार का सांस्कृतिक वातावरण उचित हो** (Good Cultural Environment of family)–वास्तव में यदि देखा जाए तो संस्कृति द्वारा निर्धारित मानदंड ही मूल्य है। इसी कारण सांस्कृतिक भिन्नता के साथ ही मूल्यों में भिन्नता आने लगती है। सांस्कृतिक संदर्भ में हम परिवार से यह अपेक्षा करते हैं कि वह

नोट

पारिवारिक व सामाजिक संस्कृति का ज्ञान छात्रों को कराए, साथ ही सांस्कृतिक मूल्यों को छात्रों में विकसित करते हुए उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न किया जाए जिससे बालक उन मूल्यों को अपने व्यवहार में समाहित कर सके। वास्तव में देखा जाये तो रीति-रिवाज, परंपराएँ, आचार-विचार, संस्कृति, संस्कार, नैतिक आचरण आदि का ज्ञान बालक पारिवारिक वातावरण के माध्यम से ही करता है। यदि परिवार में अच्छे संस्कार व अच्छा सांस्कृतिक वातावरण होगा तो बालक का विकास भी सही दिशा में होने की संभावना रहेगी।

अभी हमने इस बात की चर्चा की कि पारिवारिक वातावरण के विभिन्न पक्षों का बालक के मूल्य विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। इनके अलावा माता-पिता किस प्रकार बालक के अंदर अच्छे मूल्यों का विकास कर सकते हैं, अब हम इस पर विचार करेंगे–

(*i*) माँ-बाप मूल्यों का विकास अपने निजी दृष्टिकोण से न करें वरन् समाज में विद्यमान सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर मूल्य का विकास किया जाए।

(*ii*) बालक के मन में मूल्यों का विकास करते समय न तो यह दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहिए कि सब पुरातन बेकार है और न ही यह दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहिए कि सब नया अच्छा है वरन् पुरातन मूल्यों एवं नवीन मूल्यों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए।

(*iii*) मूल्यों को उपदेशात्मक रूप में क्रियान्वित नहीं किया जाना चाहिए वरन् उन्हें स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में दिनचर्या में पारित किया जाना चाहिए।

(*iv*) माता-पिता की कथनी व करनी में अंतराल नहीं होना चाहिए चूँकि इससे बच्चों के मस्तिष्क में द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। जिस प्रकार का व्यवहार वह बच्चों से अपेक्षित करते हैं, उसका उन्हें स्वयं भी आचरण करना चाहिए।

(*v*) बच्चों को इतना सक्षम बनाना चाहिए कि वह क्या उचित है व क्या अनुचित, इसका स्वयं ही विश्लेषण कर सकें जो बात बालक स्वप्रेरणा के आधार पर सीखता है, उसका प्रभाव उसके ऊपर अमिट रहता है।

(*vi*) कहानी, नाटक, चलचित्र व सामयिक समस्याओं पर विचार-विमर्श भी पारिवारिक वातावरण में किया जाना चाहिए जिससे बच्चों के अंदर मूल्यों का विकास किया जा सके।

(*vii*) बच्चों को पढ़ने हेतु उचित साहित्य उपलब्ध कराया जाना चाहिए और उनकी पढ़ने में रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए।

(*viii*) परिवार में कोई वृद्ध व्यक्ति या आगंतुक मूल्यों की बात करता है या अपने व्यवहार में उनका प्रदर्शन करता है तो उनका उपहास नहीं उड़ाना चाहिए।

(*ix*) बच्चों में मूल्य चैतन्य (Value Conscious) लाने का प्रयास करना चाहिए।

(*x*) परिवार के भौतिक व मानसिक वातावरण को सौंदर्यपूर्ण बनाना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. विद्यालय औपचारिक शिक्षा का बहुत ही सशक्त साधन है।
8. समाजशास्त्र समाज व संस्कृति का विज्ञान है।
9. मूल्यों का उचित रूप से विकास करने में भाषा का कोई स्थान नहीं है।
10. विज्ञान शिक्षण के दो रूप हैं–प्रथम सैद्धांतिक, दूसरा व्यावहारिक।

नोट

31.8 भाषा शिक्षण द्वारा मूल्यों का विकास (Development of Values Through Language Teaching)

मूल्यों का उचित रूप से विकास करने में भाषा का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो माध्यमिक शिक्षा आयोग ने त्रिभाषा सूत्र की चर्चा की है जिसके अनुसार प्रत्येक छात्र तीन भाषाओं का अध्ययन करेगा–

1. मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा,
2. हिंदी या आधुनिक भारतीय भाषा,
3. अंग्रेजी।

परंतु उत्तर भारत के विद्यालयों में प्रायः तीन भाषाओं का अध्ययन कराया जाता है जो निम्न हैं–

1. हिंदी,
2. अंग्रेजी,
3. संस्कृत।

यह भाषाएँ छात्रों में मूल्यों का कैसे विकास कर सकती हैं, अब हम इनकी चर्चा करेंगे।

1. **हिंदी–**हिंदी भाषा में अनेक उदाहरण हैं जिनके द्वारा हम छात्रों में मूल्यों का विकास कर सकते हैं, उदाहरणार्थ–

(क) वृक्ष कबहुँ न फल भखै, नदी न संचै नीर,
परमार्थ के कारने, साधुन धरा शरीर।

(ख) रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजै डार,
जहाँ काम आवै सुई कहा करे तलवार।

(ग) जिसको न निज गौरव तथा निज देश पर अभिमान है;
वह नर नहीं नर पशु निरा और मृतक समान है।

(घ) कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै वन माहिं,
ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनिया देखै नाहिं।

(ङ) संगति सुमति न पावहिं, परे कुमति कै धंध,
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध।

(च) प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा संवाद पाकर विषभरा,
चित्रस्थ-सी, निर्जीव-सी, हो रह गयी हत उत्तरा।
संज्ञा रहित तत्काल ही वह फिर धरा पर गिर पड़ी,
उस समय मूर्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बड़ी।
फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।
बहु विधि विलाप-प्रलाप वह करने लगी उस शोक में,
निज प्रियवियोग समान दुख होता न कोई लोक में।

इन कविताओं द्वारा मूल्यों का विकास करते समय अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सिर्फ पद्यांश का अर्थ ही स्पष्ट न करे वरन् बीच-बीच में संबंधित कथाअें के द्वारा वह छात्रों की विभिन्न मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करे। इसके अलावा हिंदी शिक्षण में मुहावरे व लोकोक्तियाँ भी छात्रों में उचित मूल्यों का विकास करती हैं, उदाहरणार्थ–

नोट

(क) अपनी करनी पार उतरनी।

(ख) अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता।

(ग) आप काज महाकाज।

(घ) आधी छोड़ सारी को धावै,
आधी रहै न सारी पावै।

(ङ) आकाश पाताल एक करना।

(च) करत-करत अभ्यास के जड़मत होत सुजान।

उपरोक्त कहावतों द्वारा हम छात्रों को विभिन्न प्रकार के मूल्यों का ज्ञान करा सकते हैं। हर कहावत पर अध्यापक एक संबंधित कहानी की रचना कर सकता है अथवा इनका नाटकीय चित्रण करवाकर छात्रों में वांछनीय मूल्यों का विकास किया जा सकता है। इसके साथ ही गद्य शिक्षण के माध्यम से ही हम मूल्यों का विकास कर सकते हैं, उदाहरणार्थ–

''अनुशासन का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। अनुशासन ही राष्ट्र की प्रगति की आधारशिला है। प्रकृति भी अनुशासन में बँधकर अपना कार्य करती है। नदियाँ भी अनुशासन में रहकर जनहित करती हैं। जो राष्ट्र अनुशासन की सीमाओं में बँधकर नहीं चलता, वह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। आज संसार का जो भी राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर है, उसका मुख्य कारण उस देश के लोगों की अनुशासनप्रियता है। अनुशासन से अभिप्राय नियंत्रण अथवा कुछ नियमों का बंधन है। शारीरिक विकास की सारी क्रियाएँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि किन्हीं निश्चित नियमों से आबद्ध होकर शरीर विकसित हो सकता है। समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति भी इसी प्रकार अनुशासन द्वारा संभव है। वास्तव में अनुशासन के बिना एक समुन्नत, स्वस्थ, सुदृढ़ और शक्तिशाली राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती।''

इसी प्रकार के गद्यांश हम विभिन्न मूल्यों पर आधारित करके छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं व उनमें वांछनीय मूल्यों का विकास किया जा सकता है। हिंदी शिक्षण की तीन विधाओं गद्य, पद्य व मुहावरों लोकोक्तियों के द्वारा मूल्यों का विकास कैसे किया जा सकता है, इसकी चर्चा हमने की है। इसके साथ ही निबंध, नाटक, कहानी, व्याकरण आदि विधाओं का भी सहयोग मूल्यों के विकास हेतु लिया जा सकता है।

2. **अंग्रेजी** (English)–अंग्रेजी में उल्लिखित कविता–

Permit sweet mother, that we may
Always remember thee,
Learing to love thee more each day
Always thy child to be
Honest and truthful, fearless and strong
Pure in body and mind
Choosing the right way, never the wrong
Gentle with others and kind.

उपरोक्त कविता में निहित जितने भी मूल्य हैं, अध्यापक को सिर्फ उनका अर्थ बताकर ही शांत नहीं होना चाहिए वरन् उसे इन मूल्यों से संबंधित छोटी-छोटी कहानियाँ छात्रों को सुनानी चाहिए जिससे बालक पर उसका अमिट प्रभाव रहे।

अंग्रेजी भाषा की कुछ कहावतें भी छात्रों के अंदर उचित मूल्यों का विकास कर सकती हैं। उदाहरणार्थ–

(*i*) "Action in thy duty reward is not thy concern."

(*ii*) Silence is a virtue of wiseman.

(*iii*) It is good to live for one's country but better to help one's country live.

नोट

(*iv*) Your worth is not measured by what you've got. It is measured by what you give.

(*v*) Honesty is the best policy.

अध्यापक द्वारा इनका नाटकीय चित्रण भी कराया जा सकता है जिससे मूल्यों की व्यावहारिक उपयोगिता छात्र समझ सके। यह संभव न हो तो अध्यापक बच्चों से इन पर लेख लिखने को भी कह सकता है। इसके साथ ही उचित गद्य अंश भी मूल्यों का वांछनीय विकास कर सकते हैं। उदाहरणार्थ–

"Wherever the strong exploit the weak, wherever the rich take advantage of the poor, wherever great powers seek to dominate and to impose ideologies, there the work of making peace is undone there the cathedral of peace is again destroyed. Today the scale and horror of modern welfare–whether nuclear or not–makes it totally unacceptable as a means of settling differences between nations. War should belong to"

जीवन की विभिन्न घटनाओं के माध्यम से छात्रों में त्याग, कर्तव्यनिष्ठा, सहनशीलता, देशप्रेम, अहिंसा, बलिदान आदि मूल्यों को विकसित किया जा सकता है। राम, लक्ष्मण, स्वामी विवेकानंद, विनोवा भावे इत्यादि की जीवनगाथाओं द्वारा पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम, वैज्ञानिक वैचारिकता, समर्पण आदि मूल्यों को विकसित किया जा सकता है। जयंती पर्व मनाने हेतु यह आवश्यक है कि विद्यालय में कार्यरत अध्यापकों को उन चरित्रों के जीवन के बारे में सही व विस्तृत जानकारी हो।

4. **राष्ट्रीय पर्व** (National Festivals)–15 अगस्त, 26 जनवरी व 2 अक्टूबर को हम राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाते हैं। इन पर्वों को विद्यालय में भी सामूहिक रूप से उत्साहपूर्वक मनाना चाहिए। स्वतंत्रता का इतिहास, भारतीय गणतंत्र का इतिहास, संविधान की रूपरेखा, गाँधीजी का स्वतंत्रता में योगदान आदि ऐसे पक्ष हैं जिनके माध्यम से हम छात्रों में विश्व-बंधुत्व, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना, देशप्रेम, राष्ट्रीय चेतनता, प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास, अस्पृश्यता विरोध, समानता आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।
5. **सामाजिक पर्व** (Social Festivals)–विद्यालय में हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी संप्रदाय के छात्र पढ़ने आते हैं। इसके साथ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, जैन व बौद्ध भी वहाँ पढ़ते हैं। कुछ विद्यालय तो ऐसे भी हैं जहाँ उत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्वी भारत व पश्चिमी भारत के छात्र एक साथ पढ़ते हैं। इस कारण विद्यालय एक ऐसा वातावरण प्रदान करता है जो विभिन्न धर्मों, विभिन्न जातियों, विभिन्न प्रांतों व विभिन्न भाषा ज्ञानियों को एक-दूसरे को समझने के अवसर प्रदान करता है। सभी के सभी पर्वों को मना पाना तो बहुत कठिन कार्य है परंतु मुख्य-मुख्य पर्वों को विद्यालय में अवश्य ही मनाया जाना चाहिए और सभी छात्रों को सामूहिक रूप में आकर इसमें सहभागी होना चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रम से हम छात्रों में विनम्रता, मित्रता, धैर्य, तत्परता, सहिष्णुता, दूसरों के सांस्कृतिक मूल्यों को सराहना, मानव जाति की एकात्मकता व धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों का विकास कर सकते हैं।
6. **सामाजिक उत्पादक कार्य** (Socially Useful Work)–यदि हम छात्रों में वांछनीय मूल्यों का विकास करना चाहते हैं तो हमें उन्हें सामाजिक दृष्टि से उपयोगी व उत्पादक कार्य करने की प्रेरणा देनी होगी। आज की पूरी शिक्षा व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह बालक के स्व-उत्थान केंद्रित है। इसको हमें पर-उत्थान की ओर उन्मुख करना होगा। देश या विश्व के किसी भी भाग में आई बाढ़ या सूखे की स्थिति में बच्चों को इसके लिए प्रेरित करना कि वह अपनी अल्प बचत में से कुछ योगदान दे सकें। यदि उनके पास खाली समय है तो वह गंदी व मलिन वस्तियों में जाकर स्वच्छता अभियान चला सकते हैं। साथ ही निरक्षर व्यक्तियों को साक्षर बनाने का भी प्रयास किया जा सकता है। इस प्रकार के अवसर देकर हम छात्रों में परोपकार, त्याग, श्रम में निष्ठा, समाज-सेवा, नि:स्वार्थता, स्वच्छता, समाजवाद आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।
7. **वार्षिकोत्सव** (Final of Annual Function)–प्रत्येक विद्यालय में वर्ष के अंत में कार्यक्रम आयोजित अवश्य ही किए जाने चाहिए। इसमें नाटक, गीत, गजल इत्यादि का आयोजन तो किया ही जाए, इसके

नोट

साथ ही वर्ष भर में आयोजित की गई विभिन्न क्रियाओं हेतु छात्रों को पुरस्कृत भी किया जाए। पढ़ाई, खेलकूद, प्रत्येक कक्षा में सर्वाधिक उपस्थिति रहना, एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउटिंग, गाइडिंग, वाद-विवाद प्रतियोगिता, स्वच्छता, साहित्यिक गतिविधियों व सांस्कृतिक गतिविधियों हेतु छात्रों को पुरस्कार भी देने चाहिए। इससे हम छात्रों में समय की पाबंदी, समाज सेवा, सफाई, दान, श्रम में निष्ठा, संतोष, अच्छा आचरण, आज्ञापालन, स्वास्थ्यकर जीवन, नियमितता, सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, राष्ट्रीय एकता आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।

8. **छात्र संसद** (Model Parliament)–शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है बालकों को प्रजातंत्र के लिए तैयार करना चूँकि हमारी मान्यता यह है कि आज के छात्रों के कंधे पर ही भविष्य के भारत का भार आएगा। इस कारण विद्यालय में छात्र संसद बनाई जानी चाहिए। इसमें विभिन्न कार्यों का संपादन करने हेतु समितियों का गठन किया जाना चाहिए, यथा–अनुशासन समिति, पत्रिका प्रकाशन समिति, भ्रमण समिति, वाचनालय समिति, न्याय समिति, स्वच्छता समिति व उत्सव समिति। परंतु एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि यह समितियाँ किसी न किसी अध्यापक के संरक्षण में हों। इनके माध्यम से छात्रों में ईमानदारी, अनुशासन, आत्मविश्वास, कर्तव्यपरायणता, स्पष्टवादिता, समानता, नम्रता, स्वानुशासन, आत्मनिर्भरता, आत्मनियंत्रण व अच्छे-बुरे में भेद आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

9. **सहकारी भंडार संचालन** (To Run Co-operatives)–प्रत्येक विद्यालय में छात्रों के लिए चाय-नाश्ते हेतु प्रबंध प्राय: होता है जिसका संचालन किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है। छात्रों में वांछनीय मूल्यों का विकास करने हेतु स्कूल में स्टेशनरी आदि की दुकान खोली जा सकती है जिसका कोई भी संचालन न करे। प्रत्येक छात्र जिस भी वस्तु को चाहे, निर्धारित दाम निर्धारित स्थल पर रखकर वह चीज प्राप्त कर सके, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। यह कोई असंभव बात नहीं है। विदेशों में बहुत-से विद्यार्थी पढ़ते हैं। वह अपने विश्वविद्यालय के गेट पर अखबार की गड्डियाँ रख जाते हैं। जो भी अखबार लेता है, वहाँ पैसे रखता जाता है। पढ़ने के बाद विद्यार्थी अपना धन व अखबार उठा लेते हैं। जब अन्य स्थानों पर ईमानदारी इस सीमा तक हो सकती है तो भारतवर्ष में यह क्यों संभव नहीं होगी। हमें इस योजना को क्रियान्वित करना चाहिए जिससे हम छात्रों में ईमानदारी, फिजूलखर्ची न करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, संयम इत्यादि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।

10. **अभिभावक संपर्क** (To Contact Parents)–बालक को परिवार व विद्यालय दोनों में ही समय-समय पर मूल्यों की शिक्षा दी जाती है। बालक पारिवारिक मूल्यों की उपेक्षा स्कूल में व विद्यालयी मूल्यों की उपेक्षा समाज व परिवार में तो नहीं कर रहा, इसके लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय में एक माह में एक बार माता-पिता व अध्यापकों का संपर्क स्थापित किया जाए व दोनों ही परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करें। इससे छात्रों में पाखंड से स्वतंत्रता, परनिंदा भाव की अनुपस्थिति, आज्ञापालन, वफादारी, जिज्ञासा आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

11. **पुस्तकालय संचालन** (To Run School Libraries)–अच्छे मूल्यों का यदि हम छात्रों में वास्तव में विकास करना चाहते हैं तो हमें उनकी पढ़ने में रुचि उत्पन्न करनी होगी और साथ ही हमें उनके पढ़ने हेतु अच्छा साहित्य उपलब्ध कराना होगा। सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि "Books are the best friend and teacher." अर्थात् पुस्तकें अच्छी मित्र व शिक्षका होती हैं। विद्यालय में बच्चों को इतना अवसर प्रदान किया जाना चाहिए कि वह स्वयं जाकर पुस्तक देख सकें व उसे पढ़ सकें। अध्यापक का यह उत्तरदायित्व होना चाहिए कि वह उस पुस्तक के संबंध में छात्रों को अपने विचार लिखने हेतु प्रेरित करे। इसके द्वारा हम छात्रों में अनुशासन, स्वाध्याय, नेतृत्व, शांति आदि मूल्यों का विकास करेंगे।

12. **पर्यावरण सुधार** (To Improve Environment)–पर्यावरण जिसकी परिधि में बालक अपना जीवन यापन करता है, दो प्रकार का होता है–
    1. भौतिक पर्यावरण (Physical Environment),
    2. सामाजिक पर्यावरण (Social Environment)।

नोट

बालक को इन दोनों में ही सुधार लाना चाहिए। भौतिक पर्यावरण में सुधार का अभिप्राय है अपने चारों ओर सफाई रखना, पेड़-पौधे की रक्षा करना आदि। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में पर्यावरण की रक्षा का उल्लेख करते हुए यह विवेचना की गई है कि यदि हम इसके प्रति चैतन्य नहीं हुए तो हमारे सामने पर्यावरण संकट उत्पन्न हो जाएगा। इसके द्वारा हम छात्रों में स्वच्छता, सफाई, राष्ट्रीय व जन संपत्ति का महत्त्व, दूरदर्शिता, जीवों के प्रति दया आदि मूल्यों को विकसित कर सकते हैं।

दूसरा वातावरण जिसमें बालक को सुधार लाने का प्रयास करना चाहिए, वह है सामाजिक वातावरण। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अन्याय, आतंकवाद जैसी समस्याओं का निराकरण करने हेतु छात्रों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे हम छात्रों में शांति, अहिंसा, इंद्रिय नियंत्रण, राष्ट्रीय एकता आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।

समाज तथा मूल्य शिक्षा (Society and Value Education)**–एडम स्मिथ** (Adam Smith) का कथन है कि मनुष्य ने पारस्परिक लाभ के लिए जो कृत्रिम उपाय किया है, वह समाज है। समाजशास्त्रियों की समाज के बारे में धारणा है कि समाज सामाजिक संबंधों का जाल है। समाज में रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ इन्हीं संबंधों के आधार पर जुड़े हुए रहते हैं और इन संबंधों का समाज की प्रक्रिया पर और साथ ही साथ व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समाज के सदस्यों के मध्य पाए जाने वाले संबंधों का प्रभाव मानव के मूल्यों पर पड़ता है। यदि समाज में सुसंबंध हैं तो व्यक्ति के अंदर प्रेम, सहानुभूति, त्याग, शांति, सद्भाव, भ्रातृत्व, सामाजिक एकता आदि मूल्यों का विकास होगी और यदि संबंधों में कटुता है तो ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य आदि मूल्यों की प्रबलता देखने को मिलेगी।

हमारे समक्ष सबसे विचारणीय प्रश्न यह है कि समाज बालकों के अंदर मूल्यों का समुचित रूप से विकास करने में अपना योगदान किस प्रकार दे सकता है, इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि–

(*i*) बालक के समक्ष आदर्श रूप में जो भी व्यक्ति हों, उनका स्वयं का व्यवहार मूल्यों पर आधारित होना चाहिए जिससे बालक के समक्ष मूल्य दुविधा की स्थिति उत्पन्न न हो।

(*ii*) समाज के सदस्यों द्वारा यह भी निश्चित कर देना चाहिए कि वर्तमान परिस्थितियों में कौन-से मूल्य स्वीकृत किए गए हैं व कौन-से अस्वीकृत जिससे बालक के समक्ष मूल्य संकट की स्थिति उत्पन्न न हो।

(*iii*) समाज में विद्यमान वातावरण जिसके साथ बालक को समायोजित होना है, वह भी उन मूल्यों पर आधारित हो जिनके लिए उसे प्रारंभ से ही प्रशिक्षित किया गया है अन्यथा बालक के समक्ष सैद्धांतिक व व्यावहारिक ज्ञान में अंतराल की समस्या उत्पन्न हो जाएगी।

(*iv*) जनसंचार के साधनों द्वारा समाज को बालक में उचित मूल्यों का विकास करने का प्रयास करना चाहिए। यह साधन निम्नलिखित हैं–

1. **आकाशवाणी** (Radio)–समाचार ज्ञात करने व मनोरंजन का एक बहुत ही सशक्त साधन आकाशवाणी है। इनके अलावा रेडियो से नाटक, कहानी, प्रहसन, वार्तालाप आदि का प्रसारण भी किया जाता है जिनके माध्यम से हम छात्रों में उपयुक्त मूल्यों का सृजन कर सकते हैं। इसके साथ ही एक कार्यक्रम की समाप्ति व दूसरे कार्यक्रम के प्रारंभ में जो अंतराल आता है, वहाँ पर मूल्य आधारित सूक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है जिसके द्वारा हम छात्रों में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनैतिक दृष्टि से वांछनीय मूल्यों का विकास कर सकते हैं।
2. **दूरदर्शन** (Television)–दूरदर्शन श्रव्य-दृश्य साधन है जिसके द्वारा भी हम वांछनीय मूल्यों का विकास करते हैं। दूरदर्शन पर अनेक कार्यक्रम तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग चला रहा है व कुछ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् व मुक्त विश्वविद्यालय (U. G. C., NCERT, Open University) द्वारा भी संचालित किए जा रहे हैं। इसके साथ ही नाटक, बच्चों के कार्यक्रम, किसान भाइयों के कार्यक्रम, महिलाओं के कार्यक्रम व विशिष्ट रूप से तैयार की गई लघु नाटिकाएँ भी छात्रों में प्रेम, त्याग, सहानुभूति, सहनशीलता, राष्ट्रीयता, उत्तरदायित्व, दान, सामूहिकता आदि मूल्यों का विकास करती हैं।

नोट

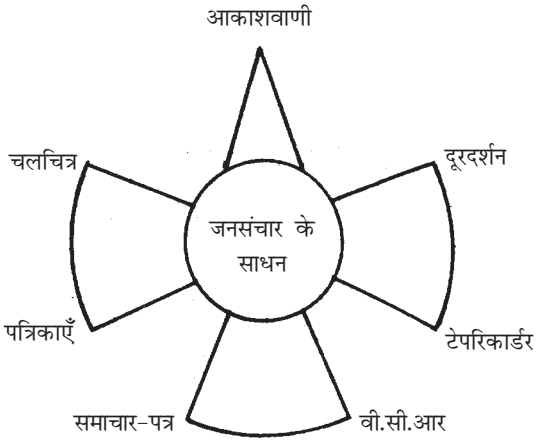

3. **टेप रिकार्डर** (Tape Recorder)–रेडियो की भाँति टेप रिकार्डर भी श्रव्य सामग्री है। परंतु रेडियो प्रोग्राम की हम आवश्यकतानुसार पुनरावृत्ति नहीं कर सकते जबकि टेप रिकार्डर में यह संभव है। शैक्षिक संस्थाओं द्वारा वांछनीय मूल्यों का विकास करने की दृष्टि से विशिष्ट कैसेट तैयार किए जाने चाहिए व इन्हें बाजार में उपलब्ध होना चाहिए। इन कैसेटों को तैयार करवाने व बाजार में उपलब्ध कराने का उत्तरदायित्व समाज के ऊपर होना चाहिए।

4. **वी. सी. आर.** (Video Cassett Recorder)–यह भी दूरदर्शन की भाँति श्रव्य-दृश्य सामग्री है। मूल्यों का विकास करने संबंधी नाटक, कहानियाँ, घटनाएँ वी.सी.आर. पर चित्रित की जा सकती हैं और इनको दिखाने के बाद जब भी आवश्यकता पड़ती है, हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। इन चारों ही सामग्रियों का प्रयोग करने के पश्चात् किसी भी व्यक्ति द्वारा बालकों की प्रतिक्रिया जानने का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए और संभव हो तो चित्रित पूरी घटना पर प्रश्नों के द्वारा विश्लेषण किया जाना चाहिए और तत्पश्चात् उसके पक्ष व विपक्ष में राय जाननी चाहिए।

5. **समाचार-पत्र** (Newspaper)–समाचार-पत्र दृश्य सामग्री है जिसके द्वारा मूल्यों का विकास बहुत ही प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है। कुछ समाचार-पत्रों में प्रतिदिन एक अच्छा विचार छपता है। परिवार में प्रारंभ से ही बच्चों के अंदर इस आदत का विकास किया जाना चाहिए कि वह उस विचार को पढ़ें, उस पर मनन करें व उसे व्यवहार रूप में क्रियान्वित करें। इसके साथ ही विभिन्न राष्ट्रीय एवं सामाजिक पर्वों पर समाचार-पत्र विशिष्ट अंक निकालें और उनके माध्यम से छात्रों में मूल्यों का विकास करें। समाचार-पत्र पढ़ने मात्र की आदत से ही हम छात्रों के अंदर स्वास्थ्य, शांति, राष्ट्र-प्रेम आदि भावनाओं का विकास कर सकते हैं। समाचार-पत्र बच्चों के स्तर के अनूकूल यदि प्रकाशित किए जाएँ तो हम अपने लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

6. **पत्रिकाएँ** (Magazines)–विभिन्न पत्रिकाओं का भी प्रकाशन मूल्यों के विकास की दृष्टि से किया जाना चाहिए पत्रिकाओं को बच्चों के लिए विशिष्ट रूप से प्रकाशित होना चाहिए। बच्चों की पत्रिकाएँ बच्चों में पढ़ने में रुचि व स्वाध्याय के मूल्यों का विकास तो करती ही हैं, इसके साथ ही त्याग, प्रेम, अहिंसा, करुणा, दया, समय का महत्त्व आदि वांछनीय मूल्यों का विकास भी इनके माध्यम से किया जा सकता है।

7. **चलचित्र** (Cinema)–चलचित्र बहुत ही सशक्त श्रव्य-दृश्य सामग्री है और इसका प्रभाव भी बालक के ऊपर अमिट होता है। मूल्यों का विकास करने में चलचित्र बहुत ही अहम् भूमिका का निर्वाह करता है। चलचित्र में प्रदर्शित की जाने वाली हिंसा के परिणामस्वरूप ही आज के समाज में हमें हर जगह हिंसा का प्रकोप दिखाई पड़ता है। बाल फिल्मों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और यह बाल फिल्में विभिन्न मूल्यों पर आधारित होनी चाहिए।

नोट

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि परिवार, विद्यालय व समाज तीनों ही साधन मूल्यों का विकास करने की दिशा में सक्रिय प्रयास करें तो छात्रों में हम वांछनीय मूल्यों का विकास कर सकते हैं परंतु आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी साधनों में परस्पर समन्वय होना चाहिए।

टास्क विद्यालय और मूल्य शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

भारतीय मूल्य (Indian Values)–भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत ही पुराना है। यह संस्कृति युग-युगों से अनेकानेक घात-प्रतिघात को सहकर भी निरंतर अपने संशोधन-परिवर्द्धन करती रही है परंतु फिर भी इसकी कुछ मूलभूत विशेषताएँ ऐसी रही हैं जिससे इसने अपना एक अनोखा अस्तित्व विश्व संस्कृति में बनाए रखा है। कुछ भारतीय मूल्य इस प्रकार हैं–

1. सत् चित् आनंद का महत्त्वपूर्ण स्थान।
2. ईश्वर का अनुभव ही जीवन का परम लक्ष्य है।
3. आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक वस्तुओं का निम्न स्थान।
5. मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है।
6. वसुधैवकुटुंबकम् की भावना।

मूल्य संकट–परंतु यदि हम वर्तमान परिस्थितियों का अवलोकन करें तो हमें आभास होगा कि मानव मूल्यों में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन आ रहा है। यह परिवर्तन आना बुरा नहीं है परंतु इस परिवर्तन का रूप क्या है, यह एक शोचनीय प्रश्न है और जब हम इसके रूप व दिशा पर दृष्टिपात करते हैं तो हमारे सामने बहुत ही विकराल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। चूँकि आज मानव मूल्य नकारात्मक दिशा की ओर उन्मुख हो रहे हैं व उनमें दिन-प्रतिदिन गिरावट आ रही है। आज एक सामान्य आदमी की धारणा है कि आज मेहनतकश लोगों का शोषण हो रहा है व झूठ व फरेब का बोलबाला है और इसी कारण जनसाधारण की जीवन के नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था कँप रही है और इस स्थिति को हम मूल्य संकट की स्थिति कह देते हैं।

आज हम दावे के साथ कह सकते हैं कि मानव मूल्यों का ह्रास हुआ है, नाश नहीं। वे वास्तव में दबा दिए गए हैं, उनको विनष्ट नहीं किया गया है। इस कारण आज आवश्यकता इस बात की है कि इन मूल्यों का पुनः उजागर किया जाए। मूल्य संकट की जो स्थिति उत्पन्न हुई है, पहले तो उसके कारण जानना जरूरी है जो निम्न हैं–

1. वैज्ञानिक ज्ञान का विकास जिससे व्यक्ति अध्यात्मिकता के प्रति आस्था समाप्त कर रहा है।
2. औद्योगिकीकरण व नगरीकरण जो मानव को यंत्रवत् जीवन व्यतीत करने हेतु बाध्य कर रहा है।
3. भौतिकवादी संस्कृति का प्रभाव।
4. अध्यात्मवाद के विरोध में लोगों द्वारा व्यक्त की गई प्रतिक्रिया यथा–मानव आवश्यकताओं पर बल देना, धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार करना।
5. पाश्चात्य मूल्यों व भारतीय मूल्यों में परस्पर विरोधाभास होना।
6. देश की सामाजिक बुराइयाँ यथा–लोगों का कुलीनतंत्रीय स्वभाव, राजनैतिक भ्रष्टाचार, आर्थिक विषमताएँ, राष्ट्र के प्रति आस्था व प्रेम में कमी, सांप्रदायिक पूर्वाग्रह, जाति व धर्म पर आधारित संघर्ष।

31.9 सारांश (Summary)

शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है बालकों को प्रजातंत्र के लिए तैयार करना चूँकि हमारी मान्यता यह है कि आज के छात्रों के कंधे पर ही भविष्य के भारत का भार आएगा। इस कारण विद्यालय में छात्र संसद बनाई जानी चाहिए। इसमें विभिन्न कार्यों का संपादन करने हेतु समितियों का गठन किया जाना चाहिए, यथा–अनुशासन

नोट

समिति, पत्रिका प्रकाशन समिति, भ्रमण समिति, वाचनालय समिति, न्याय समिति, स्वच्छता समिति व उत्सव समिति। परंतु एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि यह समितियाँ किसी न किसी अध्यापक के संरक्षण में हों। इनके माध्यम से छात्रों में ईमानदारी, अनुशासन, आत्मविश्वास, कर्तव्यपरायणता, स्पष्टवादिता, समानता, नम्रता, स्वानुशासन, आत्मनिर्भरता, आत्मनियंत्रण व अच्छे-बुरे में भेद आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

31.10 शब्दकोश (Keywords)

1. **वार्षिकोत्सव** (Final of Annual Function) : वर्ष में एक बार होने वाला उत्सव
2. **तार्किक** (Logical) : तर्कयुक्त

31.11 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मूल्य शिक्षा का अर्थ समझाइए।
2. बालक को मूल्य शिक्षा देने के साधनों का उल्लेख कीजिए।
3. 'परिवार तथा मूल्य शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. भाषा शिक्षण द्वारा मूल्यों के विकास का उल्लेख कीजिए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. शुद्ध सूक्ष्म तत्व	2. जीवनवर्धक	3. (अ)	4. (अ)
5. (ब)	6. (अ)	7. सही	8. सही
9. गलत	10. सही		

31.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
2. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
4. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
6. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
7. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

नोट

इकाई–32 : राष्ट्रीय एकता के लिए शिक्षा (Education for National Integration)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

32.1 राष्ट्रीय एकता का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of National Integration)

32.2 राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of National Integration)

32.3 राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ (Obstacles in the way of National Integration)

32.4 राष्ट्रीय एकता और शिक्षा (National Integration and Education)

32.5 राष्ट्रीय एकता के लिए किए गए प्रयास (Efforts for National Integration)

32.6 राष्ट्रीय एकता को विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यावहारिक योजना (A Practical Plan of Education for the Development of National Integration)

32.7 अंतर–सांस्कृतिक भावना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Inter-Cultural Understanding)

32.8 अंतर–सांस्कृतिक भावना की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Inter-cultural Understanding)

32.9 अंतर–सांस्कृतिक भावना और शिक्षा (Inter-cultural Understanding and Education)

32.10 अंतर–सांस्कृतिक भावना को विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यावहारिक योजना (A Practical Plan of Education for the Development of Inter-cultural Understanding)

32.11 अंतर–सांस्कृतिक भावना के विकास में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in the Development of Inter-cultural Understanding)

32.12 सारांश (Summary)

32.13 शब्दकोश (Keywords)

32.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

32.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राष्ट्रीय एकता का महत्त्व जानने हेतु।
- राष्ट्रीय एकता और शिक्षा नीति जानने हेतु।
- अंतर–सांस्कृतिक भावना का अर्थ जानने हेतु।
- अंतर–सांस्कृतिक भावना के विकास में शिक्षक की भूमिका जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में अनेक समस्याएँ उपस्थित हुई हैं, जिन्होंने भारतीय जीवन को आन्दोलित किया है। इस समस्याओं में सबसे भयंकर और विकराल समस्या राष्ट्रीय एकता अथवा राष्ट्रीयता की है। हमने प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली को अपनाया है। प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली की सफलता की पहली कुंजी यह है कि देशवासियों में पारस्परिक प्रेम हो, सहयोग हो, भ्रातृभाव हो, त्याग की भावना हो और देश पर मर-मिटने का अदम्य उत्साह हो। वे खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, मूल्य मान्यताओं आदि की विभिन्नताओं को भूलकर अपने को एक समझें और अपने स्वार्थों को त्याग की अग्नि में जलाकर राष्ट्र की बलिवेदी पर समर्पित होने के लिए सदैव तत्पर रहें। दुर्भाग्य से आज देश में इस भावना का अभाव है। गत कुछ वर्षों में देश में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ है और कुछ ऐसी पुरानी प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा है कि उनसे देशवासियों की एकता में बाधा पड़ी है। इन विघटनकारी प्रवृत्तियों ने देश की आजादी और प्रजातंत्रीय प्रणाली की सफलता को जबर्दस्त चुनौती दी है। यदि हमें अपनी आजादी की रक्षा करनी है और प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली को सफल बनाना है तो इन विघटनकारी प्रवृतियों को नष्ट करना होगा और संपूर्ण देश की जनता को एकता के सूत्र में आबद्ध करना होगा। पं. नेहरू के शब्दों में–''हमें स्थानीय, संकीर्ण, प्रांतीय, साम्प्रदायिक और जातीय विचारों का नहीं होना चाहिए, क्योंकि हमको एक महान कार्य करना है। हम जो भारतीय गणतंत्र के नागरिक हैं, उन्हें भारतीय जनता में एकता स्थापित करनी है। हमें इस महान् देश को महान् बनाना है, शब्द के साधारण अर्थ में महान् नहीं, वरन् विचार में महान्, कार्य में महान्, संस्कृति में महान् और मानव-जाति की शान्ति से सेवा करने में महान्।''

32.1 राष्ट्रीय एकता का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of National Integration)

राष्ट्रीय एकता का अर्थ है संस्कृति आदि की भावना और राष्ट्र के प्रति प्रेम, जिसमें जाति, संप्रदाय, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि के अंतर को भूलकर अपने को एक समझा जाए।

राष्ट्रीय एकता एक राष्ट्र के निवासियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करती है। उनमें एकता की भावना (Feeling of oneness) पैदा करती है। इस भावना के विकसित होने से व्यक्ति केवल अपने हितों का ही ध्यान नहीं रखता वरन् अपने समाज और राष्ट्र के हितों का भी ध्यान रखता है। वह राष्ट्र के आगे अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, जातीय और धार्मिक हितों का बलिदान करने को तत्पर रहता है।

रॉस के अनुसार–''राष्ट्रीयता एक प्रेरणा है, जिससे प्रभावित होकर एक देश के रहने वाले आपस में एक-दूसरे से एक राष्ट्र के नागरिक होने के नाते सद्भावना रखते हैं और मिल-जुलकर देश की उन्नति, सुरक्षा एवं कल्याण के लिए सक्रिय रहते हैं।''

प्रो. हुमायूं कबीर के शब्दों में–''राष्ट्रीयता वह है, जो राष्ट्र के प्रति अपनत्व की भावना पर आधारित होती है।''

ब्रूबेकर के अनुसार–''राष्ट्रीयता देशप्रेम की अपेक्षा देशभक्ति के अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीयता के अंतर्गत स्थान के अतिरिक्त जाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति एवं परंपराओं के संबंध भी आ जाते हैं।''

1961 में **राष्ट्रीय एकता सम्मेलन** (National Integration conference) में राष्ट्रीय एकता की भावना की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की गई–''राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सभी व्यक्तियों के हृदयों में एकत्व, संगठन और संसक्ति (Cohesion) की भावना को विकसित किया जाता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता एक भावना है, एक प्रेरणा है, एक योजना शक्ति है, जो एक निश्चित भौगोलिक सीमा में रहने वाले विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय और भाषा-भाषी लोगों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने का कार्य करती है, उनके अंदर अपने राष्ट्र के प्रति असीम भक्ति, आज्ञापालन, कर्तव्यपरायणता और अनुशासन के भाव पैदा करती है और उनको इस बात की प्रेरणा देती है कि वे सब आपस में मिलकर रहें और अपने राष्ट्र की सुरक्षा एवं उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें।

नोट

नोट्स राष्ट्रीय एकता एक राष्ट्र के निवासियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करती है।

32.2 राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of National Integration)

डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि, ''राष्ट्रीय एकता एक ऐसी समस्या है, जिससे सभ्य राष्ट्र के रूप में हमारे अस्तित्व का घनिष्ठ संबंध है।''

राष्ट्रीय एकता राष्ट्र की सुरक्षा, अखण्डता और विकास के लिए आवश्यक है। इसकी आवश्यकता एवं महत्त्व के निम्नलिखित कारण हैं–

1. विदेशी शक्तियों एवं आन्तरिक झगड़ों से उत्पन्न संकट का निवारण करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
2. विघटनकारी शक्तियों का दमन करके शान्तिपूर्ण वातावरण तैयार करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
3. राष्ट्र की स्वाधीनता, सम्मान और हितों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
4. राष्ट्र की संस्कृति का संरक्षण, विकास और हस्तांतरण करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
5. सामाजिक कुरीतियों, अंध-विश्वासों, रीति-रिवाजों और विभिन्न प्रकार की असमानताओं को दूर करके समाज के लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए तथा उचित वातावरण का निर्माण करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
6. वर्ग-विभेद को सामाप्त करने, शोषण का अंत करने, आर्थिक असमानताओं को दूर करने तथा राष्ट्र की औद्योगिक प्रगति के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
7. भाषिक उन्मत्तता से दूर रहने, भाषिक एकता स्थापित करने और राष्ट्रीय भाषा का विकास करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
8. राष्ट्र की सभी उपसंस्कृतियों के सहयोग से एक सामान्य राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
9. नागरिकों में राष्ट्र के आदर्शों, मूल्यों और परंपराओं में आस्था उत्पन्न करने तथा राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए प्रतिबद्धता पैदा करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
10. नागरिकों में आत्म-त्याग की भावना का विकास करके अपने राष्ट्र के लिए हर प्रकार का बलिदान करने की भावना विकसित करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।
11. सत्यनिष्ठा, सहयोग, समायोजन की योग्यता, कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी, सहिष्णुता, दूरदर्शिता, सामाजिक उत्तरदायित्व को वहन करने की आकांक्षा, संवेदनशीलता, मैत्रीभाव, समीक्षात्मक चिंतन और सही तथा स्पष्ट निर्णय करने की क्षमता से युक्त नागरिकों के संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थान भरिए (Fill in the Blanks)–

1. देश में व्याप्त आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीय एकता के मार्ग में ..... है।
2. राष्ट्रीयता वह है, जो ..... अपनत्व की भावना पर आधारित होती है।

32.3 राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ (Obstacles in the way of National Integration)

नोट

किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा और विकास के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक है। दुर्भाग्य से भारत में इसका अभाव है। भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास के मार्ग में मुख्यत: निम्नलिखित बाधाएँ हैं–

1. **जातिवाद** (Casteism)–जातिवाद राष्ट्रीय एकता के लिए अभिशाप बना हुआ है। हमारे यहाँ अनेक जातियाँ हैं। हिंदुओं में ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र और मुसलमानों में सिया और सुन्नी अपने को अलग-अलग मानते हैं। इन जातियों के लोग अपनी जाति के हितों और स्वार्थों को सर्वोपरि मानते हैं और उनकी रक्षा के लिए देश के हितों को भूल जाते हैं। हमारे देश में अनेक ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ जाति विशेष ने आधिपत्य स्थापित कर रखे हैं और उस क्षेत्र को संपूर्ण सुविधाएँ आम लोगों को न मिलकर उस जाति विशेष के लोगों को ही मिलती हैं। शिक्षा संस्थाएँ इसका खुला उदाहरण हैं, जहाँ जाति विशेष के लोगों को ही लिपिक, शिक्षक और प्राचार्य नियुक्त किया जाता है और जाति विशेष के विद्यार्थियों को ही विशेष सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। हमारे यहाँ जातिवाद ने राजनीति को भी गंभीर रूप से प्रभावित किया है। देश के राजनीतिक दल जातिवाद के आधार पर संसद, विधान सभाओं और स्थानीय संस्थाओं के लिए अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और चुनाव लड़ते हैं। जातिवाद के आधार पर चुनावों में मतदान होता है और लोग विजयश्री प्राप्त करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि जीता हुआ व्यक्ति अपने क्षेत्र की संपूर्ण जनता के लिए कार्य न करके अपनी जाति विशेष के लिए ही कार्य करता है। हमारे प्रजातंत्र की यह सबसे बड़ी विडंबना है। जातिवाद ने देश में पृथकता के बीज बोए हैं, स्वार्थ भावना को बढ़ाया है और संकुचित मनोवृत्ति को विकसित किया है। यह जातिवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। **जी. एस. घुरे** के शब्दों में–''यह जाति प्रेम की भावना ही है, जो अन्य जातियों में कटुता उत्पन्न करती है और राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए अनुपयुक्त वातावरण तैयार करती है।''
2. **प्रांतवाद** (Provincialism)–प्रांतीयता की भावना ने राष्ट्रीय एकता को बहुत आघात पहुँचाया है। हमारे देश में संघात्मक शासन प्रणाली है। इस प्रणाली के द्वारा देश के अनेक राज्यों या प्रांतों और एक केंद्र या संघ की व्यवस्था की गयी है। **स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्यों का पुनर्संगठन करने के लिए भारत सरकार ने राज्य पुनर्संगठन आयोग की नियुक्ति की।** इस आयोग ने भाषाई आधार पर 14 राज्य व 6 केंद्र शासित प्रदेश बनाने की सिफारिश की थी। राज्यों के पुनर्गठन के बाद अलग राज्य बनाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में आंदोलन किए गए और उनमें से कुछ को सफलता भी मिली, जिसके परिणामस्वरूप आज राज्यों की संख्या 28 हो गयी है। इन आंदोलनों में व्यक्तियों की जानें जाती हैं, उद्योग-धंधों की अवनति होती है, राष्ट्रीय संपत्ति का विनाश होता है और देशवासियों में पृथकता की भावना पैदा होती है। इस प्रान्तीयता की भावना ने लोगों को अपने प्रांत के हित की बात को ही सोचने को प्रेरित किया है, राष्ट्र हित को धूमिल किया है और देश की एकता को खतरा पहुँचाया है।
3. **भाषावाद** (Linguistic Antagonism)–भाषाओं के नाम पर देश में विघटनकारी शक्तियों ने आंदोलन किए हैं और राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचायी है। यद्यपि संविधान की धारा 343 में हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है, लेकिन कतिपय भारतीय सच्चे मन से इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। समय-समय पर हिंदी के विरोध में तमिलनाडु आदि राज्यों में व्यापक आंदोलन हुए हैं। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्तर प्रदेश, बिहार आदि हिंदी भाषी राज्यों में हिंदी के समर्थन में उतने ही व्यापक आंदोलन किए गए, जिससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचा।
4. **धर्मवाद** (Religionism)–राष्ट्रीय एकता के मार्ग में एक प्रमुख बाधा धर्म की है। हमारे यहाँ अनेक धर्म हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि विभिन्न धर्मों को मानने वाले पाए जाते हैं। इन धर्मों के कुछ अनुयायी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। यह अपने धर्म को उच्च स्थान देते हैं और दूसरे धर्मों की अवहेलना करते हैं, जिससे विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच घृणा, द्वेष, कटुता की भावना पैदा होती है और कभी-कभी संघर्ष हो जाते हैं, जिससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचता है।

नोट

5. **आर्थिक विषमता** (Economic Frustration)–देश में व्याप्त आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। हमारे देश में कुछ लोग तो ऐसे हैं, जिनको एक समय के लिए खाना नसीब नहीं है और कुछ लोग ऐसे हैं, जिनके पास अपार धन और सम्पत्ति है। हमारे समाज में इन दोनों वर्गों-धनी और निर्धन के बीच बहुत बड़ी खाई है। इस आर्थिक विषमता के कारण दोनों वर्गों में घृणा और द्वेष की भावना पैदा होती है और कभी-कभी संघर्ष की स्थिति भी पैदा हो जाती है।
6. **राजनीतिक दलबंदी** (Political Morass)–भारत की राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करने में कुछ राजनीतिक दल भी उत्तरदायी हैं। हमारे यहाँ ये राजनैतिक दल जाति, धर्म, संप्रदाय, क्षेत्र आदि के आधार पर कार्य करते हैं, जिससे सांप्रदायिक भावना उभरती है, पृथकतावादी शक्तियों को बल मिलता है और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ती है।
7. **चारित्रिक संकट** (Loss of Character)–**डॉ. राधाकमल मुखर्जी** ने लिखा है कि राष्ट्रीय एकता की समस्या मूलत: एक नैतिक समस्या है। **जब किसी राष्ट्र के लोगों का चारित्रिक पतन हो जाता है और वे अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर न उठकर राष्ट्र के हित को हानि पहुँचाने लगते हैं तो समाज में राष्ट्रीय एकता नष्ट होने लगती है।** भारत में यही स्थिति है। समाज के हर क्षेत्र में चरित्र का संकट है। लोग जनहित की अपेक्षा अपने स्वार्थ में लिप्त हैं। **चारित्रिक गुणों के अभाव में ही हमने अतीत में बहुत कुछ खोया है।** इसी के कारण हम गुलाम बने और वर्षों तक दासता के बंधनों में जकड़े रहे और यही चारित्रिक संकट अब भी देश में विद्यमान है। इसके कारण व्यक्ति परहित की बात नहीं सोचते, एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते, अपने स्वार्थ में रत रहते हैं, निष्पक्षता, ईमानदारी, सत्यता और त्याग को तिलांजलि दे देते हैं, राष्ट्रहित को गौण समझते हैं, जिससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचता है।
8. **राष्ट्रीय संस्कृति की उपेक्षा** (Disregard of Indian Culture)–भारत को स्वतंत्र हुए 63 वर्ष हो गए हैं, लेकिन अभी तक भारतवासी पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर पाए हैं। उनकी वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन सभी कुछ पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हैं। उनमें भारतीयता से कोई लगाव नहीं है, जिससे उनमें पारस्परिक प्रेम, सहयोग, सहकारिता और सहिष्णुता के भावों का विकास नहीं हो पाया है। वे स्वार्थपरता, प्रतियोगिता, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता से ग्रस्त हैं, जिससे राष्ट्र की एकता को बहुत क्षति पहुँचती है।

क्या आप जानते हैं किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा और विकास के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक है।

32.4 राष्ट्रीय एकता और शिक्षा (National Integration and Education)

राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन शिक्षा है। शिक्षा के द्वारा हम देश के भावी नागरिकों में आवश्यक प्रेरणाएँ और गुण उत्पन्न कर सकते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक **डॉ. राधाकृष्णन** ने राष्ट्रीय एकता के विकास में शिक्षा के महत्त्व को इन शब्दों में प्रकट किया है–**''राष्ट्रीय एकता को छैनी, हथौड़े, ईंट व पत्थर से नहीं लाया जा सकता। इसका जन्म तो व्यक्तियों के हृदयों और मस्तिष्कों में शनैः-शनैः होता है, जिसका केवल मात्र एक साधन है और वह है शिक्षा। यह संभव है कि यह प्रक्रिया धीमी हो पर यह स्वयं में स्थाई एवं दृढ़ प्रक्रिया है।''**

देश में जो विघटनकारी तत्त्व फैले हुए हैं, जिनसे राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा उत्पन्न हो रही है, उन विघटनकारी तत्वों का अन्त केवल शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। शिक्षा के द्वारा लोगों को इन घातक तत्वों की बुराई से परिचित कराकर उनमें एकता स्थापित की जा सकती है। राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में शिक्षा के योगदान के विषय में राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में कहा गया था–''राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने में शिक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। चूँकि एकता की या राष्ट्रीय संगठन की समस्या मूलत: विभिन्न समूहों या समाज

नोट

के बड़े अंगों के दृष्टिकोण से संबंधित है और चूँकि अपने व्यापक अर्थों में शिक्षा का दृष्टिकोण या अभिवृत्तियों के बदलने या प्रभावित करने का शक्तिशाली साधन माना गया है। इसलिए सम्मेलन के विचार से शिक्षा की प्रक्रिया और उसके शोधित रूप को जहाँ वह आवश्यक हो, प्रथम महत्त्व दिया जाना चाहिए।''

डॉ. के.एल. श्रीमाली ने राष्ट्रीय एकता में शिक्षा की भूमिका के संबंध में कहा है कि, ''हमें अपने विकास की वर्तमान अवस्था में यह विश्वास है कि यदि हमें भारतवासियों में राष्ट्रीय जागरूकता करनी है तो हमें इस कार्य हेतु अपनी शिक्षा प्रणाली का भी पूर्णरूप से प्रयोग करना होगा। शिक्षा प्रणाली मुख्यत: देश की आवश्यकताओं के आधार पर निश्चित की जाती है, और आज की हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता देशवासियों में राष्ट्रीय भावना का विकास करने की है। राष्ट्रीय आदर्शों को पूरा करने में शिक्षा संस्थाओं का विशेष योगदान होना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो देश के नवयुवकों में यह भावना कूट-कूट कर भर दे कि वे एक सच्चे राष्ट्रीय हैं और राष्ट्र की उन्नति तथा अवनति में ही उनकी उन्नति तथा अवनति है। उन्हें अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम हो, भक्ति हो, इस पर गर्व हो और इसकी सेवा करना ही उनका मुख्य कर्तव्य हो।'' **प्रो. हुमायूँ कबीर** ने राष्ट्रीय एकता के विकास में शिक्षा के महत्त्व के विषय में लिखा है–''आज हमारे यहाँ भारत मे पाए जाने वाले विभिन्न मतवादों के बौद्धिक एकीकरण का ही अभाव नहीं है, वरन् एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली जैसी बुनियादी आवश्यकता का भी अभाव है। इसका अभाव ही इस बात का मुख्य कारण है कि अनेक भारतीयों में आज भी प्रादेशिक, भाषायी या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नजर आता है।''

इन विघटनकारी प्रवृत्तियों को समाप्त करने में शिक्षा के महत्त्व के विषय में **माध्यमिक शिक्षा आयोग** का कहना है कि–''हमारी शिक्षा को ऐसी आदतें, दृष्टिकोणों तथा गुणों का विकास करना चाहिए, जो नागरिकों को इस योग्य बना दे कि वे प्रजातंत्रीय नागरिकता के उत्तरदायित्वों का निर्वहन करके उन विघटनकारी प्रवृत्तियों का विरोध कर सकें, जो व्यापक, राष्ट्रीय तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में बाधा उपस्थित करती हैं।''

32.5 राष्ट्रीय एकता के लिए किए गए प्रयास (Efforts for National Integration)

राष्ट्रीय एकता की समस्या पर विचार करने के लिए जो प्रयत्न किए गए हैं, उनमें शिक्षा को राष्ट्रीय एकता के प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इस संबंध में किए गए प्रयास निम्नलिखित हैं–

1. **राष्ट्रीय एकता गोष्ठी** (National Integration Seminar)–1958 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने राष्ट्रीय एकता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए कहा गया है कि धर्म और जाति के आधार पर छात्रवृत्तियाँ न दी जाएँ, साम्प्रदायिक आधार पर छात्रावास न बनाए जाएँ, शिक्षण संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण उत्सव मनाए जाएँ और भारतीय इतिहास को ठीक प्रकार से लिखा जाए तथा उसमें से उन अंशों को हटाया जाए, जो साम्प्रदायिकता की भावना फैलाते हैं।
2. **राष्ट्रीय एकता समिति** (National Integration Committee)–कांग्रेस के भावनगर अधिवेशन में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय एकता समिति का गठन किया गया। 1 जून, 1961 को इस समिति की सिफारिशें प्रकाशित हुईं। समिति ने कहा कि राष्ट्रीय एकता के निर्माण में शिक्षा का बहुत अधिक महत्त्व है। समिति ने सिफारिश की कि शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय एकता का विकास होना चाहिए और इसके लिए छात्रों को देश के विभिन्न पहलुओं की व्यापक जानकारी करायी जानी चाहिए, जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति से संबंधित घटनाएँ भी हों। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों में राष्ट्रीय एकता विकसित करने वाली पढ़ाई-लिखाई को प्रोत्साहित करना चाहिए।

   समिति ने राष्ट्रीय एकता के लिए शैक्षिक कार्यक्रमों का सुझाव देते हुए कहा कि पाठ्य-पुस्तकों की विषय सामग्री राष्ट्रीय दृष्टिकोण को विकसित करने वाली होनी चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए समाचार-पत्र, नाटक और फिल्म आदि के माध्यम से भी लाभ उठाना चाहिए, विघटनकारी प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिए विशिष्ट फिल्में तैयार की जानी चाहिए। सरकारी नौकरियों साम्प्रदायिक, धार्मिक और प्रांतीय आधारों पर नहीं दी जानी चाहिए, सभी जातियों और धर्मों के व्यक्तियों को राष्ट्रीय

नोट

और लोकप्रिय त्यौहारों तथा मेलों में भाग लेना चाहिए और साम्प्रदायिक खतरों से लोगों को अवगत कराने के लिए जन संपर्क आंदोलन प्रारंभ किया जाना चाहिए।

3. **मुख्यमंत्री सम्मेलन** (Chief Ministers Conference)–राष्ट्रीय एकता की समस्या पर विचार करने के लिए 10 अगस्त से 12 अगस्त, 1961 तक तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू की अध्यक्षता में मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन हुआ, जिसमें इस समस्या पर बड़ी गहनता और व्यापकता के साथ विचार हुआ। इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए अनेक सुझाव दिए, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं–
   1. राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार किया जाए और समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि को स्वीकार किया जाए।
   2. अंग्रेजी को रखा जाए।
   3. त्रिभाषा सूत्र पर अमल किया जाए।
   4. परीक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ हिंदी और अंग्रेजी को भी रखा जाए।
   5. उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी, हिंदी को रखा जाए। अन्ततोगत्वा यह स्थान हिंदी को ही प्राप्त होगा।
   6. राष्ट्रीय एकता में सहायक उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया जाए।
4. **उपकुलपति सम्मेलन** (Vice-Chancellor's Conference)–अक्टूबर 1961 में भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों ने अपने सम्मेलन में इस समस्या पर विचार किया। राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में शिक्षा के योगदान को महत्त्वपूर्ण बताते हुए सम्मेलन ने निम्नलिखित सुझाव दिए–
   1. अखिल भारतीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय में सभी राज्यों के छात्रों के लिए कुछ प्रतिशत स्थान सुरक्षित किए जाएँ और उन्हें छात्रावास में रहने की सुविधा प्रदान की जाए।
   2. विश्वविद्यालयों में साम्प्रदायिक भावना को समाप्त किया जाए।
   3. विश्वविद्यालयों में धार्मिक सहिष्णुता को विकसित किया जाए।
   4. प्रत्येक विश्वविद्यालयों में विभिन्न भाषाओं विशेषकर दक्षिण की भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था की जाए।
   5. भाषा, इतिहास, नागरिकशास्त्र और सामाजिक अध्ययन की ऐसी पुस्तकें तैयार की जाएँ, जिनमें संपूर्ण देश की विशेषताओं का उल्लेख हो।
5. **राष्ट्रीय एकता सम्मेलन** (National Integration Conference)–तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नहेरू द्वारा 18 सितंबर, 1962 से 1 अक्टूबर, 1962 तक दिल्ली में इस सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें देश के प्रमुख विद्वानों, शिक्षाशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों और समाजशास्त्रियों ने भाग लिया।

इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय एकता के संबंध में शिक्षा की भूमिका के विषय में निम्नलिखित सुझाव दिए–

1. शिक्षा द्वारा छात्रों में भारतीयता की भावना पैदा की जाए।
2. पाठ्य-पुस्तकों की रचना राष्ट्रीय दृष्टिकोण से की जाए।
3. माध्यमिक शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ रखी जाएँ।
4. हिंदी को संपूर्ण देश की संपूर्ण भाषा बनाई जाए।
5. त्रिभाषा सूत्र को लागू किया जाए।
6. शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित किया जाए।
7. अखिल भारतीय शिक्षा सेवा को लागू किया जाए।
8. एक राज्य के विश्वविद्यालयों द्वारा दूसरे राज्य के छात्रों को प्रवेश दिया जाए और उन्हें छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाएँ।

नोट

9. शिक्षा द्वारा छात्रों में राष्ट्रीय भावनाओं तथा पारस्परिक प्रेम, सद्भावना, अनुशासन और उत्तरदायित्व की भावना को विकसित किया जाए। उनमें यह भाव विकसित किया जाए कि वे राष्ट्र के एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं।
10. सभी विद्यालयों का कार्य राष्ट्रीय गान से प्रारंभ किया जाए।

6. **भावात्मक एकता समिति** (Emotional Integration Committee)–भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने मई 1961 में **डॉ. सम्पूर्णानंद** के सभापतित्व में भावात्मक एकता समिति की नियुक्ति की। समिति ने कहा कि भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने में शिक्षा का प्रमुख स्थान है।

7. **शिक्षा आयोग** (Education Commission)–कोठारी आयोग ने भी शिक्षा को राष्ट्रीय सुरक्षा का आधार स्वीकार किया है। उसके अनुसार देश को शक्तिशाली बनाने और उसके सर्वांगीण विकास के लिए भारत की एकता बहुत आवश्यक है और इस कार्य में शिक्षा महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है। उसके शब्दों में, ''कोई भी राष्ट्र अपनी सुरक्षा को केवल पुलिस तथा सेना के हाथों में नहीं छोड़ सकता। एक बड़ी सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा राष्ट्र के नागरिकों की शिक्षा पर, उनके घटनाओं के ज्ञान पर, उनके चरित्र पर तथा अनुशासन की भावना पर तथा उनकी इस योग्यता पर कि यह प्रभावशाली ढंग से सुरक्षा के कार्यों में भाग ले सकें, निर्भर करती है।''

कोठारी आयोग ने कहा है कि शिक्षा की निति को इस प्रकार से निर्धारित करने की आवश्यकता है, जिससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो सके–

1. भारत में एक ऐसी सामान्य शिक्षा प्रणाली को विकसित किया जाए, जिसमें बिना किसी भेदभाव के सबको समान शैक्षिक लाभ प्राप्त हो सके।
2. शिक्षा के सभी स्तरों पर सामाजिक और राष्ट्रीय सेवा को अनिवार्य कर दिया जाए। इससे छात्र संपूर्ण देश को अपना समझेंगे और उनमें राष्ट्रीयता का भाव पैदा हो सकेगा।
3. विद्यालयों में सामुदायिक जीवन का विकास किया जाए।
4. भावात्मक एकता के लिए देश की भाषा नीति को निर्धारित किया जाए। प्रादेशिक भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए और 10 वर्ष की अवधि में यह कार्य पूरा किया जाए।
5. शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों को भारत की सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराया जाए।

8. **राष्ट्रीय एकता समिति** (National Integration Council)–भारत सरकार ने 1967 में राष्ट्रीय एकता समिति की स्थापना की, जिसकी बैठक जून 1968 में श्रीनगर में हुई। इस समिति ने राष्ट्रीय एकता की समस्या के समाधान के लिए तीन उपसमिति बनायीं–एक उपसमिति साम्प्रदायिकता की समस्या पर विचार करने के लिए, दूसरी प्रादेशिक और क्षेत्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए और तीसरी शिक्षा को एकता मूलक बनाने के संबंध में सुझाव देने के लिए। इन उपसमितियों ने अपने-अपने सुझाव राष्ट्रीय एकता समिति को प्रस्तुत किए, जिन्हें समिति द्वारा स्वीकार कर लिया गया। शिक्षा को एकता मूलक बनाने के संबंध में विचार करने के लिए बनी तीसरी उपसमिति की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं–

1. प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक की शिक्षा प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन किया जाए।
2. सामान्य विद्यालय प्रणाली को राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाए।
3. किसी भी छात्र का डोमीसाइल प्रमाण-पत्र न माँगा जाए।
4. राष्ट्रीय एकता के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण करने के लिए प्रत्येक प्रांत में विशेषज्ञों की एक समिति बनाई जाए और केंद्र में एक राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तक समिति का निर्माण किया जाए। केंद्र की पाठ्य-पुस्तकें समिति द्वारा राज्यों की पाठ्य-पुस्तक समितियों के कार्यों का समन्वय किया जाए।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

3. राष्ट्रीय एकता का अर्थ है संस्कृति आदि की भावना और .....।
   (अ) राष्ट्र के प्रति प्रेम (ब) एकता
   (स) समझ (द) इनमें से कोई नहीं
4. किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा और विकास के लिए आवश्यक है–
   (अ) विश्वास (ब) राष्ट्रीय एकता
   (स) आपसी समझ (द) इनमें से कोई नहीं
5. संविधान की धारा 343 में हिंदी को भारत की ..... स्वीकार किया गया है।
   (अ) राष्ट्रभाषा (ब) महत्त्वपूर्ण भाषा
   (स) अधिसंख्य भाषा (द) इनमें से कोई नहीं
6. भारत की राष्ट्रीय एकता को विनष्ट करने में उत्तरदायी हैं–
   (अ) आतंकवादी (ब) कुछ राजनीतिक दल
   (स) सामाजिक लोग (द) इनमें से कोई नहीं

32.6 राष्ट्रीय एकता को विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यावहारिक योजना (A Practical Plan of Education for the Development of National Integration)

राष्ट्रीय एकता को विकसित करने के लिए शिक्षा की एक ऐसी व्यावहारिक योजना बनायी जानी चाहिए, जिससे बालकों के मन और मस्तिष्क को परिवर्तित किया जा सके, उनमें वांछित दृष्टिकोण का विकास किया जा सके, आतंकवादी, विघटनकारी और राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों को समाप्त किया जा सके और राष्ट्र की सुरक्षा तथा अखण्डता के लिए तन-मन-धन समर्पित करने की भावना पैदा की जा सके, तभी महान् बलिदानों से प्राप्त देश की आजादी को सुरक्षित रखा जा सकेगा। शिक्षा की योजना का निर्माण निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए–

1. एक शिक्षा नीति (One Education Policy)।
2. शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)।
3. पाठ्यक्रम (Curriculum)।
   (अ) पाठ्यविषयों में परिवर्तन (Reorientation of Subjects);
   (ब) पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन (Organization of Co-curricular Activities)।
4. शिक्षण विधियाँ (Methods of Teaching)।
5. शिक्षक (Teacher)।

32.6.1 राष्ट्रीय एकता और शिक्षा नीति (National Integration and Education)

शिक्षा को राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में तो कर दिया गया है, लेकिन इससे समस्याएँ हल नहीं हो पायी हैं। अत: शिक्षा को संघ की सूची के अंतर्गत लाया जाना चाहिए, जिससे शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व केंद्र सरकार का हो सके। संपूर्ण देश में प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा का एक ही ढाँचा और संगठन होना चाहिए। सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम में एकरूपता होनी चाहिए। दोहरी शिक्षा प्रणाली समाप्त की जानी चाहिए। आज विभिन्न राज्यों में विभिन्न राजनैतिक दलों की सरकारें हैं। ये राज्य सरकारें अपने दलीय हितों की दृष्टि से राज्य स्तर पर

शिक्षा की नीति बनाती हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचती है, अत: पूरे राष्ट्र के लिए एक समान शिक्षा की नीति बनायी जानी चाहिए।

नोट

32.6.2 राष्ट्रीय एकता और शिक्षा के उद्देश्य (National Integration and Aims of Education)

राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने के लिए शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किए जा सकते हैं–

1. छात्रों में विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर की भावना को जाग्रत करना।
2. छात्रों में वांछनीय व्यवहार का विकास करना।
3. छात्रों में देश प्रेम की भावना का विकास करना।
4. छात्रों में व्यावसायिक कुशलता का विकास करना।
5. छात्रों में प्रजातान्त्रिक नागरिकता का विकास करना।
6. छात्रों में मानवीय संबंधों के प्रति आस्था पैदा करना।
7. छात्रों में आतंकवादी, अलगाववादी और राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध लड़ने की आकांक्षा और क्षमता पैदा करना।
8. छात्रों में राष्ट्र हित के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने की इच्छा प्रदान करना।
9. छात्रों को अपनी योग्यतानुसार राष्ट्र की सर्वोत्तम सेवा करने की भावना उत्पन्न करना।

32.6.3 राष्ट्रीय एकता और पाठ्यक्रम (National Integration and Curriculum)

पाठ्यक्रम के अंतर्गत दो बातें सम्मिलित हैं–

(अ) पाठ्य-विषयों में परिवर्तन (Reorientation of Subjects)

राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने के लिए विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में लिखित परिवर्तन किए जाने चाहिए–

1. **राष्ट्रभाषा हिंदी का शिक्षण** (Teaching of National Language)–हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है। अत: हिंदी का शिक्षण संपूर्ण देश के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इससे छात्रों में राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास हो सकेगा।
2. **नैतिक और धार्मिक शिक्षा** (Moral and Religious Education)–धार्मिक शिक्षा का अर्थ किसी एक धर्म विशेष की शिक्षा देना नहीं है, अपितु उसका अर्थ छात्रों को विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धांतों से अवगत कराना और उनमें उनके प्रति आस्था पैदा करना है। नैतिक शिक्षा के द्वारा बालकों में सत्य, न्याय, कर्तव्य पालन, प्रेम, सहयोग आदि गुणों का विकास किया जाना चाहिए।
3. **भाषा एवं साहित्य का शिक्षण** (Teaching of Language and Literature)–भाषा और साहित्य के द्वारा छात्रों में राष्ट्रीय एकता के भाव बड़ी सरलता से पैदा किए जा सकते हैं। विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों में इस प्रकार के पाठ सम्मिलित किए जाने चाहिए, जिनसे छात्रों को अपने राष्ट्र के गौरव और महानता का परिज्ञान हो सके, अपनी सभ्यता और संस्कृति को जानने और समझने का अवसर मिल सके तथा अपने महापुरुषों के जीवन और कार्यों के विषय में जानकारी मिल सके। साहित्य की विभिन्न विधाओं–कहानी, नाटक, कविता आदि के द्वारा छात्रों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास किया जा सकता है।
4. **इतिहास का शिक्षण** (Teaching of History)–इतिहास के माध्यम से छात्रों को केवल तिथियों और घटनाओं के क्रम को ही नहीं बताया जाना चाहिए, अपितु यह भी बताया जाना चाहिए कि जब-जब भारतीय आपस में लड़े तब-तब हमारी आपसी फूट का लाभ शत्रुओं ने उठाया। ऐसे राजाओं, संतों और समाजसुधारकों के विषय में बताया जाना चाहिए जिनका देश की एकता और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान

नोट

है। बालकों को भारत की आजादी की लड़ाई के इतिहास का विस्तृत ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए। उनको उन बलिदानी महापुरुषों और वीरांगनाओं के विषय में बताया जाना चाहिए, जिन्होंने अपने सभी सुखों को त्यागकर देश की आजादी के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया।

5. **भूगोल का शिक्षण** (Teaching of Geography)–भूगोल के द्वारा भौगोलिक विषय सामग्री को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। छात्रों को भारत की परस्पर सीमाओं, नदियों, पर्वतों, जलवायु, खनिज पदार्थों, फसलों, यातायात तथा प्रदेशों की परस्पर निर्भरता के विषय में बताया जाना चाहिए। उनको बताया जाना चाहिए कि विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले लोगों के खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा और रीति-रिवाजों में भारी अंतर होते हुए भी वह सब भौगोलिक दृष्टि से एक हैं।
6. **नागरिकशास्त्र का शिक्षण** (Teaching of Civics)–नागरिकशास्त्र के द्वारा छात्रों को आदर्श नागरिक बनने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। उनको उनके कर्तव्यों और अधिकारों का बोध कराया जाना चाहिए। राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुँचाने वाले तत्वों, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रांतवाद, आतंकवाद आदि के दुष्परिणामों के विषय में बताकर इनसे अलग रहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उनको बताया जाना चाहिए कि वे कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे राष्ट्रहित को हानि पहुँचे।
7. **विज्ञान का शिक्षण** (Teaching of Science)–विज्ञान का शिक्षण भी छात्रों में देशप्रेम की भावना का विकास कर सकता है। विज्ञान के द्वारा छात्रों को बताया जाना चाहिए कि देश में हो रहे वैज्ञानिक आविष्कार किसी एक जाति, धर्म, सम्प्रदाय या प्रान्त से संबंधित नहीं हैं। उनसे संपूर्ण भारतवासी लाभान्वित हो रहे हैं। इसलिए वे भारत की धरोहर हैं। सी. वी. रमन, मेघनाथ साहा, होमी भाभा आदि वैज्ञानिक भारत के वैज्ञानिक हैं, किसी एक प्रदेश के नहीं।
8. **संगीत और कलाओं का अध्ययन** (Teaching of Music and Arts)–संगीत और विभिन्न कलाएँ विविधता में एकता बनाए रखने वाले सूत्र हैं। ये हृदयों को जोड़ने की क्षमता रखते हैं। इनका प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। छात्रों को देश के विभिन्न प्रदेशों की कलाओं, संगीत, नृत्य आदि के विषय में बताया जाना चाहिए। उनको बताया जाना चाहिए कि भीमसेन जोशी, बेगम अख्तर, पण्डित रविशंकर, अमजद अली खाँ (सरोद), बिस्मिल्ला खाँ (शहनाई), हरिप्रसाद चौरसिया (बाँसुरी), शिवकुमार शर्मा (संतूर), जाकिर हुसैन (तबला), जुबीन मेहता (वायलन) आदि भारत के गौरव हैं, किसी एक प्रदेश के, जाति के या सम्प्रदाय के नहीं।

(ब) पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन (Organisation of Co-Curricular Activities)

राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने के लिए निम्नलिखित पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन किया जाना चाहिए–

1. **राष्ट्रीय पर्वों का आयोजन** (To Celebrate Birth National Festivals)–स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, शहीद दिवस, गाँधी जयंती आदि राष्ट्रीय पर्वों पर छात्रों को स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास और अनेक बलिदानों के बाद प्राप्त की गयी स्वतंत्रता के विषय में बताया जाना चाहिए। उसकी रक्षा करने के लिए सबको प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से इन राष्ट्रीय पर्वों पर अनेक विद्यालयों में अवकाश घोषित कर दिया जाता है जो अनुचित है।
2. **महापुरुषों के जन्मदिवस का आयोजन** (To Celebrate Birth Anniversaries of Freedom Fighters and Prominent Persons)–भारत के स्वतंत्रता सेनानियों और महापुरुषों के जन्म दिवस विद्यालय में मनाए जाने चाहिए। पंडित नेहरू, सरदार पटेल, डॉ. राधाकृष्णन, इन्दिरा गाँधी, लोकमान्य तिलक, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, मौलाना आजाद, भीम राव अम्बेडकर, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, महाकवि तुलसीदास, निराला आदि महापुरुषों के जन्म दिवस पर इनके जीवन के प्रेरक प्रसंग सुनाए जाने चाहिए, जिससे छात्र राष्ट्र के लिए कुछ करने का संकल्प ले सके। 30 जनवरी

नोट

(राष्ट्रपिता), 31 अक्टूबर (इन्दिरा गांधी), 21 मई (राजीव गाँधी) बलिदान दिवस के रूप में मनाए जाने चाहिए और इस दिन छात्रों के बताया जाना चाहिए कि किस प्रकार देशद्रोहियों ने इन महापुरुषों की अमानुषिक हत्या करके देश को खंडित करने के और विदेशों में इसकी छवि को धूमिल करने के प्रयत्न किए।

3. **धार्मिक उत्सवों का आयोजन** (To Celebrate Religious Functions)–विद्यालयों में दीवाली, होली, ईद, दशहरा, गुरुपर्व, क्रिसमस आदि धार्मिक त्यौहारों का आयोजन किया जाना चाहिए कि ये त्यौहार किसी धर्म विशेष के न होकर प्रत्येक भारतवासी के हैं।
4. **विद्वानों के व्याख्यानों का आयोजन** (To Organize Lectures by Eminent Scholars)–समय-समय पर राष्ट्र की स्वाधीनता, अखंडता, विकास और अन्य अनेक राष्ट्रीय समस्याओं से संबंधित विषयों पर विद्वानों के व्याख्यान आयोजित किए जाने चाहिए, जिससे छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो सके।
5. **प्रतियोगिताओं का आयोजन** (To Organize different Competitions)–समय-समय पर राष्ट्रीय एकता से संबंधित विषयों पर भाषण, वाद-विवाद, पत्र-पठन, निबंध, नाटक और अन्य साहित्यिक व सांस्कृतिक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाना चाहिए, जिससे छात्रों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हो सके।
6. **प्रदर्शनियों का आयोजन** (To Organize Exhibitions)–विद्यालयों में समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाना चाहिए। इन प्रदर्शनियों में राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति की झांकी प्रस्तुत की जानी चाहिए, जिससे छात्रों में राष्ट्र गौरव के भाव पैदा हो सकेंगे।
7. **राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षकों का आदान-प्रदान** (Exchange of Teachers at National Level)–प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षकों का राष्ट्रीय स्तर पर आदान-प्रदान किया जाना चाहिए। जब भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी और जाति, धर्म, संप्रदाय तथा प्रदेशों के शिक्षक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाएँगे तो दूसरों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे और उनको समझने का प्रयत्न करेंगे। इससे विभिन्न संस्कृतियों में तालमेल होगा और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलेगा।
8. **अंतर्राज्यीय खेल-कूद और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन** (Inter-State Games and sports and Cultural Programmes)–कम से कम एक वर्ष में एक बार किसी प्रदेश में अंतर्राज्यीय खेल-कूद और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए। इसके द्वारा छात्रों का संपर्क क्षेत्र बढ़ेगा, वे एक-दूसरे को समझेंगे, उनमें लगाव पैदा होगा उनमें हम की भावना (We Feeling) की भावना पैदा होगी और उनका हृदय राष्ट्रभक्ति से सराबोर हो सकेगा।
9. **शैक्षिक यात्राओं का आयोजन** (To Organize Educational Tours)–भारत में अनेक ऐसे ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक औद्योगिक और प्राकृतिक दृष्टि से मनोरम स्थल हैं, जो अत्यंत ही ज्ञानवर्धक और प्रेरणाप्रद हैं। समय-समय पर इन राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों की यात्राओं का आयोजन किया जाना चाहिए। इन शैक्षिक यात्राओं के द्वारा छात्रों को देश की विशाल और विविधतापूर्ण संस्कृति का ज्ञान प्रदान करके उनमें राष्ट्र प्रेम की भावना का विकास किया जा सकता है।
10. **अंतर्राज्यीय शिविरों का आयोजन** (To Organize Inter-State Camps)–जब अंतर्राज्यीय शिविरों में विभिन्न राज्यों के शिक्षक व शिक्षार्थी सम्मिलित होंगे तो उनको विभिन्न राज्यों या प्रदेशों के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, वेष-भूषा, भाषा, लोक संगीत, लोकनृत्य आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होगी। निश्चित रूप से इन शिविरों के आयोजन से शिक्षक और शिक्षार्थियों के मन में देश प्रेम की भावना विकसित होगी।
11. **राष्ट्रीय और समाजसेवा की संस्थाओं का गठन** (National and Social Service Organizations)–विद्यालयों में एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउटिंग और गर्ल गाइडिंग आदि संस्थाओं

नोट

की स्थापना की जानी चाहिए जिनके माध्यम से छात्रों को समाज सेवा के कार्यों में लगाया जा सकता है और उनमें राष्ट्र प्रेम की भावना का विकास किया जा सकता है।

12. **रेडियो और दूरदर्शन का प्रयोग** (Use of Radio and Television)–रेडियो और दूरदर्शन पर राष्ट्र की एकता को विकसित करने वाले और भारतीय संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करने वाले कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाना चाहिए, जिससे इन कार्यक्रमों को सुनकर व देखकर छात्रों में देश भक्ति की भावना पैदा हो सके। अत: विद्यालयों में छात्रों को इन कार्यक्रमों को सुनने और देखने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

32.6.4 राष्ट्रीय एकता और शिक्षण विधियाँ (National Integration and Methods of Teaching)

राष्ट्रीय एकता से संबंधित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित पाठ्यक्रम और उपयुक्त शिक्षण विधियों की आवश्यकता होगी। अत: उन शिक्षण विधियों का चयन किया जाना चाहिए, जिनसे छात्रों को अपनी योग्यताओं को विकसित करने का अवसर मिल सके। व्याख्यान विधि, प्रश्नोत्तर विधि और वाद-विवाद विधि से छात्रों को राष्ट्रीय एकता से संबंधित विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। स्वाध्याय विधि से वे राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति के विषय में मौलिक चिंतन कर सकते हैं। योजना विधि भी इस कार्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

32.6.5 राष्ट्रीय एकता और पाठ्य-पुस्तकें (National Integration and Text-Books)

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से सभी विषयों की पाठ्य-पुस्तकों में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन किए जाने चाहिए। पाठ्य-पुस्तकों में से राष्ट्रीय एकता में बाधा पैदा करने वाली विषय सामग्री को निकालकर ऐसी सामग्री सम्मिलित की जानी चाहिए, जो देश की सभ्यता, संस्कृति और राष्ट्रीय आदर्शों की झाँकी प्रस्तुत करती हो। पाठ्य-पुस्तकों में सही, पर्याप्त और राष्ट्रीय एकता के प्रति प्रेम, आस्था और जागरूकता पैदा करने वाली विषय-वस्तु का समावेश किया जाना चाहिए।

32.6.6 राष्ट्रीय एकता के विकास में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in the Development of National Integration)

शिक्षा की सफलता शिक्षक पर निर्भर करती है। शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब शिक्षक योग्य हो, अपने विषय का विशेषज्ञ हो। उसे राष्ट्र की गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण परिज्ञान हो, वह राष्ट्र की ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक समस्याओं से पूरी तरह अवगत हो, वह अपने विचारों को सशक्त ढंग से दूसरों के सामने रखने की क्षमता रखता हो, उदारवादी हो, व्यापक दृष्टिकोण वाला हो, अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो, जिसकी कथनी और करनी में अंतर न हो, जो समाज सेवा को अपना धर्म मानता हो, जो देश-प्रेम की भावना से ओतप्रोत हो और संकट के समय राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राणों को उत्सर्ग करने की इच्छा रखता हो।

छात्र शिक्षक को अपना आदर्श मानते हैं और उसका अनुकरण करते हैं। अत: यदि हम अपने छात्रों में देश-प्रेम और राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करना चाहते हैं तो शिक्षक को देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण होना होगा। उसे तन-मन-धन से राष्ट्र हित के लिए समर्पित होना होगा, उसे राष्ट्र-हित के आगे अपने वैयक्तिक और सामुदायिक हितों का त्याग करना होगा, उसे अपने मन में राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगान और राष्ट्रभाषा के प्रति श्रद्धा और सम्मान पैदा करना होगा। उसे जातीयता, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, और भाषाओं की संकीर्णताओं से ऊपर उठना होगा, उसे छात्रों के प्रति अपने व्यवहार को निष्पक्ष रखना होगा और उस जाने-अनजाने न उसे कोई ऐसी बात कहनी होगी और न ही कोई ऐसी बात करनी होगी जो राष्ट्र हित के विरोध में हो और जिससे पृथकतावादी प्रवृत्ति को बल मिले। ऐसा शिक्षक ही छात्रों में राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा कर सकेगा।

32.7 अंतर-सांस्कृतिक भावना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Inter-Cultural Understanding)

नोट

अंतर-सांस्कृतिक का अर्थ विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर और सम्मान की भावना रखना है। विभिन्न देशों के निवासियों के रीति-रिवाजों, परंपराओं, आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं, धर्मों, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और भाषा आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त करना, उनको समझना, उनकी श्रेष्ठताओं को खुले मन से स्वीकार करके अपनी संस्कृति का विकास करना अंतर-सांस्कृतिक भावना के अंतर्गत आता है। अंतर-सांस्कृतिक भावना सांस्कृतिक संकीर्णता को समाप्त करके विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आस्था और सम्मान की अभिवृत्ति का निर्माण करती है। इस भावना के विकसित हो जाने से व्यक्ति सांस्कृतिक भेदभाव, असहिष्णुता और संकीर्णताओं से ऊपर उठ जाता है, जिससे राष्ट्रीय एकता और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास होता है।

क्लासमियर ने अंतर-सांस्कृतिक भावना को परिभाषित करते हुए कहा है कि–''अंतर-सांस्कृतिक भावना का अभिप्राय है, किसी समुदाय, राज्य या राष्ट्र के व्यक्तियों और समूहों की समानता का ज्ञान, उनमें पायी जाने वाली विभिन्नताओं की खोज और उन पर विचार-विमर्श एवं समूहों की समस्याओं का समाधान करने के लिए जनतंत्रीय आदर्शों का प्रयोग।''

जनरल एजुकेशन बोर्ड के प्रतिवेदन में अंतर-सांस्कृतिक भावना की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ''अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास के पूर्वाग्रहों एवं अंधविश्वासों का विनाश होता है और विभिन्न संस्कृतियों के प्रति ज्ञान और प्रशंसा के दृष्टिकोण का निर्माण होता है।''

32.8 अंतर-सांस्कृतिक भावना की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Inter-Cultural Understanding)

विभिन्न संस्कृतियों का आदर और सम्मान करने से लोगों का दृष्टिकोण व्यापक होता है तथा पारस्परिक कटुता और संघर्ष समाप्त होते हैं, मानसिक संकीर्णता और धार्मिक असहिष्णुता, पारस्परिक मतभेद और मनमुटाव समाप्त होते हैं। विश्व संस्कृति का निर्माण करने के लिए और संपूर्ण विश्व को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर भाव रखने और उनकी उत्तमताओं को अपनाने की आवश्यकता है। जब तक हम एक दूसरे की संस्कृति का आदर नहीं करेंगे तब तक हम एक-दूसरे के निकट नहीं आ सकेंगे। **डॉ. राधाकृष्णन** ने कहा है कि–''किसी राष्ट्र की श्रेष्ठता का अनुमान उसकी भौतिक शक्ति और संपत्ति से नहीं वरन् उसके निवासियों के अंतर-सांस्कृतिक संबंधों से लगाया जाना चाहिए।''

भारत एक विशाल देश है। यहाँ अनेक समूह और वर्ग हैं। प्रत्येक समूह और वर्ग के अपने-अपने रीति-रिवाज, परंपराएँ, आदर्श, मूल्य, आस्थाएँ, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा और भाषाएँ हैं। इन सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण विभिन्न समूहों और वर्गों में निरंतर मतभेद और मनमुटाव रहते हैं। ये मतभेद और मनमुटाव कभी-कभी संघर्ष और हिंसा को जन्म देते हैं। इनसे अशान्ति पैदा होती है और देश का सामाजिक और आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, जिससे लोकतंत्र की सफलता के मार्ग में बाधा पैदा हो जाती है और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है। अत: राष्ट्र की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने, लोकतंत्र को सफल बनाने और राष्ट्र की एकता को बनाए रखने के लिए अंतर-सांस्कृतिक एकता की आवश्यकता है। अंतर-सांस्कृतिक भावना अल्पसंख्यकों में भी विश्वास पैदा करती है। यदि वे अपने को असुरक्षित अनुभव करते हैं तो राष्ट्र में एकता पैदा नहीं हो सकती। इसीलिए अल्पसंख्यकों में विश्वास पैदा करने के लिए भी अंतर-सांस्कृतिक भावना की आवश्यकता है।

अंतर-सांस्कृतिक भावना को विकसित करने की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से भी है–

1. सभी वर्गों और समूहों में समन्वयवादी दृष्टिकोण का विकास करने के लिए।
2. वर्ग-भेद को समाप्त करने के लिए।
3. देश को धार्मिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए।

नोट

4. सभी भाषाओं में रचे जाने वाले साहित्य में सांस्कृतिक भावना का विकास करने के लिए।
5. उत्तम चरित्र निर्माण के लिए।
6. विभिन्न उपसंस्कृतियों को एक मंच प्रदान करने के लिए।
7. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धांत को अपनाने के लिए।

32.9 अंतर-सांस्कृतिक भावना और शिक्षा (Inter-Cultural Understanding and Education)

अंतर-सांस्कृतिक भावना को विकसित करने का एकमात्र प्रभावशाली साधन शिक्षा है। शिक्षा के माध्यम से छात्रों में उचित दृष्टिकोण और आदतों का विकास किया जाता है। अत: शिक्षा के द्वारा हमें छात्रों के सामने ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना होगा, जिससे वे दूसरी संस्कृतियों से घृणा न करें, अपितु उनको समझने का प्रयत्न करें, उनकी सराहना करें, उनका आदर करना सीखें और परस्पर सहयोग के साथ रहते हुए एक नवीन विश्व संस्कृति का विकास करें।

क्लॉसमियर के शब्दों में–''अंतर-सांस्कृतिक शिक्षा छात्रों को उन व्यक्तियों की विभिन्नताओं और समानताओं को समझने में सहायता देती है, जो हमारे समाज और विश्व का निर्माण करते हैं।''

किलपेट्रिक व टिल का कहना है कि–''अंतर सांस्कृतिक शिक्षा वास्तविक और संभव अंतर-सांस्कृतिक तनावों एवं अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति सब दुराग्रहों, पूर्वाद्वेषों और भेदभावों की बुराइयों का अंत करने का प्रयास करती है।''

क्लॉसमियर ने विद्यालयों में सांस्कृतिक प्रतिमानों के अध्ययन पर बल देते हुए कहा है–''विद्यालय-शिक्षा के संपूर्ण वर्षों में उपयुक्त अवसरों पर समुदाय, राज्य, राष्ट्र और विश्व के निवासियों के सांस्कृतिक प्रतिमानों के विशेष अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाए।''

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए

(State whether the following statements are True/False)–

7. विज्ञान का शिक्षण भी छात्रों में देशप्रेम की भावना का विकास कर सकता है।
8. संगीत और विभिन्न कलाएँ विविधता में एकता बनाए रखने वाले सूत्र नहीं हैं।
9. विद्यालय में समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाना चाहिए।
10. शिक्षा की सफलता शिक्षक पर निर्भर करती है।

32.10 अंतर-सांस्कृतिक भावना को विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यावहारिक योजना (A Practical Plan of Education for the Development of Inter-Cultural Understanding)

छात्रों में अंतर-सांस्कृतिक भावना का विकास करने के लिए शिक्षा की योजना का निर्माण निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए–

1. **शिक्षा के उद्देश्य**–शिक्षा का एक उद्देश्य छात्रों में अंतर-सांस्कृतिक भावना का विकास करना भी होना चाहिए, जिससे उनका दृष्टिकोण व्यापक हो और उनको विभिन्न संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त हो सके।
2. **पाठ्यक्रम**–अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास के अनुरूप पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए। इसके लिए वर्तमान पाठ्यक्रम में अग्रलिखित परिवर्तन अपेक्षित हैं–

   (अ) देश-विदेश की संस्कृतियों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिए।

नोट

(ब) देश-विदेश की प्रमुख भाषाओं को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिए, जिससे विद्यार्थी दूसरी संस्कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करके उनका आदान-प्रदान कर सकें।

(स) धार्मिक और नैतिक शिक्षा के अंतर्गत विभिन्न धर्मों के विषय में जानकारी प्रदान की जानी चाहिए।

(द) पाठ्यक्रम में विश्व इतिहास को स्थान दिया जाना चाहिए।

(य) राष्ट्रभाषा को अनिवार्य किया जाना चाहिए।

3. **शिक्षण विधियाँ**–शिक्षण विधियों में इस प्रकार से परिवर्तन किया जाना चाहिए, जिससे विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय उनके सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।
4. **विद्यालयों का वातावरण**–विद्यालयों में इस प्रकार के वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए, जिससे छात्रों में अंतर-सांस्कृतिक भावना और समन्वयकारी दृष्टिकोण का विकास हो सके।
5. **व्याख्यान**–विभिन्न समूहों और वर्गों के योग्य और प्रतिष्ठित विद्वानों को विद्यालय में आमंत्रित किया जाना चाहिए और अंतर-सांस्कृतिक भावना से संबंधित विषयों पर उनके व्याख्यान कराए जाने चाहिए।
6. **शैक्षिक गोष्ठियाँ**–विद्यालयों के अंदर अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास के लिए समय-समय पर शैक्षिक गोष्ठियों, कार्यशालाओं और सम्मेलनों का आयोजन किया जाना चाहिए।
7. **शैक्षिक भ्रमण**–शिक्षकों और छात्रों को देश-विदेश के विभिन्न भागों में भ्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जिससे वे विभिन्न भागों की संस्कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें।
8. **शिक्षकों का आदान-प्रदान**–विभिन्न देशों या प्रदेशों के शिक्षकों को दूसरे देशों या प्रदेशों में जाकर अध्ययन-अध्यापन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे शिक्षकों में दूसरी संस्कृतियों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न होगा।
9. **अंतर-सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन**–समय-समय पर विद्यालयों में अंतर-सांस्कृतिक कार्यक्रमों जैसे–नाटक, संगीत, लोकगीत, लोकनृत्य कवि सम्मेलन और विभिन्न जनसमूहों के उत्सवों का आयोजन किया जाना चाहिए। इन कार्यक्रमों में विभिन्न संस्कृति वाले छात्र और अध्यापक मिलेंगे, परस्पर संपर्क स्थापित करेंगे। एक-दूसरे की संस्कृति के विषय में जानेंगे और उसके प्रति सम्मान रखेंगे।
10. **आर्थिक सहायता**–संस्कृति संबंधी अध्ययन के लिए छात्रों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।
11. **रेडियो, टेलीविजन और सिनेमा**–छात्रों को देश-विदेश की संस्कृतियों से परिचित कराने के लिए रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन का प्रयोग किया जाना चाहिए।

टास्क राष्ट्रीय एकता और पाठ्यक्रम पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

32.11 अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास में शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher in the Development of Inter-Cultural Understanding)

अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास में शिक्षक का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वही शिक्षक छात्रों में इस भावना का विकास कर सकता है, जिसमें निम्नलिखित गुण हों–

1. शिक्षक का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक होना चाहिए। उसे संकीर्ण विचारों और विश्वासों से परे होना चाहिए।
2. शिक्षक को अपने विषय के पूर्ण ज्ञान के साथ-साथ अपनी संस्कृति का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
3. शिक्षक को अन्य समूहों की संस्कृति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

नोट

4. शिक्षक में अन्य धर्मों और संस्कृतियों के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या और द्वेष की भावना न होकर सभी संस्कृतियों के प्रति आदर और सम्मान की भावना होनी चाहिए।
5. शिक्षक को सांस्कृतिक भावना के विकास हेतु आयोजित गोष्ठियों, कार्यशालाओं और सम्मेलनों में भाग लेना चाहिए।
6. शिक्षक को विभिन्न समूहों की संस्कृतियों का अध्ययन करने के लिए देश-विदेश का भ्रमण करना चाहिए।
7. शिक्षक को विभिन्न जनसमूहों की मातृभाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

32.12 सारांश (Summary)

भारत एक विशाल देश है। यहाँ अनेक समूह और वर्ग हैं। प्रत्येक समूह और वर्ग के अपने-अपने रीति-रिवाज, परंपराएँ, आदर्श, मूल्य, आस्थाएँ, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा और भाषाएँ हैं। इन सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण विभिन्न समूहों और वर्गों में निरंतर मतभेद और मनमुटाव रहते हैं। ये मतभेद और मनमुटाव कभी-कभी संघर्ष और हिंसा को जन्म देते हैं। इनसे अशान्ति पैदा होती है और देश का सामाजिक और आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, जिससे लोकतंत्र की सफलता के मार्ग में बाधा पैदा हो जाती है और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है। अतः राष्ट्र की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने, लोकतंत्र को सफल बनाने और राष्ट्र की एकता को बनाए रखने के लिए अंतर-सांस्कृतिक एकता की आवश्यकता है।

32.13 शब्दकोश (Keywords)

1. **बाधाएँ** (Obstacles) : रुकावटें
2. **एकता** (Integration) : संगठन

32.14 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. राष्ट्रीय एकता और शिक्षा से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. राष्ट्रीय एकता के विकास में शिक्षक की भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. 'अंतर-सांस्कृतिक भावना और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
4. अंतर-सांस्कृतिक भावना के विकास में शिक्षक की भूमिका बताइए।

उत्तर–स्वमूल्यांकन (Answers–Self Assessment)

1. बहुत बड़ी बाधा	2. राष्ट्र के प्रति	3. (अ)	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सही	8. गलत
9. सही	10. सही		

32.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
2. शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
3. शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
4. शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

❑❑❑

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in